मीरां की भक्ति और उनकी काव्य-साधना का अनुशीलन

भगवानदास तिवारी

मीरां की भक्ति और उनकी काव्य-साधना का अनुशीलन

लेखक

साहित्यमहोपाध्याय, तत्त्वभूषण

डॉ० भगवानदास तिवारी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०

प्रोफेसर व अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग

सोलापूर कॉलेज, सोलापूर—२

साहित्य भवन [प्रा] लिमिटेड

के.पी. कक्कड़ रोड, इलाहाबाद-२११००३

मूल्य : पैंतीस रुपये

प्रथम संस्करण, १६७४

आर० के० मिड्ढा, निजानन्द प्रेस, ७ ए पटेल नगर, इलाहाबाद—३ द्वारा मुद्रित

Foreward

I have read the thesis of Shri Bhagwandas Tiwari, of which I was also a supervisor, with due care. This thesis purports to study the poetry of Mirabai and her devotional tenets on a very precise basis. Lots of legends have encircled around this princess-poet concerning her life and poetry. Similarly a number of religious and devotional schools have tried to claim her in their folds. The researcher had, therefore, to work hard to unravel many of these ficticious encumberments and to bring the real Mirabai to light.

After a discriminating study of Mirabai's poetry in Hindi, Gujarati, Bengali and Panjabi, the researcher has placed his thumb on the hundred and odd poems, which he claims to be the original writing of Mirabai. In this process, Shri Tiwari has pointed out the numerous interpolations that have crept into the authentic poetry of Mirabai. This is very interesting and illuminating reading and is the result of great perseverance.

Foreward

I have read the thesis of Shri Bhagwandas Tiwari, of which I was also a supervisor, with due care. This thesis purports to study the poetry of Mirabai and her devotional tenets on a very precise basis. Lots of legends have encircled around this princess-poet concerning her life and poetry. Similarly a number of religious and devotional schools have tried to claim her in their folds. The researcher had, therefore, to work hard to unravel many of these fcticious encumberments and to bring the real Mirabai to light.

After a discriminating study of Mirabai's poetry in Hindi, Gujarati, Bengali and Panjabi, the researcher has placed his thumb on the hundred and odd poems, which he claims to be the original writing of Mirabai. In this process, Shri Tiwari has pointed out the numerous interpolations that have crept into the authentic poetry of Mirabai. This is very interesting and illuminating reading and is the result of great perseverance.

मूल्य : पैंतीस रुपये

प्रथम संस्करण, १९७४

आर० के० मिड्ढा, निजानन्द प्रेस, ७ ए पटेल नगर, इलाहाबाद–३ द्वारा मुद्रित

Foreward

I have read the thesis of Shri Bhagwandas Tiwari, of which I was also a supervisor, with due care. This thesis purports to study the poetry of Mirabai and her devotional tenets on a very precise basis. Lots of legends have encircled around this princess-poet concerning her life and poetry. Similarly a number of religious and devotional schools have tried to claim her in their folds. The researcher had, therefore, to work hard to unravel many of these ficticious encumberments and to bring the real Mirabai to light.

After a discriminating study of Mirabai's poetry in Hindi, Gujarati, Bengali and Panjabi, the researcher has placed his thumb on the hundred and odd poems, which he claims to be the original writing of Mirabai. In this process, Shri Tiwari has pointed out the numerous interpolations that have crept into the authentic poetry of Mirabai. This is very interesting and illuminating reading and is the result of great perseverance.

The researcher has restricted all further investigations on the basis of these hundred and odd poems. The thesis of Shri Tiwari is devoted specially to textual analysis and also to the study of the linguistic aspects of her poetry. These two aspects have been pursued with commendable precision and they form the main contribution of the researcher in this thesis. The rest of the chapters are devoted to culling out a life-sketch of Mirabai, her personality and her devotional tenets. These chapters are also well-written and they present the great poetess in her most accurate form. Thus it would be seen that Shri Tiwari has taken a comprehensive stand and has analysed all the aspects, which are intrinsically connected with the life and work of Mirabai.

Although some critical works on this Hindi poetess have been brought out by Hindi, Bengali and Gujarati scholars, there has been enough room for further investigation. Shri Tiwari has performed his task with credit and has brought to an advanced stage the study of this unique poetess of Rajasthan.

I have no hesitation in recommeding this thesis of Shri Tiwari for the conferment of the Ph. D. Degree of this University.

N. D. Bajpeyi
Professor & Head of the Hindi Deptt.
University of Saugar, Saugar.

समर्पण
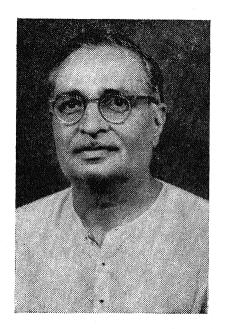
स्वर्गीय आचार्य पं० नन्ददुलारे जी बाजपेयी

को

श्रद्धा-भक्ति सहित

सादर समर्पित

निवेदन

कबीर, जायसी, सूर, मीरां और तुलसी उत्तरभारतीय मध्यकालीन धर्म-साधना-साहित्य के पंच प्राण हैं। इन सबमें रागानुगा भक्तिपरक मधुर पदों की सृष्टि और लोकप्रियता की दृष्टि से मीरां का स्थान अद्वितीय है। यों तो गेय परम्परा में कबीर, सूर और तुलसी के पद भी लोकजीवन में पर्याप्त प्रचार-प्रसार पा गये हैं, पर मीरां के पदों की बात निराली है। उनमें न तो कबीर की सी उपदेशात्मक वृत्ति-प्रेरित धक्का मार भाषा में 'गूंगे केरी सर्करा' का रस-वर्णन है, न 'राम की बहुरिया' का 'निरगुन सरगुन से परे' आराध्य के प्रति ज्ञानमार्गीय आध्यात्मिक प्रेम-प्रकाशन ही, न सूर की तरह पुष्टिमार्ग की परिधि से आवृत्त कृष्ण के रूप, गुण और लीला-गानों का आत्म-निवेदनयुक्त विशाल भावायोजन ही है और न तुलसी के समान दार्शनिक आचार्यत्व व पांडित्य का बिम्ब ही कहीं परिलक्षित होता है।

तत्वतः मीरां के पद 'भीतरिये' हैं। उनमें सीधे-सादे हृदय की निर्विकल्प प्रेम-पुकार है, आत्मा के सनातन नारीत्व का परम पुरुष कृष्ण के प्रति प्रेमोद्गारों का सहज समर्पण, मीरां की पवित्र आत्मा से निःसृत मधुराभक्ति के दिव्य स्रोत का सरस प्रवाह तथा उनके आत्मोल्लास के पुनीत क्षणों की गहन अनुभूतियों का स्वयं स्फूर्त अनलंकृत अभिव्यंजन है। इस सहज, स्वाभाविक भाव-निवेदन का ही यह परिणाम है कि मीरां के काव्य में बौद्धिक कलाबाजी और दूरारूढ़ कल्पना के पंख कट गये हैं। वहाँ जो कुछ है—हृदय है, हृदय का हृदय से नित्य, स्वसंवेद्य आध्यात्मिक प्रणय-व्यापार है, एक भक्तात्म के विकल, विदग्ध मानस का उद्वेलित भाव-प्रवाह और आत्मोद्धार की चिरन्तन कामना है, अपने आराध्य के सान्निध्य के लिए एक आराधिका की ऊर्ध्वगामी भक्ति-साधना तथा प्रेमाभक्ति के स्नेहाभिसिक्त भाव-गीतों का दिव्य रस है। इसीलिए सरल, सुबोध, सांम्प्रदायिक घेरे की संकीर्ण परिधि से मुक्त, सर्वसुलभ, लोकानुरूप मानवीय भावनाओं की सार्वजनीन, सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक अनुभूतियों के संगीतात्मक मधुर प्रकाशन के कारण मीरां के पद अन्य भक्तिकालीन संतों, भक्तों और कवियों की गीति-सृष्टि से अधिक लोकप्रिय और व्यापक हैं। सभी सम्प्रदायों में मीरां के पदों का अनुगायन इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

काल-प्रवाह के साथ-साथ विविध भक्ति-सम्प्रदायों और अनेकानेक भाषाभाषी

जनों में मीरां के पदों का प्रचार-प्रसार जिस तरह से उनकी लोकप्रियता का द्योतक है, उसी तरह अनेक सम्प्रदायों में सन्तों, भक्तों, गायकों और संगीतकारों द्वारा देश, काल, वातावरण सापेक्ष मीरां-नामधारी पदों की सृष्टि मीरां-विषयक भ्रान्तियों के प्रचार-प्रसार की जड़ है। मीरां की मूल पदावली की अनुपलब्धि तथा संदिग्ध गुटकों और प्रक्षेपों से बोझिल पदों से परिपूर्ण चोपड़ियों में प्राप्त 'मीरां' छाप वाले पदों को ही 'मीरां-सर्वस्व' मानकर चलने वाले विद्वानों की कृपा से आज मीरां का जीवन, भक्ति-भाव और काव्य परस्पर विरोधी मान्यताओं का अखाड़ा बन गया है। मीरां विषयक समीक्षात्मक साहित्य से लेकर मीरां-स्मृति-ग्रन्थों[1] तक यही हालत है। ऐसे वातावरण में यत्र-तत्र 'मीरां के अप्रकाशित पद' प्रकाशित कराने वाले कुछ एक पुराने घाघ भी हैं, जो मीरां विषयक भ्रान्तियों की श्रीवृद्धि के साथ-साथ परछिद्रान्वेषण में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझते हैं। इस तरह की भ्रष्ट पाठ-परम्परा को लेकर ही अनेक विद्वज्जनों ने मीरां के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी मान्यताओं को प्रतिष्ठित करने के लिए घड़ों पसीना बहाया है। नयी-नयी मीरां-पदावलियों का खूब संकलन और सम्पादन हुआ है, समीक्षात्मक पुस्तकें भी दर्जनों लिखी गईं और लिखी जा रही हैं, पर मीरां का मूल वक्तव्य और उसपर आधृत मीरां का मूल व्यक्तित्व आज भी पूर्ववत् भ्रम के कुहासे में छुपा है।

मीरां के सम्बन्ध में आगरा विश्वविद्यालय से दो[2] तथा बम्बई विश्वविद्यालय से एक[3] शोध प्रबन्ध भी पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत हुए हैं, और मैंने इन तीनों शोध-ग्रंथों को उक्त विश्वविद्यालयों के अधिकारियों की कृपापूर्ण अनुमति से आद्यन्त

---

१. मीरा स्मृति ग्रंथ—संपादक : सकलनारायण शर्मा, रामप्रसाद त्रिपाठी, ललिताप्रसाद सुकुल, विपिन बिहारी त्रिवेदी, कमलादेवी गर्ग, तारकनाथ अग्रवाल, बंगीय हिन्दी परिषद् १५, बंकिम चैटर्जी स्ट्रीट, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, सन् १९४९ (संवत् २००६)।

मीरां-स्मृति-ग्रन्थ—संपादक : घनश्याम शलभ, ओंकारनाथ दिनकर, चन्द्रमोहन हिमकर, साहित्य निकेतन, राधाकृष्ण भवन, हाथीभाटा, अजमेर, प्रथम संस्करण, सन् १९७२।

२. मीरांबाई—डॉ० छोटेलाल 'प्रभात', एम० ए०, पी-एच० डी०
मीरां के काव्य के मूल स्रोतों का अध्ययन—डॉ० विमला गौड़, एम० ए०, पी-एच० डी०,

३. मीरां : जीवन अने कवन—डॉ० निर्मलाबेन लालभाई झावेरी, एम० ए०, बी० टी०, पी-एच० डी०।

पढ़ा है। इनमें से नूतनतम प्रबन्ध बम्बई विश्वविद्यालय के गुजराती विभाग में 'मीरां जीवन अने कवन' शीर्षक के अन्तर्गत सन् १९६० में पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत हुआ है। प्रबन्ध लेखिका-श्रीमती निर्मलाबेन लालभाई झावेरी ने लिखा है कि—

मीरांना स्वहस्ते लखायेल कोई प्रत आज सुधी मली नथी, तेमज अेना जीवनकाल दरम्यान के त्यार पछी तरतज कोई भक्ते अेना पदो लखी लीधां होय अेनुं पुस्तक के प्रत पण मल्या नथी, घणा लांबा समय सुधी अेनां पदो कंठस्थज रह्या हतां, मीरां नो वास अेक स्थले स्थायी न हतो, मेड़ता मेवाड़, वृंदावन अने गुजरात मां अे फरी हती अने आजे अेनां पदो राजस्थानी, व्रज, खड़ी बोली, हिन्दी अने गुजराती मां मली आवे छे, अेटलुं ज नहीं, पण पंजाबी, मराठी, अने बंगाली भाषा मां पण अेना पदो गवाय छे.

मीरां अे क्या पदो क्यारे अने कई भाषा मां रच्यां हशे, ये कहेवुं मुश्केल छे... मीरां सदेहे आजे पृथ्वी पर पाछी आवे तो पण पोते रचेला पदोमांना केटलांक पदोने ओळखी न शके, अेटलो फेरफार अेना पदो मां थयो छे.[1]

स्पष्ट है कि सन् १९६० तक मीरां की मूल पदावली पर अनुसंधानकार्य नहीं हुआ। इसीलिए इस समय तक प्राप्त ऐतिहासिक तथ्य, जनश्रुतियों, किम्वदन्तियों, मौखिक परंपरा और साधु-सन्तों व संगीत-प्रेमी गायकों के हस्तलिखित प्राचीन गुटकों और चोपड़ियों के भजनों अथवा प्रकाशित पदों को ही 'जो है, सो है', मानकर चलने वालों में मीरां के बारे में इतने मत-मतान्तर फैले थे कि 'मीरां की भक्ति और उनकी काव्य-साधना का अनुशीलन' एक आवश्यकता ही नहीं, अनिवार्यता थी।

मीरां के पदों का संकलन मैंने सन् १९५० से शुरू किया था। प्रारम्भ में मेरी यह इच्छा थी कि मीरां के यथोपलब्ध पदों को संग्रहीत कर प्रामाणिक मीरां-पदावली संपादित की जाए, पर ज्यों-ज्यों मैं मीरां के पदों की विविधता और मीरां-समीक्षा-साहित्य की गहराई में उतरता गया, त्यों-त्यों मुझे मीरां पर सर्वांगीण गंभीर अध्ययन और अनुशीलन की आवश्यकता महसूस हुई। पूज्य पं० नन्ददुलारेजी बाजपेयी और डॉ० शिवमंगलसिंह सुमन से मैंने मेरी मनोदशा का निवेदन किया। सन् १९५० से १९५४ तक पढ़ते-पढ़ते मैंने यह जाना कि मीरां की मूल एवं प्रामाणिक पदावली की अनुपलब्धि ही मीरां-सम्बन्धी स्वस्थ समीक्षा-साहित्य के एकांतिक अभाव का कारण है। सभी सम्प्रदायों में, आज जो मीरां के नाम पर पद

---

१. मीरां : जीवन अने कवन—डॉ० निर्मलाबेन लालभाई झावेरी, टंकित प्रति, बम्बई विश्वविद्यालय-ग्रन्थालय, प्रस्तावना, पृष्ठ २२।

प्रचलित हैं, वे सब के सब मीरां की ही रचना नहीं हो सकते । भला कृष्ण को ही अपना जीवन सर्वस्व मानकर चलने वाली पतिव्रता मीरां अलग-अलग संप्रदायों की खाक छानने क्यों गई होगी ? राजस्थानी, ब्रज, गुजराती, पंजाबी, खड़ी-बोली आदि में उसने अलग-अलग पद कैसे रचे होंगे ? इन प्रश्नों का उत्तर मुझे मीरां-पदावली के प्रवाह-मुखी अभियान में नहीं मिला, अतः मैंने सन् १९५५ से मीरां-पदावली के प्रवाहमुखी अभियान को छोड़ उसके अभ्यास का स्रोतमुखी अभियान शुरू किया । मीरां के आधुनिक पदों की जब मैंने प्राचीन पदों से तुलना की तो मुझे लगा कि मीरां के पद मूलतः राजस्थानी में रहे होंगे और बाद में लोगों ने उन्हें गेय परंपरा में ब्रज, गुजराती आदि भाषाओं में बदल लिया होगा । स्वाभाविक है कि मीरां के सर्वाधिक प्रामाणिक पद उनकी मातृ-भाषा के पद होना चाहिए ।

श्रद्धेय सुमनजी का मुझ पर बड़ा स्नेह है । वे मेरी साहित्य-साधना के निकटतम प्रेरक और निरीक्षक रहे हैं, अतः उन्होंने मुझे ११ अक्टूबर १९५६ को नेपाल-स्थित भारतीय दूतावास से निम्नलिखित पत्र भेजा—

EMBASSY OF INDIA
NEPAL.
11-10-56.

प्रिय तिवारी,

तुम्हारी अप्रतिहत साधना को देखकर हृदय गद्‌गद् हो उठता है । निस्सन्देह तुम किसी दिन माँ भारती के लाड़ले उपासकों में गिने जाओगे । भँवरगीत के पश्चात् मीरा की आराधना का व्रत तुम्हारे उदात्त मानस-परिष्कार का ही परिचायक है । हृदय से तुम्हारी सफलता चाहता हूँ । मीरा पर गवेषणात्मक कार्य करने के लिए कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष श्री ललिताप्रसाद जी शुक्ल से बातचीत करो । इस प्रसंग में उनसे मेरे नाम का उल्लेख कर सकते हो । अवसर आने पर मैं स्वयं तुम्हारे विषय में उन्हें लिख दूँगा । तुम्हारा अध्यवसाय और अध्ययन सराहनीय है । शीघ्र ही तुम्हे डाक्टरेट की उपाधि से विभूषित देखना चाहता हूँ, पर जल्दबाजी न करना । गवेषणा के कार्यों में बड़े धैर्य और संतुलन की आवश्यकता होती है । मुझे भी दुख है कि तुम्हारे प्रस्फुटन के समय मैं दूर चला आया, पर कोई बात नहीं—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।....

यह सदा ध्यान रखना कि अपने व्यक्ति को उत्सर्ग किए बिना भावना की

आरती प्रदीप्त नहीं होती । तुम्हारी साधना युग की आराधना को मूर्तिमान कर सके, यही कामना है ।

आशा है, स्वस्थ और सानंद होंगे ।

स्नेह सहित,

तुम्हारा

'सुमन'

श्रद्धेय सुमनजी की सूचना के अनुसार मैं आचार्य ललिताप्रसादजी सुकुल से मिला और उनसे मीरां के पदों की डाकोर और काशी वाली प्रतियों की प्रतिलिपियाँ प्राप्त कीं । सुकुलजी ने मीरा-पदावली के प्रमाणीकरण की समस्या पर अपने अनुभव सुनाये और इस ऐतिहासिक महत्व के कार्य की आवश्यकता पर बल दिया ।

सुकुलजी से मिलकर लौटते समय मैं इलाहाबाद आया और डॉ० धीरेन्द्रजी वर्मा से उनके निवास-स्थान पर मिला । वर्माजी बोले—तिवारीजी ! मीरां पर महल कोई भी बना ले, पर आधार ढूँढना मुश्किल है ।

वर्माजी का यह वाक्य मीरां-पदावली के प्रामाणीकरण में मेरे लिए प्रेरक तत्व की तरह काम आया । अतः उनके इस प्रेरक वाक्य के लिए मैं उनका ऋणी हूँ ।

कहने का प्रयोजन यह है कि सन् १९५० से १९६० तक मैं मीरां की मूल पदावली की खोज और उसके पाठानुशीलन के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहा । सारे देश में घूमकर और लगभग सात हजार रुपये खर्च कर मैंने मीरां-नामधारी ३६५९ पद संग्रहीत किये और फिर इन सारे पदों का कालक्रमागत पाठभेदयुक्त रूप निश्चित किया । फिर डाकोर और काशी की हस्तलिखित प्रतियों के पदों का जोधपुर, उदयपुर, बम्बई, अहमदाबाद आदि स्थलों पर उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों के पदों से मिलान किया । इसके बाद परंपरित मीरां-पदावली का डाकोर और काशी की प्रतियों के पदों से भावगत, भाषागत, ऐतिहासिक एवम् तुलनात्मक अध्ययन कर मैंने मीरां-साहित्य के इतिहास में सबसे पहली बार साम्प्रदायिक रंगों और भाषावादी आवरणों को छाँटकर मीरां-पदावली का प्रामाणीकरण ही नहीं, अपितु मीरां की मूल वाणी का निर्व्याज रूप निर्धारित करने का एक विनम्र प्रयास किया । हिन्दी, गुजराती, बंगला या पंजाबी आदि भाषाओं में मीरां के पदों के जो गेय रूप मिलते हैं, उनकी मीमांसा भी मैंने यथाशक्ति की और फिर मीरां की मूल पदावली के गेय रूपान्तरों का संपादन कर यह प्रबन्ध प्रस्तुत किया । सागर विश्वविद्यालय से इसी प्रबन्ध पर मुझे २० मार्च १९६३ को 'डॉक्टर ऑव् फिलासफ़ी' की उपाधि प्राप्त हुई । सागर विश्वविद्यालय के सम्माननीय अधिकारियों ने इस प्रबन्ध के प्रकाशन की अनुमति भी देकर मुझे उपकृत किया है, अतः मैं उन्हें धन्यवाद देता हूँ ।

प्रचलित हैं, वे सब के सब मीरां की ही रचना नहीं हो सकते। भला कृष्ण को ही अपना जीवन सर्वस्व मानकर चलने वाली पतिव्रता मीरां अलग-अलग संप्रदायों की खाक छानने क्यों गई होगी? राजस्थानी, ब्रज, गुजराती, पंजाबी, खड़ी-बोली आदि में उसने अलग-अलग पद कैसे रचे होंगे? इन प्रश्नों का उत्तर मुझे मीरां-पदावली के प्रवाहमुखी अभियान में नहीं मिला, अतः मैंने सन् १९५५ से मीरां-पदावली के प्रवाहमुखी अभियान को छोड़ उसके अभ्यास का स्रोतमुखी अभियान शुरू किया। मीरां के आधुनिक पदों की जब मैंने प्राचीन पदों से तुलना की तो मुझे लगा कि मीरां के पद मूलतः राजस्थानी में रहे होंगे और बाद में लोगों ने उन्हें गेय परंपरा में ब्रज, गुजराती आदि भाषाओं में बदल लिया होगा। स्वाभाविक है कि मीरां के सर्वाधिक प्रामाणिक पद उनकी मातृ-भाषा के पद होना चाहिए।

श्रद्धेय सुमनजी का मुझ पर बड़ा स्नेह है। वे मेरी साहित्य-साधना के निकटतम प्रेरक और निरीक्षक रहे हैं, अतः उन्होंने मुझे ११ अक्टूबर १९५६ को नेपाल-स्थित भारतीय दूतावास से निम्नलिखित पत्र भेजा—

EMBASSY OF INDIA
NEPAL.
11-10-56.

प्रिय तिवारी,

तुम्हारी अप्रतिहत साधना को देखकर हृदय गद्‌गद् हो उठता है। निस्सन्देह तुम किसी दिन माँ भारती के लाड़ले उपासकों में गिने जाओगे। भँवरगीत के पश्चात् मीरा की आराधना का व्रत तुम्हारे उदात्त मानस-परिष्कार का ही परिचायक है। हृदय से तुम्हारी सफलता चाहता हूँ। मीरा पर गवेषणात्मक कार्य करने के लिए कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष श्री ललिताप्रसाद जी शुक्ल से बातचीत करो। इस प्रसंग में उनसे मेरे नाम का उल्लेख कर सकते हो। अवसर आने पर मैं स्वयं तुम्हारे विषय में उन्हें लिख दूँगा। तुम्हारा अध्यवसाय और अध्ययन सराहनीय है। शीघ्र ही तुम्हे डाक्टरेट की उपाधि से विभूषित देखना चाहता हूँ, पर जल्दबाजी न करना। गवेषणा के कार्यों में बड़े धैर्य और संतुलन की आवश्यकता होती है। मुझे भी दुख है कि तुम्हारे प्रस्फुटन के समय मैं दूर चला आया, पर कोई बात नहीं—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।....

यह सदा ध्यान रखना कि अपने व्यक्ति को उत्सर्ग किए बिना भावना की

आरती प्रदीप्त नहीं होती। तुम्हारी साधना युग की आराधना को मूर्तिमान कर सके, यही कामना है।

आशा है, स्वस्थ और सानंद होंगे।

स्नेह सहित,

तुम्हारा

'सुमन'

श्रद्धेय सुमनजी की सूचना के अनुसार मैं आचार्य ललिताप्रसादजी सुकुल से मिला और उनसे मीरां के पदों की डाकोर और काशी वाली प्रतियों की प्रतिलिपियाँ प्राप्त कीं। सुकुलजी ने मीरा-पदावली के प्रमाणीकरण की समस्या पर अपने अनुभव सुनाये और इस ऐतिहासिक महत्व के कार्य की आवश्यकता पर बल दिया।

सुकुलजी से मिलकर लौटते समय मैं इलाहाबाद आया और डॉ० धीरेन्द्रजी वर्मा से उनके निवास-स्थान पर मिला। वर्माजी बोले—तिवारीजी! मीरां पर महल कोई भी बना ले, पर आधार ढूँढना मुश्किल है।

वर्माजी का यह वाक्य मीरां-पदावली के प्रामाणीकरण में मेरे लिए प्रेरक तत्व की तरह काम आया। अतः उनके इस प्रेरक वाक्य के लिए मैं उनका ऋणी हूँ।

कहने का प्रयोजन यह है कि सन् १९५० से १९६० तक मैं मीरां की मूल पदावली की खोज और उसके पाठानुशीलन के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहा। सारे देश में घूमकर और लगभग सात हजार रुपये खर्च कर मैंने मीरां-नामधारी ३६५९ पद संग्रहीत किये और फिर इन सारे पदों का कालक्रमागत पाठभेदयुक्त रूप निश्चित किया। फिर डाकोर और काशी की हस्तलिखित प्रतियों के पदों का जोधपुर, उदयपुर, बम्बई, अहमदाबाद आदि स्थलों पर उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों के पदों से मिलान किया। इसके बाद परंपरित मीरां-पदावली का डाकोर और काशी की प्रतियों के पदों से भावगत, भाषागत, ऐतिहासिक एवम् तुलनात्मक अध्ययन कर मैंने मीरां-साहित्य के इतिहास में सबसे पहली बार साम्प्रदायिक रंगों और भाषावादी आवरणों को छाँटकर मीरां-पदावली का प्रामाणीकरण ही नहीं, अपितु मीरां की मूल वाणी का निर्व्याज रूप निर्धारित करने का एक विनम्र प्रयास किया। हिन्दी, गुजराती, बंगला या पंजाबी आदि भाषाओं में मीरां के पदों के जो गेय रूप मिलते हैं, उनकी मीमांसा भी मैंने यथाशक्ति की और फिर मीरां की मूल पदावली के गेय रूपान्तरों का संपादन कर यह प्रबन्ध प्रस्तुत किया। सागर विश्वविद्यालय से इसी प्रबन्ध पर मुझे २० मार्च १९६३ को 'डॉक्टर ऑव् फिलासफ़ी' की उपाधि प्राप्त हुई। सागर विश्वविद्यालय के सम्माननीय अधिकारियों ने इस प्रबन्ध के प्रकाशन की अनुमति भी देकर मुझे उपकृत किया है, अतः मैं उन्हें धन्यवाद देता हूँ।

प्रचलित हैं, वे सब के सब मीरां की ही रचना नहीं हो सकते। भला कृष्ण को ही अपना जीवन सर्वस्व मानकर चलने वाली पतिव्रता मीरां अलग-अलग संप्रदायों की खाक छानने क्यों गई होगी? राजस्थानी, ब्रज, गुजराती, पंजाबी, खड़ी-बोली आदि में उसने अलग-अलग पद कैसे रचे होंगे? इन प्रश्नों का उत्तर मुझे मीरां-पदावली के प्रवाह-मुखी अभियान में नहीं मिला, अतः मैंने सन् १६५५ से मीरां-पदावली के प्रवाहमुखी अभियान को छोड़ उसके अभ्यास का स्रोतमुखी अभियान शुरू किया। मीरां के आधुनिक पदों की जब मैंने प्राचीन पदों से तुलना की तो मुझे लगा कि मीरां के पद मूलतः राजस्थानी में रहे होंगे और बाद में लोगों ने उन्हें गेय परंपरा में ब्रज, गुजराती आदि भाषाओं में बदल लिया होगा। स्वाभाविक है कि मीरां के सर्वाधिक प्रामाणिक पद उनकी मातृ-भाषा के पद होना चाहिए।

श्रद्धेय सुमनजी का मुझ पर बड़ा स्नेह है। वे मेरी साहित्य-साधना के निकटतम प्रेरक और निरीक्षक रहे हैं, अतः उन्होंने मुझे ११ अक्टूबर १६५६ को नेपाल-स्थित भारतीय दूतावास से निम्नलिखित पत्र भेजा—

EMBASSY OF INDIA
NEPAL.
11-10-56.

प्रिय तिवारी,

तुम्हारी अप्रतिहत साधना को देखकर हृदय गद्‌गद् हो उठता है। निस्सन्देह तुम किसी दिन माँ भारती के लाड़ले उपासकों में गिने जाओगे। भँवरगीत के पश्चात् मीरा की आराधना का व्रत तुम्हारे उदात्त मानस-परिष्कार का ही परिचायक है। हृदय से तुम्हारी सफलता चाहता हूँ। मीरा पर गवेषणात्मक कार्य करने के लिए कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष श्री ललिताप्रसाद् जी शुक्ल से बातचीत करो। इस प्रसंग में उनसे मेरे नाम का उल्लेख कर सकते हो। अवसर आने पर मैं स्वयं तुम्हारे विषय में उन्हें लिख दूँगा। तुम्हारा अध्यवसाय और अध्ययन सराहनीय है। शीघ्र ही तुम्हे डाक्टरेट की उपाधि से विभूषित देखना चाहता हूँ, पर जल्दबाजी न करना। गवेषणा के कार्यों में बड़े धैर्य और संतुलन की आवश्यकता होती है। मुझे भी दुख है कि तुम्हारे प्रस्फुटन के समय मैं दूर चला आया, पर कोई बात नहीं—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।....

यह सदा ध्यान रखना कि अपने व्यक्ति को उत्सर्ग किए बिना भावना की

आरती प्रदीप्त नहीं होती। तुम्हारी साधना युग की आराधना को मूर्तिमान कर सके, यही कामना है।

आशा है, स्वस्थ और सानंद होंगे।

स्नेह सहित,

तुम्हारा
'सुमन'

श्रद्धेय सुमनजी की सूचना के अनुसार मैं आचार्य ललिताप्रसादजी सुकुल से मिला और उनसे मीरां के पदों की डाकोर और काशी वाली प्रतियों की प्रतिलिपियाँ प्राप्त कीं। सुकुलजी ने मीरा-पदावली के प्रमाणीकरण की समस्या पर अपने अनुभव सुनाये और इस ऐतिहासिक महत्व के कार्य की आवश्यकता पर बल दिया।

सुकुलजी से मिलकर लौटते समय मैं इलाहाबाद आया और डॉ० धीरेन्द्रजी वर्मा से उनके निवास-स्थान पर मिला। वर्माजी बोले—तिवारीजी! मीरां पर महल कोई भी बना ले, पर आधार ढूँढना मुश्किल है।

वर्माजी का यह वाक्य मीरां-पदावली के प्रामाणीकरण में मेरे लिए प्रेरक तत्व की तरह काम आया। अतः उनके इस प्रेरक वाक्य के लिए मैं उनका ऋणी हूँ।

कहने का प्रयोजन यह है कि सन् १९५० से १९६० तक मैं मीरां की मूल पदावली की खोज और उसके पाठानुशीलन के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहा। सारे देश में घूमकर और लगभग सात हजार रुपये खर्च कर मैंने मीरां-नामधारी ३६५९ पद संग्रहीत किये और फिर इन सारे पदों का कालक्रमागत पाठभेदयुक्त रूप निश्चित किया। फिर डाकोर और काशी की हस्तलिखित प्रतियों के पदों का जोधपुर, उदयपुर, बम्बई, अहमदाबाद आदि स्थलों पर उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों के पदों से मिलान किया। इसके बाद परंपरित मीरां-पदावली का डाकोर और काशी की प्रतियों के पदों से भावगत, भाषागत, ऐतिहासिक एवम् तुलनात्मक अध्ययन कर मैंने मीरां-साहित्य के इतिहास में सबसे पहली बार साम्प्रदायिक रंगों और भाषावादी आवरणों को छाँटकर मीरां-पदावली का प्रामाणीकरण ही नहीं, अपितु मीरां की मूल वाणी का निर्व्याज रूप निर्धारित करने का एक विनम्र प्रयास किया। हिन्दी, गुजराती, बंगला या पंजाबी आदि भाषाओं में मीरां के पदों के जो गेय रूप मिलते हैं, उनकी मीमांसा भी मैंने यथाशक्ति की और फिर मीरां की मूल पदावली के गेय रूपान्तरों का संपादन कर यह प्रबन्ध प्रस्तुत किया। सागर विश्वविद्यालय से इसी प्रबन्ध पर मुझे २० मार्च १९६३ को 'डॉक्टर ऑव् फिलासफ़ी' की उपाधि प्राप्त हुई। सागर विश्वविद्यालय के सम्माननीय अधिकारियों ने इस प्रबन्ध के प्रकाशन की अनुमति भी देकर मुझे उपकृत किया है, अतः मैं उन्हें धन्यवाद देता हूँ।

परम पूज्य पं० नन्ददुलारेजी बाजपेयी के चरणों के निकट बैठकर मैंने यह प्रबन्ध पूर्ण किया। पूज्य पंडितजी का वात्सल्य और मार्गदर्शन मेरे जीवन की महानतम उपलब्धियाँ हैं। उन्होंने जिस आत्मीयता से इस प्रबन्ध का एक-एक शब्द सुना और मुझे नई दिशा, नूतन गति और नया रास्ता दिखाया, उसके लिए मैं उनका चिर कृतज्ञ हूँ। उनका आशीर्वाद इस प्रबन्ध के साथ जुड़ा है। अनेकानेक स्मृतियों के साथ, श्रद्धा और भक्ति के साथ यह ग्रंथ उन्हें ही समर्पित है।

इस प्रबन्ध के लेखन के समय डॉ० शिवमंगलसिंह सुमन, आचार्य ललिताप्रसाद सुकुल, महाप्राण सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, पं० मोहनवल्लभ पंत, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पं० केशवराम काशीराम शास्त्री, डॉ० टीकमसिंह तोमर, डॉ० भगीरथजी मिश्र, डॉ० न० चिं० जोगळेकर, डॉ० बलभद्रजी तिवारी, डॉ० सी० एल० प्रभात तथा श्री हरिमोहनजी मालवीय ने मुझे जो सहयोग दिया है, उसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

स्वर्गीय आचार्य ललिताप्रसादजी सुकुल, महाप्राण निराला, और पं० मोहन-वल्लभजी पंत मेरे प्रति विशेष वत्सल थे। मीरां के बारे में मेरा इनसे जो विचार-विमर्श हुआ था और इन्होंने मुझसे जो अभिलाषाएँ व्यक्त की थीं, उन्हें मैंने अपनी सम्पूर्ण अव्यभिचारिणी निष्ठा के साथ इस ग्रंथ में पूर्ण करने का प्रयत्न किया है। आज जब यह प्रबन्ध छपने जा रहा है, तब मेरा मन संत-स्वभाव सुकुलजी, आत्मचेता निराला, आचार्य प्रवर पं० नंददुलारेजी बाजपेयी तथा पं० मोहनवल्लभजी पंत के स्वर्गारोहणकी दुखद स्मृतियों से आक्रान्त है। मैं इन सभी पूज्य पुरुषों के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ और विश्वास करता हूँ कि स्वर्गीय सुकुलजी का 'प्रामाणिक मीरां-पदावली' का स्वप्न, अंशतः ही क्यों न हो, इस प्रबन्ध के दूसरे खण्ड में साकार हो गया है।

इस ग्रंथ के लिए सामग्री संकलित करते समय बम्बई, बड़ौदा, अहमदाबाद, आणंद, डाकोर, द्वारका, नाथद्वारा, काँकरौली, उदयपुर, जयपुर, जोधपुर, मेड़ता, चित्तौड़, आगरा, मथुरा, वृन्दावन, भरतपुर, कांमा, गोकुल, दिल्ली, पटियाला, उज्जैन, इन्दौर, सागर, लखनऊ, इलाहाबाद, वाराणसी, पटना, कलकत्ता, पूना, मद्रास तथा रामेश्वरम् आदि अनेक स्थलों के सन्तों, भक्तों, गायकों, संगीत-प्रेमियों, मठाधीशों, ग्रन्थपालों और संग्रहालयाधिपतियों से मुझे बड़ी सहायता मिली है। इन सबका मैं अत्यन्त ऋणी हूँ। इन सभी सहयोगियों के उदार सहयोग और बारह वर्ष की साधना के उपरांत मीरां-सम्बन्धी समस्त उपलब्ध प्रकाशित, अप्रकाशित, हस्तलिखित और मौखिक परम्परा से प्राप्त सामग्री के संकलन, अध्ययन, मनन, चिन्तन, विश्लेषण, वर्गी-करण, तुलनात्मक अध्ययन और अनुशीलन के उपरान्त मैं इस प्रबन्ध में प्रामाणिक प्रतिमानों के आधार पर मीरां-विषयक अपनी नूतन उपलब्धियाँ और निष्कर्ष विद्वज्जनों तथा सुधी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ। इसमें पूर्व प्रचलित मतों के सम्बन्ध में

जहाँ कहीं मैंने शंकाएँ उठाई हैं, वहाँ उनके कारण और प्रमाण दिये हैं तथा जहाँ कहीं नवीन तथ्य और मौलिक मत स्थापित किये हैं, वहीं उनके लिए ठोस प्रमाण और पुष्ट कारण भी दिये हैं। इसमें भी प्रबन्ध के दूसरे खण्ड में प्रस्तुत मीरां-पदावली का प्रमाणीकरण तो इतना स्पष्ट है कि कोई भी पाठक मूल पद तथा पाठ-परम्परा को हस्तामलकवत् देख सकता है।

फिर भी मैं यह दुराग्रह नहीं करता कि प्रस्तुत प्रबन्ध मीरां की भक्ति और उनकी काव्य-साधना के सम्बन्ध में 'अंतिम सत्य' के रूप में ग्रहण किया जाय। यह तो सत्य तक पहुँचने का एक प्रारंभिक प्रयास मात्र है। संभव है—भविष्य में मीरां-पदावली की कोई और प्रामाणिक प्रति मिले और नये तथ्य प्रकाश में आएँ, पर उपलब्ध प्रतियों के आधार पर मेरा यह विनम्र विश्वास है कि जिन पदों को मैंने मीरां की मूल~~वाणी~~ माना है, वे निश्चय ही मीरां के कण्ठ से उद्भूत स्वर समुच्चय हैं।

शोध-साधना के सम्बन्ध में मेरी यह धारणा है कि विषय विशेष को लेकर उपलब्ध सम्पूर्ण सामग्री के संकलन, अध्ययन और अनुशीलन के उपरान्त नवोपलब्ध तत्व और नूतन मान्यताओं की प्रतिष्ठा करना संशोधक का कार्य है। ऐसा करते समय बड़े धैर्य और गांभीर्य के साथ सद्असद विवेक-बुद्धि से, तटस्थ, नि:स्वार्थ और निष्पक्ष मत का प्रतिपादन होना चाहिए। अपने तर्क-सम्मत सत्य की प्रतिष्ठा में संशोधक को न तो दूषित पूर्वाग्रह के बल पर ही चलना चाहिए और न नवीनता के जोश में वस्तु-स्थिति की उपेक्षा कर दुराग्रह ही करना चाहिए। प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखन में मैंने इस धारणा का सतर्कतापूर्वक आद्यन्त पालन किया है।

अन्त में, मैं उन सभी विद्वानों का आभारी हूँ, जिनकी कृतियों से इस प्रबन्ध के लेखन में मुझे सहायता मिली है। यदि इस प्रबन्ध से मीरां विषयक भ्रान्तियों के निराकरण में तथा मीरां के सही स्वरूप को समझने में पाठकों को लेशमात्र भी सहायता मिली तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा। आशा है—सुधीजन इस प्रबन्ध में प्राप्त सभी ज्ञात-अज्ञात भूलों के लिए मुझे क्षमा करेंगे।

विनीत,
भगवानदास तिवारी

सोलापुर कॉलेज,
सोलापुर—२ (महाराष्ट्र)
२ जनवरी १९७४

अनुक्रमणिका

विषय-प्रवेश

अनुक्रमणिका

विषय-प्रवेश

के उल्लेख, प्रियतम की खोज के प्रयास, वृन्दावन का प्रकृति-चित्रण, आराध्य का रूप-वर्णन, आराध्य की मूर्तियों के वर्णन, वृन्दावन में देखी गई मूर्तियाँ, श्रीकृष्ण की अष्टमूर्तियों की प्रतिष्ठा, श्री गोविन्द जी की मूर्ति, श्री बाँके बिहारी जी की मूर्ति, श्री मदनगोपाल जी की मूर्ति, गुजरात में देखी गई मूर्तियाँ, रणछोड़जी की मूर्ति विजयसिंह बोडाणा का जीवनवृत्त आराध्य का गुण-वर्णन, लीला-वर्णन, अभिलाषा, होली, वर्षा, प्रेमालाप, दर्शनानन्द, मुरली, उपालम्भ, मनोराज्य, आजन्मविरह।

प्रौढ़-पूर्वराग की दस दशायें—(१) लालसा, (२) उद्वेग, (३) जागरण (४) तानव, (५ जड़िमा, (६) वैवग्रय (व्यग्रता), (७) व्याधि, (८) उल्लास, (९) मोह (मूर्च्छा), (१०) मृत्यु।

सामंजस्य पूर्व राग की दस दशायें—मीरां-पदावली में सामंजस्य पूर्व राग की दस दशाओं का विवरण।

साधारण पूर्वराग और उसकी दशायें,

प्रवासजन्य क्लेश की दस दशाय,

मीरां की उपासना-पद्धति का स्वरूप, विधि विधान, आराध्य के नाम और मीरां से उनका सम्बन्ध-विनीता, गुण-लीला-गायिका, दर्शनार्थी, आराधिका, विरहिन प्रेयसि, मीरां की छाप, मीरां-भाव।

अध्याय ६

मीरां-पदावली के कला-पक्ष का विवेचन पृष्ठ २६५-३०२

मीरां-पदावली की भाषा का स्वरूप

मीरां-पदावली की भाषा के परिवर्तन के कारण और स्वरूप—लिपि-भेद से भाषा-भेद, लहिया और भाषा-भेद, संगीतकारों द्वारा गेय पदों में भाषा-परिवर्तन, सम्पादकीय प्रहार से भाषा-परिवर्तन, साधु-सन्तों द्वारा भाषा-परिवर्तन, कुछ गुजराती समीक्षकों की मान्यताएँ, मूल-पदावली संबंधी महत्वपूर्ण तथ्य, प्रामाणिक पदावली की भाषा-गत विशिष्टताएँ, मूल मीरां-पदावली के कुछ शब्द और उनके रूप।

डिंगल-भाषा—राजस्थानी काव्य-परम्परा की भाषा, 'मूल' मीरां-पदावली में डिंगल के शब्द और उनके रूप।

राजस्थानी-व्याकरण और मीरां-पदावली—राजस्थानी भाषा की उच्चारण सम्बन्धी विशेषताएँ, लिंग और वचन, कारक तथा विभक्तियाँ, सर्वनाम और उनके रूप, क्रियाएँ और तत्सम्बन्धी सामान्य नियम, पदावली में प्रयुक्त क्रियाओं के रूप।

मीरां-पदावली की छन्द-योजना

संगीत—मीरां के युग में संगीत और उसकी परम्परा, मीरां के जीवन में सम-सामयिक संगीत-तत्व, मीरां का संगीत-समुच्चय-गायन-वादन और नृत्य-भाव प्रदर्शन, (अ) दाम्पत्य-भाव, (आ) प्रेम-भाव, (इ) विरह-भाव, (ई) मिलन-भाव, (उ) मनो-भाव, (ऊ) अनुभाव और संचारी भाव, मीरां-पदावली की राग-रागिनियाँ।

अलंकार—(क) उपमा, (ख) रूपक, (ग) उत्प्रेक्षा, (घ) अत्युक्ति, (ङ) अर्थान्तर-न्यास, (च) विभावना, (छ) वीप्सा, (ज) उदाहरण, (झ) वृत्यनुप्रास, (ञ) श्लेष, (ट) दृष्टान्त, (ठ) स्वभावोक्ति, मीरां-पदावली में प्राप्त अलंकारों का शास्त्रीय वर्गीकरण।

मुहावरे, कहावतें और लोकोक्तियाँ

मीरां-पदावली का रस-तत्व और उसकी निष्पत्ति—मीरां-पदावली के रस-तत्व का विभाजन, शृंगार रस, संयोग शृंगार, विप्रलम्भ शृंगार, करुण-रस, करुण रस और विप्रलंभ शृंगार का तात्विक भेद, शान्त रस, मधुर रस।

मीरां की काव्य-कला का स्वरूप—(१) मीरां की काव्य-कला का आधार, (२) उपकरण, (३) रूप, (४) प्रभाव।

अध्याय ७

गीति काव्य-परम्परा में मीरां का वैशिष्ट्य पृष्ठ ३०३-३३५

काव्य का स्वरूप, भारतीय साहित्य में काव्य चिन्तन, काव्य-सम्प्रदाय, काव्य के स्वरूप-भेद—(१) प्रबन्ध, प्रबन्ध काव्य के भेद-महाकाव्य, खण्डकाव्य, (२) अबन्ध-काव्य, गीतिकाव्य, मुक्तक, (३) बन्धाबन्ध काव्य।

गीतिकाव्य-गीति काव्य का स्वरूप, पश्चिमी विद्वानों की दृष्टि में गीति काव्य, गीति काव्य-सम्बन्धी पाश्चात्य अभिमत।

गीतिकाव्य के तत्व—(१) वैयक्तिकता, (२) कल्पनाशीलता, (३) मार्मिकता भावात्मकता, (५) संक्षिप्तता, (६) संगीतात्मकता।

गीतिकाव्य का वर्गीकरण—(१) आकारगत वर्गीकरण, (२) भावगत वर्गीकरण, (३) लिखित और अलिखित गीतिकाव्य।

गीतिकाव्य का उद्भव और विकास-वेदों का गीति तत्व, ऋग्वेद की गीतात्मक ऋचायें, सामवेद में गीतितत्व, रामायण और महाभारत, भारत के नाट्य शास्त्र में गीतों का ध्येय परिवर्तन, बौद्ध और जैन कालीन काव्य, पाली, अर्धमागधी और प्राकृत

विषय-प्रवेश

परम्परा और पृष्ठभूमि :—

भारत धर्मप्राण देश है। इसकी ऐतिहासिक परम्परा में व्यक्तिगत जीवन, सामाजिक व्यवस्था, साहित्य, सभ्यता, संस्कृति, आचार-विचार, नीति, व्यवहार और कर्म सभी धर्म से अनुप्राणित होते रहे हैं। वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक देश की इस धर्मप्राण चिन्तन-धारा ने हमारे जीवन को आध्यात्मिक शक्ति से अभिसिंचित कर पल्लवित, पुष्पित और फलीभूत किया है। लौकिक जीवन में धर्म ने सत्य, अहिंसा, प्रेम, त्याग, सेवा, संयम, सदाचार, सत्कर्म और परोपकार के सन्देश दे एक ओर तो व्यक्ति और समाज के आदर्श स्वरूप का मंगलमय विधान प्रस्तुत किया है तथा दूसरी ओर अहर्निश ईश्वर-भक्ति और आत्म-चिंतन द्वारा आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग-निर्देशन भी। इसी उदात्त संस्कार के कारण भारतीय धर्म-दर्शन अमांगलिक तत्वों का विरोधक, मानवीय आदर्शों का पोषक और लोकमंगल-विधायक सांस्कृतिक चेतना का आधार है। वह मनुष्य को संसार में आत्मशक्ति-सम्पन्न उन्नत मनुष्यता के साथ रहकर विदेहिता से मुक्ति के परमानन्द की उपलब्धि का मार्ग बतलाता है। व्यवहार और साधना के क्षेत्र में धर्म की यही उपादेयता उसके चिरन्तन अस्तित्व का मूलभूत कारण है।

यदि विक्रम की चौदहवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक के सम्पूर्ण भारतीय साहित्य की अन्तश्चेतना के मूल स्वरूप का तात्विक विवेचन किया जाय तो यह स्पष्टतः परिलक्षित हो जाता है कि इस युग का अधिकांश साहित्य भक्तिभाव-प्रेरित धर्म-साधना-साहित्य है, जो तद्युगीन देशव्यापी सांस्कृतिक चेतना के नवोन्मेष और पुनर्जागरण का द्योतक है। इस धर्म-साधना-साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके प्रणेता उच्च श्रेणी के भावुक भक्त और युग-द्रष्टा सन्त थे, इसीलिए उनकी वाणी 'स्वान्तः सुखाय' होते हुए भी 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' है। उनके मन्तव्य चिरन्तन सत्य के आत्मानुभूत प्रमाण वचन हैं। कवि-कर्म की साधना करना संतों और भक्तों का ध्येय नहीं था; किन्तु फिर भी उन्होंने अपनी अनुभूति को, सत्यता को जो वाणी दी है, वह सनातन कवित्व का श्रृंगार कर सकती है।

मीरां का आविर्भाव भी इसी युग में हुआ था। वे राजस्थान की अग्रगण्य विभूति थीं। राजस्थान की रक्त-रंजित भूमि में उन्होंने जो भक्ति-मंदाकिनी प्रवाहित की उसमें निमग्न होते ही क्षण भर में हृदय का सारा कल्मष घुल जाता है और हमारी आत्मा एक अलौकिक आनंद से रस-सिक्त हो जाती है। अपनी अलौकिक भक्ति-भावना और दिव्य काव्य-साधना के कारण ही वे भारतीय साहित्य के इतिहास में अक्षुण्ण कीर्ति की अधिकारिणी हैं तथा मेवाड़ के नवरत्नों[1] में उनकी गणना की जाती है।

असाधारण व्यक्तित्व तथा विरह-विदग्ध, प्रेम-प्रणीत पदावली के कारण विगत चार शताब्दियों से उनकी लोकप्रियता अद्वितीय है। उन्होंने जीवनव्यापी कटुता, विषमता और पीड़ा को आत्मसात् कर अपने 'साँवलिया' के प्रति जिस अनन्य प्रेम का परिचय दिया है वह अविस्मरणीय है, अभिनन्दनीय है। उनकी सम्पूर्ण अन्तर्पीड़ा उनके पदों में घनीभूत हो साकार बन गई है। इसीलिये कृष्ण-प्रेम से परिपूर्ण उनके पद हमारी श्रद्धा, भक्ति और आस्था के केन्द्र-बिन्दु हैं।

मीरां के व्यक्तित्व, काव्य तथा भक्ति-भाव से परिचित होने के पूर्व उनके युग की एक झलक देख लेना आवश्यक है क्योंकि युग-जीवन से अलिप्त रहकर कोई भी कवि अमर काव्य की सृष्टि नहीं कर सकता। मीरां के अमर काव्य की पृष्ठभूमि में सांस्कृतिक संघर्ष और धार्मिक आन्दोलन की जो रूपरेखा थी, उसका स्वरूप इस प्रकार है।

मीरां और उनका युग : राजनैतिक परिस्थितियाँ :—

मीरां के युग की सीमा-रेखायें सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से सत्रहवीं शताब्दी के प्रथम चरण तक फैली हुई हैं। राजनैतिक दृष्टि से इस युग में भारत की स्थिति बहुत दयनीय थी। राजस्थान की कुछ रियासतों को छोड़कर प्रायः समस्त उत्तर भारत में मुगलों का शासन स्थापित हो चुका था। देश में सर्वत्र सामन्तशाही का बोलबाला था। सामन्त जनता के हनन और शोषण के बल पर भोग-विलास-पूर्ण समृद्ध जीवन बिताते थे। उनके आक्रमणकारी सैनिक पराभूत जनता पर पाशविक अत्याचार करते थे। 'कत्लेआम' द्वारा निर्मम जन-संहार होता था। अनेक गाँव जन-शून्य हो गये थे। फसलें जलती थीं। गाँव लुटते थे। सर्वनाश की आशंका से लोग संत्रस्त थे। सतीत्व का अपहरण कर नारीत्व की पावन प्रतिमाओं पर वासना के जघन्य दीप जलाये जाते

---

१. धन्ना, पीपा, रैदास, मोतीनाथ, शार्ङ्गधर, कुंभा, झोटिङ्ग भट्ट, मण्डन सूत्रधार और मीरां मेवाड़ के नवरत्न थे। —राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज (तृतीय भाग), उदयसिंह भटनागर, पृष्ठ ६।

थे । हाथ की चूड़ियाँ, माँग का सिन्दूर, गोदी के लाल--सबका अस्तित्व भय से आतंकित था । संक्षेप में, जीवन पर मुगल-सल्तनत की आततायी तलवार का कठोर शासन था ।

दक्षिण भारत के हिन्दू राज्यों की भी स्थिति लगभग ऐसी ही थी । सौराष्ट्र, बल्लभी और कालीकट के हिन्दू राजाओं की नीति मुसलमानों के प्रति बहुत उदार थी । उन्होंने मुसलमानों को हिन्दू-स्त्रियों से शादी करने की पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी थी । जहाँ-तहाँ मस्जिदों का निर्माण, सूफी-दर्शन और इस्लाम-संस्कृति का प्रचार हो रहा था। तलवार का स्वच्छन्द प्रयोग भी इस प्रचार-कार्य का एक आवश्यक अंग था ।

राजस्थान के स्वातंत्र्य-भाव की गौरव-गरिमा मुगल शासकों की आँखों में किरकिरी की तरह सालती थी । वे उसे हड़प जाना चाहते थे और इसीलिये राजपूताने पर मुगलों के निरन्तर आक्रमण हुआ करते थे । मातृभूमि की स्वतन्त्रता और जातीय गौरव की रक्षा के लिए राजस्थान के रणबाँकुरे सदैव सिर पर कफन बाँध मृत्यु का स्वागत करने के लिये तैयार रहते थे । उनके लिये जीवन उत्सर्ग का त्योहार था, किन्तु इतिहास हमें यह बतलाता है कि मीरां के जीवन-काल में राजस्थान के राजपूत राजाओं की भी शक्ति क्षीण हो गई थी । झूठे दर्प और आत्म-लिप्सा के कारण वे एक दूसरे से लड़ते रहते थे । बात-बात में नगाड़े बजते थे, रणभेरी सुनी जाती थी। संगठन-सूत्रों की शिथिलता और पारस्परिक फूट के कारण राजस्थान के अनेक छोटे-छोटे राज्य मुगलों के अधिकार में आते जा रहे थे ।

कन्हवा के मैदान में संवत् १५८४ में बाबर और सांगा के युद्ध में मीरां के पिता रत्नसिंह मारे गये । उधर ससुर सांगा का भी देहान्त हो गया ।[1] इसके बाद जब मीरां मेवाड़ से मेड़ता लौटीं तो संवत् १५८९ में चित्तौड़ पर बहादुरशाह गुजराती ने चढ़ाई की । पहले संधि हुई, फिर दुबारा चढ़ाई कर उसने संवत् १५९२ में उस पर अधिकार कर लिया ।[2] इन घटनाओं से पता चलता है कि मीरां के अस्तित्व काल में राजस्थान पर दिल्ली और गुजरात की ओर से मुसलमानों के आक्रमण हुआ करते थे ।

सामाजिक जीवन :--

छुआछूत को मानने वाली हिन्दुओं की वर्ण-व्यवस्था में जाति-पाँति के बन्धन बहुत जटिल हो गये थे । ऊँच-नीच का भेदभाव अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था । उच्च-

१. तुजुक बाबर, पृष्ठ ५७३ ।

२. बहादुर ने चितौड़ ३ रमजान हि० स० ९४१ (विक्रम संवत् १५९२ चैत सुदी ५) को फतह किया था (अकबर नामा), और हुमायूं ने बहादुर को मंदसौर से २० रमजान (बैशाख बदी ९) को मंडू की तरफ भगाया था (मिरआद सिकंदरी)—मीरांबाई का जीवन-चरित्र—मुंशी देवीप्रसाद, फुटनोट, पृष्ठ १७ ।

वर्णीय हिन्दू शूद्रों को 'नीच' और यवनों को 'म्लेच्छ' कहकर उनसे घृणा करते थे। अछूतों के लिये मन्दिरों में प्रवेश करना निषिद्ध था। कर्मकाण्डी ब्राह्मण 'अस्पृश्य' लोगों की छाया तक को अस्पृश्य मानते थे। रोटी-बेटी के व्यवहार में भी ऐसी ही संकीर्ण मनोवृत्तियाँ कार्य कर रही थीं, जिनके परिणामस्वरूप छोटी-छोटी जातियाँ भी अनेक उपजातियों में बँट गई थीं। कहने का तात्पर्य यह है कि हिन्दू समाज में ऊँच-नीच का भेदभाव, आपसी फूट, पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष और घृणा के विषाक्त कीटाणु फैल चुके थे। इस्लाम की धार्मिक समता और सूफियों की उदार नीति के कारण हिन्दुओं द्वारा उपेक्षित, बहिष्कृत और पदमर्दित अनेक 'नीच जातियाँ' मुसलमान बन गई थीं। नीच जातियों के इस धर्म-परिवर्तन से हिन्दू समाज की शक्ति का ह्रास और मुसलमानों के सामाजिक संगठन की सतत अभिवृद्धि हो रही थी।

जातीय और सांस्कृतिक पतन का यह महत् सोपान था। सबसे पहले इसका आभास रामानंद जी को हुआ। उन्होंने वैष्णव धर्म की बाह्याचार-प्रधान पाखण्डपूर्ण संकीर्णता को चुनौती दे, कबीर जुलाहा, सेना नाई, धन्ना जाट और रैदास चमार को दीक्षा दी और उन्हें अपने सम्प्रदाय में मिला लिया। 'जाति-पाँति पूछे नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई॥' ही उनका उदार मत था, अतः मानवीय भाव-भूमि पर अछूतों के लिये भक्ति का द्वार खोलकर उन्होंने नीच समझी जाने वाली हिन्दू जातियों को मुसलमान बनने से रोका। रामांनद जी के इस सामयिक सतर्क प्रयास का जो सांस्कृतिक मूल्य है, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता।

धार्मिक सम्प्रदाय :—

रामानन्द जी के समय में इस देश में अनेक धार्मिक सम्प्रदाय विद्यमान थे, जिनकी एक सुनिश्चित परम्परा थी। मीरां पर भी साम्प्रदायिकता के आरोप लगाये गये हैं अतः मीरां और रामानन्द जी के पूर्ववर्ती सम्प्रदायों पर एक विहंगम दृष्टि डालना आवश्यक हो जाता है।

रामानन्द जी, रामानुजाचार्य (संवत् १०३७-११३७) की शिष्य-प्ररम्परा में थे। श्रीरामार्चन पद्धति के अनुसार 'रामानुजाचार्य जी रामानन्द जी से १४ पीढ़ी ऊपर थे।'[1] उन्होंने जगद्गुरु शंकराचार्य के मायावाद के विरोध में विशिष्टाद्वैतवाद का प्रतिपादन कर श्रीसंप्रदाय चलाया था, जिसमें लक्ष्मीनारायण की उपासना प्रचलित थी।

ग्यारहवीं शताब्दी में आचार्य निम्बार्क (जिनका असली नाम भास्कराचार्य था) ने द्वैताद्वैतवादी दर्शन के बल पर कृष्ण को उपास्य देव मानकर सनक-सम्प्रदाय (निम्बार्क सम्प्रदाय) चलाया।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, छठा संस्करण, संवत् २००७, पृष्ठ ११८।

मध्वाचार्य जी (संवत् ११९९-१३०३) के द्वैतवाद के आधार पर ब्रह्म सम्प्रदाय का आविर्भाव हुआ, जिसके आराध्य देव विष्णु थे।

बल्लभाचार्य जी (संवत् १५३५-१५८७) ने विष्णु स्वामी के रुद्र-सम्प्रदाय का पुनरुद्धार किया और शुद्धाद्वैतवादी सिद्धान्त प्रतिपादित कर 'पुष्टिमार्ग' चलाया। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में अनेक स्थलों पर इस बात का प्रमाण मिलता है कि बल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायियों ने मीरां को 'पुष्टि मार्ग' पर लाने के लिये अनेक प्रयत्न किये थे, जो सफल नहीं हुए। प्रमाण के लिये यहाँ एक दृष्टान्त पर्याप्त होगा।

अथ मीरांबाई के पुरोहित रामदास तिनकी वार्ता—

'सो एक दिन मीरांबाई के श्री ठाकुर जी के आगे रामदास जी कीर्तन करत हुते, सो रामदास जी श्री आचार्य जी महाप्रभून के पद गावत हुते, तब मीरांबाई बोली जो दूसरी पद श्री ठाकुरजी को गावो तब रामदास जी कह्यौ मीरांबाई सो जो अरे दारी रांड यह कौन को पद है। यह कहा तेरे खसम कौ मूंड़ है, जो जा आज से तेरौ मुँहड़ौ कबहूँ न देखूँगो। तब तहाँ ते सब कुटुम्ब कौं लैं के रामदास जी उठि चले तब मीरांबाई ने बहुतेरो कह्यौ परि रामदास जी रहे नाहीं। पाछें फिरि के वाको मुख न देख्यौ। ऐसे अपने प्रभून सों अनुरक्त हुते। सो वा दिन तें मीरांबाई को मुख न देख्यौ, वाकी वृत्ति छोड़ दीनी, फेर वाके गाँव के आगे होय के निकसे नाहीं। मीराँबाई ने बहुत बुलाये परि वे रामदास जी आये नाहीं। तब घर बैठे भेंट पठाई सोई फेरि दीनी और कह्यौ जो रांड तेरौ श्री आचार्य जी महाप्रभून ऊपर समत्व नाहीं जो हमको तेरी वृत्ति कहा करनी है!'[1]

मीरां के लिये यह संकुचित मनोवृत्ति और संकीर्ण साम्प्रदायिक कट्टरता का कटु अनुभव था, फिर भी उन्होंने उदारतापूर्वक रामदास जी को बुलाया, पर वे नहीं आये।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि 'महाप्रभून' के सभी भक्तों के प्रयास जब मीरां को 'पुष्टिमार्ग' पर नहीं ला सके तब उनकी असफलताजन्य निराशा से जो आक्रोश और झुँझलाहट पैदा हुई, उसी के कारण रामदास जी ने मीरांबाई के साथ इतना 'शिष्ट' व्यवहार किया। जो हो, वार्ता साहित्य से प्राप्त प्रमाण इस तथ्य के समर्थक हैं कि मीरां कभी बल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित नहीं हुईं।

मीरां के जन्म के कुछ ही समय पूर्व बंगाल में महाप्रभु चैतन्य (संवत् १५४२-१५९०) ने राधाभाव से प्रेरित हो अचिन्त्य भेदाभेदवाद का निरूपण किया था।

---

१. प्रसंग १, चौरासी वैष्णवन की वार्ता, डाकोर संस्करण, संवत् १९३०, पृ० १६१-१६२।

२. भारतेन्दु जी कृत उत्तरार्द्ध भक्तमाल, पृष्ठ १३६।

उनका सम्प्रदाय गौड़ीय सम्प्रदाय कहलाता है। इस सम्प्रदाय वालों ने भी मीरां के नाम से प्रक्षिप्त पद रचकर मीरां को 'गौर कृष्ण की दासी'[१] बनाने का अनावश्यक प्रयास किया है।

पंजाब में गुरु नानक की वाणी गूँज रही थी तथा सिख सम्प्रदाय संगठित हो रहा था। सम्पूर्ण उत्तर भारत और राजस्थान में कबीर पंथ, रैदासी सम्प्रदाय, नाथ, सिद्ध और जोगी अपना-अपना प्रचार कर रहे थे। रैदासी सम्प्रदाय और नाथ-पंथी जोगियों ने भी मीरां के अनेक पदों को अपने सम्प्रदायों के अनुरूप परिवर्तित कर मीरां को रैदास[२] या जोगी की शिष्या[३] बनाने के प्रयत्न किये हैं, किन्तु मीरां इनमें से किसी की भी शिष्या नहीं थीं।

गुजरात में नरसी मेहता कृष्ण-भक्ति का प्रचार कर रहे थे तथा दक्षिण भारत में, विशेषकर महाराष्ट्र में महानुभाव पंथ और वारकरी सम्प्रदाय विद्यमान थे। इस प्रकार मीरां के युग में देशव्यापी भक्ति-आन्दोलन चल रहा था।

वेदान्तपरक भक्ति-सम्प्रदायों के साथ-साथ वेदान्त-विरोधी स्वरों के प्रचारक वज्रयानी-सिद्ध, नाथपंथी-जोगी, अवधूत और कापालिक भी सारे उत्तर भारत में फैले थे। 'वज्रयान के अनुयायी अधिकतर नीची जाति के थे, अतः जाति-पाँति की व्यवस्था से उनका असन्तोष स्वाभाविक था। नाथ-सम्प्रदाय में भी शास्त्रज्ञ विद्वान नहीं जाते थे। इस सम्प्रदाय के कनफटे रमते योगी घट के भीतर के चक्रों, सहस्रदल-कमल, इला-पिंगला नाड़ियों इत्यादि की ओर संकेत करने वाली रहस्यमयी बानियाँ सुनाकर और करामात दिखाकर अपनी सिद्धाई की धाक सामान्य जनता पर जमाए हुए थे। वे लोगों को ऐसी बातें सुनाते आ रहे थे कि वेद-शास्त्र पढ़ने से क्या होता है, बाहरी पूजा-अर्चा की विधियाँ व्यर्थ हैं।[४]

महासुखवादी सिद्धों की रहस्यमूलक मुद्रा-साधना लौकिक भोगानन्द में भी अलौकिक सिद्धि का अधिष्ठान कर गई थी। कुण्डलिनी-साधना द्वारा योगी पिण्ड में ब्रह्माण्ड खोज ब्रह्म-ज्योति के दर्शन कर रहे थे। गुह्य और रहस्यमय योग-साधना जन-साधारण के बस का रोग नहीं थी, फिर भी सिद्धों और जोगियों का सामाजिक जीवन

---

१. मीरां : जीवनी और काव्य—महावीरसिंह गहलोत, षष्टम संस्करण, सं० २००२, पदलहारी—पृष्ठ ७४, पद ६६।

२. मीरांबाई की शब्दावली (तृतीय संस्करण, सन् १९२०), विरह और प्रेम का अंग, पृष्ठ २०, शब्द ४२।

३. मीरां-पदावली (तृतीय संस्करण, सन् १९४४)—श्रीमती विष्णु कुमारी 'मंजु', मीरांबाई की जीवनी पृ० ड।

४. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल (छठा संस्करण, संवत् २००७), पृष्ठ ६३।

पर बड़ा प्रभाव था । अवधूत और कापालिकों के 'जन्तर-मन्तर' और 'जादू-टोनों' का भी जनता पर आतंक छाया हुआ था । सूफी मत का प्रचार विधिवत् हो रहा था तथा देश की अशिक्षित जनता पीर, मजार, औलिया और फकीरों पर भी आस्था रखती थी ।

उक्त परिस्थितियों को देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि मीरां के युग में वेदान्त-परक भक्ति-सम्प्रदाय, वेदान्त-विरोधी सम्प्रदाय और नवागन्तुक इस्लाम-संस्कृति के परिचायक सूफीमत विद्यमान थे । राजनैतिक और सांस्कृतिक संघर्षों की ही भाँति इन सम्प्रदायों का संघर्ष भी बहुत जटिल था ।

सभी सम्प्रदायों के जनक लोक-जीवन में मानवीय भावना पैदा करना चाहते थे । कबीर और नानक को छोड़कर प्रायः सभी सम्प्रदायों के संस्थापक धर्म-दर्शन और तर्क-शास्त्र के प्रकाण्ड पंडित और उद्भट विद्वान थे । उन्होंने अपने सम्प्रदायों द्वारा संक्रमण कालीन राजनैतिक विषम परिस्थितियों में इस देश की धार्मिक प्रवृत्तियों और सांस्कृतिक चेतना का संरक्षण किया था । सन्तमत के प्रणेता कबीर और सिख सम्प्रदाय के प्रेरक गुरु नानक यद्यपि शास्त्रीय और दार्शनिक ज्ञान-गरिमा-सम्पन्न महान आचार्य तो नहीं थे, किन्तु फिर भी उन्होंने अपनी सारग्राहिणी प्रज्ञा से सत्संग, अनुभव, आत्मचिन्तन और सामाजिक निरीक्षण-परीक्षण द्वारा साम्प्रदायिक संघर्ष में युगान्तर उपस्थित किया था ।

प्रायः सभी वेदान्तपरक भक्ति-सम्प्रदायों का संघर्ष दुहरा था । एक ओर तो वे इस्लाम संस्कृति के सर्वग्राही प्रभाव से भारतीय जीवन की रक्षा कर रहे थे, तथा दूसरी ओर भारत में ही विद्यमान अवधूत, कापालिक, जोगी, और सिद्धों की गुह्य साधना, अलौकिक सिद्धि, और भोगवादी वृत्ति के पतनोन्मुख प्रचारों का अवरोध कर सामाजिक जीवन में नई शक्ति, नई स्फूर्ति और नई चेतना का संचार कर रहे थे । पलायनवादी जीवन में आस्था पैदा करना ही उनका प्रमुख कार्य था । वे लोक-वृत्ति को निवृत्ति से प्रवृत्ति की ओर मोड़ने के लिये निरन्तर प्रयत्नशील थे । इसीलिये हमने विक्रम की चौदहवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक के युग को 'देशव्यापी सांस्कृतिक चेतना के नवोन्मेष और पुनर्जागरण का युग' कहा है ।

सभी सम्प्रदायों के ऐतिहासिक विकास का क्रमिक अनुशीलन कर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि प्रारम्भ में प्रायः सभी सम्प्रदाय मानवीय भाव-भूमि और विशुद्ध आध्यात्मिक धर्म-दर्शन की पीठिका पर अधिष्ठित थे, किन्तु कालान्तर में सुनियोजित संगठन की दृष्टि से उनमें साम्प्रदायिक संकीर्णतायें पैदा हो गईं । प्रत्येक सम्प्रदाय में एक विशिष्ट प्रकार की उपासना-पद्धति, आचार-संहिता और साम्प्रदायिक विचार-सरणि प्रचलित हुई, जिसके परिणामस्वरूप किसी भी सम्प्रदाय में सम्मिलित होना तो सरल था किन्तु

उसके नियमोपनियमों के अनुरूप आचरण करना एक संकीर्ण घेरे में जीने जैसा कठिन हो गया था, फिर साम्प्रदायिक संगठनों में अपने-अपने सम्प्रदाय की श्रेष्ठता का अहंकार भी चेत रहा था इसलिये साम्प्रदायिक आचार्यों की खण्डन-मण्डन-वृत्ति बहुत बढ़ी हुई थी। फलतः भारतवर्ष का सम्पूर्ण भक्ति-कालीन साहित्य इन साम्प्रदायिक प्रभावों से परिपूर्ण है।

सन्तमत और कबीर :—

सन्तमत के प्रणेता कबीर और उनका काव्य युगप्रवृत्तियों का जीवन्त प्रमाण है। उन्होंने वैष्णवों से सदाचार, सूफियों से प्रेम तत्त्व, योगियों से हठयोग और सिद्धों से रहस्यमयी उद्भावनायें लेकर कबीरपंथ चलाया था। 'हिन्दुन की हिन्दुआई और तुरकन की तुरकाई' देख उन्होंने सामाजिक बुराइयों और धार्मिक पाखण्डों के खिलाफ विद्रोह को वाणी दी थी। समन्वय और विद्रोह की भावनाओं से परिपूर्ण उन्मुक्त आत्मचेता के तत्त्वदर्शन के कारण कबीर का व्यक्तित्व और काव्य बड़ा प्रभावशाली है, किन्तु कबीरदास के अनुयायियों में सुन्दरदास को छोड़कर प्रायः सभी सन्तों ने कबीर के ही विचारों को बार-बार दुहराया है, इसीलिये उनमें मौलिक विचारों, नवीन उद्भावनाओं और नूतन तत्त्व-चिन्तन का अभाव पाया जाता है।

प्रेममार्गी सूफी सम्प्रदाय और जायसी :—

जायसी भक्ति कालीन प्रेम-मार्गी सूफी-चिन्तन-धारा के सर्वश्रेष्ठ कवि थे। उनका मार्ग मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति से सम्बद्ध था। उन्होंने प्रेमाख्यानक काव्यों की रचना की और प्रेम की पीर के द्वारा लौकिक प्रेम में अलौकिक प्रेम-तत्त्व के दर्शन कराये। समन्वय की विराट भावना सूफियों में भी कार्य कर रही थी, अतः उन्होंने भारतीय कथानकों में कल्पना का पुट दे उनके ही माध्यम से सूफी-सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। सूफी-प्रेमाख्यानक महाकाव्य प्रेमिका के प्रति प्रेमी के अगाध प्रेम, विरह और उसे पाने के लिये किये गये अथक प्रयत्नों की भावविदग्ध कथाओं पर आश्रित हैं। प्रेम-गाथा के विकास की दिशा में किसी गुरु-द्वारा प्रेमी को प्रायः उपदेश, मार्ग-निर्देशन और सहयोग मिल जाता था जिससे संघर्ष के अन्त में प्रेमी-प्रेमिका का मिलन हो जाता था और सम्पूर्ण लौकिक कथा एक आध्यात्मिक रूपक में समाप्त हो जाती थी। सूफी काव्यों में आत्मा के लिये 'बन्दा', प्रेम के लिये 'इश्क', परमात्मा के लिये 'हक', गुरु के लिये 'पीर' और साधना की चरम सिद्धि के लिये 'मारिफत' शब्दों का प्रयोग हुआ है। मसनवी पद्धति से लिखे गये इन प्रेम काव्यों में हिन्दू-मुस्लिम-संस्कृतियों के सम्मिलन की चेष्टा दिखाई देती है। फिर भी भारतीय और सूफी आध्यात्मिक प्रेम-दर्शन में सबसे महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि भारतीय भक्त परमात्मा को पुरुष और आत्मा को नारी मानते थे जबकि सूफी ठीक इसके विपरीत

आत्मा को प्रेमी और परमात्मा (हक) को प्रेयसि मानते थे। इसीलिये भारतीय काव्य में विरह नारी के पल्ले पड़ा है और सूफी काव्य में आवश्यकतानुसार पुरुष और नारी दोनों के।

कृष्ण-भक्तिधारा और अष्टछाप के कवि :--

कृष्ण-भक्तिधारा के सर्वश्रेष्ठ कवि प्रज्ञाचक्षु सूरदास थे। वे बल्लभाचार्य जी के पुष्टिमार्ग के अनुयायी थे। भगवान कृष्ण की रूपमाधुरी, बालक्रीड़ायें, पनघट-लीला, वस्त्र-हरण-लीला, मुरलीवादन, रासलीला, गोपियों का विरह और उद्धव की ज्ञान-गरिमा आदि उनके वर्ण्य विषय थे। अपने 'भ्रमर गीत' में उन्होंने ज्ञान पर भक्ति की, योग पर प्रेम की और निर्गुण पर सगुण ब्रह्म की विजय घोषित कर सरस पदावली से जन-मानस को तरंगित कर दिया था। मीरां के जीवन-काल में ही अष्टछाप की वीणा के आठों तार (सूरदास, कुंभनदास, कृष्णदास, नन्ददास, छीतस्वामी, गोविन्द स्वामी, चतुर्भुजदास तथा परमानन्ददास) झंकृत हो चुके थे, जिसके परिणामस्वरूप सम्पूर्ण ब्रजमण्डल में भक्तिपूर्ण पदावली के कीर्तन से जन-मन पर स्वर्गीय सुधा-रस की अजस्र वृष्टि हो रही थी। अष्टछाप के कवियों ने ब्रजभाषा के काव्य-वैभव को अपनी रचनाओं से चरम विकास प्रदान कर दिया था।

राम-भक्ति-काव्य :—

राम-भक्ति-काव्य का चरमोत्कर्ष यद्यपि मीरां की मृत्यु के बाद तुलसीदास जी की ही वाणी में हो पाया है, किन्तु मीरां के पूर्व भी राम-भक्ति-काव्य की परम्परा विद्यमान थी। मुनिलाल, चंद, भगवत तथा जैन कवि स्वयंभू ने राम-काव्य की रचना की थी और बाल्मीकि 'रामायण' में इस कथा का आदि स्रोत था।

पदावली-साहित्य :—सूफियों के प्रेमाख्यानक काव्य और तुलसी के 'मानस' को छोड़कर भक्ति-कालीन धर्म-साधना-साहित्य का अधिकांश भाग 'पदावली-साहित्य' है, अतः कोमल भाव, मर्मस्पर्शी अनुभूति और संगीत-तत्त्व के सम्यक् निर्वाह के कारण पदावली-साहित्य जन-जीवन में खूब लोकप्रिय था।

भक्ति कालीन साहित्य की उपादेयता :—

भक्ति कालीन साहित्य की सबसे महत्वपूर्ण उपादेयता यह है कि इस युग के काव्य-प्रणेताओं ने अपनी काव्य-कृतियों द्वारा मनुष्य के लौकिक जीवन में विकास की क्रमबद्ध रेखायें खींची हैं। सन्त-साहित्य ने जाति-पाँति के झगड़े, ऊँच-नीच के भेद-भाव और धार्मिक पाखण्डों का विरोध कर आन्तरिक शुचिता पर बल दिया। प्रत्येक मनुष्य को काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह से बचकर चलने की चेतावनी दी तथा कंचन-कामिनी की आशा-तृष्णा के त्याग का उपदेश दे मानवीय नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयास किया। आगे चलकर सूफियों ने संतों द्वारा परिष्कृत मानव-मन

में प्रेम-तत्त्व का संचार किया तथा कृष्ण-भक्त कवियों ने उसमें प्रेम और आत्मानंद का संयोजन किया।

अष्टछाप के कवियों की वाणी द्वारा सन्तों का निर्गुण ब्रह्म, कृष्ण-भक्ति-काव्य में लीलावतार कृष्ण के रूप में धरती पर उतर आया, अतः बुद्धिपक्ष से हृदयपक्ष के अति निकट आ जाने के कारण लीलावतार ब्रह्म के कृष्ण रूप की और उनके शैशव तथा यौवन की लीलाओं की कृष्ण-काव्य में बड़ी सरस अभिव्यंजना हुई। राम-भक्ति-काव्य में वही ब्रह्म शील-शक्ति-सौन्दर्य-सम्पन्न मर्यादापुरुषोत्तम राम के रूप में लोक-रंजक ही नहीं, लोकरक्षक भी बन गया, अतएव रामचरित मानस में वर्णित राम और रावण का संघर्ष तद्‌युगीन आर्य और अनार्य संस्कृतियों के संघर्ष का प्रतीक माना जा सकता है। रावण पर राम की विजय, अनार्यों पर आर्यों की, अधर्म पर धर्म की, अनाचार पर सदाचार की, दानवता पर मानवता की विजय है। कबीर के निर्गुण 'राम', तुलसी के सगुण 'राम' के रूप में अवतीर्ण होते ही आर्य-संस्कृति की रक्षा और गौरव का आदर्श हमारे सामने प्रस्तुत कर आततायी-शासन के विरोध में संघर्ष करने की हमें प्रेरणा देते हैं, अतः हमारा यह नम्र निवेदन है कि भक्तिकालीन साहित्य केवल निराशा-जनित जाति की मनोदशा का ही परिचायक नहीं है, अपितु उसमें आर्य-संस्कृति के पुनरुत्थान की प्रबल प्रेरणा भी विद्यमान है। वह हमें क्रमशः निवृत्ति से प्रवृत्ति की ओर उन्मुख करने वाली एक बलवती अन्तश्चेतना प्रदान करता है।

भक्ति कालीन साहित्य की दूसरी विशेषता यह है कि इस युग के ज्ञानमार्गी सन्तों की दृष्टि से जीव और ब्रह्म, तथा सगुणोपासक भक्तों की दृष्टि से भक्त और भगवान में प्रत्यक्ष सम्बन्ध माने गये हैं। निर्गुणिया कबीर जब कभी भी अपने और ब्रह्म के मधुरतम सम्बन्धों का संकेत किया करते थे, तब वे प्रायः यह स्वीकार करते थे, 'राम मोर पिउ, मैं राम की बहुरिया।' यह लौकिक नहीं, अलौकिक सम्बन्ध था, जिसमें ब्रह्म के प्रति कबीर की माधुरी-भक्ति स्पष्ट झलकती है। जायसी जीव को प्रेमी और ब्रह्म को प्रेमिका बताते थे। अष्टछाप के कवि भगवान कृष्ण के 'अष्ट-सखान' और 'अष्ट सखियों' के रूप थे। वे कभी कृष्ण के 'सखा' बन उनके साथ बाल-क्रीड़ायें करते थे तो कभी अपने पौरुष पर प्रेममयी गोपी या विरहिन राधा की अनु-भूतियों को आरोपित कर कृष्ण के प्रति अपना प्रणय-निवेदन प्रस्तुत करते थे। इसी भाव-भूमि की चरम सीमा पर मीरां ने जन्म लेकर कृष्ण के प्रति अपनी जन्म-जन्मान्तर की कांतासक्ति का परिचय दिया है।

मीरां और उनकी भक्ति-भावना :—

मीरां माधुर्य भाव से कृष्ण की भक्ति करती थीं। बचपन से ही उनके सत्संस्कारित, विशुद्ध, निश्छल मन में कृष्ण के प्रति 'प्रेम-बेलि' अंकुरित हो गई थी, जो उनके

अश्रु-जल से सिंच-सिंचकर पल्लवित हुई थी। कृष्ण की 'साँवली सूरत' उनके रोम-रोम में बसी थी, अतः मन, वचन और कर्म की सम्पूर्ण एकाग्रता के साथ उन्होंने कृष्ण को 'अपना' माना था। वे सगुणोपासक कृष्ण-काव्य-धारा की ऐसी कुमुदिनी थी, जिनका कृष्ण चन्द्र से सीधा सम्बन्ध था। वे दिन-रात कृष्ण के ही ध्यान में मग्न रहती थीं, प्रेमोन्माद में नाचने लगती थीं और विरह-पीड़ित हो रात-रात भर आँसुओं की लड़ी पिरोया करती थीं, इसलिये उनके जीवन में साधिका की झाँकी, प्रेमिका का उन्माद और चिर वियोगिनी का अवसाद पाया जाता है।

उनके जीवन का अधिकांश समय 'गिरधर-नागर' की पूजा, भक्ति और उपासना में बीता। भजन-कीर्तन और साधु-सत्संग उनके दैनिक कार्य थे। वैधव्य के बाद उनकी सांसारिक विरक्ति भी कृष्ण-अनुरक्ति में परिवर्तित हो गई थी, इसलिये लोक-लाज और समाज के सम्पूर्ण व्यवधानों की उपेक्षा कर, राजस्थान के सर्वश्रेष्ठ राजवंश की प्रतिष्ठा-पताका को धूल-धूसरित कर उन्होंने भक्ति-पथ का अनुसरण किया। सगे-सम्बन्धियों के सुझाव, सखी-सहेलियों के उपालम्भ, तथाकथित ननद ऊदा की भर्त्सना और पारिवारिक निन्दा की उन्होंने रंचमात्र भी परवाह नहीं की। 'गिरधर नागर' उनके जनम-जनम के साथी थे। वे उनकी अनन्य प्रेमिका थीं। मीरां को उनपर भरोसा था, उनका ही सहारा था और दोनों के बीच एक स्वतःसिद्ध आत्मीय एकनिष्ठ प्रेम-सम्बन्ध था, अतः राणा द्वारा कृष्ण-प्रेम की परीक्षा ली जाने पर मीरां ने अपूर्व शक्ति, अदम्य साहस और आत्मनिष्ठापूर्वक विष के प्याले को भी सहर्ष पी लिया। उनकी पराभक्ति हलाहल भी पचा गई।

भक्ति-भाव से आत्म-विभोर हो वे पैरों में घुँघरू बाँध हाथों में करताल या इकतारा ले साधु-समाज में 'गिरधर' के सामने नाचती थीं, गाती थीं और अपनी प्रणय-पुकार से अपने 'रसिक पिव' को रिझाती थीं। इस दशा में भावावेश में वे आत्मोल्लास की चरम सीमा को छू जाती थीं और उनकी नैसर्गिक काव्य-प्रतिभा मुखरित हो उठती थी। उनके सहज प्रेमोद्गार शब्दों की लड़ियों और छंदों की कड़ियों में आबद्ध हो जाते थे, पद बन जाते थे।

वैधव्य के बाद समय और परिस्थितियों के कारण वे चित्तौड़ से मेड़ता आईं और मेड़ता से वृन्दावन पहुँचीं, जहाँ उन्होंने जीव गोस्वामी को तत्त्व-ज्ञान सिखाया, और द्वारका की राह ली। द्वारका में ही उन्होंने अपनी इहलौकिक लीला समाप्त की और इस तरह कृष्ण की एक अनन्य साधिका अपनी साधना की चरम-सिद्धि के क्षण में कृष्णमय हो गई।

मीरां के पद :—

मीरां के पद ही उनके कीर्ति स्तम्भ हैं। वे कवि-कर्म की साधना के प्रतिफल नहीं,

मीरां की अनुभूति-सम्पृक्त आत्मा की सहज अभिव्यक्ति हैं, जिनमें उनके भाव-जगत के मर्मस्पर्शी संवेदनशील उद्‌गार हैं। कीर्तन-प्रधान होने के कारण उनके पदों में भावुकता की मस्ती, संगीत का जादू और सरसता का आनन्द पाया जाता है। काव्यांग-निरूपण, छन्द-योजना, अलंकार-विधान, उक्ति-वैचित्र्य, पाण्डित्य-प्रदर्शन और श्रम-साध्य शब्द-विन्यास का चमत्कार न होते हुए भी उनके पदों में श्रोता और गायकों को भक्ति-भाव से उद्वेलित कर आत्म-विभोर और आत्म-विस्मृत करने की अपूर्व क्षमता है। मीरां के पदों की यह विशिष्टता ही उनकी चरम उपलब्धि है और इसीलिये वे भक्ति के वरदान, संगीत के शृंगार और जन-जन के कण्ठहार हैं।

मीरां विषयक भ्रान्तियाँ :—

मीरां के नाम से मौखिक परम्परा में प्राप्त सैकड़ों पदों में भाव और भाषा की विविधता के साथ-साथ ऐसे अनेक प्रक्षेप विद्यमान हैं, जिनके कारण मीरां के जीवन, काव्य और भक्ति-भाव के सम्बन्ध में अनेक विसंगतियाँ एवम् विरोधी तथ्य पाये जाते हैं। मीरां के पदों की मूल तथा प्रामाणिक पदावली की शोध और उसके तटस्थ अनु-शीलन के अभाव में सन् १९६० तक लिखे गये सम्पूर्ण ग्रंथों और प्रबन्धों में इन भ्रान्तियों का सप्रमाण, सतर्क विवेचन नहीं हो पाया है। मौखिक परम्परा से प्राप्त पदों को ही मीरां की प्रामाणिक रचना मानने वाले विद्वानों द्वारा मीरां पर तरह-तरह के साम्प्रदायिक तत्त्वों के प्रभाव बताये गये हैं, किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है।

भक्ति और उपासना के क्षेत्र में मीरां का दृष्टिकोण बहुत उदार था। उन्हें न तो किसी सम्प्रदाय के प्रति घृणा ही थी, न किसी साम्प्रदायिक मत के प्रति समर्थन का आग्रह ही। उनके मन्दिर में भजन और सत्संग में योगी-यती, तपस्वी-सिद्ध, साधु-भक्त और जनसाधारण सबके लिये समान स्थान था, अतः सभी सम्प्रदायों में उनके पद विगत चार शताब्दियों से प्रचलित हैं। साधु-सन्तों की घुमक्कड़ी वृत्ति के साथ-साथ मीरां के पद गुजरात से बंगाल तक और पंजाब से महाराष्ट्र, मध्य-प्रदेश और उड़ीसा तक फैले हुए हैं। सभी सम्प्रदायों और जातियों में उनके पद श्रद्धा और भक्ति से गाये-सुने जाते हैं। स्थल-भेद और भाषा-भेद के अनुसार मीरां के मूल पदों में निरन्तर परिवर्तन होते रहे हैं और आज भी किये जा रहे हैं।[१] मीरां के जितने भी पद हमें हस्तलिखित पोथियों और प्रकाशित ग्रंथों में उपलब्ध हुए हैं, उनमें हमें पश्चिमी राज-स्थानी, आधुनिक राजस्थानी, ब्रज, गुजराती, पंजाबी, खड़ी बोली और बंगला भाषायें मिलती हैं। किन्तु यह विश्वसनीय नहीं है कि मीरां ने इन सभी भाषाओं में रचना

१. 'मीरां दर्शन' में प्रो० मुरलीधर श्रीवास्तव ने मीरां की प्रामाणिक पदावली में भी भाषागत परिवर्तन किये हैं। देखिये—प्रस्तुत प्रबन्ध का अध्याय ६ : भाषा प्रकरण।

की होगी, फिर भी भ्रमवश वे राजस्थानी, ब्रज और गुजराती की कवयित्री मानी जाती हैं।

मीरां के सम्बन्ध में हिन्दी, अँग्रेजी, गुजराती, और बंगला में अनेक ग्रंथ लिखे गये हैं, किन्तु यह विशाल ग्रंथ-भाण्डार भी भ्रान्तियों से खाली नहीं है। इस सम्पूर्ण साहित्य में एक भी ग्रंथ ऐसा नहीं है जिसमें मीरां के जीवन, काव्य और भक्ति-भाव के सम्बन्ध में सांगोपांग प्रामाणिक सामग्री प्राप्त हो। मीरां के सम्बन्ध में जो अनेक असंगतियाँ विद्यमान हैं, उनका स्वरूप इस प्रकार है :—

१—मीरां के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में उनके काव्य और तद्युगीन इतिहास से सम्पूर्ण विवरण उपलब्ध नहीं होता। सन्तों और भक्तों ने भगवान की भक्त-वत्सलता और मीरां की महानता सिद्ध करने के लिये अनेक अलौकिक घटनायें, अनैतिहासिक प्रसंग और जन-समाज में प्रचलित किम्वदन्तियाँ मीरां के जीवन में जोड़ दी हैं। फलस्वरूप मीरां का जीवन-वृत्त ऐतिहासिक कम और पौराणिक अधिक हो गया है, इसलिये उनकी जीवनी के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है।

२—मीरां की प्रामाणिक मूल पदावली के स्वरूप और विकास का शास्त्रीय विवेचन आज तक नहीं हुआ है। राजस्थान और गुजरात में मीरां के जो पद हस्तलिखित गुटकों में मिले हैं, वे मीरां के मूल पद नहीं हैं। गुटकों के लेखकों ने अपनी स्मृति से लोक-जीवन में प्रचलित पदों को लिपिबद्ध कर दिया है। हमने ऐसे पदों का मूल पदावली से तुलनात्मक अध्ययन कर उन्हें प्रक्षिप्त प्रमाणित कर दिया है।

३—मीरां पदावली के संकलन और सम्पादन के क्षेत्र में भी हमारे विद्वान सम्पादकों ने मौखिक परम्परा तथा हस्तलिखित गुटकों से प्राप्त सभी पदों को (जिनमें कहीं भी मीरां शब्द दिखा) मीरां की रचना माना है। बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित 'मीराबाई की शब्दावली'[1] इस दिशा में सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसे ही प्रामाणिक मानकर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राध्यापक डॉ० श्रीकृष्ण लाल ने 'मीराबाई : जीवन चरित्र और आलोचना'[2] का प्रणयन किया है और इसी 'शब्दावली' के आधार पर डॉ० रामकुमार वर्मा ने 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (संवत् ७५० से १७५०)'[3] में मीरांबाई की जीवनी और काव्य-साधना का इतिहास लिखा है, पर 'मीराबाई की शब्दावली' के संकलनकर्त्ता का स्पष्ट मत है कि "हम पूरे

१. मीराबाई की शब्दावली–बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, तृतीय संस्करण, संवत् १९२०,
२. मीराबाई : जीवन चरित और आलोचना—डॉ० श्रीकृष्णलाल, प्रथम संस्करण, संवत् २००६।
३. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डॉ० रामकुमार वर्मा, तृतीय संस्करण, सन् १९५४, पृष्ठ ५६५-५८८।

विश्वास से नहीं कह सकते कि जो कुछ हम चुनकर छाप रहे हैं, वह स्वच्छ बानी मीराबाई की है ।"[१]

प्रस्तुत प्रबन्ध में हमने यह प्रमाणित कर दिया है कि मीरांबाई की शब्दावली के पद मीरांबाई की 'स्वच्छ बानी' नहीं हैं ।

४—मीरां के पदों की लोकप्रियता को देखते हुए 'मीरां-बृहत्-पद संग्रह'[२] से लेकर 'मीरां-सुधा-सिन्धु'[३] मीरां और-बृहत्पदावली (प्रथम भाग)[४] तक मीरां-पदावली का विस्तार हो चुका है, किन्तु इन सभी ग्रंथों में मीरां के मूल पदों तक पहुँचने का कोई ठोस प्रयास अद्यावधि नहीं हुआ है । प्रस्तुत प्रबन्ध में सर्वप्रथम, शास्त्रीय ढंग से यह कार्य सम्पन्न करने का विनम्र प्रयास किया गया है ।

५—मूल पदावली से प्राप्त प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि मीरां केवल सगुणोपासक कृष्ण-भक्ति-परम्परा से सम्बन्धित थीं । वे केवल माधुर्य भाव से ही कृष्ण की भक्ति करती थीं । वे नाथ सम्प्रदाय, सन्त सम्प्रदाय चैतन्य सम्प्रदाय, रैदासी सम्प्रदाय अथवा बल्लभ-सम्प्रदाय में कभी भी दीक्षित नहीं हुईं ।[५]

'म्हांरा री गिरधर गोपाल दूसरा णां कूयां ।
दूसरा णां कोयां साधां सकल लोक जूयां' ॥[६]

सम्पूर्ण लोक को देखने-परखने के बाद जिस मीरां ने 'गिरधर गोपाल' के अतिरिक्त किसी और को अपना नहीं माना, वह कभी संतमत से प्रभावित हो जाती होगी, कभी रैदास की शिष्य बन जाती होगी, कभी गौरांग महाप्रभु की दासी बन जाती होगी या कभी नाथ-सम्प्रदाय से प्रभावित हो किसी जोगी के पीछे 'जोगन' बनकर चल देने के लिये तैयार हो जाती होगी, विश्वसनीय नहीं है । ऐसे प्रक्षिप्त पद समीक्षक को तो भ्रम में डालते ही हैं, किन्तु साथ ही साथ वे मीरां की नैतिक निष्ठा को भी कलंकित करते

१. मीराबाई की शब्दावली—जीवन चरित्र, पृष्ठ ७ ।
२. मीरां बृहत् पद संग्रह (पद-संख्या ५९०), पदमावती शबनम, प्रथम संस्करण, संवत् २००९ ।
३. मीरां-सुधा-सिन्धु (पद-संख्या १३१२)—स्वामी आनंदस्वरूप, प्रथम संस्करण, संवत् २०१४ ।
४. मीरां बृहत्पदावली—प्रथम भाग, सं० स्व० हरिनारायण जी पुरोहित, प्रथम संस्करण, संवत् २०२४।
५. देखिये-प्रस्तुत प्रबन्ध का भाग २, अध्याय, ११, मीरां पदावली में साम्प्रदायिक तत्त्वों का समावेश ।
६. मीरां-पदावली: डाकोर की हस्तलिखित प्रति (लिपिकाल संवत् १६४२), पृष्ठ १, पद-१ ।

हैं । प्रस्तुत शोधग्रंथ में हमारा विनम्र मत है कि मूलतः मीरां सम्प्रदाय-मुक्त भक्तिन थीं । इस मान्यता का प्रस्तुत प्रबन्ध में साधार विवेचन किया गया है ।

६—गुजराती की हस्तलिखित प्रतियों और प्रकाशित ग्रंथों में 'बाई मीरां' छाप वाले अद्यावधि उपलब्ध पदों का यदि सूक्ष्म अध्ययन और सतर्क विवेचन किया जाय तो यह पता चलता है कि उनमें राजस्थान की मीरां की अन्तश्चेतना, भावधारा और भाषा का आभास तक नहीं है । 'बाई मीरां' के पदों की भाषा आधुनिक गुजराती हैं और उनमें पनघट-लीला, रास और गोपी तथा कृष्ण के संयोग-शृंगार की भावना अधिक बलवती है । यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो पता चलेगा कि मीरां की भाषा सोलहवीं शताब्दी की पश्चिमी राजस्थानी भाषा थी । वे करुणा की कवयित्री थीं और उन्होंने जीवन भर कान्तासक्ति से अपने विरह-विदग्ध भावों को वाणी दी है । होली के पदों में अवश्य उनके हृदय का उल्लास मुखर हो उठा है किन्तु 'बाई मीरां' वाले प्राप्त पद तो भाव और भाषा की दृष्टि से मीरां से नहीं मिलते । वे अपने उपलब्ध रूप में निश्चय ही प्रक्षिप्त हैं । अधिक-से-अधिक गुजराती की 'बाई मीरां' राजस्थानी मीरां से भिन्न पात्र हैं, जिसके नाम पर अनेक परवर्ती गुजराती भक्तों और गायकों ने पद रचकर उन्हें 'मीरां' के नाम पर चला दिया है । गुजराती में मीरां के मूल पदों की कोई प्रति उपलब्ध नहीं है और डाकोर में मीरां के पदों की जो मूल प्रामाणिक प्रति प्राप्त हुई है, उसकी भाषा पश्चिमी राजस्थानी है, गुजराती नहीं । अतः राजस्थानी मीरां गुजराती की कवयित्री नहीं थीं । गुजराती प्रबंध 'मीरां जीवन अने कवन' से भी हमारे मत का समर्थन होता है । इस गुजराती प्रबन्ध की लेखिका निरंतर शोध करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँची हैं कि, मीरां गुजरात मां क्यारे आवी, क्यां रही, शुंकर्यूं; कोने मड़ी (मिली) अने क्यारे अेनुं मृत्युं थयुं-अेनीपण कशी आधारभूत माहिती मड़ती न थी ।'[१] कदाचित ऐसी ही अनुभूति के प्रभाव से श्री एन० बी० दिवेटिया ने अपने ग्रंथ 'गुजरात लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर' में मीरां का उल्लेख नहीं किया हैं ।

मीरां-पदावली की मूल प्रामाणिक हस्तलिखित प्रतियाँ :—

मीरां पदावली के मूल स्वरूप की खोज में प्रस्तुत प्रबन्धकार लगभग ६ वर्षों से राजस्थान और गुजरात में प्रयत्नशील रहा है, किन्तु इन प्रदेशों में प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों के पदों का स्वरूप विश्वसनीय नहीं है । अधिकांश पद प्रक्षिप्त हैं और भाव तथा भाषा की दृष्टि से वे १८वीं, १९वीं शताब्दीं की रचनायें हैं । अन्ततः सन् १९५६ में श्री ललिताप्रसाद जी सुकुल के प्रयास से लेखक को प्रामाणिक मीरां-पदावली की दो प्राचीनतम हस्तलिखित प्रतियों की प्रतिलिपियाँ प्राप्त हुईं । एक प्रति डाकोरवासी पं० गोवर्द्धनदास जी भट्ट की थी, जिसका लिपिकाल संवत् १६४२ था । दूसरी प्रति

१. मीरां जीवन अने कवन—डॉ० निर्मला लालभाई झावेरी, प्रस्तावना, पृष्ठ २१ ।

काशी के सेठ लाला गोपालदास की थी, जिसका लिपिकाल संवत् १७२७ था। डाकोर की प्रति में ६९ और काशी की प्रति में १०३ पद थे। डाकोर वाली प्रति में जो ६९ पद दिये गये हैं, उनकी भाषा प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी और लिपि देवनागरी-मिश्रित गुजराती है। इसके पन्ने जीर्ण अवस्था में होते हुए इस बात का प्रमाण देते हैं कि उनका कागज लगभग ४०० वर्ष पुराना है। पन्नों का आकार लगभग ७½″ × ३½″ है, जिनके कोने फटे हुए हैं। कुछ पृष्ठों को छोड़कर प्रायः प्रत्येक पृष्ठ पर लगभग दो-दो पद हैं।

काशी की प्रति सेठ लाला गोपालदास के संग्रहालय में है। इसके पदों की भाषा डाकोर की प्रति के पदों की भाषा से बिलकुल मिलती-जुलती है। डाकोर गुजरात में है और काशी तद्युगीन गुजराती, राजस्थानी और ब्रज भाषाओं के क्षेत्रों को छोड़कर प्रायः अवधी की पूर्वी अंतिम सीमा के निकट है। इन दूरस्थ दो स्थानों पर प्राप्त प्राचीनतम प्रतियों में, जो राजस्थान और गुजरात में प्राप्त सभी हस्तलिखित प्रतियों से प्राचीन हैं, भाव, भाषा और पदावली की समानता इस बात का प्रमाण देती है कि मीरां के १०३ पद उनकी ही मातृभाषा के पद हैं, क्योंकि ब्रज या गुजराती न तो मीरां के मातृकुल की भाषा थी और न श्वसुर कुल की। मीरां ने यदि ब्रज में ब्रजभाषा में, या गुजरात पहुँचने पर गुजराती में पद गाये होते तो डाकोर की प्रति में तो निश्चय ही मीरां के ब्रज और गुजराती भाषाओं के पद मिलते, किन्तु ऐसा नहीं हुआ।

डाकोर की प्रति में मीराँ ने वृन्दावन में जो पद गाया है, उसका स्वरूप देखिये—

आली म्हांणे लागां वृन्दावण णीकां।
घर घर तुलसी ठाकुर पूजा दरसण गोविंदजी का॥
निरमल नोर बह्या जमणां मां भोजण दूध दही कां।
रतण सिंघासण आप बिराज्यां मुगट धरयांतुलशी कां॥
कुंजण-कुंजण फिरयां सांवरा सवद सुण्यां मुरली कां।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर, भजण बिणा नर फीकां॥[1]

राजस्थानी-मिश्रित ब्रजभाषा में इसी पद का रूपान्तर इस प्रकार है—

आली म्हांने लागे वृन्दावन नीको।
घर-घर तुलसी ठाकुर पूजा दरसण गोविन्द जी को॥
निरमल नोर बहत जमना में भोजन दूध दही को।
रतन सिंघासन आप विराजे मुगट धर्यो तुलसी को॥

---

१. डाकोर की प्रति, पद ८।

कुंजन कुंजन फिरत राधिका, सबद सुणत मुरली को।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, भजन बिना नर फीको ।।[1]

दोनों पदों के परिवर्तनों पर दृष्टिपात करने से उनमें होने वाले भाषागत और भावगत परिवर्तन हमें स्पष्ट दिखाई देते हैं। मीरां के सभी पद इसी प्रकार ब्रज भाषा में तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं में परिवर्तित हो गये हैं। मीरा कृष्ण-भक्त थीं और कृष्ण-भक्ति-काव्य सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में ब्रजभाषा में लिखा गया है, अतः स्वाभाविक रूप से मीरां के पद भी ब्रज-भाषा में रूपान्तरित हो गये। कालान्तर में मौखिक-परम्परा-द्वारा मीरां के वे ही पद जब ब्रजभाषा में उपलब्ध हुए तो मूल पदों की हस्तलिखित प्रति से अनभिज्ञ सभी विद्वानों ने मीरां को ब्रज-भाषा की कवयित्री माना।

यदि प्रौढ़ अवस्था में वृन्दावन में, जहाँ ब्रज-भाषा-काव्य-वैभव अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ था, मीरां ने ब्रज-भाषा में पद न गाकर अपनी ही मातृभाषा में पद गाया, उनके गुजरात जाने तक उस पद की भाषा का स्वरूप वही रहा, उनकी मृत्यु के बाद संवत् १८०५ तक (डाकोर की प्रति से लेकर काशी की प्रति तक) उसमें कोई भाषागत संस्कार नहीं हुआ तो यह कैसे माना जा सकता है कि मीरां ने अपनी जन्मजात भाषा को छोड़कर ब्रज पहुँचने पर ब्रज-भाषा में, या गुजरात पहुँचने पर गुजराती में पद गाये थे ?

मीरां ब्रज-भाषा जानती थीं, किन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं है कि मीरां ने ब्रज-भाषा में पद भी रचे थे। डाकोर और काशी की प्रतियों के आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि मीरां ब्रज-भाषा की कवयित्री नहीं थीं; साथ ही मीरां के प्रामाणिक पदों की मूल भाषा को देखते हुए हम उन विद्वानों से भी सहमत नहीं हैं जो मीरा को गुजराती की कवयित्री[2] मानते हैं। ब्रज-भाषा और गुजराती में प्राप्त मीरां के अधिकांश पद मूल पदों की भाषा के रूपान्तर मात्र हैं।

---

१. मीरा-मन्दाकिनी—नरोत्तमदास स्वामी, द्वितीय संस्करण, प्रथम धारा, पृ० ४-५, पद ८।

२. क्लासिकल पोयट्स ऑफ गुजरात—गोवर्धनराम त्रिपाठी, पृ० १६-२१ माइलस्टोन्स इन गुजराती लिटरेचर—के० एम० झावेरी, अध्याय ३, पृ० २५-५१
गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर—के०एम० मुंशी, अध्याय ४, पृ० १२५-१६६
वैष्णवाज़ ऑफ गुजरात—थूथी, पृ० २२६
सिलेक्शन्स फ्राम क्लासिकल गुजराती लिटरेचर—तारापोरवाला, भाग १, भूमिका, पृ० १३

मीरां के अनेक पद बंगाल में भी प्रचलित हैं। मीरां के राजस्थानी-मिश्रित ब्रज-भाषा के जो पद उत्तर प्रदेश और राजस्थान में मौखिक परम्परा में विद्यमान हैं वही बंगाली गायकों के लिये राग-रागिनियों की दृष्टि से बहुत प्रिय हैं। कहा जाता है कि बंगला लिपि में मीरां के दो पद संग्रह प्रकाशित हुए हैं, किन्तु लेखक को केवल एक ही प्रकाशित पद संग्रह[1] उपलब्ध हुआ है। बंगाल में मीरां के पदों की लोकप्रियता और प्रकाशित रचनाओं को देखकर बंगला के सुप्रसिद्ध विद्वान डॉ० शशिभूषणदास गुप्त ने भ्रमवश लिख दिया कि 'मीरां बंगला भी जानती थीं।'[2]

मीरां के युग-जीवन और उनकी भाषा के स्वरूप को देखते हुए हम तटस्थ रूप से यह निवेदन करना चाहते हैं कि मीरां को ब्रज, गुजराती, पंजाबी, बिहारी, बंगला आदि भाषाओं में काव्य-रचना करने वाली कवयित्री मानना उचित नहीं है। प्राप्त प्रमाणों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि मीरां को गुजराती तो क्या, ब्रजभाषा की कवयित्री मानना भी भ्रम से खाली नहीं है। मीरां मूलतः पश्चिमी राजस्थानी या प्राचीन मारवाड़ी की ही कवयित्री थीं।

प्रबन्ध की समस्यायें—

डॉ० सुरेन्द्रनाथ सेन ने मीरां के जीवन और काव्य की मूलभूत समस्या का उल्लेख करते हुए लिखा है कि 'यदि मीरां का जीवन-वृत्त-लेखक सामयिक प्रमाणों की अनुपलब्धि से विचलित हो उठता है तो साहित्यिक आलोचक का कार्य तो और भी टेढ़ा हो जाता है। जन-साधारण की कल्पना-शक्ति ने जिस प्रकार मीरां को अलौकिक शक्तियों से युक्त कर दिया है, उसी प्रकार समीक्षा-दृष्टि-शून्य मीरां के भक्तों ने उनके भजनों में अन्य न जाने किनके-किनके पदों को मिश्रित कर दिया है, किन्तु साथ ही यह भी सच है कि वैज्ञानिक छानबीन के आधार पर मीरां का जीवन-वृत्त लिखने वाला जहाँ छूछा ही रह जायगा, वहाँ आलोचक की सिद्धि अपेक्षाकृत अधिक होगी। विचार-पूर्ण समीक्षा के आधार पर मीरां के असली पद नकली पदों से अवश्य ही पृथक् किये जा सकते हैं। प्राचीनतम मीरांबाई के मूल पदों का संग्रह हिन्दी-साहित्य के प्रेमी के लिये परम आह्लाद की वस्तु होगी।'[3]

अस्तु, मीरां के जीवन, काव्य और भक्ति-भाव से सम्बन्धित सभी समस्याओं को

---

१. मीरांबाई—स्वामी वामदेवानन्द, पाँचवाँ संस्करण, आश्विन १३६४

२. मीराबाई (निबन्ध)—डॉ० शशिभूषणदास गुप्त एम०ए०, पी-एच्० डी० मीरास्मृति ग्रंथ—पृष्ठ ७७

३. मेवाड़ कोकिल मीराबाई (निबन्ध)—डॉ० सुरेन्द्रनाथ सेन, मीरा-स्मृति-ग्रंथ, पृष्ठ ७३

दृष्टि में रखते हुए वैज्ञानिक पद्धति से शोधकार्य करने के उपरान्त इस प्रबन्ध में मीरां की भक्ति और उनकी काव्य-साधना का अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है। इस प्रबन्ध में मीरां की जीवनी के अतिरिक्त उनकी मूल पदावली का स्वरूप-विकास, उनके काव्यगत सौन्दर्य का विवेचन, भक्ति-भाव का अनुशीलन कर मीरां के मूल व्यक्तित्व और उनके प्रामाणिक वक्तव्य को हिन्दी-जगत में लाने का प्रथम प्रयास हुआ है। यही इस प्रबन्ध का मूल उद्देश्य है।

अध्याय १

मीरां सम्बन्धी साहित्य का पुनर्मूल्यांकन

अनुभूति की अभिव्यंजना के नाते काव्य कवि के अन्तर्जगत का मूर्त प्रतीक होता है, अतः उसके माध्यम से ही हम कवि की अनुभूति, संवेदना और मनोवेगों के स्वरूप, विकास और दिशा-प्रवाह से परिचित हो सकते हैं तथा कवि के भाव-जगत में प्रवेश कर उसके विचार-क्षेत्र और कल्पना-लोक में विचरण कर सकते हैं। मीरां के विषय में भी हमारा यह अभिमत सत्य है। मीरां के व्यक्तित्व और वक्तव्य दोनों अन्योन्याश्रित हैं, इसीलिये आत्मनिष्ठता (Subjectivity) उनके काव्य का प्रधान गुण है। मर्म-स्पर्शी भावों से सराबोर अपने पदों में उन्होंने प्रेम की व्याकुलता, भक्ति की तन्मयता और स्वानुभूत विरह-विदग्ध आत्मा की कातरता को जो अभिव्यक्ति दी है, वह विगत चार शताब्दियों से सम्पूर्ण भारतवासियों को अपनी ओर आकृष्ट करती रही है। भावुक भक्तों से लेकर तार्किक आलोचक तक मीरां के दिव्य व्यक्तित्व और भव्य काव्य से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि जहाँ भक्तों ने मीरा के प्रति श्रद्धामूलक प्रशस्तियाँ लिखी हैं, वहाँ काव्य-मुमुक्षु विद्वज्जनों ने उनकी पदावली का संकलन, संपादन और अनुशीलन किया है; इतिहासकारों ने उनकी जीवनी की छानबीन की है तथा समय-समय पर उनके सम्बन्ध में निबंध, कहानियाँ, लोकनाटक तथा चलचित्रों का निर्माण हुआ। और तो और; मीरां का व्यक्तित्व 'मीरां महाकाव्य' तक के लिये प्रेरणा का प्रबल स्रोत बन गया है।

आज देशी और विदेशी भाषाओं में मीरां सम्बधी सैकड़ों ग्रंथ हैं और उनमें मीरां के विषय में तरह-तरह की असंगत धारणायें विद्यमान हैं। ऐसी स्थिति में मीरां विषयक विशाल साहित्य की ऐतिहासिक परम्परा तथा उसमें नित्य संवर्धनशील भ्रान्तियों की रूपरेखा का परिचय प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। सामान्यतः सुविधा की दृष्टि से हम मीरां सम्बन्धी सम्पूर्ण साहित्य और सामग्री को निम्नलिखित ८ भागों में बाँट लेते हैं :—

मीरां-सम्बन्धी साहित्य और सामग्री का वर्गीकरण :—

१—मीरां-पदावली की हस्तलिखित प्रतियाँ २—कवि-प्रशस्तियाँ ३—मीरां-पदावली के संकलित और सम्पादित संस्करण ४—इतिहास-ग्रंथों में मीरां-विषयक

उल्लेख ५—मीरां-सम्बन्धी ताम्रपत्र और मंदिरों में उत्कीर्ण विवरण ६—मीरां-समीक्षा साहित्य ७—मीरां की जीवनी और तत्सम्बन्धी कहानी, नाटक, चलचित्र और लोक-गीत तथा ८—मीरां-महाकाव्य ।

इनमें मीरां का काव्य ही सबसे अधिक विवादास्पद विषय है, अतः हम यहाँ केवल मीरां की हस्तलिखित और प्रकाशित पदावलियों का ही प्रमुख रूप से संक्षिप्त विवेचन करेंगे ।

१—मीरां पदावली की हस्तलिखित प्रतियाँ—

मीरां के महिमामय व्यक्तित्व और काव्य के सम्बन्ध में देशी और विदेशी विद्वानों की जिज्ञासा आज तक बनी हुई है । पिछले ५० वर्षों से अनेक विद्वान मीरां-पदावली की हस्तलिखित प्रतियों की खोज में कार्यरत रहे हैं, किन्तु उन्हें मीरां के सम्पूर्ण पदों की कोई प्रामाणिक प्रति उपलब्ध नहीं हुई । इसके निम्नलिखित कारण हैं—

१—मीरां ने राजकुल की मर्यादा का उल्लंघन कर भक्ति-मार्ग में पदार्पण किया था, अतः तद्युगीन राजघराने के सामन्तशाही चारण अथवा इतिहासकारों ने उनके जीवन और काव्य का कोई विशेष ब्योरा नहीं रखा ।

२—राजस्थान में प्रचलित 'दूहा'[1] के अनुसार मीरां के कर्म ही उन्हें अमर बना देने के लिये पर्याप्त हैं । उनकी कोई सन्तान नहीं थी, और न शिष्य-परम्परा ही; अतः उनके पद लिपिबद्ध करने का साम्प्रदायिक या पारिवारिक प्रयास नहीं हुआ । जो भी प्रामाणिक पद हमें उपलब्ध हुए हैं, वे उनकी दासी ललिता द्वारा लिखित कहे जाते हैं ।

३—मीरां स्वयं किसी सम्प्रदाय में दीक्षित नहीं थीं, अतः किसी साम्प्रदायिक साहित्य के इतिहास में भी मीरां के मूल पद हस्तलिखित रूप में नहीं मिलते । गुजरात और राजस्थान में प्राप्त हस्तलिखित गुटकों में जो पद मिलते हैं, वे परवर्ती अथच परिवर्तित रचनायें हैं, जिन्हें उनके लेखकों ने अपनी स्मरण-शक्ति से अथवा लोगों से सुनकर लिखा है । राजस्थान और गुजरात में प्राप्त किसी भी हस्तलिखित प्रति में इस बात का उल्लेख नहीं है कि उसका कोई भी पद मूलतः मीरां का ही है ।

४—बहुत संभव है कि भक्तिकालीन अन्य विभूतियों की ही भाँति मीरां ने स्वयं अपने पदों को लिपिबद्ध न किया हो, किन्तु फिर भी उनके पद उनकी सखी अथवा अन्य श्रोताओं द्वारा लिपिबद्ध किये गये हैं जो आज हमें प्राप्त हो रहे हैं । इन पदों

---

१. नाम रहेगो काम सों, सुनो सयाने लोय ।
मीरां सुत जायो नहीं, शिष्य न मूँड्यो कोय ।।
—मीराँ माधुरी—ब्रजरत्नदास, भूमिका, पृ० ४

के अध्ययन और प्रमाणीकरण की बड़ी आवश्यकता है। अद्यावधि, उत्तर-भारत, राजस्थान, गुजरात और विदेशों में प्राप्त हस्तलिखित मीरां पदावलियों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

(क) प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों का परिचय :—

'पूर्वाभास' में हम डाकोर की प्रति का उल्लेख कर चुके हैं, जिसका लिपिकाल संवत् १६४२ है। मीरां के पदों की यह सबसे प्राचीन हस्तलिखित प्रति है। इसमें मीरां के ६९ पद लिपिबद्ध किये गये हैं। डाकोर और काशी की प्रामाणिक प्रतियों के अतिरिक्त अन्य हस्तलिखित प्रतियों का 'पदावली-परिचय' देते हुए आचार्य श्री ललिता-प्रसाद जी सुकुल ने लिखा है—"यह माना कि हमारे देश की भक्तिकालीन विभूतियाँ अपनी कृतियों को लेखबद्ध करने की चेष्टा प्रायः नहीं किया करती थीं या शायद इने-गिनों को छोड़कर उनकी यह परम्परा ही नहीं थी, किन्तु फिर भी इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि उनके सन्देश भक्त जनों के द्वारा ही सही लेखबद्ध होकर सुरक्षित तो रहते ही थे। मीरांबाई ने भी शायद अपने पदों को स्वयं न लिखा होगा किन्तु उनके द्वारा विविध अवसरों पर गाये गये उनके पद प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों के रूप में देश के विविध भागों में और विदेशों के संग्रहालयों में अवश्य वर्तमान हैं। हमारे संग्रहकर्तावृन्द यदि इस सामग्री के उपयोग करने का उद्योग कर लेते तो कदाचित् साहित्य की सेवा और अच्छी बन पड़ती, समीक्षकों की मीरां-साहित्य विषयक समीक्षा भी अधिक प्रौढ़ और सुलझी हुई सामने आ सकती।

सन् १९३४ ई० २६ दिसम्बर को मुझे देश के पश्चिमी भाग बम्बई, बड़ौदा, द्वारका, डाकोर इत्यादि की ओर भ्रमण करने का कलकत्ता-विश्वविद्यालय की कृपा से अवसर प्राप्त हुआ था। यह यात्रा तीर्थ की भावना से कम, एक साहित्यिक पथिक के कौतूहल से ही अधिक की गई थी। डाकोर में मुझे कुछ विशिष्ट साहित्यिक व्यक्तियों के दर्शन करने का सुयोग अपने मित्र श्री मायाशंकर दीनदयाल जी मेहता के सौजन्य से प्राप्त हुआ था। उन्हीं अनेक विशिष्ट व्यक्तियों में एक गुजराती दम्पत्ति से भेंट हुई, जिनका नाम था श्री गोवर्द्धनदास जी भट्ट। इनके पूर्वज द्वारकाधीश के मंदिर के प्रधान सेवकों में से थे।

उन्हीं के संग्रह में मुझे दो पोथियाँ मीरांबाई के पदों की देखने को मिलीं। दोनों देवनागरी-मिश्रित गुजराती लिपि में थीं। एक की तिथि संवत् १६४२ थी और दूसरी की जिसमें नागरी लिपि के अक्षर कम थे, गुजराती के अधिक, संवत् १८०५ की थी। १६४२ वाली प्रति में केवल ६९ पद थे, किन्तु १८०५ वाली में १०३ पद संग्रहित थे। उन्हीं के द्वारा मुझे सूचना मिली थी कि किसी समय उनके काशी प्रवास में वे डॉ० श्यामसुन्दरदास जी से भी मिले थे और उन्हीं के अनुरोध से डॉ० श्याम-

सुन्दरदास जी ने नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी की ओर से मीरा के पदों का एक आधारयुक्त संस्करण प्रकाशित करने की योजना की थी। दोनों प्रतियों की प्रतिलिपियाँ डॉ० श्यामसुन्दरदास जी को उनके द्वारा भेंट की जा चुकी थीं। साहित्य-सम्मेलन के पिछले काशी-अधिवेशन के समय डॉ० श्यामसुन्दर दास जी ने मुझसे भी भट्ट जी का जिक्र किया था। संवत् १८०५ वाली प्रति, जो उन्हें श्रीयुत भट्ट जी के द्वारा भेंट की गई थी वह भी उन्होंने मुझे दिखाई थी, किन्तु संवत् १६४२ वाली प्रति उस समय आचार्य रामचन्द्र जी शुक्ल देख रहे थे। भट्ट जी की कृपा से मुझे भी उपर्युक्त दोनों ही संग्रहों की प्रतिलिपि मिल चुकी थीं। इसके उपरान्त मैं निरन्तर मीरां के पदों की हस्तलिखित प्रतियों की खोज में व्यस्त रहा। सन् १९४२ तक लगभग सोलह हस्त-लिखित संग्रह देखने में आये। चार काशी में, दो कानपुर में, दो रायबरेली में, तीन मथुरा में और शेष पाँच उदयपुर और जोधपुर के निवासी कुछ साहित्यिक मित्रों के द्वारा। किन्तु ये सभी प्रायः अट्ठारहवीं सदी के थे। विदेशों के संग्रहालयों के सूची-पत्रों से बारह अन्य हस्तलिखित प्रतियों का पता चला, किन्तु द्वितीय महायुद्ध की परिस्थिति तथा अधिक व्ययसाध्य व्यापार होने के कारण उनके या उनकी 'फोटो स्टेटिक' प्रतिलिपियों के दर्शन तो हो न सके, केवल उनके विषय में जानकारी से ही सन्तोष करना पड़ा। उनकी तिथियों से भी ज्ञात होता है कि वे प्रायः सब अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध की ही हैं।

इन विविध देशी और विदेशी हस्तलिखित प्रतियों में संग्रहित पदों की संख्या (डाकोर की सर्वप्राचीन हस्तलिखित प्रति को छोड़कर) प्रायः ९६ से १२४ तक है। राजस्थान और कानपुर की प्रतियों में भी पदों की संख्या १०३ से लेकर १२४ तक मिली, किन्तु उनमें से अधिकांश के प्रक्षिप्त तथा पिष्टपेशित होने की सम्भावना इतनी स्पष्ट है कि सन्देह के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। कानपुर की दो प्रतियों में से एक, जिसके दर्शन मुझे अपने परम मित्र बेहटा निवासी पं० शिवदास जी अवस्थी की कृपा से हुए थे, अधिक प्राचीन तथा प्रामाणिक जान पड़ी। इसी प्रकार काशी के सेठ लाला गोपालदास के प्रसिद्ध संग्रहालय में मीरां की जो प्रति सुरक्षित है, वह भी नागरी-प्रचारिणी के संग्रहालय की तीनों प्रतियों से (जिन्हें मैंने डॉ० श्यामसुन्दर दास जी के पास देखा था) अधिक प्रामाणिक जान पड़ी। उपर्युक्त कानपुर की तथा इस प्रति में एक सौ तीन-तीन पद हैं और आश्चर्य तो यह है कि दोनों ही प्रतियों में पदों का क्रम भी बिलकुल एक सा है। लिखावट और अक्षरों में भिन्नता काफी है, दोनों ही संवत् १७२७ की लिखी हुई हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि दोनों का मूल स्रोत एक रहा हो।.........मित्रवर शिवदास जी अवस्थी की प्रति में लिखने की अशुद्धियाँ अधिक हैं। इसीलिये पदावली एक होते हुए भी संग्रह में मैंने काशी की ही प्रति का उल्लेख किया

के अध्ययन और प्रमाणीकरण की बड़ी आवश्यकता है । अद्यावधि, उत्तर-भारत, राजस्थान, गुजरात और विदेशों में प्राप्त हस्तलिखित मीरां पदावलियों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

(क) प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों का परिचय :—

'पूर्वाभास' में हम डाकोर की प्रति का उल्लेख कर चुके हैं, जिसका लिपिकाल संवत् १६४२ है । मीरां के पदों की यह सबसे प्राचीन हस्तलिखित प्रति है । इसमें मीरां के ६९ पद लिपिबद्ध किये गये हैं । डाकोर और काशी की प्रामाणिक प्रतियों के अतिरिक्त अन्य हस्तलिखित प्रतियों का 'पदावली-परिचय' देते हुए आचार्य श्री ललिताप्रसाद जी सुकुल ने लिखा है—"यह माना कि हमारे देश की भक्तिकालीन विभूतियाँ अपनी कृतियों को लेखबद्ध करने की चेष्टा प्रायः नहीं किया करती थीं या शायद इने-गिनों को छोड़कर उनकी यह परम्परा ही नहीं थी, किन्तु फिर भी इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि उनके सन्देश भक्त जनों के द्वारा ही सही लेखबद्ध होकर सुरक्षित तो रहते ही थे । मीरांबाई ने भी शायद अपने पदों को स्वयं न लिखा होगा किन्तु उनके द्वारा विविध अवसरों पर गाये गये उनके पद प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों के रूप में देश के विविध भागों में और विदेशों के संग्रहालयों में अवश्य वर्तमान हैं । हमारे संग्रहकर्तावृन्द यदि इस सामग्री के उपयोग करने का उद्योग कर लेते तो कदाचित् साहित्य की सेवा और अच्छी बन पड़ती, समीक्षकों की मीरां-साहित्य विषयक समीक्षा भी अधिक प्रौढ़ और सुलझी हुई सामने आ सकती ।

सन् १९३४ ई० २९ दिसम्बर को मुझे देश के पश्चिमी भाग बम्बई, बड़ौदा, द्वारका, डाकोर इत्यादि की ओर भ्रमण करने का कलकत्ता-विश्वविद्यालय की कृपा से अवसर प्राप्त हुआ था । यह यात्रा तीर्थ की भावना से कम, एक साहित्यिक पथिक के कौतूहल से ही अधिक की गई थी । डाकोर में मुझे कुछ विशिष्ट साहित्यिक व्यक्तियों के दर्शन करने का सुयोग अपने मित्र श्री मायाशंकर दीनदयाल जी मेहता के सौजन्य से प्राप्त हुआ था । उन्हीं अनेक विशिष्ट व्यक्तियों में एक गुजराती दम्पत्ति से भेंट हुई, जिनका नाम था श्री गोवर्द्धनदास जी भट्ट । इनके पूर्वज द्वारकाधीश के मंदिर के प्रधान सेवकों में से थे ।

उन्हीं के संग्रह में मुझे दो पोथियाँ मीरांबाई के पदों की देखने को मिलीं । दोनों देवनागरी-मिश्रित गुजराती लिपि में थीं । एक की तिथि संवत् १६४२ थी और दूसरी की जिसमें नागरी लिपि के अक्षर कम थे, गुजराती के अधिक, संवत् १८०५ की थी । १६४२ वाली प्रति में केवल ६९ पद थे, किन्तु १८०५ वाली में १०३ पद संग्रहित थे । उन्हीं के द्वारा मुझे सूचना मिली थी कि किसी समय उनके काशी प्रवास में वे डॉ० श्यामसुन्दरदास जी से भी मिले थे और उन्हीं के अनुरोध से डॉ० श्याम-

सुन्दरदास जी ने नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी की ओर से मीरा के पदों का एक आधारयुक्त संस्करण प्रकाशित करने की योजना की थी । दोनों प्रतियों की प्रतिलिपियाँ डॉ० श्यामसुन्दरदास जी को उनके द्वारा भेंट की जा चुकी थीं । साहित्य-सम्मेलन के पिछले काशी-अधिवेशन के समय डॉ० श्यामसुन्दर दास जी ने मुझसे भी भट्ट जी का जिक्र किया था । संवत् १८०५ वाली प्रति, जो उन्हें श्रीयुत भट्ट जी के द्वारा भेंट की गई थी वह भी उन्होंने मुझे दिखाई थी, किन्तु संवत् १६४२ वाली प्रति उस समय आचार्य रामचन्द्र जी शुक्ल देख रहे थे । भट्ट जी की कृपा से मुझे भी उपर्युक्त दोनों ही संग्रहों की प्रतिलिपि मिल चुकी थीं । इसके उपरान्त मैं निरन्तर मीरां के पदों की हस्तलिखित प्रतियों की खोज में व्यस्त रहा । सन् १९४२ तक लगभग सोलह हस्त-लिखित संग्रह देखने में आये । चार काशी में, दो कानपुर में, दो रायबरेली में, तीन मथुरा में और शेष पाँच उदयपुर और जोधपुर के निवासी कुछ साहित्यिक मित्रों के द्वारा । किन्तु ये सभी प्रायः अट्ठारहवीं सदी के थे । विदेशों के संग्रहालयों के सूची-पत्रों से बारह अन्य हस्तलिखित प्रतियों का पता चला, किन्तु द्वितीय महायुद्ध की परिस्थिति तथा अधिक व्ययसाध्य व्यापार होने के कारण उनके या उनकी 'फोटो स्टेटिक' प्रतिलिपियों के दर्शन तो हो न सके, केवल उनके विषय में जानकारी से ही सन्तोष करना पड़ा । उनकी तिथियों से भी ज्ञात होता है कि वे प्रायः सब अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध की ही हैं ।

इन विविध देशी और विदेशी हस्तलिखित प्रतियों में संग्रहित पदों की संख्या (डाकोर की सर्वप्राचीन हस्तलिखित प्रति को छोड़कर) प्रायः ९६ से १२४ तक है । राजस्थान और कानपुर की प्रतियों में भी पदों की संख्या १०३ से लेकर १२४ तक मिली, किन्तु उनमें से अधिकांश के प्रक्षिप्त तथा पिष्टपेशित होने की सम्भावना इतनी स्पष्ट है कि सन्देह के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता । कानपुर की दो प्रतियों में से एक, जिसके दर्शन मुझे अपने परम मित्र बेहटा निवासी पं० शिवदास जी अवस्थी की कृपा से हुए थे, अधिक प्राचीन तथा प्रामाणिक जान पड़ी । इसी प्रकार काशी के सेठ लाला गोपालदास के प्रसिद्ध संग्रहालय में मीरां की जो प्रति सुरक्षित है, वह भी नागरी-प्रचारिणी के संग्रहालय की तीनों प्रतियों से (जिन्हें मैंने डॉ० श्यामसुन्दर दास जी के पास देखा था) अधिक प्रामाणिक जान पड़ी । उपर्युक्त कानपुर की तथा इस प्रति में एक सौ तीन-तीन पद हैं और आश्चर्य तो यह है कि दोनों ही प्रतियों में पदों का क्रम भी बिलकुल एक सा है । लिखावट और अक्षरों में भिन्नता काफी है, दोनों ही संवत् १७२७ की लिखी हुई हैं । कोई आश्चर्य नहीं कि दोनों का मूल स्रोत एक रहा हो ।………मित्रवर शिवदास जी अवस्थी की प्रति में लिखने की अशुद्धियाँ अधिक हैं । इसीलिये पदावली एक होते हुए भी संग्रह में मैंने काशी की ही प्रति का उल्लेख किया

है और जहाँ डाकोर की प्रति का उल्लेख है, वहाँ प्राचीन (संवत् १६४२ वाली) प्रति से ही अभिप्राय है।'[1]

डाकोर की प्राचीनतम हस्तलिखित प्रति का इतिहास

डाकोर वाली प्रति में जो पद संग्रहित हैं, वह प्रायः सभी प्रतियों में हैं, किन्तु विविध पाठ-भेदों के साथ। इस प्रति का विस्तृत इतिहास जो श्री भट्ट महोदय ने बताया था उसका सार कुछ इस प्रकार है कि "मीरांबाई जब मेड़ते से वृन्दावन की ओर चलीं तो उनके साथ कृष्ण-भक्तों का एक बड़ा समूह तो था ही, किन्तु उनकी वह दासी, जिसका नाम ललिता था, जो प्रायः बाल्यकाल से ही अनुचरी के रूप में छाया कि तरह सुख और संभोग, दुख और विपत्ति में भी हर जगह उनके साथ रहती थी, रुग्ण होती हुई भी उनके साथ हो ली। यह अवस्था में उनसे कुछ बड़ी थी। यों तो वह राजकुल की दासी थी, किन्तु मीरां पर उसकी भक्ति और स्नेह, वात्सल्य और सख्य का एक अद्‌भुत मिश्रण था। उसकी रुग्णावस्था के कारण साथ न चलने के लिए उससे बहुत कुछ कहा गया, किन्तु उसका विश्वास था कि मीरां से पृथक् उसका जीवन असम्भव है। मीरां भी उसे सहसा छोड़ न सकती थी। वृन्दावन पहुँचते ही वह केवल अपने दमे के रोग से ही मुक्त न हो गई, वरन् उसी के शब्दों में—

'जोग जतण ना म्हारो कोई श्याम तुम्हारो माया,
वृन्द्रावणरो दरसण पायां, कंचन हो गई काया।'

उसे तो कंचन काया मिल गई, जीवनपर्यन्त वह मीरां के साथ ही रही। कहा जाता है कि रणछोड़ के मन्दिर में जिस दिन मीरां ने समाधिस्थ होकर अपना शरीर छोड़ा था, उसकी पहली ही रात्रि में नवविवाहिता का-सा शृङ्गार करके वह मीरां के सामने उपस्थित हुई थी और उन्हें अन्तिम प्रणाम करके समुद्र की लहरों में समा गई थी। वह शायद संकेत था मीरां के लिये कि उनकी चिर वेदना भी अपनी अवधि को प्राप्त कर चुकी थी। तपस्या पूर्ण हो चुकी थी। चिर संयोग की घड़ी प्रभात की किरणों का मार्ग जोह रही थी। यही वह दासी थी, जो मीरां के पदों को लेखबद्ध करके सुरक्षित रखती थी।

वह प्राचीन ललिता द्वारा लिखी प्रति रणछोड़ के मन्दिर के खजाने में बहुत दिनों तक सुरक्षित रही। उस प्रति के लोग दर्शन करते थे और उसकी पूजा करते थे। मन्दिर में उपासना के विविध अवसरों पर मीरां के पदों के गाये जाने की क्रमबद्ध अटूट परम्परा थी। एक भक्त ने अपनी भक्ति के उद्रेक में उस पोथी को सोने और

---

१. पदावली परिचय—आचार्य ललिताप्रसाद सुकुल—मीरा स्मृति ग्रंथ, पृष्ठ ग-च।

जवाहिरातों से मढ़वा लिया था। सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में गुजरात के किसी मुसलमान शासक ने जब उस अंचल में उत्पात मचाया था और रणछोड़ जी के मन्दिर के खजाने को लूटा था, उसी समय रत्नों और सुवर्ण के लोभ से प्रेरित होकर इस पोथी को भी उठा ले गया था। किन्तु उसी शासक की दूसरी पीढ़ी में नानालाल भगतमल नामक एक प्रसिद्ध व्यक्ति दीवान हुए थे। उनकी कृपा से सुवर्ण और रत्नों से विहीन वह पोथी किसी प्रकार सुरक्षित होकर रणछोड़ जी के मंदिर को फिर प्राप्त हो गई थी और शायद अभी तक वह वहाँ है। भट्ट जी की प्राचीन पोथी उनके पूर्वजों द्वारा इसी मूल प्रति के आधार पर संवत् १६४२ में लिखी गई थी।"[1]

निष्कर्ष :—

डाकोर की हस्तलिखित प्रति के उपरोक्त इतिहास से हमें निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं :-

१—मेड़ता से वृन्दावन जाते समय मीरां के साथ ललिता दासी के अतिरिक्त कृष्ण-भक्तों का एक बड़ा समूह भी था।

२—डाकोर में प्राप्त हस्तलिखित प्रति की मूल लेखिका मीरां की सखी और दासी ललिता थी। ध्रुवदास जी ने भी ललिता का उल्लेख अपनी भक्त-नामावली में किया है—

ललिता हू लई बोलि कै, तासों हो अति हेत।
आनंद सों निरखत फिरै वृन्दावन रस खेत॥[2]

ललिता और मीरां के 'अति हेत' तथा दोनों के द्वारा रस-क्षेत्र वृन्दावन के निरीक्षण का उल्लेख तो डाकोर की प्रति के इतिहास तथा 'भक्त-नामावली' में समान रूप से विद्यमान है, पर दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि तथाकथित इतिहास में ललिता अस्वस्थ होने पर भी स्वेच्छा से आग्रहपूर्वक मीरां के साथ वृन्दावन चली जाती है और 'भक्त-नामावली' के अनुसार मीरां अत्यधिक प्रेमवश ललिता को अपने साथ ले जाती हैं। जो हो, ललिता मीरां की दासी थी और वह उनके साथ वृन्दावन, डाकोर और द्वारका तक गई थी। प्राप्त इतिहास के अनुसार उसने ही मीरां के पदों को लिपिबद्ध किया था।

---

१. पदावली परिचय—आचार्य ललिता प्रसाद सुकुल-मीरा स्मृति ग्रंथ, पृ० च-ज

२. मीरां माधुरी (द्वितीय संस्करण, संवत् २०१३)—श्री ब्रजरत्नदास, भूमिका, पृ० ३२

३—मीरां के समाधिस्थ होने के एक दिन पूर्व ललिता ने नवविवाहिता के समान श्रृंगार कर मीरां को प्रणाम किया और समुद्र की लहरों में समा गई। उसने ऐसा क्यों किया, इसका उक्त इतिहास में कोई कारण नहीं दिया गया।

४—मन्दिर में मीरां के पद उपासना के विविध अवसरों पर गाये जाते थे, इससे उनकी लोकप्रियता और श्रेष्ठता का पता चलता है। प्रगाढ़ भक्ति-भाव-पूर्ण मीरां के पद तब भी मन्दिरों में गाये जाते थे, अब भी मन्दिरों में गाये जाते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि पहले वे भक्तों के कण्ठहार थे, अब जन-जीवन की धरोहर बन गये हैं। मीरां के पदों की यह व्यापकता जन-मानस में उनके प्रति विद्यमान प्रेम और सम्मान की द्योतक है।

५—मीरां-पदावली की हस्तलिखित प्रतियों पर भक्तों की श्रद्धा और भक्ति थी। इसका परिचय इस घटना से मिलता है कि किसी भक्त ने मीरां के पदों की हस्तलिखित प्रति सोने और जवाहिरातों से मढ़वा दी थी। काशी के सेठ लाला गोपालदास जी के संग्रह की हस्तलिखित प्रतियों पर मखमली जिल्द और अन्य प्रकार की सजावट इसी मनोवृत्ति का परिचय देती है। हस्तलिखित प्रतियों की सुन्दर जिल्दें बनवाने में या उन्हें मढ़वा कर रखने में ग्रंथ की सुरक्षा और उसके प्रति संग्राहक के प्रेम की भावना व्यक्त होती है।

६—डाकोर की प्रति से प्राप्त ६९ पद इस बात की सूचना देते हैं कि मीरां ने डाकोर छोड़ने के पहले ६९ पद ही रचे थे। यदि उन्होंने डाकोर छोड़ने तक ६९ से अधिक पदों की रचना की होती तो अवश्य ही ललिता उन पदों को डाकोर की प्रति में लेखबद्ध करती, किन्तु ऐसा नहीं हुआ है।

७—काशी और कानपुर की प्रतियों में (जिनका लिपिकाल संवत् १७२७ है) तथा डाकोर निवासी पं० गोवर्द्धनदास जी भट्ट द्वारा प्रस्तुत मीरां के पदों की दूसरी प्रति (जिसका लिपिकाल संवत् १८०५ है) में एक सौ तीन-तीन पद एक ही भाषा में (सामान्य लिपि-भेद को छोड़ कर) एक ही क्रम से विद्यमान हैं, विशेषकर डाकोर की पहली प्रति (सं० १६४२), काशी की प्रति (सं० १७२७) और डाकोर की दूसरी प्रति (सं० १८०५) में भाषा और भावधारा की जो समानता दिखाई देती है, उससे ऐसा पता चलता है कि संवत् १६४२ वाली प्रति के बाद जो ३४ पद हमें अधिक प्राप्त होते हैं, वे मीरां द्वारा डाकोर छोड़ने के बाद द्वारका जाते समय मार्ग में अथवा द्वारका में स्वर्गारोहण के पूर्व रचे गये हैं। संभव है, उन्होंने कुछ और भी पद रचे हों।

८—डाकोर और काशी की पदावलियों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि मीरां की मृत्यु के बाद उनके साथ जो कृष्ण भक्तों का समूह मेड़ता से द्वारका तक

गया था, सम्भवतः डाकोर होता हुआ काशी आया होगा । इन्हीं भक्तों के साथ मीरां के पद द्वारका से राजस्थान, ब्रजमण्डल और काशी तक आये । अतः संवत् १७२७ तक और सम्भवतः डाकोर की दूसरी प्रति के लिपिकाल संवत् १८०५ तक मीरां के पद कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के पास अपने मूल रूप में अवश्य विद्यमान थे । परवर्ती लिपिकारों ने स्थल-भेद और भाषा-भेद के अनुसार अठारहवीं शताब्दी तक और उसके बाद अपनी-अपनी हस्तलिखित प्रतियों में मूल पदों में भाव और भाषागत परिवर्तन कर दिये हैं ।

९——डाकोर और काशी की प्रतियों की भाषागत समानता और उसके स्वरूप को देखते हुए हम निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि इन हस्तलिखित प्रतियों के पदों की भाषा मीरां की भाषा है । इन प्रतियों के पदों की भाषा प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी है तथा इन पदों के ब्रज और गुजराती गेयरूप भी उपलब्ध हैं । अतः हमें यह मानना पड़ता है कि मीरां ने ब्रज और गुजराती में पद नहीं रचे । ब्रज और गुजराती के सभी पद मूल पदों के भाषानुवाद, भावानुवाद या प्रकीर्ण पद हैं । आधुनिकतम शोध से भी हमारे मत की पुष्टि होती है । गुजराती प्रबन्ध लेखिका डॉ० निर्मला लालाभाई झावेरी भी इस तथ्य को स्वीकार करती हैं कि मीरां के पदों की मूल भाषा मारवाड़ी राजस्थानी या जूनी पश्चिमी राजस्थानी थी,[1] अतः भाषा की दृष्टि से डाकोर और काशी की प्रतियों की प्रामाणिकता पर सन्देह करने के लिये जगह नहीं है । उक्त प्रतियों में लिपिसम्बन्धी जो भेद पाये जाते हैं, वे लिपिकारों की देन हैं । मीरां उनके लिये बिलकुल निर्दोष हैं ।

१०——श्री ललिता प्रसाद जी सुकुल के संकेतानुसार ललिता द्वारा लिखी हुई मीरां के पदों की मूल प्रति को देखने के लिये प्रस्तुत प्रबन्ध का लेखक ३० दिसम्बर १९६० को डाकोर पहुँचा । रणछोड़ जी की सेवा, शृंगार और आरती करने वाले श्रीयुत कृष्णलाल जयरणछोड़ जी ने लेखक को बताया कि डाकोर के मन्दिर में मीरां के पदों की कोई पोथी नहीं है । मन्दिर का सम्बन्ध बल्लभ सम्प्रदाय से है और मीरां बल्लभ सम्प्रदाय की नहीं थीं । डाकोर के मन्दिर के स्थानीय व्यवस्थापक श्री बी० जी० ताम्बेकर ने लेखक को रणछोड़ जी के मन्दिर का इतिहास, सरकारी कागज-पत्र और अन्य जानकारी दी, किन्तु मीरां के पदों की हस्तलिखित प्रति का कोई

१. "येना (मीरांना) पदोनी मूल भाषा मारवाड़ी राजस्थानी कही छे, ते छे, या जूनी पश्चिमी राजस्थानी डॉ० टेसीटरी ने मते गुजराती तथा मारवाड़ी नी जननी छे ।"
——मीरां जीवन अने कवन : डॉ० निर्मला लालभाई झावेरी——पदोनी भाषा, पृ० २५३

पता नहीं दिया । मन्दिर के सेवक श्री आनन्द राम वियोगी ने लेखक को दो महत्वपूर्ण सूचनायें दीं : १–डाकोर के मन्दिर के बारे में एक शिलालेख व्यवस्थापक जी के बैठक में है, जिसके ऊपर रणछोड़ जी की बड़ी तस्वीर रखी है । २–डाकोर के मन्दिर में कई हस्तलिखित चोपड़ियाँ हैं और वे ऑफिस के मैनेजर के ताबे में हैं । मीरां के पदों की कोई हस्तलिखित चोपड़ी यदि ऑफिस में होगी, तो मिल जायगी पर यदि वह मन्दिर के खजाने में होगी तो खजाने का पता आपको कोई नहीं देगा ।

वियोगी जी की दोनों सूचनायें सत्य निकलीं । बड़ी अनुनय-विनय के बाद व्यवस्थापक जी की बैठक में रणछोड़ जी की तस्वीर और गद्दे तकिये हटाकर शिला-लेख खोजा गया, जिसमें मन्दिर के निर्माण के सम्बन्ध में संगमर्मर के पत्थर पर काले अक्षरों से संस्कृत में शिलालेख था । फिर लेखक मैनेजर महोदय से मिला और उनकी कृपा से लेखक को उनके ऑफिस में कई पुरानी पुस्तकों की हस्तलिखित प्रतियाँ मिलीं । अधिकांश साहित्य बल्लभ-सम्प्रदाय का था । दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता की भी एक प्रति यहाँ विद्यमान थी, पर मीरां के पदों की मूल प्रति ऑफिस में नहीं थी । काफी पूछताछ और छानबीन करने के बाद भी अन्ततः ललिता द्वारा लिखित मीरां के मूल पदों की प्रति का डाकोर में पता नहीं चला ।

नई मान्यता : नये प्रश्न :—

भाषा और इतिहास सम्बन्धी प्राप्त प्रमाणों के आधार पर यह बात सिद्ध हो चुकी है कि डाकोर और काशी की हस्तलिखित प्रतियों के पद मीरां के ही पद हैं । अतः इस तथ्य को स्वीकार करते ही दो जटिल प्रश्न हमारे सामने आते हैं : १—क्या मीरां ने केवल १०३ पद ही लिखे थे ?

२—क्या उक्त पदों को छोड़ कर शेष सभी पद, जो आज सैकड़ों की संख्या में विद्यमान हैं, मीरां के नहीं हैं ? और यदि वे पद मीरां के नहीं हैं, तो फिर वे किसकी रचनायें हैं ?

दोनों प्रश्न विचारणीय हैं । डाकोर और काशी की हस्तलिखित प्रतियों पर सन्देह करते हुए श्री ब्रजरत्नदास जी ने लिखा है—"मीरांबाई का रचनाकाल लगभग चालीस वर्षों का था और ऐसी अवस्था में उनके रचे हुए पाँच सौ पदों का या इससे कहीं अधिक का होना असम्भव नहीं । वास्तव में इनके बहुत से पद अवश्य ही लुप्त हो गये और इसी प्रकार कुछ पद मीरां के भक्तों के बनाये इनकी पदावली में भी मिल गये, किन्तु केवल किसी छोटे संग्रह की प्राचीन हस्तलिखित प्रति प्राप्त हो जाने से उन पदों के सिवा अन्य सभी को प्रक्षिप्त मान लेना अनुचित ही नहीं, मतिभ्रम भी है ।"[1]

१. मीराँ माधुरी—ब्रजरत्नदास, भूमिका, पृष्ठ १७६-१७७

इतिहास इस बात का साक्षी है कि विक्रम की सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में मेड़ता, मेवाड़, राजस्थान और गुजरात में वहाँ की आंचलिक भाषायें अपने-अपने रूप में थीं और यह बात सर्वसम्मति से स्वीकृत है कि मीरां की मातृभाषा सोलहवीं शताब्दी की प्राचीन मारवाड़ी या पश्चिमी राजस्थानी थी और मेड़ता, मेवाड़, ब्रज तथा गुजरात में मीरां ने अपनी मातृभाषा में ही रचना की थी, इसका प्रमाण हम पूर्वाभास में दे चुके हैं । जब ब्रज और डाकोर में रहकर भी मीरां अपनी मातृभाषा में ही काव्य-रचना करती थीं, और तद्‌युगीन हस्तलिखित प्रतियाँ इसका प्रमाण दे रही हैं तो मीरां की भाषा को छोड़ कर अन्य भाषाओं में प्राप्त रचनायें अपने आप प्रक्षिप्त सिद्ध हो जाती हैं । मीरांबाई के तथाकथित 'पाँच सौ पद या इससे अधिक' मौखिक परम्परा तथा सन्तों और गायकों की देन हैं । राजस्थान, गुजरात और विदेशों में प्राप्त सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी के गुटके भी इसी तथ्य के समर्थक हैं, जिसका विवेचन हम आगे करेंगे ।

हमें यह नहीं भूलना चाहिये की मीरां की भाषा और उनकी भक्ति-भावना उनके संस्कारों की देन थी । जगह-जगह भाषा बदलकर मीरां पद-रचना करती होंगी, यह सोचना ठीक नहीं है । किसी भी प्राचीन कवि की प्राचीन प्रामाणिक हस्तलिखित प्रति प्राप्त हो जाने पर, और उसकी प्रामाणिकता सिद्ध हो जाने पर भी उस प्रति पर अविश्वास करना दरअसल मतिभ्रम है ।

देश-विदेशों में अठारहवीं शताब्दी तक के मीरां के पदों की जितनी भी हस्त-लिखित प्रतियाँ पाई जाती हैं, उनमें ९६ से लेकर १२४ तक पद संग्रहित हैं । मीरां के युग, जीवन, मानसिक विकास, भक्ति-भाव, दिनचर्या एवं परिस्थितियों को देखते हुए हमारा यह मत है कि वे अपने जीवन का अधिकांश समय भजन-पूजन और संत-सत्संग में बिताती थीं । उनके दैनिक जीवन का कार्य-कलाप प्रायः एक सा ही रहता होगा । घर में वे अपने 'सालिगराम' की पूजा करती थीं और समय-समय पर साधु-सन्तों से भगवद्-चर्चा सुनती थीं । वे एक विशेष ढंग से पूजा और आरती करती होंगी । भजन, कीर्तन के समय वे अपने पुराने पदों को दुहराती, गाती और भावविह्वल हो नाचती होंगी । सूरदास की तरह 'नित्य नये पदों की रचना कर ठाकुर जी के सामने गाना' मीरां के लिये अनिवार्य नहीं था । मीरां साम्प्रदायिकता की अंगुलियों से झंकृत होने वाली सितार नहीं बल्कि अन्तःप्रेरणा से भावविभोर हो कूक उठने वाली भक्ति-कोकिला थीं । प्राणों के मूक समर्पण को, आत्मा के ऐकान्तिक प्रेम को, हृदय की अगाध विरह-जन्य पीड़ा को वे जीवन-वीणा के तारों पर भाव-विभोर हो मुखरित किया करती थीं । ऐसी परिस्थिति में कोई आश्चर्य नहीं कि उन्होंने बहुत अल्प संख्या में पद रचे हों । फिर अधिक रचनायें लिखने से ही कोई साधक महान नहीं बन

सकता । थोड़ा किन्तु सरस, सीमित किन्तु मर्मस्पर्शी साहित्य का प्रणेता भी महान हो सकता है । महाकवि देव के ७२ ग्रंथों की अपेक्षा बिहारी की अकेली 'सतसई' उन्हें अमर बना देने के लिये पर्याप्त है । हिन्दी के विशाल कथा साहित्य में श्री चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' तीन कहानियाँ लिखकर ही श्रेष्ठतम कथाकारों की श्रेणी में अधिष्ठित हो गये हैं । उनकी एक ही कहानी 'उसने कहा था' उन्हें चिरस्मरणीय बना देने के लिये पर्याप्त है ।

हम दृष्टान्त को प्रमाण नहीं, प्रमाण का सहारा मानते हैं । महाकवि बिहारी और गुलेरी जी का दृष्टान्त देकर हम अपने विद्वान विचारकों से यह निवेदन करना चाहते हैं कि विशाल ग्रंथों के प्रणयन की अपेक्षा आत्मा की घनीभूत अनुभूति से परिपूर्ण मर्मस्पर्शी संक्षिप्त काव्य भी कवि को अमरता प्रदान कर सकता है । इस तर्क-वितर्क से हमारा यह आग्रह नहीं है कि मीरां ने केवल १०३ पदों की ही रचना की थी, या सौ सवा सौ से अधिक पद नहीं रचे, किन्तु हमारी यह निश्चित धारणा है कि डाकोर और काशी की प्रतियों के १०३ पदों में मीरां की आत्मा की घनीभूत अनुभूति पूर्णतः विद्यमान है, तथा वे मीरां के प्राचीनतम, प्रामाणिक और मूल पद हैं । यदि भविष्य में मीरां के इनसे भी अधिक प्रामाणिक पद मिल सके, तो वह हमारे लिये बड़े हर्ष और गौरव की बात होगी ।

मौखिक परम्परा से प्राप्त मीरां के सैकड़ों पदों को बिना सोचे-विचारे मीरां की ही कृति मानने वाले विद्वानों से हमारा अनुरोध है कि वे भाव, भाषा और ऐतिहासिक कसौटी पर चौकस उतरने वाली, मीरां की मूल, और प्रामाणिक हस्त-लिखित प्रतियाँ प्राप्त हो जाने पर ज्ञान के आलोक में सत्य को परखें और निरीक्षण-तथा शोध के बाद उपलब्ध 'सत्य' को निष्पक्ष भाव से स्वीकार करें । भावुकता के दायरे में जो अनेक बातें 'प्रसिद्ध' होती हैं, शोध की कसौटी पर वे सब 'सिद्ध' नहीं होतीं । साहित्यिक जिज्ञासु और सत्यान्वेषी का यह कर्त्तव्य है कि अध्ययन और अनुशीलन के बाद 'सिद्ध' को 'प्रसिद्ध' करे ।

मीरां की मूल-मंदाकिनी की तुलना में जब हम वर्तमान मीरां-सुधा-सिन्धु को दखते हैं तो हमें ऐसा लगता है कि हम उसके स्रोत से चार सौ वर्षों की दूरी पर खड़े हैं । हम गंगोत्री में नहीं, बंगाल की खाड़ी के निकट हैं । भावना की दृष्टि से बंगाल की खाड़ी में गिरने वाली और गंगोत्री की गंगा एक ही है, पर दोनों में तात्विक भेद यह है कि गंगोत्री का जल विशुद्ध गंगाजल है और बंगाल की खाड़ी के निकट की गंगा की धारा में यमुना, घाघरा, सरयू, गण्डक और कोसी का जल भी मिला हुआ है । गंगोत्री की गंगा क्षीणकाय है, पर बंगाल की खाड़ी के निकट की गंगा

की धारा का अनेक धाराओं के सम्मिलन से विस्तार हो गया है। मीरां-मंदाकिनी के लिये भी यही बात अक्षरशः सत्य है, और इसके प्रमाण हैं :—

१—मीरां की मूल भाषा प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी थी, अतः ब्रज, गुजराती, बिहारी, पंजाबी आदि अन्य सभी भाषाओं में उनके नाम से प्राप्त पद प्रकीर्ण ही माने जायेंगे, क्योंकि इन विविध भाषाओं में प्राप्त पदों की रचना बाद में हुई है।

२—साधु-सन्तों, गायकों, जोगियों और भक्तों ने अनेक पद मीरां के नाम से गढ़े हैं, अतः इन पदों की भाषा देश-काल-सापेक्ष है। स्मृति-विस्मृति से भी नये पदों का निर्माण हुआ है, और भक्तों द्वारा अन्य कवियों की रचनाओं में भी 'मीरां के प्रभु गिरधर नागर' जोड़कर मीरां के नाम पर सैकड़ों पद चलाये गये हैं। मूल प्रति के अभाव में शोध-दृष्टि-शून्य मीरां-पदावली के सम्पादकों ने इन सभी पदों को मीरां की ही रचना माना है। प्रस्तुत प्रबन्ध के द्वितीय खण्ड में हमने ये सभी तथ्य सप्रमाण सिद्ध कर दिये हैं, फिर भी एक दृष्टान्त का यहाँ उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा। यथा—

'अब तो मेरे राम नाम, दूसरा न कोई।
माता छोड़ो, पिता छोड़े, छोड्या सगा भाई।
साधु संग बैठ बैठ लोक लाज खोई।
संत देख दौड़ आई, जगत देख रोई।
प्रेमआंसु डार-डार, अमर बेलि बोई॥
मारग में तारण मिले, संत राम दोई।
संत सदा सीस रखूँ, राम हृदै होई॥
अंत में से तंत काढ्यौ, पीछे रहो सोई।
राणौ मेल्या विष का प्याला, पोवत मस्त होई।
अब तो बात फैल गई, जाणै सब कोई।
दासि 'मीरां' लाल गिरधर, होनी हो सो होई॥'[1]

मूल पदावली में इसी पद का स्वरूप देखिये :—

म्हांरा री गिरधर गोपाळ दूसरां णा कूयां।
दूसरां णा कोयां साधां सकळ लोक जूयां।
माया छाड्यां बंधा छाड्यां छाड्यां सगा सूयां।
साधां संग बैठ बैठ लोक लाज खूयां।

---

१. मीराँ-माधुरी—ब्रजरत्नदास, पृष्ठ १२७–१२८, पद ३४८।

भगत देख्यां राजी ह्यां, जगत देख्यां रूयां ।
असवां जल सींच सींच प्रेम बेल बूयां ।
दध मथ घृत काढ़ लयां डार दयां छूयां ।
राणा विषरो प्यालो भेज्यां पीय मगण हूयां ।
अब तो बात फैल पड़्या जाण्यां सब कूयां ।
मीरां री लगण लग्यां होणा हो जो हूयां ।[1]

भावना और भाषा की दृष्टि से मूल पदावली के पद में जो धारावाहिक अनुभूति है उसमें मीरां की आत्मा है, किन्तु 'मीराँ माधुरी' में दिये गये मूल पद के रूपान्तर में प्रक्षेप हैं । उसकी भाषा पर सन्तवाणी हावी हो गई है । प्रथम पंक्ति में ही 'म्हांरा री गिरधर गोपळा' की जगह 'अब तो मेरे राम नाम' संतों की देन है । 'संत देख दौड़ आई, जगत देख रोई', चरण में ठेठ हिन्दी का ठाठ है । 'संत सदा सीस रखूं, राम हृदै होई ।' में वैष्णवता की गन्ध है । 'अंत में से तंत काढ्यो पीछे रही सोई ।' 'दध मथ घृत काढ लयां डार दयां छूयां' का परिवर्तित रूप है । कुल मिला कर मीराँ माधुरी में दिया गया उक्त पद, मूलपद का भाषानुवाद, भावानुवाद और छायानुवाद है, जिसमें परवर्ती सन्तों ने काफी 'संशोधन' कर दिये हैं । पद अपने वर्तमान रूप में मीरां की रचना नहीं है, अतः हमारे विचार से ऐसे सभी पद प्रकीर्ण माने जाने चाहिये ।

लोक-भाषा के अनुरूप मीरां-पदावली को बनाने के लिए अनजान में ही सन्तों द्वारा ऐसे पदों की सृष्टि की गई है । उनका ध्येय मीरां-पदावली का गान और जन-समाज में उनका प्रचार-प्रसार करना था । वह उनकी श्रद्धा और भक्ति का प्रश्न था, किन्तु 'मीराँ माधुरी' के सम्पादक यदि मीरां-पदावली का साहित्यिक संस्करण प्रस्तुत करते समय यह लिखें कि 'हिन्दी के संग्रहों में शब्दों का वही रूप लेना उचित समझा गया, जो हिन्दी भाषा के लिये बोधगम्य हो तथा गाने में सुगम हो । इसी से नन्दनन्दन के लिये णण्दणण्दन तथा कंवल कोमल के स्थान पर कंवल कोमल के रूप इस संग्रह में नहीं लिये गये ।'[2] तो यह उचित नहीं है ।

'मीराँ-माधुरी' में श्री ब्रजरत्नदास जी ने डाकोर और काशी की प्रति से प्राप्त पदों के शब्दों के वही रूप नहीं लिये, जो उन्हें लेना चाहिये थे, किन्तु उन्हें वे रूप दिये, जो उन्हें नहीं देना चाहिये । सम्पादकों द्वारा प्राचीन कवियों की मूल भाषा में ऐसे परिवर्तन सम्पादन-कला के लिये शोभा नहीं देते । हमारा यह निवेदन है कि प्राचीन

---

१. मीरा पदावली (डाकोर की प्रति से), पृष्ठ १, पद १ ।
२. मीराँ माधुरी—ब्रजरत्नदास, भूमिका, पृष्ठ १७७ ।

कवियों का काव्य सौष्ठव उनके पदों की प्राचीनता में ही अधिक है । मूल पदों की भाषा में भावगत या भाषागत ऐसे परिष्कार सम्पादकों की अनधिकार चेष्टा मानी जानी चाहिये ।

मीरां की मूल पदावली में जो क्रमिक विकास पाया जाता है, उसका सप्रमाण विवेचन प्रस्तुत प्रबन्ध के द्वितीय खण्ड में हम सादर प्रस्तुत कर रहे हैं । जब तक मीरां के पदों की और कोई मूल प्रति नहीं मिलती, तब तक के लिये डाकोर और काशी की प्रतियों के पद ही मीरां के प्रामाणिक पद माने जाने चाहिए । हमारी यह मान्यता है कि अन्य प्रामाणिक प्राचीन प्रतियाँ मिलने पर अधिक से अधिक मीरां के मूल पदों की संख्या में अभिवृद्धि हो सकती है, किन्तु जिन पदों को हमने प्रामाणिक माना है, वे अपने वर्तमान रूप में सदैव प्रामाणिक ही रहेंगे ।

राजस्थान में प्राप्त हस्तलिखित प्रतियाँ—

महाराजा जोधपुर के 'पुस्तक प्रकाश' उम्मेद भवन, जोधपुर, पुरातत्व मंदिर जोधपुर, रामद्वारा, धोली बावड़ी उदयपुर आदि संस्थाओं में मीरां के अनेक पद हस्तलिखित गुटकों में मिलते हैं । इनकी भाषा ब्रज-मिश्रित राजस्थानी और लिपि देवनागरी है । लगभग सभी गुटकों का रचनाकाल अठारहवीं शताब्दी और उसके बाद का है । गुटकों में प्राप्त सभी पद मौखिक परम्परा पर आधारित हैं । पदों के संकलनकर्त्ताओं ने अपनी-अपनी स्मृति से पदों को गुटकों में लिखा है । भाव और भाषा की दृष्टि से राजस्थान में आज तक प्राप्त हुए सभी पद प्रामाणिक पद नहीं माने जा सकते । उनमें सन्देह के लिए आधार और प्रमाण—दोनों विद्यमान हैं । सभी पदों का विवेचन तो यहाँ सम्भव नहीं है, किन्तु फिर भी कुछ पदों पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है ।

पुरातत्व मन्दिर जोधपुर की हस्तलिखित प्रतियाँ—

पुरातत्व मंदिर जोधपुर के संग्रहालय में मीरां के अनेक पद यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं । उनमें से हम एक पद यहाँ उद्धृत करते हैं :—

'मैं तो येक घड़ी नहीं कातू अे माय, हरि बिन जिबड़ो निकस्यो जाये । टेक
सुरत सुतार्‌यो रांटयो घड़ीयो, सुरता संग लगाई ये माये ॥१॥
सुरत निरत की बांगड़ी करल, निरहरि माल बनाई ये माये ॥२॥
प्रेम पिजारो पूणी पीजी, माया को हाट भराणों ये माये ॥३॥
पांच पचीस मिल कातण बैठी, आड़ी जोड़े डे ये माये ॥४॥
प्रेमसूत की गांठड़ी कर ले, चली सिखरगढ़ हाटौ ये माये ॥५॥
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, सहजै मुगती पाई ये माये ॥६॥'[1]

१. पुरातत्व मंदिर, जोधपुर, हस्तलिखित प्रति नं० १०८६४, पद १

उक्त पद को ध्यान से देखने पर पता चलता है कि उसमें 'मीरां के प्रभु गिरधर नागर' अंश को छोड़कर शेष पद में मीरां का कुछ भी नहीं है । 'सूत कताई' वाला रूपक 'कबीर की झीनी झीनी बीनी रे चदरिया' की पृष्ठभूमि पर आधारित सा लगता है । 'आड़ी जोड़े डे ये माये' का भाव अस्पष्ट है और 'प्रेम सूत की गांठड़ी कर ले चली सिखरगढ़ हाटौ ये माये' में कुण्डलिनी योग-साधना का संकेत सन्निहित है । 'ये माये' वाली टेक मीरां के पदों पर आधारित नहीं है, बल्कि 'नवदुर्गा' में दुर्गा देवी की पूजा के समय गाये जाने वाले 'माई के जस' की धुन है । भाव और भाषा की दृष्टि से यह पद हस्तलिखित प्रति में होते हुए भी मीरां की रचना नहीं है ।

यही एक पद नहीं, लगभग राजस्थान में प्राप्त सभी गुटकों के पद इसी प्रकार के हैं । स्थानाभाव के कारण ऐसे सभी पदों की मीमांसा यहाँ असंभव है ।

रामद्वारा, धोलीबावड़ी उदयपुर की हस्तलिखित प्रतियाँ :—

रामद्वारा, धोलीबावड़ी उदयपुर में भी अनेक हस्तलिखित गुटकों में मीरां के पद लिखे हुए हैं । उनमें से हम एक पद यहाँ दे रहे हैं, जिसका रचनाकाल संवत् १८७९ है ।

'जोगीयाज दरसण दीज्यो रा जी ।
कर जोड़्या करणी करूँ म्हारी वाहा गहवा की लाज ।।टेक।।
लोक लाज सब सारी डारी, छाड़्यो जग उपदेश ।
ब्रह अग्नि में प्रान दाझे, म्हारो सुणि लीज्यो आदेश ।।१।।
सांच मुद्रा भाव कंथा, साज्यौ नष सष साज ।
जौगणि हौइ जुग ढुंढस्यूं, म्हांरी घर घर फेरी आस ।।२।।
दरध दिवाणी तन देषि आपनूं मलीया परम दयाल ।
मीरां के मनि आनन्द हुंवां, रूम-रूम खुसियाल ।।३।।' [1]

उन्नीसवीं शताब्दी के चतुर्थ चरण का यह पद नाथ-सम्प्रदाय से प्रभावित किसी अशिक्षित जोगी की करामात है । प्राप्त प्रमाण और ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसार मीरां ने कभी भी किसी जोगी से बाँह गहे की लाज रखने के लिये हाथ जोड़ कर प्रार्थना नहीं की और न उन्होंने कभी 'सांच मुद्रा भाव कंथा' से नख शिख श्रृंगार ही किया । 'लोक लाज जब सारी डारी' में खड़ी बोली की छाप है । ऐसा लगता है कि किसी 'परम दयाल' जोगी ने दरद दिवाणी मीरां के नाम पर यह पद रच डाला है ।

---

१. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज (तृतीय भाग)—उदय सिंह भटनागर, पृष्ठ २२०, पद ४ ।

मीर जिस योगी की जोगन थी, वह कण्ठा, मुद्रा, सेली वाला नाथ सम्प्रदाय का जोगी नहीं था, साँवली सूरत वाला मीरां का गिरधर था । प्रमाण लीजिये—

'साँवरी शुरत मण रे बशी ।
गिरधर ध्यान धरां निशवासर मूरत मोहण म्हारे वशी ।
कहा करां कित जावां सजणी म्हा तो स्याम डसी ।
मीरां रे प्रभु कबरे मिलोगां णित णव प्रीत रशी ।'[1]

नाथ सम्प्रदाय वाले जोगियों में प्रचलित उक्त पद का स्वरूप देखिये—

'जोगिया री सूरत मन में बसी ।
नित प्रति ध्यान धरत हूँ दिल में, निस दिन होत कुसी ॥१॥
कहा करूँ कित जाउँ मोरी सजनी, मानो सरप डसी ॥२॥
मीरां कहैं प्रभु कब रे मिलोगे, प्रीत रसीली बसी ॥३॥'[2]

दोनों पदों का भाषागत वैषम्य तो स्पष्ट है ही, किन्तु विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि नाथ-पंथी जोगियों ने मीरां के मूल पद में वर्णित 'सांवरी शुरत' को 'जोगियारी सूरत' बना दिया है । मूल पद के 'साँवरी शुरत', 'गिरधर', 'मूरत मोहण' जैसे कृष्ण के पर्यायवाची शब्दों को हटाकर जोगियों ने मीरां के मन में बसी हुई कृष्ण की मूरत की जगह किसी 'जोगी की सूरत' अंकित करने का अवांछनीय प्रयास किया है ।

रामद्वारा, धोली बावड़ी, उदयपुर की हस्तलिखित प्रतियों में तथा अन्य हस्तलिखित प्रतियों में मीरां को किसी जोगी की जोगिन बनाने की जो चेष्टा दिखाई देती है, वह नाथपंथी जोगियों की देन है । हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि मध्यकाल में प्रायः सारे उत्तर भारत में नाथपंथी जोगी भटकते थे, और राजस्थान भी उनके प्रभाव से अछूता नहीं था ।

अन्य प्रतियाँ :—

राजस्थान की लगभग सभी हस्तलिखित प्रतियाँ अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी की हैं और उनमें सन्तों और जोगियों की भाषा विद्यमान है, जो मीरां की मूल भाषा से काफी दूर पड़ जाती है । मीरां के पदों में सन्तमत और नाथ-सम्प्रदाय की भावनाओं का जो आभास पाया जाता है, वह गेय परम्परा और उस साम्प्रदायिक कुचेष्टा का फल है, जो मीरां जैसी लोकप्रिय भक्त आत्मा को अपने सम्प्रदाय की

---

१. मीरा पदावली (काशी की प्रति), पृष्ठ २२, पद ७७
२. मीराबाई की शब्दावली: विरह और प्रेम का अंग : पृष्ठ १६, शब्द ३८

घोषित करना चाहता था। बल्लभ-सम्प्रदायी आचार्य महाप्रभून के दूत जिस कार्य को बार-बार मीरां से मिल-जुलकर नहीं कर सके, वही काम सन्तों और जोगियों ने मीरां के नाम से पद गढ़-गढ़ कर आसानी से कर लिया। इसीलिये मौखिक परम्परा से प्राप्त मीरां के पदों में बल्लभ-सम्प्रदाय की तो छाया नहीं मिलती, किन्तु सन्तमत और नाथ-सम्प्रदाय का बड़ा व्यापक प्रभाव प्रतीत होता है। उपरोक्त दृष्टान्तों के आधार पर हम यह कह सकते हैं, मीरां पर सन्त-मत और नाथ-सम्प्रदाय का प्रभाव मानना भ्रम मात्र है। सचाई तो यह है कि मीरां के प्रभाव से सन्तों और जोगियों ने अनेक प्रक्षिप्त पद रचकर निजी पदावली मीरां के नाम पर चला दी और मीरां पर झूठी साम्प्रदायिकता आरोपित की।

गुजराती हस्तलिखित प्रतियाँ :—

गुजराती भाषा में लिखी हुई मीरां के पदों की कई हस्तिलिखित प्रतियाँ फॉबर्स गुजराती सभा, व भारतीय विद्या भवन, बम्बई, प्राच्यविद्या मन्दिर बड़ोदा, और गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी, अहमदाबाद में पाई जाती हैं। ये सभी हस्तलिखित प्रतियाँ संशयात्मक हैं, क्योंकि इनमें प्राप्त पदों में भावधारा बहुत असंतुलित, पद-रचना अव्यवस्थित और भाषा संदिग्ध है। ये सभी पद मौखिक परम्परा और गायकों की स्मृति से अपने मूल स्वरूप से इतनी अधिक दूरी पर हैं कि इन्हें हम निस्संकोच प्रकीर्ण पद कह सकते हैं। मीरां गुजराती की कवयित्री नहीं थीं। इसका प्रमाण हम पहले भी दे चुके हैं।

फॉबर्स गुजरात सभा बम्बई की हस्तलिखित प्रतियाँ:—

फॉबर्स गुजरात सभा बम्बई की हस्तलिखित प्रतियों में मीरां के जो पद दिये गये हैं, उनमें से हम एक पद उदाहरणार्थ उद्धृत कर रहे हैं :—

परणी छु श्री गोपाल माई मे तो समणां मां श्री गोपाल।टेक।
घेली मीरां घेलु सुं बोलो समणुं छे आल जंजाल ॥१॥
जो तने मीरां समणुं रे आवु, समणा नो अरथ बताव्र।
मरि मरि हुं तो समणा मां परणी गोपाल ॥२॥
अरधी पीठी अंगे लपेटी, मेदी लाल गुलाल माई ॥३॥
बाहे बाजूबन्द आंगली अे मुद्रीका, सिर सोहै वरमाल।
माई मे तो अंग केसरिया वागा विराजे मुस्तक पचरींगी पाघ माई।
तेत्रीस कोट देवता जाने पधारा, अति रूड़ा नन्दलाल माई।
मीरां के प्रभु गीरधर नागर, लहुं रे नन्द कुमार। [1]

---

१. फॉबर्स गुजरात सभा, बम्बई, हस्तलिखित प्रति पृ० ७१, पद १६६

उपरोक्त पद में नाटकीय ढंग से मीरां और उनकी माँ में संवाद प्रस्तुत किया गया है । पूरे पद में केवल प्रथम दो पंक्तियाँ तुकान्त हैं । पद के अंतिम चरण मीरां के प्रभु गीरधर नागर, लहूं रे नन्दकुमार जैसे जोड़कर पद पूरा कर दिया गया है । संपूर्ण पद किसी नाटकीय दृश्य का अंश प्रतीत होता है । बहुत संभव है मीरां के स्वर्गारोहण के पश्चात किसी जन-कवि ने लोक-नाट्य लिखा हो, जिसका गुजराती (पश्चिमी) रूपान्तर उपरोक्त पद में विद्यमान है । इसी पद का पूर्वी (राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषा में) रूपान्तर इस प्रकार है :—

(मीरां)—माई म्हांने सुपने में परण गया जगदीस ।
सोती को सुपना आविया जी, सुपना विस्वा बीस ।।टेक।।
(मां)—गेली दीखे मीरां बावली, सुपना आल जंजाल ।
(मीरां)—माई म्हांने सुपने में परण गया गोपाल ।।१।।
अंग अंग हल्दी मैं करी जी सुधे भीज्यो गात ।
माई म्हांने सुपने में परण गया दीनानाथ ।।२।।
छप्पन कोट जहां जान पधारे, दुलहा श्री भगवान ।
सुपने में तोरन बांधियो जी, सुपने में आई जान ।।३।।
मीरां को गिरधर मिल्या जी, पूर्व जनम के भाग ।
सुपने में म्हांने परण गया जी, हो गया अचल सुहाग ।। ।।[1]

उपरोक्त नाटकीय संवादों का मूल स्रोत और स्वरूप डाकोर की प्रति में इस रूप में है :—

माई म्हाणों शुपणाँ माँ परण्याँ दीणानाथ ।
छप्पण कोटां जणां पधार्‌यां दूल्हो सिरी ब्रजनाथ ।
शुपणां मां तोरण बंध्यारी, शुपणां मां गह्या हाथ ।
शुपणा मा म्हारो परण गया, पायां अचल शुहाग ।
मीरां रो गिरधर मिळ्या री पूरब जणम रो भाग ।।[2]

प्राचीन संतों और भक्तों के नाम पर अनेक नाटक कम्पनियों के पास ऐसे लोक-नाट्य थे, जो संगीतात्मक होते थे । संत कबीर, महात्मा तुलसीदास, मीराबाई, नरसी मेहता जैसे धार्मिक नाटकों के साथ नौटंकी के कलाकर लैला-मजनूँ, शीरीं-फरहाद और ढोला-मारू के नाटक भी रंगमंच पर प्रस्तुत करते थे । ये सम्पूर्ण नाटक पद्य-बद्ध होते थे तथा इनमें तबला, पेटी और मंजीरे के साथ नगाड़े की चोट भी

---

१. मीराबाई की शब्दावली, मिश्रित अंग, पृष्ठ ६८, शब्द ३५

२. डाकोर की प्रति, पद ३६ ।

संगीत का एक आवश्यक अंग होती थी। अभिनय, प्रश्नोत्तर और दृश्य-विधान नाटकीय पद्य के अनुरूप होता था। पट-परिवर्तन होते ही नृत्य के कार्य-क्रम शुरू हो जाते थे। भक्तों और सन्तों के पद भी चुन-चुन कर कथानक में जोड़ लिये जाते थे, जिनसे नाटक में सजीवता और यथार्थता आ जाती थी। मीरांबाई की शब्दावली और फॉबर्स गुजरात सभा वाले पूर्वोक्त पद्य, ऐसे ही नाटकीय पद्य प्रतीत होते हैं।

गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी, अहमदाबाद की हस्तलिखित प्रतियाँ:—

गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी, अहमदाबाद की हस्तलिखित प्रतियों में जो अनेक पद हैं, उनमें से एक पद हम उदाहरणार्थ ले रहे हैं :—

तेरो रूप देखी लटकी।
देह थि विदेह भई, गिरी परी शिरे मटकी ॥१॥
तात मात सजन बन्धु, सजनी मिलि हटकी।
सदि थि मोहों टरत नहीं छवी नागर नटकी।
अब तो मन वासु मांन्यो लोक कहत भटकी।
मीरां प्रभु गिरीधर बिना, को जाणे आ घटकी ॥२॥[1]

उक्त पद की भाषा गुजराती नहीं है। 'तात मात सजन बन्धु, जननी मिलि हटकी' पंक्ति तो विशुद्ध ब्रजभाषा की है। शेष पंक्तियों की भाषा भी अधिकांशतः ब्रज है। गुजराती के शब्द तो यत्र-तत्र प्रयुक्त हुए हैं। मूलतः ब्रज-भाषा का पद होने पर गुजराती संग्रहालय की हस्तलिखित प्रति में लिखे जाने के कारण से ही कोई पद गुजराती भाषा का नहीं माना जा सकता।

उक्त पद का मूल स्वरूप डाकोर की प्रति में इस प्रकार है :—

थारो रूप देख्यां अटकी।
कुल कुटम्ब सजण सकल, बार-बार हटकी।
बिशर्‍या णा लगण लगां मोर मुगट णटकी।
म्हारो मण मगण स्याम लोग कह्यां भटकी।
मीरां प्रभु सरण गह्यां जाण्यां घट घट की।[2]

---

१. गुजरात हाथ प्रतोनी संकलित यादी, गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी, अहमदाबाद, हस्तलिखित प्रति नं० द ४७७ क, पृष्ठ ६

२. डाकोर की प्रति, पद ६३।

गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी के पद की तुलना में डाकोर के पद की प्राचीनता और प्रामाणिकता के लिये अब सन्देह की आवश्यकता नहीं है। विस्तारभय से हम यहाँ सभी गुजराती पदों का विवेचन करने में असमर्थ हैं।

निष्कर्ष :—

हस्तलिखित प्रतियों के उक्त अध्ययन द्वारा हम निम्नलिखित निष्कर्ष निकाल सकते हैं, कि—

१—मीरां के मूल पद प्राचीन मारवाड़ी या प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में थे।

२—मौखिक परम्परा द्वारा वे सबसे पहले ब्रज में और फिर गुजराती में रूपान्तरित हुए।

३—राजस्थानी और गुजराती-हस्तलिखित प्रतियों के पद मूल पदावली पर आधारित न होकर मौखिक परम्परा पर आधारित हैं, इसीलिये उनमें लिपि-दोष, भाव-भेद और भाषा-भेद पाये जाते हैं। राजस्थान और गुजरात में प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों के सभी पदों की यही स्थिति है।

४—हस्तलिखित प्रतियों में सन्तमत और नाथ-सम्प्रदाय से प्रभावित पद प्रक्षिप्त हैं।

५—ब्रज और गुजराती पदों का मूल स्रोत डाकोर और काशी की प्रतियों में पाया जाता है, अतः भाषा की दृष्टि से मीरां ब्रज और गुजराती की कवयित्री नहीं हैं।

६—ब्रज और गुजराती तथा अन्य भाषाओं में प्राप्त मीरां के सभी पद परवर्ती हैं, प्रक्षिप्त हैं।

मीरां-भाव :—

मीरां के नाम से प्राप्त सभी प्रकाशित और अप्रकाशित पदों का बारीकी से अध्ययन, परीक्षण, तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक विवेचन करने के बाद हमारा यह मत है कि डाकोर और काशी की हस्तलिखित प्रतियों के पद मीरां के प्रामाणिक पद हैं। पिछले चार सौ वर्षों से भारतीय सन्तों, भक्तों और गायकों के मन में जो मीरां-भाव विद्यमान था, वही उन सैकड़ों पदों के निर्माण का कारण है, जो आज हमें मीरां के नाम से विविध भाषाओं की हस्तलिखित और प्रकाशित प्रतियों में मिलते हैं। मीरां-साहित्य के इतिहास में हम पहली बार 'मीरां-भाव' शब्द का प्रयोग कर रहे हैं, किन्तु इससे चौंकने की आवश्यकता नहीं है। महाप्रभु चैतन्य के 'राधा-भाव' की ही तरह

'मीरां-भाव' सोलहवीं शताब्दी से आज तक भारत में विद्यमान है। सन्त और योगी भी 'मीरां-भाव' से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे, और आज भी पूना में श्री इन्दिरा देवी मीरां के नाम से पद रच रही हैं। आधुनिक भाषाओं में हमें जो मीरां के पद मिलते हैं, वे इसी 'मीरां-भाव' की देन हैं।

(२) कवि-प्रशस्तियाँ :--

मीरां उस युग की महान विभूति थीं जिसमें गौरांग महाप्रभु चैतन्य—भगवान कृष्ण के, महात्मा हरिदास—ललिता सखी के और गोसाईं हित हरिवंश—भगवान मुरलीधर की मुरली के अवतार माने जाते थे। मीरां द्वापर की ब्रज-गोपी का अवतार प्रसिद्ध थीं। राजस्थानी राठौर राव जोधाजी की प्रपौत्री, वीर-श्रेष्ठ जयमल की बहिन और मेवाड़ के 'हिन्दुआ कुलसूर्य' महाराणा सांगा की ज्येष्ठ पुत्रवधू होते हुए भी उन्होंने अपने असाधारण जीवन और दिव्य भक्ति-भाव के कारण जन-समाज, और साधु-सन्त तथा भक्तों के हृदयों में जो श्रद्धा और भक्ति अर्जित की थी, उसी के कारण अनेक भक्त कवियों ने उनके सम्बन्ध में अनेक काव्य-प्रशस्तियाँ लिखी हैं। श्री हरिराम जी व्यास के शब्द, नाभा दास जी के 'भक्तमाल', भक्तमाल पर प्रियादासजी की भक्ति-रस-बोधिनी टीका, महाराष्ट्र संत-शिरोमणि महाराज तुकाराम जी के अभंग, दादूपंथी राघवदास जी के भक्तमाल, नागरी दास जी की पद-प्रसंग माला, चरणदास जी के शब्द, दयाबाई की विनय-मालिका, नन्दराम जी का बारहमासा आदि में अनेक स्थलों पर ग्रंथकारों ने बड़ी श्रद्धा और भक्ति से मीरां का उल्लेख किया है।

आधुनिक कवियों में श्री मैथिलीशरण जी गुप्त, ठाकुर गोपाल शरण सिंह, डॉ० रामकुमार वर्मा, उपेन्द्र आदि अनेक कवियों ने अपनी कविताओं में मीरां की यश-गाथा गाई है और उनके प्रति अपनी 'काव्यांजलि'[१] अर्पित की है।

इन सभी कवि-प्रशस्तियों का स्वरूप श्रद्धामूलक प्रेम है, जिससे प्रेरित हो कवियों ने मीरां के जीवन-वृत्त, अलौकिक भक्ति-भाव और प्राणान्तक-पारिवारिक-प्रताड़नाओं के बीच उनके उदात्त स्वरूप का परिचय दिया है। ये कवि प्रशस्तियाँ केवल काल्पनिक अतिरंजनायें नहीं अपितु सत्य-बोध के लिये भी एक आधार प्रस्तुत करती हैं। मीरां के जीवन-वृत्त से सम्बन्धित होने के कारण हम इन सभी कवि-प्रशस्तियों का मीरां के 'जीवनी-प्रकरण' में विस्तारपूर्वक विवेचन करेंगे।

(३) मीरां-पदावली के संकलित और सम्पादित संस्करण

राजस्थानी, ब्रज, गुजराती तथा अन्य भाषाओं में पाये जाने वाले मीरां के सैकड़ों पदों की लोकप्रियता असाधारण है। हिन्दी और गुजराती के अनेक विद्वानों

१—'काव्यांजलि'—मीरां-स्मृति ग्रंथ-बंगीय-हिन्दी-परिषद, कलकत्ता, पृ० २५७-२७०।

में पिछले पचास वर्षों से इस बात की खींचातानी मची हुई है कि मीरां हिन्दी की कवयित्री हैं या गुजराती की ? राजस्थानी का तो उन पर जन्मजात अधिकार है ही, अतः वहाँ विवाद के लिये कोई गुंजाइश नहीं है । मीरां के सम्बन्ध में व्याप्त हिन्दी-गुजराती-संघर्ष का एक शुभ परिणाम यह निकला कि मीरां के पदों के सम्बन्ध में राजस्थान और गुजरात में काफी शोधकार्य हुआ जिसके फलस्वरूप प्राचीन हस्त-लिखित-पोथियों के लगभग सभी पद अब प्रकाश में आ गये हैं, किन्तु डाकोर और काशी की प्रामाणिक प्रतियों को छोड़कर प्रायः सभी हस्तलिखित प्रतियों के पद मौखिक परम्परा पर आधारित हैं । उनका लिपिकाल भी अठारहवीं शताब्दी और उसके बाद का है । मौखिक परम्परा से प्राप्त होने के कारण उनमें अनेक प्रक्षेप विद्यमान हैं (जिनके प्रमाण हम हस्तलिखित प्रतियों का विवेचन करते समय प्रस्तुत कर चुके हैं) अतएव हस्तलिखित प्रतियों के संशयात्मक और संख्या में अपेक्षाकृत कम पदों से मीरां-पदावली के संकलनकर्त्ताओं को जब परितोष नहीं हुआ तो उन्होंने और संख्या में मीरां के नाम से पाये जाने वाले सभी मौखिक पदों को 'मीरां' की ही रचना मानकर संकलित कर लिया। इन संकलनकर्त्ताओं में संग्रह-वृत्ति का प्राधान्य और शोध-वृत्ति का अभाव था। इसका परिणाम यह हुआ कि मीरां पदावली की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती गई, किन्तु उसके मूल स्वरूप की ओर प्रायः ध्यान नहीं दिया गया ।

आज मौखिक-परम्परा, संकलनकर्त्ता और सम्पादकों की प्रतिभा और 'विशेषाधिकार', सन्तों और भक्तों के परम्परागत साम्प्रदायिक तत्त्व-संयोजन और गायकों की जोड़-तोड़ से मीरां-पदावली अनेक असंगतियों का आगार बन गई है, तथा सीधे-सादे ढंग से व्यक्त किये गये मीरां के पद अष्टवक्र बने बैठे हैं । ऐसी परि-स्थिति में प्रस्तुत प्रबन्ध का लेखक इस व्याधि के आद्यन्त निवारण का दावा तो नहीं करता, किन्तु फिर भी उसका यह मन्तव्य है कि वह उनकी व्याधि का शास्त्रीय अध्ययन कर भैषजिक और शल्य चिकित्सा द्वारा सत्य की निकटतम स्वस्थ अनुभूति को वाणी दे सकता है । वह एक जिज्ञासु है, जो 'पूर्ण सत्य' की उपलब्धि का दावेदार तो नहीं बन सकता, किन्तु वह प्राप्त सत्य और व्यापक भ्रान्ति दोनों का अनुशीलन कर ठोस प्रमाणों के आधार पर तटस्थ रूप से अपने मत को व्यक्त करने का अभिलाषी है ।

मीरां के संकलित और सम्पादित पद-संग्रहों का वर्गीकरण—

देश के विभिन्न भागों में मौखिक परम्परा और हस्तलिखित प्रतियों से प्राप्त मीरां के लगभग सभी पद आज हिन्दी-पद-संग्रहों में उपलब्ध हो जाते हैं, फिर भी

हम भाषाओं की दृष्टि से मीरां-पदावली के संकलित और सम्पादित संस्करणों को तीन भागों में बाँट सकते हैं—

१—हिन्दी-पद-संग्रह
२—गुजराती-पद-संग्रह
३—बंगला और अंग्रेजी के पद-संग्रह

इन चारों भाषाओं में मीरां के जो पद-संग्रह संकलित और सम्पादित स्वरूपों में पाये जाते हैं, वे भी तीन भागों में वर्गीकृत किये जा सकते हैं :—

(क) **भजन-संग्रह**—सामान्य जन-जीवन में मीरां के पद 'भजन' के नाम से समावृत हैं, अतः मीरां के कई भजन-संग्रह स्वतंत्र रूप से प्रकाशित हुए हैं तथा कुछ भजन अन्य भक्तों के पदों के साथ-साथ प्रकाशित किये गये हैं। ये भजन सीधे मौखिक परम्परा से आये हैं, अतः इनके संग्रहों में साहित्यिक दृष्टिकोण का सर्वथा अभाव है। प्रायः विभिन्न प्रदेशों में पाये जाने वाले सभी भजन-संग्रहों में प्रादेशिक भाषा का प्रभाव पाया जाता है, अतः लोकभाषा के अनुरूप प्राप्त मीरां पदों का लोकजीवन में खूब प्रचलन है।

(ख) **सम्पादित पदावलियाँ**—भजन-संग्रहों और मौखिक गेय पदों की भाव एवम् भाषागत असंगतियों का निराकरण कर मीरां-पदावली के सम्पादन के अनेक प्रयास विद्वानों द्वारा समय-समय पर किये गये हैं। सम्पादक-वृन्द ने अपने ग्रंथों में मीरां के पदों का चयन कर उनके पाठ-भेदों को स्वेच्छा से हटाया और पदों का मूल पाठ भी निर्धारित किया है किन्तु इस प्रकार के प्रयास में सबसे बड़ी त्रुटि यह हो गई कि सम्पादकों ने मीरां की मूल पदावली के आधार पर अपने संग्रहों में संकलित पदों के पाठ-भेद निर्धारित नहीं किये। जिसे जो शब्द पसन्द आया, उसने उसे ही मूल पद में रख लिया। इन्हीं संग्रहों में सम्पादकों ने अपने विशेष पाण्डित्य का परिचय दे प्राप्त पदों में भी संशोधन कर दिये हैं। कई विद्वान सम्पादकों ने तो पुरानी बातों को छोड़कर नई जानकारी (जो अधिकांशतः भ्रांतिमूलक और विवादास्पद है) जोड़ अपने सम्पादित संस्करण की 'मौलिकता' बढ़ाई पर मौखिक परम्परा से प्राप्त पदों की बहुलता के साथ-साथ मूल पदावली का ऐकान्तिक अभाव ही इन सम्पादित ग्रंथों की भ्रान्तियों का आधार रहा।

(ग) **मूल और प्रामाणिक पदावलियों के सम्पादकों द्वारा लोकभाषानुरूप परिवर्तित पद-संग्रह**—डाकोर और काशी की प्रामाणिक प्रतियाँ प्राप्त होने पर भी कुछ सम्पादकों ने उनके पदों में भाषागत परिवर्तन कर मीरां की मूल काव्य-धारा को भ्रान्ति-महासागर में विलीन करने का प्रयास किया है, क्योंकि वे मीरां के पदों को सदैव लोक-भाषानुरूप रखना चाहते हैं। सम्पादन-कला की दृष्टि से

किसी भी प्राचीन कवि की कृति में ऐसा परिवर्तन शुभकार्य नहीं माना जा सकता ।

हिन्दी-पद-संग्रह

प्रस्तुत प्रबन्धकार को देश के विभिन्न विद्वानों द्वारा संकलित और सम्पादित मीरां-पदावली के ३८ पद संग्रह हिन्दी में प्राप्त हुए। महाराज प्रतापसिंह की 'ब्रजनिधि-ग्रंथावली' में मीरां के कम से कम केवल ३ पद हैं और स्वामी 'आनन्द स्वरूप' द्वारा संकलित और सम्पादित 'मीरां-सुधा-सिन्धु' में अधिक से अधिक १३१२ पद हैं। अध्ययन की दृष्टि से २५ संग्रह[1] सामान्य श्रेणी के हैं अतः हम उन्हें छोड़ कर शेष १३ संग्रहों का अत्यधिक संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं, ताकि मीरां की पदावली का स्वरूप, विकास और मीरां-विषयक भ्रान्तियों का मूल रूप प्रकाश में आ सके। यहाँ इस तथ्य का उल्लेख कर देना अत्यन्त आवश्यक है, कि मीरां की मूल पदावली कुछ परिवर्तन के साथ केवल मीरां-स्मृति-ग्रंथ में ही प्रकाशित हुई है। शेष ३७ ग्रंथों के पदों का आधार अधिकांशतः मीरां के पदों के हस्तलिखित गुटके और उनकी गेय परम्परा ही है।

---

१. नीचे दिये गये २५ संग्रहों के पद विवेचन के लिये चुनी गई परवर्ती सम्पादित पदावलियों में मिल जाते हैं अतः इनको विवेचना आवश्यक नहीं है--(१) भजन मीराबाई-फर्रुखाबाद से प्रकाशित, (२) रागकल्पद्रुम-भाग १-४-कृष्णानंद व्यास 'रससागर', (३) भजन संग्रह-लीथो छापा, (४) राग रत्नाकर तथा भक्त चिन्तामणि–भक्तराम, (५) मारवाड़ी भजन सागर–रघुनाथ प्रसाद सिंहानिया, ( ) महिला मृदुवाणी–देवीप्रसाद मुंसिफ, (७) ब्रजनिधि-ग्रंथावली–महाराजा प्रतापसिंह, (८) मीरां की पदावली–सदानन्द भारती, (९) मीराबाई के भजन–मनोहरलाल मिश्र, (१०) स्त्री कवि कौमुदी–ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल', (११) भक्त मीराबाई–दयाशंकर दुबे, (१२) भक्त शिरोमणि मीराबाई के भजन–सिद्धेश्वर प्रेस काशी, (१३) भजन संग्रह भाग ३–वियोगी हरि, (१४) वृहद् भजन रत्नमाला अथवा भजनावली–हरिप्रसाद भागीरथी, (१५) मीराबाई का काव्य-मुरलीधर श्रीवास्तव, (१६) मीरां की प्रेमवाणी-रामलोचन शर्मा 'कण्टक', (१७) मीरां-श्यामापति पाण्डेय, (१८) मीरां सहजो व दया का पद्य संग्रह–वियोगी हरि, (१९) भजन मीराबाई-अमृतसर से प्रकाशित, (२०) डाबर गीतावली-डॉ०एस०के० बर्म्मन, (२१) भजन मीराबाई–श्याम काशी प्रेस, मथुरा, (२२) मीरां माधुरी–डॉ० रसाल, (२३) भजन मीराबाई–हिन्दी पुस्तकालय, मथुरा, (२४) मीराबाई के भजन–हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, कलकत्ता, (२५) मीरां सुधा लहरी–'आनन्द स्वरूप'।

मीरांबाई की शब्दावली

मीरां-पदावली के सम्पादित संस्करणों के इतिहास में बेलवेडियर प्रेस प्रयाग से प्रकाशित 'मीरांबाई की शब्दावली' का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें मीरां के १६८ 'शब्द' (पद) प्रकाशित किये गये हैं। 'हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'[1] तथा 'मीराँबाई : जीवानी और आलोचना'[2] में यही पद-संग्रह प्रामाणिक माना गया है, किन्तु मूल पदावली से तुलना करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इस संग्रह की भाषा 'मीरां की भाषा' नहीं है। मूलतः 'सन्तबानी' का प्रचार-प्रसार करना ही 'सन्तबानी-पुस्तकमाला' बेलवेडियर प्रेस प्रयाग का प्रमुख ध्येय था, अतः सन्तों में प्रचलित मीरां के कुछेक पद इस 'शब्दावली' में चुनकर छापे गये हैं। सन्तों से प्राप्त 'शब्दावली' के 'शब्दों' में सन्तों की भावधारा का योग स्पष्ट दिखाई देता है। यथा—

म्हां गिरधर रंग राती।
पचरंग चोला पहेरयां सखि म्हा झरमट खेलण जाती।
वा झरमट मां मिळया सांवरो देख्या तण मण राती।
जिण रो पिया परदेस बस्यां री लिख लिख भेज्यां पाती।
म्हारा पियां म्हारे हीयड़े बसतां ना आवां ना जाती।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर, मग जोवां दिण-राती।[3]

'मीरांबाई की शब्दावली' में प्रकाशित इसी पद का रूप देखिये—

रमैया मैं तो थांरे रंग राती ॥टेक॥

औरां के पिय परदेस बसत हैं, लिख लिख भेजें पाती।
मेरा पिया मेरे रिदे बसत है, गूंज करूं दिन राती ॥१॥
चूवा चोला पहिर सखी री, मैं झुरमट रमवा जाती।
झुरमट में मोहिं मोहन मिलिया, खोल मिलूं गलबाटी ॥२॥

---

१. हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डॉ० रामकुमार वर्मा, पृष्ठ ५६५-५८८।

२. मीरांबाई : जीवनी और आलोचना-डॉ० श्रीकृष्णलाल, पृष्ठ ६, १०, ११, १३, १४, १५, आदि।

३. मीरां-पदावली—डाकोर की प्रति, पद १०।

और सखी मद पी पी माती, मैं बिन पीयां मद माती ।
प्रेम-भटी को मैं मद पीयो, छकी फिरूं दिन राती ॥३॥
सुरत निरत का दिवला संजोया, मनसा पूरन बाती ।
अगम घाणि का तेल सिचाया, बाल रही दिन राती ॥४॥
जाऊं नी पीहरिये जाऊं नी सासुरिये, सतगुर सैन लगाती ।
दासी मीरां के प्रभु गिरधर, हरि चरनां की मैं दासी ॥५॥[1]

दोनों पदों की भाषा और भावधारा का अन्तर स्पष्ट है । मूल पद में कृष्ण मीरां के हृदयस्थ हैं लेकिन सन्तों में प्रचलित होने के कारण यही पद 'मीरांबाई की शब्दावली' में सन्तों की भावनाओं से बोझिल हो गया है । फिर 'शब्दावली' का सम्पादन भी 'कबीर-ग्रंथावली' के ढंग पर हुआ है । मीरां के पद 'शब्द' के नाम से अभिहित हुए हैं, और उनका वर्गीकरण 'चेतावनी का अंग'[2], 'उपदेश का अंग'[3], 'विरह और प्रेम का अंग'[4], 'विनती और प्रेम का अंग'[5], 'मिश्रित अंग'[6] में किया गया है । इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि मूल पदावली से अनभिज्ञ अनेक विद्वानों ने मीरां पर सन्तमत[7] और नाथ-सम्प्रदाय[8] का प्रभाव घोषित कर दिया है, जबकि वस्तुस्थिति इसके बिल्कुल विपरीत[9] है ।

---

१. मीरांबाई की शब्दावली—विरह और प्रेम का अंग, पृष्ठ २७-२८, शब्द ६२ ।
२. वही, पृष्ठ १-२ ।
३. वही पृष्ठ २-३ ।
४. वही, पृष्ठ ३-३१ ।
५. वही, पृष्ठ ३१-३७ ।
६. वही, पृष्ठ ५२-७० ।
७. सन्तमत और मीरां (निबन्ध)-श्री परशुराम चतुर्वेदी, मीरां-स्मृति-ग्रंथ, पृ० ६३-७० ।
८. 'बहुत संभव है कि राजपरिवार से सम्बन्धित होने के कारण मीरां भी कुछ विशिष्ट योगियों के सम्पर्क में आई हों और इनसे प्रभावित भी हुई हों । अतः नाथ सम्प्रदाय से प्रभावित पदों की रचना अयुक्त नहीं कही जा सकती' ।—मीरां-वृहत्-पद-संग्रह—पद्मावती 'शबनम', प्राक्कथन, पृष्ठ १६ ।
९. देखिए—प्रस्तुत प्रबन्ध के द्वितीय भाग का अध्याय बारहवाँ—(क) संतमत के लिये पद संख्या १०, १६, २१, २५ के पाठ-भेद (ख) नाथ-सम्प्रदाय के लिये पद संख्या २६, २७, ३५ के पाठ-भेद ।

इसी 'शब्दावली' में 'मीरांबाई और कुटुम्बियों की कहासुनी'[1], भी प्रकाशित हुई है, जिसके अनुसार मीरां की सास, ऊदा और राणा में 'कहासुनी' हुई है। यह 'कहासुनी' मीरां की नहीं है। इनके लेखक परवर्ती कवि हैं, जिन्होंने 'दुहा' छन्द में नाटकीय संवादों द्वारा मीरां के पारिवारिक संघर्ष का चित्रण किया है। लोक-नाट्य-शैली में लिखित मीरां की कुटुम्बियों से 'कहासुनी' वाले अंश अपने वर्तमान स्वरूप में निश्चित रूप से प्रक्षिप्त हैं। प्रमाण लीजिये—

"अब नहिं बिसरूं म्हांरे हिरदे लिख्यो हरिनाम।
म्हांरे सतगुर दियो बताय, अब नहिं बिसरूं रे ॥टेक॥
विष को प्यालो पी गई, भजन करे उस ठौर।
थांरी मारी ना मरूं, म्हांरो राखण हारो और ॥ ५ ॥
राती माती प्रेम की, विषम भगत को मोड़।
राम अमल माती रहे धन मीरां राठोड़ ॥ १४ ॥"[2]

मीरां तो निंदा और वन्दना से ऊपर उठ चुकी थीं। 'धन मीरां राठोड़' कहकर स्वयं अपनी आत्म-प्रशंसा करने की वृत्ति उनमें नहीं पाई जा सकती, फिर भी यदि हम उक्त दोहों में अन्तर्निहित भावधारा को देखें तो यह स्पष्टतः मालूम पड़ जाता है, कि 'धन मीरां राठोड़' कहने वाली मीरां नहीं, कोई और है, लेकिन इस शंका की चिन्ता 'शब्दावली' के संकलनकर्त्ता की समस्या नहीं थी। वे तो मीरां के 'शब्दों' को चुनकर छाप रहे थे। उनका कार्य शोध नहीं, संकलन करना था। तथाकथित 'शब्दों' में मीरां का नाम था और मीरां का वर्णन भी, अतः इसी आधार पर उन्होंने उन्हें मीरां की रचना मान लिया।

शब्दावली में दिये गये पूर्वोक्त 'शब्द' मीरां के नहीं, जेतराम के हैं, जिनकी रचनाओं की हस्तलिखित प्रति धोली बावड़ी, रामद्वारा उदयपुर में विद्यमान है। जेतराम के हस्तलिखित गुटके में ६८ दोहे हैं, और 'शब्दावली' के जिन दोहों का हमने पहले उल्लेख किया है, उनका स्वरूप इस प्रकार है—

अब नहीं बीसरूं म्हांरे हिरदै लिष्यौ हरि नांव। पर तिन बीसरूं ॥टेक॥
मीरां बैठी महल मैं, ऊठत बैठत राम।
सेवा करस्यां साध की, और न दूजो कांम ॥ १ ॥
बिस का प्याला पी गई रे, भजन करै उस ठौर।
थांरी मांरी ना मरूं, राषण हारो और ॥ २ ॥

---

१. वही, पृष्ठ ३७-४२।
२. मीराबाई की शब्दावली, मिश्रित अंग, पृष्ठ ५९-६०, शब्द १८।

राती मांती प्रेम की, बांधि भगति की मोड़।
रांम अमल राती रहै, धनि मीरां राठोड़ ॥१॥[1]

इसके अतिरिक्त 'शब्दावली' में राग होली[2], राग सावन[3], राग-सोरठ[4], जैजैवन्ती, मारू, कान्हरा, गंधार, कल्यान, जंगला और भोग[5], रागों के पद भी अलग-अलग दिये गये हैं।

'मीराबाई का जीवन-चरित्र' भी 'शब्दावली' की भूमिका के रूप में जुड़ा हुआ है, जिसमें मीरां-दर्शन के लिये अकबर-तानसेन का आना,[6] तथा मीरां का गोस्वामी तुलसीदास जी से परमार्थी पत्र-व्यवहार[7] भी वर्णित है। रैदास को मीरां का गुरु[8] बतलाने वाले पद भी इस शब्दावली में मिलते हैं।

प्राय: मीरां-पदावली के सभी परवर्ती सम्पादकों ने 'मीरांबाई की शब्दावली' से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सहयोग लिया है, इसीलिए परवर्ती मीरां-साहित्य में मीरां विषयक भ्रांतियों का सतत विकास होता रहा है।

मीरा-मंदाकिनी—

साहित्यिक अध्ययन की दृष्टि से श्री नरोत्तमदास जी स्वामी की 'मीरा-मंदाकिनी' एक महत्वपूर्ण प्रयास है। विद्यार्थियों की दृष्टि से सम्पादित की गई इस पुस्तक में मीरां की जीवनी और टिप्पणी सहित १६१ पद संकलित किये गये हैं। संकलन-कर्त्ता ने 'नरसी जी रो माहेरो', 'गीत गोविंद की टीका', 'राग गोविंद और प्रकीर्ण पद' 'मीरा की रचनायें[9] मानी हैं और संकलित पदावली के आधार पर 'मीरां का रहस्यवाद'[10] खोज निकाला है।

---

१. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज (तृतीय भाग)——उदयसिंह भटनागर, पृ० २३७-२३८

२. मीराबाई की शब्दावली, पृ० ४२-४६, शब्द १-८

३. वही, पृ० ४६-४९, शब्द १-१०

४. वही, पृ० ४९-५०, शब्द १-४

५. वही, पृ० ५०-५२ (प्रत्येक राग का एक-एक पद)

६. वही, मीरांबाई का जीवन-चरित्र, पृ० १-२

७. वही, पृ० ४-५

८. वही, पृ० २०, शब्द ४१, पृ० २५ शब्द ५७, पृ० ३६ शब्द १४, पृ० ३७ शब्द १

९. मीरा-मंदाकिनी——नरोत्तमदास स्वामी (द्वितीय संस्करण), प्रस्तावना, पृ० ११

१०. वही, पृ० १७-२४

'मीरा-मन्दाकिनी' की पदावली को प्रथम धारा,[१] द्वितीय धारा[२] और तृतीय धारा[३] में विभक्त किया गया है, किन्तु सम्पादक ने इस तथ्य का कहीं संकेत तक नहीं किया कि मीरा मंदाकिनी का मूल स्रोत क्या है ? लगभग सभी पद मौखिक परम्परा से लेकर संग्रहित किये गये हैं ।

मीरां : जीवनी और काव्य—

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भूतपूर्व रिसर्च स्कॉलर श्री महावीर सिंह जी गहलोत ने काफी अध्ययन और खोज के बाद 'मीरां : जीवनी और काव्य' पुस्तक लिखी । उनका मत है कि 'मैं उन सभी लेखकों का आभारी हूँ, जिनके ग्रंथों से मैंने मीरां-सम्बन्धी सामग्री बटोरी है ।......पुस्तक के अंत में १०८ पदों की माला में ४० अप्रकाशित पद[४] देकर पुस्तक को मौलिक बनाने की चेष्टा की गई है, किन्तु अप्रकाशित पदों के स्रोत का लेखक ने कोई आधार नहीं दिया ।

इस पुस्तक में सबसे पहले डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल द्वारा 'मीरां'[५] नाम की व्युत्पत्ति को लेकर जो विवाद खड़ा किया गया था, उसका विवेचन मिलता है । गहलोत जी ने हरिदास जी के पद[६] से मीरां के पति भोजराज का समर्थन किया है और यह माना है कि भोजराज ही मीरां के पति थे । ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर लेखक ने मीरां की जीवन-घटनाओं से सम्बन्धित तिथियों का निर्धारण[७] किया है और 'मीरां-तुलसी-पत्र व्यवहार' तथा 'रूप की निकाई' देखने के लिये आये हुए 'अकबर पादशाह' वाली अनुश्रुतियों को अनैतिहासिक और अप्रामाणिक माना है ।[८] रैदास की जगह आपने बीठलदास को मीरां का गुरु[९] बतलाने की अप्रामाणिक और

---

१. मीरा-मन्दाकिनी—नरोत्तमदास स्वामी, द्वितीय संस्करण, पृ० १-४२
२. वही, पृ० ४५-५७
३. वही, पृ० ६१-७४
४. मीरां : जीवनी और काव्य—महावीरसिंह गहलोत, (द्वितीय संस्करण) भूमिका पृ० ५
५. वही, पृ० १२-१७
६. वही, पृ० २०-२१
७. वही, पृ० ३६
८. वही, पृ० ३७-४०
९. वही, पृ० ४७-४९

निराधार कल्पना की है । साथ ही मीरां सम्बन्धी 'कहा-सुनी' वाले पदों को 'अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी' के रंगमंच पर खड़ी सास-बहू की तू-तू, मैं-मैं कहकर ऐसे संवादों को आपने सन्तों की महिमा माना है ।[१] चैतन्य महाप्रभु और जीव गोस्वामी को भी आपने मीरां का गुरु नहीं माना ।[२] फिर भी गहलोत जी की मान्यताओं में असंगतियाँ हैं । एक ओर तो उनका आग्रह है कि 'रैदास (बीठलदास) को ही मीरां का गुरु मानना चाहिये ।'[३] दूसरी ओर वे यह भी मानते हैं कि 'मीरां की जीवनी से ज्ञात होता है कि वह कभी किसी गुरु या सम्प्रदाय के आश्रय में नहीं रहीं ।'[४]

मीरा-पदावली—

पूर्व प्रकाशित पदावलियों के आधार पर श्रीमती विष्णुकुमारी श्रीवास्तव 'मंजु' ने विशद भूमिका, कठिन शब्दार्थ और अन्तर्कथा-सहित 'मीरा-पदावली' का सम्पादन किया । इस पदावली में २०१ पद संग्रहित हैं । मंजु जी की यह मान्यता है कि 'मीरा की कविता में बहुत सी भाषाओं का सम्मिश्रण पाये जाने पर भी उनकी कविता की भाषा राजस्थानी है, जो पश्चिमी हिन्दी की एक शाखा है ।'[५]

मीरां-पदावली में जोगी से सम्बन्धित अनेक पदों को देखकर मंजु जी ने यह प्रश्न उठाया है कि 'वह योगी कौन था, जिसके लिए मीरां ने इतनी स्पष्ट व्याकुलता प्रदर्शित की है और वह दुबारा फिर नहीं आया । कोई योगी अवश्य उनका गुरु था, पर वह रैदास जी नहीं हो सकते ।'[६] रैदास के स्थान पर 'योगी'[७] को मीरां का नया गुरु बनाकर मंजु जी ने एक और भ्रम की श्रीवृद्धि की है ।

मीरां और उनकी प्रेमवाणी :—

श्री ज्ञानचंद जी जैन ने 'मीरां और उनकी प्रेम वाणी' में १७६ पदों को राग-रागिनी सहित ५ खण्डों में विभाजित किया है । इस पदावली में विनय और प्रार्थना[७],

---

१. मीरां, जीवनी और काव्य—महावीरसिंह गहलोत, पृष्ठ ४६
२. वही, पृष्ठ ४६
३. वही, पृष्ठ ५०
४. वही, पृष्ठ ५१
५. मीरा-पदावली—श्रीमती विष्णुकुमारी 'मंजु' (तीसरा संस्करण सन् १९४४), पृष्ठ 'त'
६. वही, पृष्ठ 'ड'
७. मीरां और उनकी प्रेमवाणी—ज्ञानचंद जैन (प्रथम संस्करण, १९४५ ई०) पृष्ठ ४६-६१ पद १-३१

विरह और प्रेम[१], होली और सावन[२], सन्तधारा[३], तथा जीवन-धारा[४] के पदों के अतिरिक्त ४८ पृष्ठों की भूमिका है । प्रायः सभी पद 'मीरांबाई की शब्दावली' से लिये गये हैं और भूमिका में सभी पिष्टपेषित बातें हैं । केवल मीरां के पदों की राग-रागिनी का उल्लेख ही इस संग्रह की विशेषता है ।

मीरा-स्मृति-ग्रंथ—

विक्रम संवत् २००० में बंगीय हिन्दी-परिषद द्वारा 'मीरा-स्मृति-ग्रंथ' प्रकाशित हुआ, जिसमें देश के विभिन्न विद्वानों द्वारा लिखे गये १० निबन्धों का संग्रह है । साथ ही आचार्य ललिताप्रसाद जी सुकुल द्वारा प्राप्त मीरां-पदावली की डाकोर और काशी वाली प्रतियों के पद भी मुद्रित किये गये हैं जिनमें 'ळ' के स्थान पर 'ड़' छपा है । मीरा स्मृति ग्रंथ का प्रकाशन बंगीय हिन्दी-परिषद की दीर्घकालीन साधना और उच्चादर्श के अनुरूप है । इसमें सम्पादक-मण्डल द्वारा किये गये निवेदन में कहा गया है कि 'इस ग्रंथ की सामग्री भेंट करने वाले देश के विविध अंचल के परम प्रतिष्ठित उच्चकोटि के उद्‌भट विद्वान और विचारक हैं । उनके द्वारा प्रस्तुत की गई यह सामग्री भारतीय साहित्य के लिये अमूल्य भेंट है । इसके अवलोकन मात्र से प्रत्यक्ष हो जायगा कि मीरां का चरित्र, उनकी विचारधारा, तथा उनके द्वारा प्रदत्त ज्ञान चेतना अब तक की दुखद अनिश्चित स्थिति के कारण विविध मेधावी विद्वानों को भिन्न निष्कर्षों की भूलभुलैया में बरबस डाले हुए है । इस दयनीय परिस्थिति का उल्लेख प्रस्तुत सामग्री के प्रायः सभी विद्वानों को करना ही पड़ा है । देवी मीरा के प्रसाद की अवांछनीय अनिश्चिति को दृढ़ आधारों पर स्थिर और सुनिश्चित करने का आवश्यक प्रयास है ।'[५]

मीरा-स्मृति ग्रंथ की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

(क) प्रकाशित निबन्धों में तीन उल्लेखनीय निबन्ध हैं । प्रोफेसर शिवाधार पाण्डेय ने अपने वृहत्-निबन्ध 'मिस्टिक लिपिस्टिक और मीरा'[६] में मीरां को भी मिस्टिक-लिपिस्टिक प्रदान किया है । 'जन्म जोगिण मीरां'[७] में श्री शम्भुप्रसाद जी

---

१. मीरा और उनकी प्रेमवाणी पृष्ठ ६२-९६, पद ३२-१११

२. वही, पृष्ठ ९७-१०३, पद ११२-१२७

३. वही, पृष्ठ १०४-१११, पद १२८-१४६

४. वही, पृष्ठ ११२-१२८, रद १४७-१७६

५. मीरा स्मृति ग्रन्थ—सम्पादकीय निवेदन, पृष्ठ 'अ'

६. मिस्टिक लिपिस्टिक और मीरा—प्रो० शिवाधार पाण्डेय, मीरा स्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ १—२७

७. जनम जोगिण मीरां-प्रो० शंभुप्रसाद बहुगुणा, मीरा स्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ २७—५६

बहुगुणा ने मीरां को रैदास की शिष्या दिखाने के लिये उन्हें रायमल की पत्नी बनाने की कल्पना की है, जो अनैतिहासिक और अप्रामाणिक है तथा श्री जगदीशप्रसाद जी गुप्त ने मीरां के कुछ अप्रकाशित गुजराती पदों को प्रकाशित कर भाव, भाषा और ऐतिहासिक प्राचीनता की दृष्टि से उनपर सन्देह व्यक्त किया है।[1]

(ख) प्राचीन कवियों की ही भाँति आधुनिक कवियों ने मीरां को काव्यांजलि[2] अर्पित की है।

(ग) डाकोर और काशी की प्रामाणिक मीरां-पदावली[3] भी मीरा स्मृति ग्रंथ में प्रकाशित हुई है।

मीरां-वृहत्-पद-संग्रह--

मीरा-स्मृति-ग्रंथ के बाद पद्मावती जी 'शबनम' ने अपने 'मीरां-वृहत् पद संग्रह' में लिखित व मौखिक परम्परा से प्राप्त, मीरां के नाम पर प्रचलित सभी पदों को एकत्रित करने का प्रयास किया है।[4] शबनम जी ने मीरां-पदावली के इतिहास में सबसे पहले मीरां के ५६० पदों को पाठान्तर सहित भाव और भाषा की दृष्टि से विभाजित कर अपनी दृष्टि से प्रक्षिप्त तथा संशयात्मक पदों पर यत्र-तत्र टिप्पणियाँ लिखी हैं, तथा संभावित प्रक्षिप्त पदों को चिन्हित कर दिया है। इस वृहत् पद-संग्रह से भी मीरां के मूल पदों का संकेत नहीं मिलता। अतः प्रामाणिक हस्तलिखित प्रतियों पर आधारित न होने के कारण मीरां-वृहत्-पद-संग्रह में भी राजस्थानी, ब्रज, गुजराती और मिश्रित भाषाओं के पद भर दिये गये हैं, फिर भी यह संग्रह शबनम जी के अध्ययनशील स्वभाव का अच्छा परिचय देता है।

राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज--

विक्रम संवत् १९९८ से साहित्य-संस्थान, राजस्थान विश्वविद्यापीठ उदयपुर द्वारा राजस्थान में बिखरे हुए हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज शुरू हुई। इसी संस्थान के तत्वावधान में श्री उदयसिंह जी भटनागर द्वारा सम्पादित 'राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज' (तृतीय भाग) सन् १९५२ में प्रकाशित हुआ। इसी ग्रंथ के सत्रहवें पृष्ठ पर धोली बावड़ी, रामद्वारा, उदयपुर में उपलब्ध मीरां के

---

१. मीरा के कुछ अप्रकाशित पद-श्री जगदीश प्रसाद गुप्त, मीरा स्मृति ग्रंथ, पृष्ठ १४१–१५२

२. मीरा स्मृति ग्रंथ–काव्यांजलि, पृष्ठ २५९–२७०

३. मीरा-पदावली–मीरा स्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ १–२७

४. मीराँ वृहत्-पद-संग्रह–शबनम, प्राक्कथन, पृष्ठ २३

१०४ पदों का उल्लेख किया गया है। परिशिष्ट में मीरां के ५४ अप्रकाशित पद[1] प्रकाशित किये गये हैं। प्रथम ८ पदों का लिपिकाल संवत् १८७६ दिया गया है, किन्तु अन्य गुटकों से प्राप्त पदों का लिपिकाल अप्राप्य है। गुटकों में इस बात का उल्लेख नहीं है कि उनमें दिये गये पदों का लेखक कौन है ? लगभग सभी पद मौखिक परम्परा से लेकर १९वीं शताब्दी में लिपिबद्ध किये गये हैं। इन पदों की भावधारा में सन्तमत और नाथ-सम्प्रदाय के योगदान के साथ ही भाषा की दृष्टि से उर्दू, पंजाबी का भी प्रभाव पाया जाता है। यथा—

(क) सन्त मतानुमोदी पद—

रांम जी पधारे धन आज री घरी।
आज री घरी वौ भाव री भरी ॥टेर॥
गुर रांमानन्द अर माधवाचारज, नीमानन्द बिसन स्याम हरी ॥१॥
आजि मैरौ आंगणूं सुहावणूं, बरसण लागे पीया प्रेम हरी ॥२॥
अरसि परसि मिलि हरि गुण गास्या, धनि मेरी इषी इन भाव भरी ॥
मीरां के प्रभू हरि अविनासी, पकड़ि पावौं प्याला पेम हरी ॥[2]

प्राप्त इतिहास के आधार पर हमें इस बात का पता नहीं चलता कि रामानन्द, माधवाचार्य, नीमानन्द, विष्णु, स्याम और हरी–सभी एक साथ मीरां के आंगन की शोभा बढ़ाने के लिये कब आये थे ? उक्त पद में रामानन्द के पूर्व गुर (गुरु) विशेषण का भी प्रयोग हुआ है, किन्तु रामानन्द मीरां के गुरु नहीं थे। सम्भवतः यह पद किसी रामानन्दी साधु, कबीरपंथी या रैदासी सन्त की रचना है, क्योंकि रामानन्द, कबीर और रैदास दोनों के गुरु थे। हमारे मत से इस पद में वर्णित घटनायें अनैतिहासिक और भ्रान्तिमूलक हैं, अतः हस्तलिखित गुटके में मिलने पर भी यह पद प्रक्षिप्त है।

(ख) जोगी-सम्बन्धी पद—

जोगीया तू मारे घर रमतो ही आव ॥टेर॥
कानां बिच कुंडल, गले बिच सैली ॥ अंग भभूत रमाय ॥१॥
तुज देख्यां बिन कल न परत है, ग्रहे अंगणौ न सुहाय ॥२॥
मीरां के प्रभु हरि अविनासी ॥ दरसण द्यौनैं मोकूं आय ॥३॥[3]

---

१. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज (तृतीय भाग)–उदयसिंह भटनागर, पृष्ठ २१९–२३३
२. वही, पृष्ठ २२२, पद १०
३. वही, पृष्ठ २२४, पद १६

मोर-मुकुट-धारी कृष्ण की स्वकीया मीरां को कुण्डल और सैली वाले किसी भस्मीधारी जोगी के दर्शन बिना चैन नहीं पड़ती होगी, अथवा उन्हें घर और आंगन नहीं भाते होंगे, यह विश्वसनीय नहीं है। मीरां का सम्पूर्ण विरह कृष्ण प्रदत्त था, किसी जोगी का नहीं। हमारे मत से यह पद जोगियों की देन है।

(ग) उर्दू-फारसी, शब्दों के प्रयोग वाले पद--

साइयां अरज बन्दी की सुन हो।
मैं नुगणी तुम सुगणा सायब औगुण गारी रा गुण हौ ॥[1]

साईं, अर्ज, बन्दी, सायब शब्द उर्दू और फारसी के हैं। ऐसे पद अर्वाचीन और प्रक्षिप्त हैं।

(घ) पंजाबी भाषा के प्रभाव वाले पद--

ऐरी मेरे नैनन बान परी ॥टेर॥
चित चडी प्यारे दी मूरत ॥ उर वीच आंन अरी ॥१॥[2]

चडी, दी, वीच (विच) पंजाबी भाषा के शब्द हैं। संभवतः पंजाबी साधु-सन्तों में प्रचारित होने के कारण उक्त पद की भाषा में पंजाबीपन आ गया है।

राजस्थान में प्राप्त लगभग सभी गुटकों में ऐसे प्रक्षेप पाये जाते हैं। इसका कारण यह कि इन गुटकों का लिपिकाल अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी का है, अतः मौखिक परम्परा के कारण मूल पदों से इन गुटकों के पदों में भाव और भाषागत व्यापक अंतर दिखाई देता है।

(ङ) 'कहा-सुनी' वाले नाटकीय संवाद--

इसी खोज-ग्रन्थ में मीरां के पारिवारिक संघर्ष और भक्ति-भावना-सम्बन्धी जेतराम जी द्वारा लिखित ६८ दोहे दिये गये हैं। जेतराम जी के दोहों में 'मीराबाई की शब्दावली' की तरह वक्ता का नाम नहीं दिया, किन्तु दोहों को पढ़ने से संवाद की क्रमबद्धता स्पष्ट दिखाई देती है। यथा--

लाजै पीहर सासरौ, लाजै माई मोसाल।
नितका आवै औलंबा, थारो भरम धरै संसार ॥७॥
आग लगाऊँ पीहर सासरै, जत जीवै मोसाल।
मीरां सरणै राम के, झख मारौ संसार ॥८॥[3]

---

1. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज (तृतीय भाग)--उदय-सिंह भटनागर, पृष्ठ २२६, पद ३२।
2. वही, पृष्ठ २२५, पद २७
3. वही, पृष्ठ २३८, दोहा ७-८।

प्रथम दोहे में ऊदा और दूसरे में मीरां का कथन नौटंकियों के पद्यबद्ध संवाद की तरह किया गया है। बहुत संभव है कि ऐसे ही संवादात्मक दोहे, तथा मीरां के पदों को मिलाकर अन्य कवियों ने मीरां-संबंधी लोकनाट्य लिखे हों। ये संवाद इस बात का प्रमाण देते हैं कि ये दोहे जेतराम की रचनायें हैं, मीरां की नहीं क्योंकि गुटके पर लेखक का नाम जेतराम दिया गया है।

मीराबाई की पदावली—

ब्रज, राजस्थानी और मिश्रित भाषाओं के २०१ पदों का चयन कर श्री परशुराम जी चतुर्वेदी ने 'मीराबाई की पदावली' का सम्पादन किया है। पदावली के पहले एक विस्तृत विवेचनात्मक भूमिका और अन्त में परिशिष्ट जोड़कर इस ग्रंथ में चतुर्वेदी जी ने छात्र तथा पाठ्यक्रम की दृष्टि से उपादेय सामग्री प्रस्तुत की है।

सम्पादकीय वक्तव्य में अपनी विवशता स्वीकार करते हुए चतुर्वेदी जी ने लिखा है कि—प्रस्तुत संस्करण मुख्यतः परीक्षार्थियों के लिये प्रकाशित किया जा रहा है, और उन्हीं की आवश्यकताओं की दृष्टि से इसका संपादन भी हुआ है। उक्त कठिनाई ने इसे तैयार करने में भी स्वभावतः अड़चनें पहुँचाई हैं, जिसका कारण पुरानी हस्तलिखित मूल प्रतियों के अभाव में, केवल कुछ के आधार पर छपी अनेक प्रतिलिपियों के ही सहारे, इसमें आये हुए पदों के रूप निश्चित करने पड़े हैं और आज तक की प्रकाशित व उपलब्ध सामग्रियों की ही छानबीन कर मीरां का जीवन वृत-सम्बन्धी परिचय देना पड़ा है।[1] अतः मूल पदावली का अभाव 'मीराबाई की पदावली' तक सम्पादक के समक्ष बराबर एक समस्या बना रहा है। ऐसी स्थिति में प्राप्त पदों को ही मीरां की कृतियाँ मानकर मीरा-पदावली की सम्पादन-परम्परा निरन्तर आगे बढ़ी है।

चतुर्वेदी जी ने मीरां और उनके स्वजनों में व्याप्त मतभेद-द्योतक पद[2] रैदास को मीरां का गुरु बतलाने वाले पद[3] तथा जोगी को सम्बोधित कर व्यक्त किये गये विरहोद्गार द्योतक पदों[4] को भी अपनी पदावली में स्थान दिया है। पंजाबी प्रभाव वाले पद भी 'मीराबाई की पदावली' में शामिल कर लिये गये हैं। यथा—

हो काँनाँ किन गूँथी जुल्फाँ कारियाँ ॥ टेक ॥
सुघर कला प्रवीन हाथन सूँ जसुमति जू ने सवारियाँ।

---

१. मीराबाई की पदावली-परशुराम चतुर्वेदी (छठा संस्करण सं० २०१२), पृष्ठ ३
२. वही, पृष्ठ १०५-११०, पद २७-३८
३. वही, पृष्ठ १०४, पद २४
४. वही, पृष्ठ ११५, पद ५७-५८, पृष्ठ १२१, पद ७०, पृष्ठ १२७, पद ८८ आदि

जो तुम आओ मेरी बाखरियाँ, जरि राखूँ किवारियां।
मीराँ प्रभु गिरधर नागर, इन जुलफन पर वारियाँ ॥ [१]

पंजाबी भाषा से प्रभावित पद मीरां की रचना नहीं हो सकते । मूल पदावली की दृष्टि से यह पद प्रक्षिप्त है ।

मीराबाई की पदावली में पदों का विभाजन वर्ण्य-विषय और राग-रागिनियों के आधार पर बड़ी सतर्कता के साथ किया गया है, जो अध्ययनशील संकलनकर्त्ता के सम्पादन-कौशल का परिचायक है ।

मीराँ-माधुरी :—

श्री ब्रजरत्नदास जी का 'मीराँ-माधुरी' पद-संग्रह भी संकलन की दृष्टि से उल्लेखनीय है । ब्रज, गुजराती, राजस्थानी और मिश्रित भाषाओं के ५०६ पदों को वर्ण्य-विषयों के अनुसार विभाजित कर ब्रजरत्नदास जी ने 'मीराँ-माधुरी' का सम्पादन किया है और कुछेक पदों की राग-रागिनिभाँ भी दी हैं ।

आपकी मान्यता है कि 'भाषा की दृष्टि से मीरांबाई मेड़ता तथा मेवाड़ की निवासिनी थीं, अतः राजस्थानी विशेषकर मेवाती उनकी मातृभाषा थी । वह कृष्ण-भक्त थीं । ब्रजमण्डल से राजस्थान होते हुए द्वारिका तक उन्होंने यात्रा की और कुछ समय तक ब्रजमण्डल और गुजरात में रहीं, अतः उनकी रचनाओं में तीन भाषाओं का उपयोग हुआ होगा ।'[२]

हम पूर्वाभास में यह प्रमाणित कर चुके हैं कि मीरां की रचनाओं में मीरां द्वारा तीन भाषाओं का उपयोग नहीं हुआ । डाकोर की प्रति इसका प्रमाण है । मीरां के पदों में जो अनेक भाषाओं का 'उपयोग' दिखाई देता है, परवर्ती गायकों, सन्तों और सम्पादकों का 'प्रयोग' है । मीराँ-माधुरी में स्वयं ब्रजरत्नदास जी ने भी यही प्रयोग किया है । डाकोर की प्रति की प्राचीनता को स्वीकार करते हुए भी आपने अपने संग्रह में मुख सौकर्य के लिये मीरां के मूल पदों को युगानुरूप भाषा में परिवर्तित कर दिया है । ऐसा करते समय आपने लिखा है कि—"हिन्दी के संग्रहों में शब्दों का वही रूप लेना उचित समझा गया, जो हिन्दी भाषा के लिये बोधगम्य हों तथा गाने में सुगम हों । इसी से 'नन्दनन्दन' के लिये 'णण्दणण्दन' तथा 'कंवल कोमल' के स्थान पर कंवळ-कोमळ' के रूप इस संग्रह में नहीं लिये गये ।"[३]

---

१. मीराबाई की पदावली—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १५१, पद १६५

२. मीराँ-माधुरी—ब्रजरत्नदास, भूमिका, पृष्ठ १७७

३. वही, पृष्ठ १७७

मीरां-पदावली की प्राचीन प्रामाणिक हस्तलिखित प्रति प्राप्त हो जाने पर भी सम्पादकों द्वारा ऐसे प्रयास उचित नहीं समझे जायेंगे। ऐसे प्रयास कवि और काव्य दोनों की प्राचीनता के लिये घातक होते हैं।

मीरां-दर्शन—

श्री ब्रजरत्नदास जी की ही भाँति प्रोफेसर मुरलीधर श्रीवास्तव का 'मीरां-दर्शन' भी सम्पादकीय स्वच्छन्दता का द्योतक है। श्रीवास्तव जी ने 'मीरा स्मृति ग्रंथ' में प्रकाशित डाकोर और काशी की प्रतियों के पदों को 'प्रामाणिक' माना है। आप लिखते हैं कि—'इस पदावली से इतना प्रमाणित होता है कि मीरां के ये १०३ पद (६६+३४) मीरां के ही हैं। ये सभी पद अन्य संग्रहों से मिलते हैं। इन पदों का पाठ विवाद का विषय हो सकता है, पर ये पद मीरां-रचित हैं, इसे मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिये।'[1]

फिर आप यह भी लिखते हैं कि, 'इस पदावली की भाषा गुजराती है या गुजराती मुखी हिन्दी है। अन्य प्रकाशित पाठों से अन्तर बहुत है। यह पाठ हिन्दी के सामान्य पाठकों को, संगीत प्रेमियों को और प्रचलित पाठ से सुपरिचित जनों को अप्रिय लग सकता है।'[2]

अतः सामान्य-पाठक, संगति-प्रेमी तथा प्रचलित पाठ से सुपरिचित जनों के लिये आपकी दृष्टि में 'सम्पादन आवश्यक हो गया'[3] और आपने मूल प्रामाणिक पदावली की भाषा अपने विशेषाधिकार से बदल डाली। फलतः मीरां के प्राचीन पद फिर आधुनिक देश, काल, भाषा-सापेक्ष हो गये।

साधु-सन्तों द्वारा मौखिक परम्परा से प्राप्त मीरां-पदावली में भाषागत परिष्कार तो हमारी समझ में आ जाता है, किन्तु साहित्यिक सम्पादन के स्तर पर मीरां की मूल पदावली को प्रामाणिक मानते हुए भी उन पदों की भाषा को इस प्रकार लोकानुरूप बनाना मीरां को सदा की भाँति अंधकार में रखने का प्रयास है।

मीरा की प्रेम-साधना—

'मीरा की प्रेम-साधना' में श्री भुवनेश्वर मिश्र 'माधव' ने भारतीय भक्ति-साहित्य, पाश्चात्य भक्तिमूलक प्रेम-दर्शन और प्रेम-भावना की रूपरेखा के आधार पर मीरां की प्रेम-साधना का बड़ा सरस विवेचन किया है। 'माधव' जी ने मीरां की प्रेम-साधना का निरूपण करते समय बौद्धिक विश्लेषण के साथ-साथ हृदयपक्ष

---

१. मीरां दर्शन—प्रो० मुरलीधर श्रीवास्तव, पृष्ठ ११६,
२. वही, पृष्ठ ११६,
३. वही, पृष्ठ १२१,

की समरसता का संयोजन कर इस ग्रंथ को रोचक बनाने का प्रयास किया है । पूर्व प्रकाशित पदों में से २१७ पद चुनकर आपने इसी पुस्तक के अंत में उन्हें सम्पादित किया है । संकलित पदों के साथ-साथ पाद-टिप्पणियों में मीरां की भावधारा के सौन्दर्य-संकेतों के अतिरिक्त आपने अन्य देशी और विदेशी विद्वानों की भी भावसाम्यमूलक पंक्तियाँ उद्धृत की हैं, ताकि मीरां की प्रेम-भावना अन्य लेखक और कवियों की प्रेममूलक भावनाओं की तुलना में परखी जा सके ।

मीराँ-सुधा-सिन्धु—

'मीराँ-सुधा सिन्धु' मीरां-पदावली का सबसे वृहत् संग्रह है । हस्तलिखित गुटकों, प्रकाशित ग्रंथों और मौखिक परम्परा से प्राप्त राजस्थानी, ब्रज, गुजराती, पंजाबी, बिहारी, खड़ी बोली व मिश्रित भाषाओं के सभी पद, स्वामी आनन्द स्वरूप जी महाराज (श्री दत्तात्रेय विट्ठल वडनेरकर) ने संकलित कर संवत् २०१४ में 'मीराँ-सुधा-सिन्धु' प्रकाशित कराया । संकलन की दृष्टि से यह ग्रंथ अपूर्व है । इसमें विभिन्न भाषाओं के विभिन्न कालीन १३१२ पद हैं । स्वामी जी ने मीरांबाई की पौराणिक जीवनी भी बड़े विस्तार से लिखी है और पदों के साथ-साथ उनकी टीका-टिप्पणी भी की है । पदावली का वर्गीकरण वर्ण्य विषयों के आधार पर है किन्तु साहित्यिक अभिरुचि का परिचय देते हुए भी स्वामी जी का प्रयास धार्मिक भावना से ही अधिक अनुप्राणित है ।

'मीराँ-सुधा-सिन्धु' में राजस्थानी और ब्रजभाषा में प्राप्त पदों के साथ-साथ गुजराती के सभी प्रकाशित ग्रन्थों और हस्तलिखित गुटकों के पद भी समाविष्ट किये गये हैं । लेकिन 'मीराँ-सुधा-सिन्धु' तक पहुँच जाने पर भी मीरां की मूल पदावली का स्वरूप-विकास सम्पादित होकर हमारे सामने नहीं आया, अतः इन ग्रंथों पर आधारित मीरां के काव्य-सौन्दर्य और भक्ति-भाव का स्वरूप संशयात्मक अधिक और प्रामाणिक कम है ।

गुजराती के लगभग सभी पद हिन्दी में आ चुके हैं, अतः यहाँ मीरां के गुजराती पद-संग्रहों का परिचय दे देना ही पर्याप्त होगा ।

गुजराती-पद-संग्रह—

वृहद् काव्य दोहन :—वृहद्-काव्य-दोहन गुजराती भाषा का एक वृहदाकार काव्य-संग्रह है । इसमें अनेक भक्तों और कवियों के सैकड़ों पद श्री इच्छाराम सूर्यकान्त देसाई द्वारा संकलित किये गये हैं । इसके प्रथम भाग में मीरां के ६ पद, दूसरे भाग में १७ पद, पाँचवें भाग में १५ पद, छठवें भाग में ५ पद और सातवें भाग में ११ पद दिये गये हैं ।

प्राचीन काव्य-सुधा :—श्री छगनलाल विद्याराम रावल द्वारा सम्पादित

'प्राचीन काव्य-सुधा' भाग एक में मीरां के १६ पद, भाग दो में १३ पद, भाग तीन में ४ पद और भाग चार में १७ पद संग्रहित किये गये हैं।

मीरांबाई नां भजनो :—श्री हरसिद्ध भाई दिवेटिया द्वारा संकलित इस ग्रंथ में मीरां के नाम से प्रचलित २२७ पद दिये गये हैं जिनमें ब्रजभाषा वाले पद भी गुजराती लिपि में मुद्रित हैं।

मीरांनी प्रेमवाणी :—संवत् २००७ में श्री 'मधुर' ने मीरां के तथाकथित २५१ पद 'मीरांनी-प्रेमवाणी' में प्रकाशित कराये हैं।

भक्त मीरां :—'भक्त मीरां' श्री शांतिलाल ठाकर द्वारा संकलित मीर पदावली का छोटा सा संग्रह है, जिसमें मीरां के ५४ पद प्रकाशित किये गये हैं।

मीरांबाई ना भजन :—भक्तराज दाजीराव माधवराव खैरे ने पूर्व प्रकाशित तथा मौखिक परम्परा से प्राप्त मीरां के ६३ पद 'मीरांबाई ना भजन' में संग्रहित किये हैं।

संत समाज भजनावली :—श्री हरिहर पुस्तकालय, सूरत से अन्य भक्तों के साथ 'संत-समाज भजनावली' में राग-रागिनी सहित मीरां के १०७ पद प्रकाशित किये गये हैं।

इनके अतिरिक्त भी गुजराती में मीरां के नाम पर कई छोटे-मोटे पद-संग्रह समय-समय पर छपते रहे हैं; किंतु इन गुजराती पद-संग्रहों में ब्रज, राजस्थानी-मिश्रित भाषाओं के प्रचलित पद भी गुजराती लिपि में प्रकाशित किये गये हैं। हिन्दी के अनेक ग्रंथों की भाँति गुजराती-पद-संग्रहों में भी इस बात का कहीं उल्लेख नहीं मिलता कि उनमें संग्रहित पद मीरां की किसी मूल-पदावली से लिये गये हैं, अथवा वे पद मीरां की ही प्रामाणिक रचनायें हैं। 'मीरां', 'बाई मीरां', 'दासी मीरां' और 'जनमीरां' छाप वाले पद भी इन संग्रहों में विद्यमान हैं। भाव और भाषा की दृष्टि से गुजराती के ये सभी पद संशयात्मक तथा परवर्ती प्रतीत होते हैं।

'मीराँ-माधुरी' 'मीराँ-वृहत्-पद-संग्रह' और 'मीराँ-सुधा-सिन्धु' में गुजराती संग्रहों के लगभग सभी पद संग्रहित कर लिये गये हैं, अतः इनका विवेचन स्वतंत्र रूप से आगे किया जायगा।

बंगला और अंग्रेजी पद-संग्रह—

मीरां की लोक-प्रियता के साथ-साथ उनके पदों का अन्य भाषाओं में भी प्रचार प्रसार हुआ है।

मीराबाई—इस ग्रंथ में उद्बोधन कार्यालय, कलकत्ता से स्वामी वामदेवानन्द ने मीरां की संक्षिप्त जीवनी सहित मीरां के ५१ पद बंगला लिपि में प्रकाशित किये

हैं। ये पद बंगला-भाषा के नहीं, ब्रज और राजस्थानी के हैं, केवल इनकी लिपि नागरी न होकर बंगला है।

द स्टोरी आफ मीराबाई—श्री बाँके बिहारी ने गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित 'द स्टोरी ऑफ् मीराबाई' में मीरां की भावात्मक जीवनी के साथ मीरां के ३२ पद अँग्रेजी अनुवाद सहित प्रकाशित कराये हैं। अनुवादित पद पूर्व प्रकाशित ग्रंथों से अविकल ले लिये गये हैं।

सांग्स ऑफ् मीराबाई—संक्षिप्त भूमिका, टिप्पणी और पद-सूची सहित श्री आर० सी० टण्डन ने मीरां के ५० पदों का अँग्रेजी अनुवाद इस पुस्तक में प्रस्तुत किया है। पुस्तक हिन्दी मंदिर, इलाहाबाद से प्रकाशित हुई है।

उपसंहार—

भक्त-शिरोमणि मीरां, भारत की सर्वाधिक लोकप्रिय और श्रद्धास्पद कवयित्री हैं, इसलिये विगत चार शताब्दियों से उनकी काव्य-धारा समय और परिस्थितियों के सम्पूर्ण व्यवधानों का अतिक्रमण कर निरन्तर प्रवाहित हो रही है। उनका काव्य एक चिर वियोगिनी आत्मा की अमर पुकार है, जिसे काल का कोलाहल कभी आत्मसात् नहीं कर सकता। आत्मीय अनुभूति से तरंगित होते हुए भी उनकी वेदना मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति से सहज सम्बद्ध है और इसीलिये जन-मानस में वह अमरता पाने की अधिकारिणी है, किन्तु जब हम मीरां-पदावली की हस्तलिखित प्रतियाँ, संकलित और सम्पादित पदावलियाँ, ऐतिहासिक उल्लेख, मीरां-समीक्षा-साहित्य, और उनके सम्बन्ध में लिखे गये कविता, कहानी, नाटक, लोकगीत और महाकाव्य पर दृष्टि डालते हैं, तो हमें ऐसा लगता है कि मीरां का व्यक्तित्व श्रद्धामूलक प्रशस्तियों, लोकप्रचलित अनुश्रुतियों और भक्तों की किम्बदन्तियों से इस तरह प्रच्छन्न हो गया है कि उसके मूल स्वरूप का निर्धारण करना दुस्साध्य प्रतीत होता है। इससे भी दुस्तर और कष्टसाध्य कार्य मीरां की मूल पदावली का अनुसंधान और उसके स्वरूप-विकास का प्रतिमाबीकरण है। मीरां के सम्बन्ध में आजतक जो भी कुछ अध्ययन हुआ है, वह प्रायः उनकी प्रवाहमुखी काव्य-धारा के समानान्तर चलता रहा है। इसका दुष्परिणाम यह हुआ है कि मीरां-पदावली में अनेक भाव-धारायें और साम्प्रदायिक मान्यतायें घुल-मिलकर एकाकार हो गई हैं, फलतः अद्यावधि उपलब्ध भ्रान्त पदों पर आधारित मीरां-समीक्षा-साहित्य भी भ्रामक असंगतियों से अलिप्त नहीं है।

सिद्धान्तः हमारा यह मत है कि कवि द्वारा लिपिबद्ध न होने पर, लोकविकसनशील काव्य कभी भी अपने मूल रूप में सुरक्षित नहीं रहता। व्यक्ति-भेद और स्थल-भेद के कारण वह परम्परागत गायकों की स्मृति-विस्मृति, प्रतिभा और परिष्कृति से

नित्य परिवर्तनशील बनता जाता है, और कालान्तर में जब वह हस्तलिखित गुटकों में लिपिबद्ध किया जाता है, तब वह 'कवि की मूलवाणी' कम और 'गायकों की वाणी' अधिक होता है। राजस्थान, गुजरात, उत्तरप्रदेश तथा अन्य स्थलों पर पाई जाने वाली मीरां पदावली की प्रायः सभी हस्तलिखित प्रतियाँ हमारी इस मान्यता का प्रमाण देती हैं। इन संशयात्मक हस्तलिखित गुटकों और मौखिक परम्परा पर आधारित जिस विशाल मीरां-साहित्य का निर्माण हुआ है, उसमें भ्रान्तिपूर्ण आधारों पर निर्भ्रान्त मान्यतायें स्थापित नहीं हो सकी हैं। इसलिये मीरां और उनका काव्य आज भी समस्यामूलक है और ऐसी स्थिति में यह विशाल मीरां-साहित्य सांगोपांग अध्ययन, मनन, चिन्तन, विश्लेषण और समीक्षा की अपेक्षा रखता है।

हमारा विचार है कि शोध का ध्येय यदि वस्तु-स्थिति का निदर्शन और सत्यान्वेषण है, तो हमें मीरां-मन्दाकिनी के प्रवाहमुखी भावुक अभियान को छोड़कर स्रोत-मुखी सहृदय बौद्धिक अनुसंधान की दिशा में प्रयत्नशील होना चाहिये, ताकि हम काल-प्रवाह की चार सौ वर्षों की दूरी पार कर मीरां-मन्दाकिनी के मूल स्रोत तक पहुँच सकें, उसके विशुद्ध भाव जल का रसास्वादन कर सकें और उस निर्मल जल में प्रतिबिंबित मीरां के व्यक्तित्व की मूल छवि का दर्शन कर सकें। 'मीरां साहित्य' के अध्ययन की दिशा में हमारे विचार से यह सर्वथा मौलिक और तर्कसम्मत प्रयास है। इसीलिये मीरां मन्दाकिनी के प्रवाहमुखी अभियान को छोड़ स्रोतमुखी अभियान करते समय सत्यान्वेषण की दिशा में प्रस्तुत प्रबन्ध में कई नई मान्यतायें निरूपित हो गई हैं, जो अन्य विद्वानों के निष्कर्षों से सर्वथा भिन्न हैं। हम सत्य को व्यक्ति से महान मानते हैं, अतः सत्य की प्रतिष्ठा के लिये हमें जिन विद्वानों के पूर्व नियोजित निष्कर्षों का खण्डन-मण्डन करना पड़ा है, सैद्धान्तिक विरोध होते हुए भी उनके लिये भी हमारे मन में भारी सम्मान है। तत्वतः मीरां की भक्ति और उनकी काव्य-साधना का अनुशीलन ही हमारा ध्येय है, और यदि हमारा यह प्रयास उस दिशा में कुछ उपादेय सामग्री प्रदान कर मीरां साहित्य में एक प्रामाणिक अध्याय जोड़ सका तो हम अपने इस अकिंचन प्रयास को सफल मानेंगे।

अध्याय—२

मीरां की उपलब्ध जीवनी का अनुशीलन व स्वरूप निर्धारण

उपक्रम—

भारतीय धर्म-साधना-साहित्य के अनेक काव्य-प्रणेताओं की भाँति मीरां का जीवनवृत्त भी अद्यावधि प्रामाणिक इतिहास का रूप नहीं ले सका है। उनकी लोकाभिमुख पदावली की ही भाँति उनके जीवन का इतिवृत्त भी भक्तों, कवियों एवम् इतिहासकारों के मन्तव्यों, लोकप्रचलित अनुश्रुतियों, श्रद्धामूलक अतिशयोक्तियों और अनैतिहासिक किम्बदन्तियों के सम्मिश्रण से अत्यन्त संदिग्ध तथा विवादास्पद बन गया है। अभी तक मीरां के जीवन के सम्बन्ध में जितना भी अध्ययन और अनुशीलन हुआ है, अधिकांशतः प्राचीन भक्तों के उल्लेखों, मौखिक परम्परा से प्राप्त मीरां के तथाकथित पदों और ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है। प्राचीन भक्तों के उल्लेख श्रद्धामूलक कवि प्रशस्तियों की परम्परा में पड़ते हैं, और मौखिक परम्परा से प्राप्त मीरां के तथाकथित पद पूर्णतः प्रामाणिक नहीं हैं। वे देश, काल, वातावरण सापेक्ष भक्तों की श्रद्धा-प्रेरित अतिरंजनाओं से अत्यधिक आक्रा त हैं, इसीलिए उन पर आधारित निर्णय सर्वथा प्रामाणिक और सर्वमान्य नहीं है। यही स्थिति इतिहासकारों के मतों की भी है, फलतः मीरां के जीवन के सम्बन्ध मे कर्नल टाड और मुंशी देवीप्रसाद जी की धारणायें परस्पर विरोधी हैं। इसी तरह कल्पना और सत्य संयोजन से मीरां की जीवनी के सम्बन्ध में प्राप्त पदों, लोकगीतों, कहानियों, नाटकों, जीवनियों, चलचित्रों ओर महाकाव्य तक में मीरां का सम्पूर्ण प्रामाणिक ऐतिहासिक इतिवृत्त अनुपलब्ध है।

इसका सबसे महत्वपूर्ण कारण यह है कि मीरां सम्प्रदाय मुक्त, वंश और शिष्य परम्परा विहीन संतशिरोमणि थीं, अतः एक आत्मचिन्तनरत, आत्मजागृत विभूति के नाते अपनी दिव्य साधना के क्रमिक सोपानों पर चढ़ते समय उन्होंने अपनी आत्मोपलब्धियों को तो वाणी दी, किन्तु आत्मा की अनन्त यात्रा में जन्म और मृत्यु की क्षितिज रेखाओं से आबद्ध अपने लौकिक जीवन के कार्यकलापों और घटना-विधानों का कोई इतिवृत्त नहीं लिखा। जीवन और जगत के सम्बन्ध में उनकी यह धारणा थी कि यह दृश्य जगत नाशवान है, सृष्टि के सम्पूर्ण उपादान नश्वर हैं। यहाँ तीर्थाटन और ज्ञान चर्चा से अथवा काशी जाकर करवत लेने से कुछ नहीं होता। मनुष्य को चाहिये कि वह

अपने शरीर पर गर्व न करे,क्योंकि यह शरीर मिट्टी में मिल जाता है । यह संसार चिड़ियों का बाजार है, जहाँ प्रत्येक प्राणी की आत्मा (चिड़िया) जीवन (दिन) भर लौकिक कार्य कलाप (चहक फुदक) कर मृत्यु (साँझ) होते ही उड़ जाती है और पुनः प्रभु (स्थायी आवास) में बसेरा करने के लिए चली जाती है ।[1]

अतः मीरां की दृष्टि से उनका पंच तत्व-विनिर्मित भौतिक शरीर साध्योन्मुख प्रयत्नशील अतृप्त आत्मा का अस्थायी आवास और साधन-धाम था, इसीलिये प्राणान्तक पारिवारिक क्लेश और जीवनव्यापी संघर्षों की विभीषिका में तिल-तिल जलकर भी वे अपने जन्म-जन्म के साथी 'गिरधर नागर' के प्रेम-प्रदत्त, विरह-विदग्ध काल्पनिक मनोराज्य में आजीवन विचरण करती रहीं और अपनी महत् साधना के चरम सोपान पर पहुँच सिद्धावस्था में 'कृष्णमय' हो गईं । इससे स्पष्ट है कि मीरां ने सोद्देश्य अपनी जीवन-गाथा नहीं गाई, किन्तु उनकी मूल पदावली में उनके जीवन-वृत्त पर प्रकाश डालने वाले जितने भी आनुषंगिक उल्लेख हैं, उनका स्वरूप विचारणीय है । वे आनुषंगिक उल्लेख इस प्रकार हैं :—

मीरां की जीवनी के अंतरंग साधन और उसका स्वरूप—

मीरां अपने युग की एक श्रेष्ठ आत्म-चिन्तन-रत महान विभूति थीं । लौकिक जीवन और पारिवारिक सम्बन्धों से परे वे उस अगम्य जगत में प्रवेश कर हंसों की भाँति प्रेम के हौज में क्रीड़ा करना चाहती थीं, जहाँ प्रवेश करने में काल भी भयभीत होता है । उसी अगम्य देश में प्रवेश करने के लिये वे संत-सत्संग और ज्ञान-चर्चा करती थीं, 'सांवरिया' का ध्यान कर अपने मन को उज्ज्वल बनाती थीं और सोलह शृंगार सज पैरों में शील के घुँघरू बाँध संसार से विमुख हो आत्मतोष के साथ 'गिरधर' के समक्ष नृत्य करती थीं ।[2]

---

१. 'जेताई दीसां धरण गगण मां तेताई उठ्ठ जासी ।
तीरथ बरतां ग्याण कथन्ता कहा लयां करवत कासी ।
यो देही रो गरब णा करणा माटी मा मिल जासी ।
यो संसार चहर रां बाजी, सांझ पड्या उठ जासी ।।'

—मीरां-पदावली, डाकोर की प्रति, पद २

२. चालां अगम वा देस काळ देख्यां डरां ।
भरां प्रेम रां हौज हंश केळा करां ।
साधा संत रो शंग ग्याण जुगतां करां ।
धरां सांवरो ध्यान चित्त उजळो करां ।
सील घूंघरां बांध तोस निरतां करां ।
साजां शोळ शिंगार शोणा रो राखड़ा ।
सांवळ्या शूं प्रीत और शूं आखड़ाँ ।—काशी की प्रति, पद ७१ ।

उनका यह अटूट विश्वास था कि मनुष्य योनि बार-बार नहीं मिलती । इसी-लिये उन्होंने तरण-तारण 'गिरधरलाल' से भवसागर से पार उतारने के लिये प्रार्थना की थी ।[1] वे मानती थीं कि कृष्ण के नाम-स्मरण से सांसारिक जीवों के करोड़ों पाप नाश हो जाते हैं और जन्म-जन्मान्तरों के पापों का लेखा मिट जाता है ।[2] वे अपने प्रियतम गिरधर नागर के नाम पर लुभा गई थीं । उनके प्रियतम के नाम मात्र से पानी पर पत्थर तैर गये थे । गणिका, गजेन्द्र, अजामिल, आदि का उद्धार हो गया था ।[3] ऐसे भक्तवत्सल, शरणागत-रक्षक प्रभु के श्री चरणों में मीरां की लगन लगी थी । इसीलिये उन्होंने भव-भय और जग-कुल-बन्धन सभी को कृष्णार्पण कर दिया था

---

१. कांई म्हारो जणम बारम्बार ।
पुरबलां कांई पुन्न खूट्यां माणशा अवतार ।
बढ्या छिण छिण घट्या पळ पळ जात णा कछ वार ।
बिरछ रां जो पात टूट्यां लग्यां णा फिर डार ।
भौ समुन्द अपार देखां अगम ओखी धार ।
ळाळ गिरधर तरण तारण बेग करश्यो पार ।—डाकोर की प्रति, पद ६७ (क)

२. म्हारो मण सांवरो णाम रट्यां री ।
सांवरो णाम जपां जग प्राणी कोट्यां पाप कट्यां री ।
जणम जणम री खतां पुराणी णामां स्याम मट्यां री ।—डाकोर की प्रति, पद ५८ ।

३. पिया थारे णाम ळुभाणी जी ।
णाम ळेतां तिरतां सुण्यां जग पाहण पाणी जी ।
कीरत कांई णा कियां घणां करम कुमाणी जी ।
गणका कीर पढ़ावतां बैकुंठ बसाणी जी ।
अरध णाम कुंजर लयां दुख अवध घटाणी जी ।
गुरुड़ छांड पगें धाइयां पसु जूण पटाणी जी ।
अजांमेळ अघ ऊधरे जम त्रास ण साणी जी ।
पूतणाम जश गाइयां जग सारा जाणी जी ।
सरणागत थें वर दियां परतीत पिछाणी जी ।
मीरां दासी रावली अपणी कर जाणी जी ।
—डाकोर की प्रति, पद २५

एवम् अपने हृदय में गिरधर की शरण-प्राप्ति की आशा सँजोई थी ।[१]

अपने रसिक प्रियतम को आकृष्ट करने के लिये वे उनके समक्ष प्रेम के घुँघरू बाँधकर नाचती थीं, और उनके समक्ष नृत्य करने में उन्होंने लोक-लाज और कुल-मर्यादा की लेशमात्र भी चिन्ता नहीं की । वे प्रतिपल, प्रतिक्षण अपने 'प्रीतम' का स्मरण करती थीं, और उन्हीं के रंग में रँगी रहती थीं ।[२] वे अपने आपको जन्म-जन्म की कुमारी मानती थीं और अपने स्वामी गिरधारी से अपनी लज्जा रखने तथा शीघ्र ही मिलने के लिये खड़ी-खड़ी अर्ज किया करती थीं ।[3] तत्वतः उनकी लगन केवल कृष्ण से लगी थी, अतः वे अपने प्रियतम के रूप-सौन्दर्य-दर्शन की अभिलाषी थीं । उनकी धारणानुसार जन्म-जन्म के साथी कृष्ण ही उनकी प्रीति-पिपासा को बुझा सकते थे । उनसे दौड़कर मिलने के लिये ही वे सुहाग के सिंगार सजाती थीं, और उस लौकिक पति का वरण नहीं करना चाहती थीं जो जन्म लेकर भी मर जाता है । उन्होंने तो उस साँवले कृष्ण का वरण करना चाहा, जिससे उनका चूड़ा (सुहाग)

---

१. म्हा लागाँ लगण सिरि चरणा री ।
दरस बिणा म्हाणे कछ णा भावाँ जग माया या सुपणा री ।
भो सागर भय जग कुळ बण्धण डार दयां हरि चरणा री ।।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर आस गह्याँ थे सरणा री ।।

—डाकोर की प्रति, पद ६६ ।

२. म्हां गिरधर आगां नाच्यां री ।
णाच णाच म्हाँ रसिक रिझावां प्रीत पुरातण जांच्यां री ।
स्याम प्रीत रो बांध घूंघर्‌यां मोहण म्हारो सांच्यां री ।
ळोक ळाज कुळरां मरज्यादां जग मां णेक णा राख्यां री ।
प्रीतम पळ छण णा विसरावां मीरां हरि रंग राच्यां री ।

——डाकोर की प्रति, पद ५९

३. ठाढ़ी अरज करां गिरधारी राख्यां ळाज हमारी ।
मीरां रे प्रभु मिळश्यो माधो जणम जणम री क्वांरी ।

——काशी की प्रति, पद १०२।

अमर हो जाय ।[1]

पूर्व जन्म के संस्कार से मीरां की यह कामना भी पूरी हो गई थी। एक दिन स्वप्न में मीरां के 'गिरधर' ने उन्हें परिणीता बना दिया। छप्पन करोड़ बरातियो के साथ श्री ब्रजनाथ दूल्हा बनकर आये। सपने में ही तोरण बाँधी गई और सपने में ही ब्रजनाथ ने मीरां का हाथ अपने हाथों में ले लिया। स्वप्न में ही मीरां का परिणय-सम्बन्ध हुआ और वे 'अमर वधू' बन गईं। इससे ज्ञात होता है कि मीरां ने अपने लौकिक पति को अपना पति नहीं माना, क्योंकि उनके लौकिक पति जन्म लेकर मर गये थे।[2]

सच्ची पतिव्रता की भाँति मीरां से कृष्ण के बिना नहीं रहा जाता था। अपने प्रियतम के रूप पर आर्कषित हो उन्होंने तन, मन, जीवन सभी उन पर न्यौछावर कर दिये थे। प्रिय के बिना मीरां को खान-पान अच्छा नहीं लगता था। नित्य प्रतीक्षा करते-करते उनकी आँखें कांतिहीन हो गई थीं।[3] प्रियतम के दर्शन के बिना उन्हें घड़ी

---

१. लगण म्हारी स्याम शूं लागी ।
णेणा णिरख शुख पाय ।
साजाँ सिंगार शुहागाँ सजणी, प्रीतम मिळ्याँ धाय ।
बर णा बरयाँ बापुरो, जणम्या जणम णसाय ।
बरयां साजण सांवरो म्हारो चुडळो अमर हो जाय ।
जणम जणम रो काण्हड़ो म्हारी प्रीत बुझाय ।
मीरां रे प्रभु हरि अविणासी, कबरे मिळश्यो आय ।

—काशी की प्रति, पद ८९ ।

२. माई म्हाणे शुपणा मां परण्यां दीणानाथ ।
छप्पण कोटां जणां पधार्‌यां दूल्हो सिरी ब्रजनाथ ।
शुपणां मां तोरण बंध्यारी, शुपणां मां गह्या हाथ ।
शुपणां मां म्हारो परण गया पायां अचळ शुहाग ।
मीरां रो गिरधर मिळ्यारी पुरब जणम रो भाग । —डाकोर की प्रति, पद ३६

३. स्याम बिणा सखि रह्यां णा जावां ।
तण मण जीवण प्रीतम वार्‌यां थारे रूप लुभावां ।
खाण पाण म्हाणे फीकां ळागां णेणा रह्यां मुरझावां ।

—डाकोर की प्रति, पद १८

भर भी चैन नहीं पड़ती थी, न घर सुहाता था, न नींद आती थी । वे विरह-पीड़ित हो घायल सी घूमती फिरती थीं, किन्तु उनकी पीड़ा को कोई नहीं जानता था ।[१]

विरह-वेदना से विकल मीरां अटारी पर चढ़कर अपने प्रियतम की राह देखा करती थीं । कलपते-कलपते उनकी आँखें लाल हो गई थीं । वे भव-सागर में सांसारिक बन्धनों और कुल के नाते रिश्तेदारों को झूठा मानती थीं ।[२]

मीरां के इस स्वरूप-व्यवहार से असन्तुष्ट हो दुनियां के लोग उन्हें कटु शब्द सुनाते थे और उनका उपहास किया करते थे, किन्तु मीरां हरि के हाथों बिक गई थीं, उनकी जन्म-जन्म की दासी बन चुकी थीं ।[३] लोक-निंदा की शिकार मीरां को उनकी 'माई' ने भी बरजने की कोशिश की, किन्तु मीरां ने उनसे यही निवेदन किया कि 'हे माई ! तू मुझे मत रोक । मैं साधुओं के दर्शनार्थ जा रही हूँ । कृष्ण का रूप ही मेरे मन में बसा है । मुझे और कुछ नहीं भाता ।'[४]

गिरिधर के हाथ बिकी हुई मीरां को लोगों ने 'बिगड़ी' कहा,[५] परिवार और सगे-सम्बन्धियों ने रोका-टोका, लेकिन मीरां कृष्ण के बिना रह ही नहीं सकती थीं । वे संसार से दूर रहकर साधु-संगति में हरि के नाम-स्मरण, भजन, कीर्तन और गुणगान में सुख प्राप्त करती थीं । पारिवारिक विरोध और क्लेश बढ़ जाने पर भी वे निर्भीक भाव से भक्तिरत रहीं । उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषणा कर दी कि मेरा

---

१. घड़ी चेण णा आवड़ां थें दरसण बिण [?] ।
धाम णा भावां नींद णा आवां बिरह सतावां [?] ।
घायळ री घुमां फिरां म्हारो दरद णा जाण्यां कोय ।
—डाकोर की प्रति, पद २१

२. 'म्हांरो जणम जणम रो साथी, थाणे ना बिशर्‌यां दिण रांती,
थां देख्यांबिण कळ ना पड़तां जाणे म्हारी छांती ।
ऊंचा चढ़-चढ़ पंथ निहार्‌यां कलप कलप अंखयां रांती,
भो सागर जग बंधण झूंठा झूंठा कुळ रा ण्याती ।'
—डाकोर की प्रति, पद ४३

३. 'कळवा बोळ ळोक जग बोळयां, करश्यां म्हारी हांशी ।
मीरां हरि रे हाथ बिकाणी, जणम जणम री दाशी ।'
—काशी की प्रति, पद ८६

४. 'थे मत बरजे माई री, सांधां दरसण जावां ।
स्याम रूप हिरदां बसां म्हारे ओर णा भावां ।'—डाकोर की प्रति, पद ३७

५. 'मीरां गिरधर हाथ बिकाणी, लोग कह्यां बिगड़ी ।'—डाकोर की प्रति, पद १५

मन कृष्ण से लगा है । मैंने उनकी शरण गही है । मैं दुनियाँ के बोल सुनती हूँ । कृष्ण-प्रेम के कारण यदि मेरे शरीर, धन और प्राणों का भी विसर्जन हो जाय तो हो जाय ।[1]

इससे प्रमाणित होता है कि मीरां गिरिधर गोपाल के अतिरिक्त किसी को भी अपना नहीं मानती थीं । उनके भाई-बन्धु थे, सगे सम्बन्धी थे, किन्तु मीरां ने उन सबका परित्याग कर दिया था । साधु-सन्तों के साथ बैठ-बैठ कर उन्होंने लोक-लाज खो दी थी । (आध्यात्मिक उन्नति के समर्थक और कृष्ण नाम स्मरण करने वाले) साधुओं को देख मीराँ प्रसन्न होती थीं तथा (आध्यात्मिक पतन का द्वार व जन्म-मरण के चक्र की कुंजी) संसार के प्रपंच को देखकर दुखी होती थीं । उन्होंने अपने अश्रुजल से सींच-सींच कर भगवत्प्रेम की बेलि बोई थी जो उनके जीवन में ही पुष्पित और फलीभूत हो गई थी । मीरां ने (कृष्ण-प्रेम के) दही को मथकर (ईश्वरीय प्रेम तत्व रूपी) घी को निकाल लिया था और (भक्ति के प्रपंचात्मक) छाछ को छोड़ दिया था । मीरां के इस क्षात्र धर्म-विरोधी भक्ति-अभियान से क्रुद्ध हो राणा ने उनके लिए जहर का प्याला भेजा और मीरां उसे पीकर मग्न हो गई । मीरां के कृष्ण प्रेम और उसे दिये जाने वाले प्राणान्तक क्लेशों की बात सब दूर फैल गई थी और सभी उन्हें जानते थे । मीरां का कृष्ण प्रेम सच्चा था, अतः वे होनी से बिल्कुल निडर थीं ।[2]

---

१. बरजी री म्हां स्याम बिणा न रह्यां ।
साधां संगत हरि शुख पाश्यूं जग शूं दूर रह्यां ।
तण धण म्हारो जावां जाश्यां, म्हारो सीसळह्यां ।
मण म्हारो ळाग्या गिरधारी जगरा बोळ शह्यां ।
मीरां रे प्रभु हरि अवणासी थारी सरण गह्यां ।—डाकोर की प्रति, पद ६० ।

२. म्हांरा री गिरधर गोपाळ दूसरां णा कूयां ।
दूसरा णां कोया साधां सकळ ळोक जूयां ।
माया छांड्या बंधा छांड्या छांड्या सगा सूयां ।
साधां संग बैठ बैठ लोक लांज खूयां ।
भगत देख्यां राजी ह्यां, जगत देखां रूयां ।
असवांजळ सींच सींच प्रेम बेळ बूयां ।
दध मथ घृत काढ लयां डार दयां छूयां ।
राणा विषरो प्याळा भेज्यां पीय मगण हूयां ।
अब त बात फैळ पड़्यां जाण्यां सब कूयां ।
मीरां री लगण लग्यां होणा हो जो हूयां ।—डाकोर प्रति, पद १

विष का प्याला भेजने वाले राणा को सम्बोधित कर मीरां ने कहा कि हे राणा ! मैं कृष्ण के प्रेम में रँग गई हूँ । ताल, पखावज और बाजते हुए मृदंग के साथ मैं साधुओं के समक्ष नाचती हूँ । तुम मुझे कृष्ण-प्रेम में कच्ची और मदन-बावरी-समझते हो । (यह तुम्हारी भूल है) तुमने जो जहर का प्याला भेजा था, उसे मैंने बिना पूर्व परीक्षा के पी लिया है ।[1]

मीरां पर राणा के तीव्र आक्रोश की प्रतिक्रिया ही मीरां के प्राणान्तक प्रयासों की जड़ थी । राणा ने मीरां के लिये विष का प्याला भेजा, जिसे वे चरणामृत मानकर पी गईं । राणा ने एक पिटारी में मीरां के लिये काला सर्प भेजा, जिसे खोलने पर मीरां को 'सालिग्राम' की प्राप्ति हुई । राणा के कोप से बचने के लिये जब मीरां की सखी (माई) ने उन्हें समझाया, तब उन्होंने उससे कहा–हे माई ! मैं गोविन्द के गुण गाती हूँ । राजा रूठेगा तो अपना नगर रख लेगा (अर्थात् नगर से निकाल देगा), किन्तु यदि हरि रूठ गये, तो फिर कहीं भी ठौर नहीं मिलेगा ! ... मैं तो गिरिधर के प्रेम में बावली हो गई हूँ और अपने उसी 'साँवरिया' प्रियतम को पाना चाहती हूँ ।[2]

सखियों ने भी मीरां को बहुत समझाया, किन्तु मीरां ने उनकी एक न सुनी । उन्होंने अपनी विरह-दशा का उल्लेख करते हुए अपनी सखी से कहा–हे सखी ! मेरी नींद का नाश हो गया है । मुझे नींद नहीं आती । प्रियतम की प्रतीक्षा करते-करते सारी रात बीत गई । सखियों ने मुझे शिक्षा दी, किन्तु विरही मन एक नहीं मानता । हे सखी ! तुम अपने मन में क्रोध मत करो । मुझे प्रियतम को देखे बिना चैन नहीं पड़ती । शरीर व्याकुल और क्षीण हो गया है । मुख से 'पिव पिव' पुकार रही

---

१. 'सांवरियो' रंग रांचा राणां सांवरिया रंग रांचा ।
ताळ पखावजां मिरदंग बाधां साधां आगे णाचां ।
बूझ्या माणे मदण बावरी श्याम प्रीत म्हां कांचा ।
बिखरो प्याळो राणा भेज्यां आरोग्यां णा जांचां ।' –

—डाकोर की प्रति, पद ४८ ।

२. "माई म्हा गोविण्द गुण गाणा ।
राजा रूठ्यां णगरी त्यागां हरि रूठ्यां कठ जाणा ।
राणा भेज्या बिखरो प्याळा चरणामृत पी जाणा ।
काळा णाग पिटार्यां भेज्यां शालगराम पिछाणा ।
मीरां गिरधर प्रेम बावरी सांवळया बर पाणा ।।"

—डाकोर की प्रति पद, ६१ ।

हूँ, किन्तु मेरी अन्तर्वेदना को, मेरी पीड़ा को कोई नहीं जानता ।[1]

सांसारिक क्लेश और आध्यात्मिक विरह से दुखी मीरां का जीवन दूभर हो गया, अतः रूठे हुए राणा की नगरी को छोड़कर वे अपने प्रियतम की खोज में निकल पड़ीं । असाधारण प्रेम और विरह वेदना के संयोजन से मीरां की काव्य कला में मूर्तिमान विरह की तड़प और प्रेयसि के निःश्वासों का स्पन्दन सुनाई देने लगा :—

'प्रभुजी थें कठ्यां गयां नेहड़ा लगाय ।
छोड्या म्हा बिसवास संगाती प्रीत री बाती जलाय ।
विरह समंद मा छोड गयां छो नेह री नाव चढ़ाय ।
मीरां रे प्रभु कब रे मिलोगां थें बिण रह्यां णा जाय ।।'[2]

प्रियतम की खोज में मीरां लोक-लाज, कुल-मर्यादा को छोड़ वृन्दावन पहुँची मन को उन्होंने यमुना के तट पर चलने का संकेत किया ।[3] वहाँ पहुँचने पर वे मोहन के रूप पर लुभा गईं । मनमोहन का सुन्दर शरीर, कमल-दल के समान नेत्र और बाँकी चितवन मीरां की आँखों में बस गये ।[4] उन्होंने बाँके बिहारी जी को प्रणाम किया । उनके कानों में कुंडल, ललाट पर तिलक और सिर पर मोर-मुकुट शोभायमान थे । उनकी कुटिल अलकें काले रंग की थीं । वे अपने अधरों से मधुर रस-प्रवाहिनी मुरली बजाकर ब्रजनारियों को रिझा रहे थे । गिरिवरधारी मोहन की यह

---

१. 'सखी म्हारी णीद नशाणी हो ।
पिय रो पंथ निहारतां शब रैण बिहाणी हो ।
सखियां शब मिळ सीख दयां मण एक णा माणी हो ।
बिण देख्यां कळ णा पड़ां मण रोस णा ठाणी हो ।
अंग खीण व्याकुळ भयां मुख पिव पिव बाणी हो ।
अन्तर वेदण विरह री म्हारी पीड़ णा जाणी हो ।' —डाकोर की प्रति, पद ३६

२. डाकोर की प्रति, पद क्रमांक ११

३. 'चाळां मण वा जमणां कां तीर' —डाकोर की प्रति, पद ७

४. म्हां मोहण रो रूप लुभाणी ।
सुंदर बदण कमळ दळ लोचण, बांकां चितवण नैणा समाणी । —डाकोर की प्रति, पद ३

छवि देखकर मीरां मोहित हो गई[1] मदनमोहन की रूप-सुधा का पान करते-करते मीरां के नयन उन्हें निर्निमेष देखते रहे ।[2]

इसके बाद मीरां ने वृन्दावन के प्रकृति-सौन्दर्य का निरीक्षण किया । वृन्दावन में उनकी वृत्ति अधिक रमी, अतः अपनी आली से उन्होंने अपने मन पर पड़े हुए स्थानीय प्रभाव का उल्लेख करते हुए कहा :—

आली म्हांणे लागां वृन्दावण णीकां
घर घर तुळसी ठाकर पूजां दरसण गोविंद जी कां ।
निरमळ नीर बह्या जमणा कां भोजण दूध दह्यां कां ।
रतण सिंघासण आप बिराज्यां मुगट धर्‍यां तुळशी कां ।
कुंजण कुंजण फिर्‍यां सांवरां सबद सुण्या मुरळी कां ।[3]

अपने साँवरिया को सर्वत्र देखती हुई, उनका ही स्मरण और ध्यान करती हुई मीरां वृंदावन की कुंज गलियों में फिरती रहीं । सम्पूर्ण पृथ्वी के भार को धारण करने वाले, मीरां के प्रियतम कृष्ण ने जहाँ-जहाँ लीलायें की थीं और अपने चरणों से जिस-जिस भू-भाग को स्पर्शित किया था, मीरां वहाँ-वहाँ नृत्य करती हुई[4] वृन्दावन से द्वारका तक पहुँचीं । द्वारका में उन्होंने रणछोड़ जी के दर्शन किये । रणछोड़ जी के रूप , सौन्दर्य और प्रभाव का वर्णन करते हुए मीरां ने कहा——

---

१. 'म्हारो परनाम बांके बिहारी जी ।
मोर मुगट माथां तिळक बिराज्या कुंडळ अड़कां कारी जी ।
अधर मधुरधर बंशी बजावां रीझ रिझावां ब्रजनारी जी ।
या छब देख्यां मोह्याँ मीरां मोहण गिरवरधारी जी ।' डाकोर की प्रति,
पद ४

२. निपट बंकट छब अटके म्हारे नैणा णिपट बंकट छब अटके ।
देख्यां रूप मदण मोहण री पियत पियूख ण मटके ।' डाकोर की-प्रति,
पद ५

३. डाकोर की प्रति, पद ८

४. सखि म्हारो सामरिया णे देखवां करांरी ।
सांवरो उमरण सांवरो सुमरण, सांवरो ध्यान धरां री ।
ज्यां ज्यां चरण धरां धरणी धर (——) निरत करां री ।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर कुंजा गैळ फिरां री ।
—डाकोर की प्रति, पद ५७ ।

कि-- 'म्हारा मण हर ळीण्यां रणछोड़ ।
मोर मुगुट शिर छत्र बिराजां कुण्डळ री छब ओर ।
चरण पखार्यां रतणाकर री धारा गोमत जोर ।
धजा पताका तट तट राजां झाळर री झकझोर ।
भगत जाण्यां रो काज सं'वार्यां म्हारा प्रभु रणछोर ।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर कर गह्यो णण्द किसोर ।'[1]

यहीं रणछोड़ जी के मन्दिर में मीरां के प्रभु 'गिरधर नागर' ने मीरां को अपनाया । उक्त पद की अंतिम पंक्ति के उत्तरार्ध 'कर गह्यो णण्द किसोर' से इसी तथ्य का समर्थन होता है ।

मीरां ने 'असरण सरण' पतितोद्धारक गिरिधारी से बाँह गहे की लाज रखने के लिये प्रार्थना की--

'अब तो निभायां बांह गह्या री ळाज ।
असरण सरण कह्यां गिरधारी पतित उधारण पाज ।
भौसागर मझधार अधारां, थें बिण घणो अकाज ।
जुग जुग मीरां हर भगतां री, दीश्यां मोच्छ नेवाज ।
मीरां सरण गह्यां चरणा री, लाज रखां महाराज ।'[2]

मीरां ने अपने प्रियतम के चरण पकड़ लिये और 'भीर' को हरने के लिये उनसे निवेदन किया--

'हरि थें हर्यां जण री भीर ।
द्रोपतारी ळाज राख्यां थे बढ़यायां चीर ।
भगत कारण रूप णरहरि धर्यां आप सरीर ।
बूड़तां गजराज राख्यां, कट्यां कुंजर पीर ।
दासि मीरा ळाळ गिरधर हरां म्हारी भीर ।'[3]

और अन्ततः 'गिरधर' ने अपनी मीरां की 'भीर' हरने के लिये उनका हाथ पकड़ उन्हें भव सागर से उबार लिया ।

मीरां की जीवनी के बहिरंग साधन--

(क) प्राचीन भक्तों द्वारा मीरां विषयक उल्लेख :--मीरां की प्रामाणिक

---

१. डाकोर की प्रति, पद ६५ ।

२. वही पद ६८ ।

३. वही पद ६६ ।

पदावली में उनके जीवन से सम्बन्धित जो आनुषंगिक उल्लेख प्राप्त हुए हैं, उनकी प्रामाणिकता असंदिग्ध है । परवर्ती भक्तों ने मीरां के जीवन और व्यक्तित्व के बारे में जो उल्लेख किये हैं, उनमें कहीं भी मीरां की जीवन-विषयक उक्त धारणाओं का विरोध सूचित नहीं होता । मीरां के पूर्व विवेचित भक्त रूप का सभी ने समर्थन किया है फिर भी भक्तों द्वारा मीरां की मूल जीवनी में जिन नवीन तथ्यों की उद्भावना हुई है, उन्हें देखते हुए प्राचीन भक्तों द्वारा प्राप्त मीरां विषयक उल्लेखों का विवेचन आवश्यक हो गया है । सभी भक्तों और उनके द्वारा किये गये मीरां विषयक निर्देशों की रूप-रेखा इस प्रकार है :—

महात्मा व्यासदास —

प्राचीन साहित्य में सबसे पहले हमें मीराँ विषयक उल्लेख महात्मा व्यासदास की 'बानी' में मिलता है । महात्मा व्यासदास का असली नाम हरिराम शुक्ल था । मार्ग शीर्ष पंचमी विक्रम संवत् १५६७ को वेत्रवती नदी के तट पर ओड़छा में इनका जन्म हुआ था इनके पिता का नाम सुमोखन शुक्ल और माता का नाम पद्मावतीथा । ये महाज्ञानी और शास्त्र महारथी थे । धर्म-दर्शन और तर्क-शास्त्र में इनकी अच्छी गति थी । इनके पिता ने ही इन्हें युगल-मंत्र की दीक्षा दी थी और सुशीला नाम की कन्या से इनका विवाह कर दिया था, किन्तु गृहस्थाश्रम में इनकी बिल्कुल रुचि नहीं थी । शास्त्रार्थ और अध्ययन में इनका अधिकांश समय बीतता था । शास्त्रार्थ करने का इन्हें ऐसा चस्का था कि ये चुन-चुन कर पंडितों को ढूँढ़ते थे और उनसे शास्त्रार्थ करते थे । प्रतिद्वन्द्वियों को पराजित करने में इन्हें बड़ी प्रसन्नता होती थी । इसी शास्त्रार्थ की धुन में एक बार ये काशी पहुँचे और काशी के शास्त्र महारथियों को शास्त्रार्थ के लिये चुनौती दे दी । खूब शास्त्रार्थ हुआ और अन्ततः इनकी जीत हुई । काशी के पंडितों ने इन्हें 'व्यास' की उपाधि दी । इस तरह ये 'हरिराम शुक्ल' 'हरिराम व्यास' हो गये ।

इनके प्रकाण्ड पाण्डित्य और अद्भुत ज्ञान से प्रभावित हो ओड़छा-नरेश महाराज मधुकर शाह ने इन्हें अपना राजगुरु बना लिया, पर काशी से लौटने पर इनकी विरागीवृत्ति अधिक जाग गई, अतः ये घर-गृहस्थी, राज-वैभव और शास्त्रार्थ की प्रवृत्ति छोड़ वृन्दावन चले गये और वहीं पैंतालीस वर्ष की अवस्था में संवत् १६१२ में हितहरिवंश जी के शिष्य बन गये । पहले ये गौड़ीय सम्प्रदाय के वैष्णव थे, अब राधा-बल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये । 'व्यास जी' के इस साम्प्रदायिक परिवर्तन के सम्बन्ध में दो मत हैं ।

(क) आचार्य रामचन्द्र जी शुक्ल का मत है कि श्री हरिराम जी व्यास ने 'एक बार वृन्दावन में जाकर गोस्वामी हितहरिवंश को शास्त्रार्थ के लिये ललकारा । गोसाईं

जी ने नम्र भाव से यह पद कहा—

यह जो एक मन बहुत ठौर करि कहि कौने सचु पायो।
जहँ तहँ विपति जार जुवती ज्यों प्रगट पिंगला गायो ॥

यह पद सुन 'व्यास जी' चेत गये और हितहरिवंश के अनन्य भक्त हो गये ।[१]

(ख) रामलाल जी का मत है कि भक्तिपूर्ण सत्संग से प्रभावित व्यास जी ब्रजवासी बनने की कामना से वृंदावन पहुँचे । यमुना में स्नान कर वे सेवा कुंज की ओर हितहरिवंश से मिलने गये । उस समय 'महात्मा हितहरिवंश राधाबल्लभ का राग भोग सिद्ध कर रहे थे । अपने ठाकुर के लिये भोजन बना रहे थे । उन्होंने हरिराम व्यास का आगमन सुनकर पात्र अलग रख दिया और पानी डालकर आग बुझा दी । व्यास जी ने कहा कि आग बुझाने की क्या आवश्यकता थी, भोजन बनता रहता और बात भी होती रहती । हितहरिवंश ने समाधान किया कि मन बड़ा चंचल है । इसकी वृत्ति व्यभिचारिणी होती है । इसे एक समय एक ही विषय में लगाया जा सकता है । इसको राधाबल्बभ के चरणों में लगा देना ही उचित है । इस घटना से व्यास जी बहुत प्रभावित हुए । हितहरिवंश ने उनको दीक्षा दी और अपने शिष्य रूप में स्वीकार कर लिया । हरिराम व्यास का नाम 'व्यासदास' हो गया ।[२]

तार्किक हरिराम शुक्ल, महात्मा व्यासदास बनने के बाद वृन्दावन-रस में ऐसे डूबे कि वे फिर वृन्दावन से कहीं बाहर नहीं गये । ओड़छा नरेश महाराज मधुकरशाह ने इन्हें ओड़छा ले जाने के प्रयत्न भी किये, किन्तु वे कृतकार्य नहीं हुए ।

महात्मा व्यासदास ने वृन्दावन में सन्त-प्रेम की गंगा, रस-उपासना की यमुना और निकुंज-लीला की सरस्वती के संगम पर श्री राधाकृष्ण की शृंगारपरक मधुर भक्ति का अधिष्ठान किया । साधु-सन्तों के प्रति उनकी अपूर्व श्रद्धा थी, इसलिये अपनी 'बानी' में इन्होंने अनेक सन्तों का स्तवन किया । ऐतिहासिक दृष्टि से सबसे पहले इनके ही दो पदों में मीरां का उल्लेख मिलता है । पद इस प्रकार हैं :—

इतनौं है सब कुटुम हमारौ ।
सैंन, धना अरु नामा, पीपा, कबीर, रैदास चमारौ ॥
रूप सनातन कौ सेवक गंगल भट्ट सुढारौ ।
सूरदास, परमानंद, मेहा, मीरा भक्ति विचारौ ॥

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, छठा संस्करण, संवत् २००७, पृष्ठ १८९ ।

२. भारत के सन्त महात्मा—रामलाल, प्रथम संस्करण, नवम्बर १९५७ ई०, पृष्ठ ४०३ ।

ब्राह्मन राजपुत्र कुल उत्तम तेऊ करत जाति को गारौ।
आदि अंत भक्तनि कौ सर्वसु राधावल्लभ प्यारौ॥
आसू कौ हरिदास रसिक हरिवंश न मोहि बिसारौ।
इहि पथ चलत स्याम स्यामा के व्यासहि बोरौ भावै तारौ।

× × ×

बिहारहि स्वामी बिनु को गावै।
बिनु हरिवंशहि राधाबल्लभ को रस-रीति सुनावै॥
रूप सनातन बिनु को वृंदा-बिपिन-माधुरी पावै।
कृष्णदास बिनु गिरधर जू कौ को अब लाड़ लड़ावै॥
मीराबाई बिनु को भक्तनि पिता जानि उर लावै।
स्वारथ परमारथ जैमल बिनु को एक बंधु कहावै॥
परमानन्द दास बिनु को अब लीला गाय सुनावै।
सूरदास बिनु पद-रचना को कौन कविहिं कहि आवै॥
और सकल साधुन बिनु को अब यह कलिकाल कटावै।
'व्यासदास' इन सब बिनु को अब तन की तपनि बुझावै॥

प्रथम पद व्यास जी ने सेननाई, धन्नाजाट, नामदेव, पीपा, कबीर, रैदास, रूप-सनातन के सेवक गंगल भट्ट, सूरदास, परमानन्ददास के साथ मीरां को भी अपने भक्त परिवार में परिगणित किया है।

दूसरे पद से भक्तों के प्रति मीरां के पुत्री-तुल्य प्रेम-भाव का पता चलता है। इस पद से ऐसी ध्वनि निकलती है कि इस पद की रचना के पूर्व ही हितहरिवंश, रूप-सनातन, कृष्णदास, मीरां, जयमल, परमानन्द दास और सूरदास का देहान्त हो चुका था। व्यास जी की मृत्यु तिथि का कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

ब्रजरत्न दास जी के अनुमान से व्यास जी की मृत्यु संवत् १६३० के लगभग हुई होगी।[1] अतः यह माना जा सकता है कि व्यासदास जी के जीवन-काल में ही संवत् १६३० के पूर्व मीरां का देहावसान हो गया होगा।

नाभादास और प्रियादास

नाभादास जी परम भक्त थे। कुछ लोग इन्हें डोम बताते हैं, कुछ क्षत्रिय पर वास्तव में उनके जन्म-सम्वत्, माता-पिता, वंश और परिवार का कोई पता नहीं है। हिन्दी साहित्य के इतिहास के अनुसार ये संवत् १६५७ के लगभग वर्तमान

---

१. मीराँ-माधुरी—ब्रजरत्नदास, भूमिका, पृष्ठ २६।

थे और गोस्वामी तुलसीदास जी की मृत्यु के बहुत पीछे तक जीवित रहे। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'भक्त माल' संवत् १६४२ के पीछे बना और संवत् १७६६ में प्रियादास जी ने उसकी टीका लिखी। इस ग्रंथ में २०० भक्तों के चमत्कारपूर्ण चरित्र ३१६ छप्पयों में लिखे गये हैं। इन चरित्रों में पूर्ण जीवन-वृत्त नहीं है, केवल भक्ति की महिमा-सूचक बातें दी गई हैं। इसका उद्देश्य भक्तों के प्रति जनता में पूज्य बुद्धि का प्रचार जान पड़ता है।[1]

'भारत के सन्त महात्मा' ग्रन्थ के अनुसार कृष्णदास पयहारी के शिष्य सन्त कील्हदास और अग्रदास ने इन्हें अकाल-पीड़ित तैलंग प्रदेश के किसी वन में पड़ा हुआ पाया था। अग्रदास जी ने ही इन्हें पाल पोसकर बड़ा किया और इन्हें राम-मंत्र की दीक्षा दी।[2] अग्रदास जी ने इनका नाम नारायणदास रखा था किन्तु कालान्तर में ये नाभादास के नाम से अभिहित हुए।

'मीराँ-माधुरी' के लेखक के मत से नाभादास जी अंधे थे और इनके गुरु अग्र-दास जी ने इनका पालन-पोषण किया था। अग्रदास जी श्री रामानन्द जी के शिष्य अनन्तानन्द जी के शिष्य कृष्णदास पयहारी के शिष्य थे और जयपुर के अन्तर्गत गलता पहाड़ी पर रहते थे।[3]

नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित 'श्री नाभादास जी कृत भक्तमाल सटीक' में २४५ भक्तों का परिचय २०२ कवित्त और १२ दोहों में दिया गया है। इस संस्करण के अनुसार प्रियादास जी ने नाभादास जी के मूल भक्तमाल की ६३१ कवित्तों में टीका की है। प्रकाशक श्री केशरीदास जी सेठ ने लिखा है कि "इस (भक्तमाल) ग्रंथ के रचयिता श्री नाभादास जी हैं, जो संवत् १६५७ के लगभग वर्तमान थे। उन्होंने इस ग्रंथ की रचना संवत् १६४२ के बाद में की थी। इस ग्रंथ की 'भक्तिरस बोधिनी' नाम की टीका श्री नाभादास जी के शिष्य श्री प्रियादास जी ने संवत् १७६८ में की।"[4]

वास्तव में भक्तमाल का रचना-काल और उसकी टीका का समय विवादास्पद है। श्री तनसुखराम मनसुखराम त्रिपाठी ने भक्तमाल का रचना काल संवत् १७००

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ १४७

२. भारत के सन्त महात्मा—रामलाल, पृष्ठ ५०४-५०५

३. मीराँ-माधुरी—ब्रजरत्नदास, भूमिका, पृष्ठ २६

४. श्री नाभादास जी कृत भक्त माल सटीक (पंचम संस्करण, सन् १९४० ई०) —प्रकाशक के दो शब्द

और प्रियादास की टीका का समय १७६९ माना है ।[1]

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी ने भक्तमाल का रचनाकाल संवत् १६६६ और टीका का समय १७६६ माना है ।[2]

श्री दुर्गाशंकर शास्त्री के मत से भक्तमाल का रचनाकाल संवत् १६४२ और प्रियादास की टीका का समय संवत् १७६९ है ।[3]

अतः भक्तमाल और उसकी भक्तिरस बोधिनी टीका का समय संवत् १६४२ और १७६६ के बीच में माना जा सकता है ।

नवल किशोर प्रेस, लखनऊ वाले भक्तमाल के सटीक संस्करण में नाभादास जी द्वारा मीरां के सम्बन्ध में लिखित मूल कवित्त और प्रियादास जी द्वारा की गई उसकी टीका का स्वरूप इस प्रकार है :-

श्री मीराबाई जी

मूल॥ लोक लाज कुल श्रृंखला तजि मीरा गिरिधर भजी ॥
सदृस गोपिका प्रेम प्रगट कलिजुगहिं दिखायो ।
निरअंकुस अति निडर रसिक जस रसना गायो ॥
दुष्टन दोष विचार मृत्यु को उद्दिम कीयो ।
बार न बाँको भयौ गरल अमृत ज्यों पीयो ।
भक्ति निसान बजायकै काहू ते नाहिन लजी ।
लोक लाज कुल श्रृंखला तजि मीरा गिरिधर भजी ॥ ११५॥[4]

अर्थात् लोक-लाज और कुल की श्रृंखलाओं को तोड़कर मीरां ने गिरधर का भजन किया । उन्होंने कलियुग में द्वापर की गोपियों के सदृश्य प्रेम का परिचय दिया और स्वच्छन्दतापूर्वक निर्भीकता से रसिक-शिरोमणि कृष्ण की यश-गाथा गाई । दुष्टों ने उनके कृष्णप्रेम और भक्तिभाव को दोष समझकर उनके प्राण लेने की कोशिश की, किन्तु उनका बाल भी बाँका नहीं हुआ । वे हलाहल को अमृत की भाँति पी गईं । किसी से भी लाज-शर्म न करते हुए उन्होंने डंके की चोट पर भक्ति की ध्वजा-

---

१. वृहद् काव्य दोहन, (भाग-७)–त०म० त्रिपाठी, पृष्ठ ११

२. नरसैया भक्त हरिनो-कन्हैयालाल माणिकलाल मुँशी, (दूजी आवृत्ति, सन् १९५२) पृष्ठ ५२

३. वैष्णव धर्मनो संक्षिप्त इतिहास–दुर्गाशंकर शास्त्री,(द्वितीय आवृत्ति, सन् १९३९) पृष्ठ ३००

४. श्री नाभादास जी कृत भक्तमाल सटीक–केसरीदास सेठ द्वारा नवल किशोर प्रेस लखनऊ में मुद्रित और प्रकाशित, (पाँचवी आवृत्ति, सन् १९४० ई०), पृष्ठ २४७

पताका फहराई और लोक-लाज-कुल-मर्यादा की श्रृंखलाओं को तोड़कर गिरिधर का भजन किया ।

मीराबाई जी की टीका

मेरतौ जनम भूमि भूमि हित नैन लगे,
पगे गिरधारीलाल पिता ही के धाम में।
राना के सगाई भई करी ब्याह सामा नई,
गई मति बूड़ि वा रँगीले घनस्याम में।।
भाँवरैं परत मन साँवरे सरूप माँझ,
ताँवरे सी आवें चलिबे को पति ग्राम में।
पूछैं पितुमातु पट आभरन लीजिये जू,
लोचन भरत नीर कहा काम दाम में ।।४६७।।
देवो गिरिधारीलाल जो निहाल कियो चाहौ,
और धनमाल सब राखिये उठाइ कै।
बेटी अति प्यारी प्रीति रंग चढ़यो भारी,
रोइ मिली महतारी कही लीजिये लड़ाइ कै।
डोला पधराइ दृग दृग सों लगाइ चली,
सुख न समाइ चाइ प्रानपति पाइ कै।
पहुँची भवन सासु देवी पै गमन कियो,
तिया अरु बर गँठ जोरो कर्‌यो भाइ कै ।।४६८।।
देवी के पुजाइबे को कियो लै उपाइ सासु,
बर पै पुजाइ पुनि बधु पूजि भाखिये।
बोली जू बिकायो माधौ लाल गिरिधारी हाथ,
और कौन नवै एक वही अभिलाखिये।
बढ़त सुहाग याके पूजे ताते पूजा करो,
करो जनि हठ सीस पाँइन पै राखिये।
कही बार बार तुम यही निरधार जानौ,
वही सुकुमार जापै वारि फेरि नाखिये ।।४६९।।
तब तौ खिसानी भई अति जरि बरि गई,
गई पति पास यह बधू नहीं काम की।
अब ही जबाब दियो कियो अपमान मेरो,
आगे क्यों प्रमान करै भरै स्वास चाम की ।।
राना सुनि कोप कर्‌यो धर्‌यो हिये मारिबोई,

दई ठौर न्यारी देखि रीझि मति बाम की ।
लालन लड़ावै गुन गाइके मल्हावे साधु,
संग ही सुहावै जिन्हें लागी चाह स्याम की ।।४७०।।
आइ कै ननंद कहै गहै किन चेत भाभी,
साधुन सों हेतु में कलंक लागै भारिये ।
राना देसपती लाजे, बाप कुल रीति जात,
मानि लीजै बात बेगिसंग निखारिये ।।
लागे प्रान साथ संत पावत अनंत सुख,
जाको दुख होय ताको नीके करि टारिये ।
सुनि कै कटोरा भरि गरल पठाय दियो,
लियो करि पान रंग चढ़यो सों निहारिये ।।४७१।।
गरल पठायो सो तौ सीस पर चढ़ायो संग,
त्याग विष भारी ताकी झार न सम्हारी है ।
राना ने लगायो चर बैठे सासु ढिग धरि,
तब ही खबर करि मारों यहै धारी है ।।
राजैं गिरधारीलाल तिनहीं सों रंग जाल,
बोलत हँसत ख्याल कान परी प्यारी है ।
जाइके सुनाई भई अति चपलाई आयो,
लिये तरवार दे किवार खोलि न्यारी है ।।४७२।।
जाके संग रंग भीजि करत प्रसंग नाना,
कहाँ वह नर गयो बेगि दे बताइये ।
आगे ही बिराजे कछु तोसों नहीं लाजै,
अब देखि सुख साजै आँखि खोलि दरसाइये ।।
भयोई खिसानो राना लिख्यो चित्र भीति मानो,
उलटि पयानो कियो नैक मन आइये ।
देख्यो हूँ प्रभाव ऐसे भाव में न भिद्योजाइ,
बिना हरि कृपा कहौ कैसे करि पाइये ।।४७३।।
विषई कुटिल एक भेष धरि साधु लियो,
कह्यो यों प्रसंग मो सों अंग संग कीजिये ।
आज्ञा मोको दई आप लाल गिरधारी अहो,
सीस धरि लई कछू भोजन हूँ कीजिये ।।
संतन समाज में बिछाइ सेज बोलि लियो,

संक अस कौन की निसंक रस भींजिये ।
सेत मुख भयो विषै भाव सब गयौ,
नयो पाँयन में जाइ मोको भक्तिदान दीजिये ।।४७४।।
रूप की निकाई भूप अकबर भाई हिये,
लिये संग तानसेन देखिबो कौ आयो है ।
निरखि निहाल भयो छबि गिरिधारीलाल,
पद सुखजाल एक तब ही चढ़ायो है ।।
वृंदावन आई जीव गुसाई जी सों मिली झिली,
तियामुख देखिबे को पन लै झुड़ायो है ।
देखी कुंज कुँज लाल प्यारी सुखपंज भरी धरी,
उर माँझ जाइ देस बन गायो है ।।४७५।।
राना की मलीन मति देखि बसी द्वारावती,
रति गिरिधारीलाल नित्य ही लड़ाइये ।
लागी चटपटी भूप भक्ति को सरूप जानि ।।
बेगि लैकै आवो मोको प्रान दै जिवावौ अहो,
गये द्वार धरनो दै बिनती सुनाइये ।
सुनि विदा होन गई राइ रणछोरजू पै छाँड़ौ,
राखौ हीन लीन भई नहीं पाइये ।।४७६।।[1]

प्रियादास जी ने लिखा है कि मीरां की जन्मभूमि मेड़ता थी । पितृगृह में ही गिरिधारी लाल से उनका प्रेम हो गया था । राणा के साथ उनका विवाह हुआ, जिससे उन्हें बहुत कष्ट हुआ । विदाई समय मीरां के माता-पिता ने उनसे वस्त्राभूषण लेने के लिए कहा, किन्तु मीरां केवल अपने गिरिधारीलाल को ही अपने साथ ले गईं ।

ससुराल पहुँचने पर सास ने मीरां और उनके पति दोनों की गाँठ जोड़कर देवी पूजन की व्यवस्था की । पहिले उन्होंने वर से देवी-पूजन कराई फिर वधू से देवी-पूजन करने को कहा । सास ने बताया कि देवी-पूजन से सुहाग बढ़ता है इसलिये देवी के चरणों पर अपना मस्तक रखो, लेकिन मीरां ने सास की बात नहीं मानी । क्रोधित होकर मीरां की सास अपने पति के पास गई और कहा कि 'यह वधू काम की नहीं है । इसने मेरा अपमान किया है ।' यह सुनकर राणा जी कुपित हुए । उन्होंने

---

१. श्री नाभादास जी कृत भक्तमाल सटीक, टीकाकार श्री प्रियादास जी, नवल किशोर प्रेस लखनऊ, पाँचवीं बार, सन् १९४०, पृष्ठ २४७-२५२ ।

मन ही मन मीरां को मारने का निश्चय किया और उन्हें रहने के लिये अलग जगह दी। वहाँ मीरां कृष्ण-प्रेमी साधुओं के साथ सत्संग करती थीं।

मीरां की ननद ने आकर उन्हें समझाया कि 'हे भाभी! साधुओं की संगति करने से बड़ा कलंक लगता है। देशाधिपति राणा बड़े लज्जित हैं, और तुम्हारे पितृ-कुल की मर्यादा जा रही है। मेरी बात मानकर शीघ्र ही साधुओं का संग छोड़ दीजिये, किन्तु मीरां ने अपनी ननद की बात नहीं मानी। तब विष भेजा गया, जिसे वे पी गईं।

राणा ने गुप्तचर नियुक्त किये। मीरां अपने गिरिधर नागर से संलाप कर रही थीं। गुप्तचरों ने राणा को खबर दी कि मीरां किसी से एकांत में रस-रंग कर रही हैं। इस समाचार को सुनकर राणा बड़ी शीघ्रता से हाथ में तलवार लेकर वहाँ आया और क्रोध से मीरां से बोला, "जिसके संग तुम रस-रंग में भींगकर अनेक प्रसंग करती हो, वह आदमी कहाँ गया? शीघ्र बताओ।" मीरां ने अपने गिरिधर नागर की मूर्ति दिखला कर कहा—"मैं इनसे ही बातचीत कर रही थी।" राणा भित्ति-चित्र की भाँति स्तब्ध रह गया और लौट गया।

एक कुटिल विषयी, साधु-वेष में आया। उसने मीरां से कहा कि आप मुझसे 'अंग-संग' कीजिये। मुझे गिरिधारीलाल ने आज्ञा दी है। मीरां ने तथाकथित गिरिधारीलाल की आज्ञा को शिरोधार्य कर लिया और उस कपटी साधु से भोजन करने के लिए कहा। इसमें बाद संत-समाज में सेज बिछाकर बोलीं कि 'आइये'। मीरां के वचनों को सुनकर विषयी साधु का मुख सफेद पड़ गया। उसके मन से विषय-भाव दूर हो गया और वह मीरां के चरणों पर मस्तक झुकाकर बोला—"आप मुझे भक्तिदान दीजिये।"

मीरां के रूप-सौन्दर्य की चर्चा सुनकर अकबर बादशाह तानसेन को साथ में लेकर आया। वह गिरिधारीलाल के सौन्दर्य को देखकर निहाल हो गया और उसने गिरिधारीलाल के चरणों में एक 'सुखजाल' चढ़ाया।

मीरां वृन्दावन गईं और जीव गोस्वामी से मिलीं। उन्होंने गोसाईं जी के त्रियामुख न देखने के प्रण को छुड़ाया। राणा की मलीन मति देखकर वे वृन्दावन से द्वारका चली गईं और नित्य प्रति अपने गिरिधारीलाल की उपासना करती रहीं। राणा को जब उनके भक्त-स्वरूप का पता चला तो उसने ब्राह्मणों का एक दल मीरां को बुला लाने के लिए भेजा। ब्राह्मणों ने मीरां को लौटाने के लिए धरना दिया। यह सुनकर मीरां राय रणछोड़ जी से बिदा लेने के लिए मन्दिर में गईं और उनमें समा गईं।

प्रियादास जी की टीका में तद्युगीन मीरां विषयक किंवदंतियों और जनश्रुतियों का समावेश पाया जाता है। प्रियादास जी ने यह नहीं बताया कि मीरां के माता-पिता का क्या नाम था और किस राणा के साथ उनकी सगाई हुई थी। मीरां के जन्म-संवत्, विवाह-संवत् और मृत्यु-संवत् का भी उक्त टीका में कोई उल्लेख नहीं है। इस टीका से केवल इतना ही पता चलता है कि बचपन से ही मीरां कृष्ण के प्रति अनुरक्त थीं। उनका वैवाहिक जीवन पारिवारिक क्लेशों से परिपूर्ण था। इसीलिए उन्हें विषपान कराया गया। उनका चरित्र तथाकथित राणा द्वारा शंका की दृष्टि से देखा जाता था और इसीलिए राणा ने उनके भवन के आसपास गुप्तचरों की नियुक्ति की थी। 'विषयी कुटिल साधु' वाले प्रसंग से पता चलता है कि साधु समाज में असाधु भी सम्मिलित थे। मीरां ने अपने बुद्धिबल और चरित्र-बल से उस विषयी-साधु को भक्ति-दान दिया।

यद्यपि अकबर और तानसेन का मीरां के दर्शन के लिए आना अनैतिहासिक तथ्य है किंतु मीरां की महिमा-सूचक किंवदन्ती के नाते प्रियादास जी ने उसे भी अपनी टीका में जोड़ लिया है। मीरां की वृन्दावन-यात्रा एक प्रामाणिक घटना है किंतु मीरां के वृन्दावन से द्वारका जाने का कारण अप्राप्य है। ऐतिहासिक शोध के अनुसार मीरां मेवाड़ से मेड़ता होकर वृन्दावन गईं थीं। प्रियदास जी के मत से, राणा की मलीन मति देखकर मीरां बृन्दावन से द्वारका जाकर वहीं बस गईं। राणा द्वारा भेजे गये ब्राह्मणों के 'धरना' देने पर मीरां राय रणछोड़ जी से बिदा लेने गईं और उन्हीं में लीन हो गईं।

प्रियादास जी की टीका में प्रामाणिक ऐतिहासिक तथ्यों के साथ-साथ अनैतिहासिक प्रसंग और किंवदन्तियाँ भी हैं, अतः इसे मीरां का जीवन-वृत्त-विषयक इतिहास नहीं माना जा सकता।

ध्रुवदास—

ध्रुवदास जी हितहरिवंश जी के शिष्य थे। इनका जन्म वैशाख कृष्ण ११ संवत् १५५९ में हुआ था। इन्होंने कार्तिक सुदी १३ संवत् १५८२ में राधावल्लभ जी की मूर्ति स्थापित कर 'श्री राधावल्लभीय सम्प्रादाय' चलाया।[1] इन्होंने छोटे-मोटे ४४ ग्रंथ रचे हैं। ब्रजरत्न दास जी के मतानुसार इनका रचना-काल संवत् १६८० से १७०० तक रहा है, किंतु शुक्ल जी के विचार से "इनका रचना-काल संवत् १६६०

---

१. मीराँ-माधुरी—ब्रजरत्न दास, भूमिका, पृष्ठ ३२

से १७०० तक माना जा सकता है ।"[1]

ध्रुवदास जी ने 'भक्त नामावली' में मीरां के सम्बन्ध में निम्नलिखित चार दोहे लिखे हैं—

> लाज छाँड़ि गिरिधर भजी, करी न कछु कुल कानि ।
> सोई मीरां जग विदित, प्रगट भक्ति की खानि ।।
> ललिता हू लइ बोलि कै, तासौं हो अति हेत ।।
> आनन्द सों निरखत फिरै, वृन्दावन रस खेत ।।
> नृत्यत नूपुर बांधि कै, नाचत लै करतार ।
> बिमल हियौ भक्तनि मिली, तृन सम गन्यो संसार ।।
> बन्धुनि विष ताको दियौ, करि विचार चित्त आन ।
> सो विष फिरि अमृत भयौ, तब लागे पछितान ।।

इन दोहों से केवल इतना ही ज्ञात होता है कि मीरां ने लोक-लाज और कुल-मर्यादा को त्यागकर गिरिधर का भजन किया । वे जगत-विख्यात 'भक्ति की खान' हैं । ललिता से उनका अत्यधिक प्रेम था, अतः वे उसे अपने साथ रस क्षेत्र वृन्दावन ले गईं और उन्होंने वहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य और मन्दिरों का आनन्द से निरीक्षण किया । वे हाथ में करताल ले, पैरों में नूपुर बाँधकर नाचती थीं और विमल हृदय से भक्तों से मिलती-जुलती थीं । उनकी दृष्टि में संसार तृण के समान था । बंधुवर्ग ने मीरां के संत-समागम को 'कुछ और' ही सोचकर विष दे दिया पर वह विष अमृत हो गया । इस पर वे बहुत पछताये ।

ध्रुवदास जी के दोहों में यों तो कोई विशेष बात नहीं है किन्तु उन्होंने सबसे पहिले मीरां की उस ललिता सखी का उल्लेख किया है जो आजीवन मीरां के साथ रहीं । डाकोर की हस्तलिखित प्रति इसी ललिता ने लिखी थी ।

ध्रुवदास जी और नाभादास जी प्रायः समकालीन थे । नाभादाद जी के छप्पय की प्रथम पंक्ति, 'लोक लाज कुल श्रृंखला तजि मीरां गिरिधर भजी', ध्रुवदास जी के दोहे की प्रथम पंक्ति, 'लोक छांड़ि गिरिधर भजी करी न कछु कुल कानि' से बहुत मिलती-जुलती है, किंतु इसमें किसने किससे सहायता ली है ? कहा नहीं जा सकता । संभव है, दोनों पंक्तियाँ स्वतंत्र आधार पर लिखी गई हों ।

चौरासी वैष्णवन की वार्ता

चौरासी तथा दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ताओं के रचयिता गोस्वामी गोकुलनाथ जी माने जाते हैं । गोकुलनाथ जी का समय संवत् १६०८ से संवत् १६६०

१· हिंदी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, छठा संस्करण, पृष्ठ १६४

माना जाता है ।[1] इन वार्ताओं का जन्म मौखिक कथन और प्रवचन से हुआ जान पड़ता है । श्री गोकुलनाथ जी अपने कथा प्रवचनों में बैठक-चरित्र, घरू वार्ता, और सेवकों से सम्बन्ध रखने वाले चरित्र (वार्ता के प्रसंग) वर्णन करते थे । और श्रीकृष्णलाल के मतानुसार वार्ताओं के प्रथम संस्करण का समय संवत् १६४२ से १६४५ तक माना गया है । इसके कुछ समय पश्चात संग्रह की साहजिक मानवीय लिप्सा-वृति ने उन्हें सुरक्षित रखने के लिए एक अव्यवस्थित लिखित रूप दिया, जिसका समय संवत् १६६४ से१७३५ तक माना जाता है । यह द्वितीय संस्करण था, जिसमें ८४ और २५२ वैष्णवों का वर्गीकरण किया गया और गोकुलनाथ जी के शिष्य श्री हरिराय जी के वार्ताओं में गोकुलनाथ जी का नाम निर्देश किया । तीसरा संस्करण श्री हरिराय जी के समय में हुआ जियमें श्री हरिराय जी ने मूल वार्ताओं में 'भाव-प्रकाश' नामक टिप्पण भी लिखा ।[2]

वार्ता-साहित्य वास्तव में वल्लभ-सम्प्रदाय का समर्थक साहित्य है, जिसमें पुष्टिमार्ग से संबन्धित भक्तों के प्रशंसामूलक प्रसंगों की अवतारणा की गई है और उसमें पुष्टिमार्गीय 'महाप्रभून के सेवकन' की अलौकिक और अति मानुषिक अतिरंज-नायें वर्णित हैं । वस्तुतः यह 'पुष्टिमार्गीय पुराण' है अतः इसकी वार्ताओं में ऐति-हासिक क्रम तथा प्रामाणिक जीवनी का अभाव पाया जाता है । इसके सूक्ष्म विवेचन से वल्लभ-सम्प्रदाय के उत्कर्ष में बाधक प्रमाणित होने वाले तथा पुष्टिमार्ग के अव-रोधक व्यक्तियों का विरोध, अपमान और निंदा करना भी वार्ताकार का उद्देश्य-सा प्रतीत होता है । वार्ताओं में देश, काल और समय की असंगति से ऐसा लगता है कि वार्तासाहित्य केवल गोकुलनाथ जी की ही रचना नहीं, किन्तु विभिन्न पुष्टिमार्गीय भक्तों द्वारा वर्णित विभिन्न वार्ताओं और प्रसङ्गों का संकलन मात्र है ।

चौरासी वैष्णव की वार्ता में तीन स्थलों पर मीरां से सम्बन्धित घटनाओं का उल्लेख मिलता है ।

(१) "गोविन्द दूबे साचोरा ब्राह्मण, तिनकी वार्ता—

और एक समें गोविन्द दुबे मीरांबाई के घर हुते तहाँ मीरांबाई सों भगवद्वार्ता करत अटके । तब श्री आचार्य जी ने सुनी जो गोविन्द दुबे मीरांबाई के घर उतरे हैं, सो अटके हैं, तब श्री गुसाईं जी ने एक श्लोक लिखि पठायो सो एक ब्रजवासी के हाथ पठायो तब वह ब्रजवासी चल्यौ सो वहाँ जाय पहुँची, ता समय गोविन्द दुबे

---

१. मीराँ माधुरी—ब्रजरत्न दास, भूमिका, पृष्ठ ३३

२. मीराँबाई (जीवन-चरित्र और आलोचना)—डॉ० श्रीकृष्णलाल, जीवनी खंड पृष्ठ १८

संध्याबंदन करत हुते तब व्रजवासी ने आय कें वह पत्र दीनों सो पत्र बाँचि के गोविन्द दुबे तत्काल उठे, तब मीराबाई ने बहुत समाधान कीयो, परि गोविन्द दुबे नें फिर पाछें न देखौ ।"[१]

उक्त वार्ता से ऐसा पता चलता है कि पुष्टिमार्गीय साचोरा ब्राह्मण गोविन्द दुबे मीरा के यहाँ ठहरे थे और मीरांबाई से भगवद्वार्ता करते-करते उन्हें पर्याप्त समय हो चुका था । बल्लभाचार्य जी को दुबे जी का मीरां के यहाँ अटके रहना पसंद नहीं आया इसलिए उन्होंने व्रजवासी के द्वारा जो श्लोक लिखकर भेजा उसे पढ़कर दुबे जी तत्काल मीरांबाई के यहाँ से चल दिये । मीरांबाई के समाधान करने पर भी उन्होंने फिर पीछे मुड़कर नहीं देखा ।

(२) "अथ मीरांबाई के पुरोहित रामदास, तिनको वार्ता—

सो एक दिन मीरांबाई के श्री ठाकुर जी के आगे रामदास जी कीर्तन करत हुते सो रामदास जी श्री आचार्य जी महाप्रभून के पद गावत हुते, तब मीरांबाई बोली जो दूसरो पद श्री ठाकुरजी को गावो तब रामदासजी ने कह्यो मीरांबाई सों जो अरे दारी रांड यह कौन को पद है । यह कहा तेरे खसम को मूंड़ है जो जा आज से तेरी मुहड़ौ कबहूँ न देखूंगो । तब तहाँ ते सब कुटुम्ब को लै कें रामदासजी उठि चले तब मीरांबाई नें बहुतेरो कह्यो परि रामदास जी रहे नाहीं । पाछे फिर कें वाको मुख न देख्यो । ऐसें अपने प्रभून सों अनुरक्त हुते । तो वा दिन तें मीरांबाई को मुख न देख्यो, वाकी वृति छोड़ दीनी, फेर वाके गाँव के आगे होय के निकसे नाहीं । मीरांबाई ने बहुत बुलाये परि वे रामदास जी आये नाहीं । तब घर बैठे भैंट पठाई सोई फेरि दीनी और कह्यो जो रांड तेरों श्री आचार्य जो महाप्रभून ऊपर समत्व नाहीं जी हमको तेरी वृत्ति कहा करनी है ।"[२]

इस वार्ता के अनुसार मीरांबाई के पुरोहित रामदास वल्लभ-सम्प्रदाय के थे, किंतु मीरां वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित नहीं हुई थीं । वे बल्लभाचार्य को 'ठाकुर जी' नहीं मानतीं थीं इसीलिए उन्होंने रामदास जो से 'श्रीआचार्य जी महाप्रभून के पद' गाने के बाद ठाकुर जी का पद गाने के लिए कहा । रामदास जी पर इस साधारण सी घटना की जो प्रतिक्रिया हुई और उन्होंने जो उद्गार व्यक्त किये, वे साम्प्रदायिक कट्टरता और संकीर्ण मनोवृत्ति के परिचायक हैं । यह प्रसंग मीरां की उदारता, महानता और

---

१. चौरासी वैष्णवन की वार्ता, डाकोर, संवत् १९६०, प्रसंग २, पृष्ठ १२६–१२७

२. चौरासी वैष्णवन की वार्ता, डाकोर, संवत् १९६०, पृष्ठ १६१-१६२

सौजन्य के साथ-साथ वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायियों की अशिष्टता का भी परिचय देता है। जो हो। इतना तो निश्चित है कि 'आचार्य महाप्रभून' के अनन्य अनुयायियों ने मीरां को पुष्टि मार्ग पर लाने की भरसक कोशिशें की थीं, किंतु मीरां वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित नहीं हुईं। रामदास जी का आक्रोश-पूर्ण अशिष्ट ब्यहार वल्लभ-सम्प्रदाय वालों की असफलता की प्रतिक्रिया भी मानी जानी चाहिए। हमारे मत के समर्थन में चौरासी वैष्णवन की वार्ता का तीसरा प्रसंग भी यहाँ उद्धृत करते हैं :--

(३) "अथ कृष्णदास अधिकारी, तिनकी वार्ता--

सो वे कृष्णदास शूद्र एक बेर द्वारका गये हुते सो श्री रणछोर जी के दर्शन करिकें तहाँ ते चले सो आपन मीरांबाई के गाँब आये सो वे कृष्णदास मीरांबाई के घर गयै तहाँ हरिवंश, व्यास आदि वैष्णव हुते सो काहु कों आयै आठ दिन, काहु को आयै दश दिन, काहु को आयै पंद्रह दिन भये हुते तिनको विदा न भई हूती और कृष्णदास नें तौ आवत ही कही जो हूं तो चलूँगौ। तब मीरांबाई ने कही जो बैठो तब कितनेक मोहर श्रीनाथ जी को देन लागी सो कृष्णदास ने न लीनी और कह्यौ जो तूं श्री आचार्य जी महाप्रभून की सेवक नाहीं होत ताते तेरी भेंट हम हाथ ते छूवेंगे नाही, सो ऐसे कहिकें कृष्णदास उहाँ से उठि चले।"[1]

उक्त वार्ता से यह ज्ञात होता है कि मीरां वैष्णव भक्तों का बड़ा आदर और आतिथ्य-सत्कार करती थीं। भक्त-विभूति के नाते उनकी कीर्ति फैल चुकी थी इसलिए हरिवंश, व्यास आदि वैष्णव दस-दस पंद्रह-पंद्रह दिन तक उनके यहाँ ठहरते थे किन्तु 'आचार्य महाप्रभून' के सेवक कृष्णदास अधिकारी उनके यहाँ आते ही चल दिये। श्रीनाथ जी के लिए मीरां ने जो भेंट दी, वह भी उन्होंने हाथ से नहीं छुई। इसका कारण था कि मीरां 'श्री आचार्य जी महाप्रभून की सेवक नाहीं होती थी।'

इस वार्ता का प्रसंग देते हुए डॉ० रामकुमार वर्मा ने हिंदी-साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास में चौरासी-वैष्णवन की वार्ता से दो निष्कर्ष निकाले हैं :--

(१) मीरांबाई पुष्टिमार्ग में नहीं थीं, इसलिए पुष्टि-मार्ग के संत जब मीरांबाई से प्रायः मिलते थे, तब वे मीरांबाई का अपमान करते थे।

(२) मीरांबाई द्वारिका में भी थीं क्योंकि कृष्णदास अधिकारी द्वारिका में उनसे मिले थे।[2]

चौरासी वैष्णवन की वार्ता का सूक्ष्म अनुशीलन करने से ऐसा पता चलता है कि मीरां से कृष्णदास अधिकारी की भेंट द्वारका में नहीं, मेड़ता में हुई थी, क्योंकि

---

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास--डॉ० रामकुमार वर्मा, तृतीय संस्करण, सन् १९५४, पृष्ठ ५७३

२. वही, पृष्ठ ५७४

वार्ता में यह स्पष्ट रूप से लिखा हुआ है कि 'कृष्णदास शूद्र एक बेर द्वारका गये हुते सो श्री रणछोर जी के दर्शन करिकें तहाँ ते चले, सो आपन मीरांबाई के गाँव आये' अर्थात् द्वारका में श्री रणछोड़ जी के दर्शन करके कृष्णदास अधिकारी वहाँ से चले और मीरांबाई के गाँव आये। द्वारिका और मीरांबाई का गाँव दो अलग-अलग स्थल हैं और मेड़ता ही मीरांबाई का गाँव कहलाता है अतः डॉ० रामकुमार वर्मा का उपरोक्त दूसरा निष्कर्ष सर्वथा असंगत है। वार्ता तथा हमारे मत से मीरां और कृष्णदास अधिकारी की भेंट द्वारका में नहीं, मेड़ता में हुई थी। बहुत सम्भव है कि यह घटना उस समय की हो जब वैधव्य के पश्चात मीरां मेवाड़ से मेड़ता लौट आई थीं।

दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता--

दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता में केवल दो स्थलों पर मीरां से सम्बन्धित उल्लेख मिलते हैं। वे इस प्रकार हैं :—

(१) "श्री गुंसाई जी के सेवक हरिदास बनिया, तिनकी वार्ता--

सो वे हरिदास बनिया मेरता गाम में रहते। वा गाम में एक ही वैष्णव हते और वा गाम को राजा जैमल हतो सो स्मार्त धर्म में हतो और एकादशी पहली करते हते। और जैमल राजा की बेन को घर हरिदास बनिया के सामे हतो। सो जब श्री गुंसाई जी हरिदास के घर पधारे हते तब जैमल की बेन कूं बारी में सूं श्री गुसाईं जी के साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम के दर्शन भये। जब जैमल की बेन ने पत्र द्वारा श्री गुंसाई जी को विनती लिखके पत्र द्वारा सेवक भई काहे तें वे पड़दा में से बाहर नाहीं निकसते जासूं पत्र द्वारा सेवक भये।"[1]

उक्त वार्ता से ऐसा पता चलता है कि जब 'श्री गुँसाई जी' "जैमल" राजा के ग्राम मेड़ता में हरिदास बनिया के यहाँ पधारे थे तब 'जैमल की बेन' पत्र द्वारा 'गुंसाई जी' की सेविका बन गई थीं। पत्र द्वारा सेविका बनने का कारण वार्ताकार ने यह बताया है कि तथाकथित जयमल की बहिन पर्दे से बाहर नहीं निकलती थीं, इसलिए वे पत्र द्वारा गोसांई जी की सेविका बनीं। जयमल की इस बहिन का घर हरिदास बनिया के घर के सामने था।

इतिहास द्वारा हमें यह ज्ञात होता है कि जयमल की कोई सगी बहिन नहीं थी। केवल मीरां ही उनकी एकमात्र चचेरी बहिन थीं। मीरां ने लोक-लाज और कुल-मर्यादा का परित्याग कर दिया था और वे विमुक्त भाव से संत-समाज में भजन

---

१. २५२ वैष्णवन की वार्ता-वैष्णव रामदास जी गुरु श्री गोकुलदासजी ने छपवाया, रणछोड़ पुस्तकालय, डाकोर, संवत् १९६०, पृष्ठ ६४-६५

पूजन, गायन और नृत्य में सम्मिलित होती थीं। चौरासी वैष्णवन की वार्ता से भी यह पता चलता है कि मीरां 'आचार्य जी महाप्रभून' के शिष्य रामदास, गोविंद दुबे, कृष्णदास अधिकारी, तथा हितहरिवंश और हरिराम व्यास आदि से भगवद्चर्चा करती थीं। सभी अंतरंग और बहिरंग साक्ष्य इस बात का समर्थन करते हैं कि मीरां कभी पर्दे में नहीं रहीं और न वे कभी गुसाईं विट्ठलनाथ जी की सेविका हुईं। इस वार्ता में वर्णित जयमल की 'बेन' मीरां नहीं हो सकतीं। जहाँ तक मीरां का संबंध है—यह वार्ता पूर्णतः अप्रामाणिक है।

(२) "श्री गुंसाई जी के सेवक अजबकुँवर बाई, तिनकी वार्ता—

सो वे अजबकुंवर बाई मेड़ते में रहती हती मीरांबाई की देवरानी हती और उहाँ एक दिन श्री गुंसाई जी पधारे जब अजबकुँवर बाई कूं साक्षात पूर्ण पुरुषोत्तम के दर्शन भए। जब अजबकुंवर श्री गुंसाई जी की सेवक भई और अष्ट प्रहर श्री गुंसाई जी के चरणारविंद में चित्त लाग्यो रहै जब श्री गुंसाई जी पधारने लगे तब अजबकुँवर बाई कुं मूर्छा आई तब श्री गुंसाई जी बाकी ऐसी दशा देख के चार दिन उहाँ बिराजे और अजबकुँवर बाई कूं पादुका जी पधराय दीये तब अजबकुंवर बाई शुद्ध पुष्टिमार्ग की रीति प्रमाणें सेवा करन लागी और श्रीनाथ जी अजबकुंवर बाई के संग नित्य चोपर खेलते। अजबकुंवर बाई की भक्ति से प्रसन्न हो श्रीनाथ जी ने सदा मेवाड़ में रहने का वचन दिया जिसके कारण वे अब तक मेवाड़ में विराजे हैं।"[१]

इस वार्ता में मीरांबाई की देवरानी अजबकुँवर बाई का उल्लेख किया गया है, किन्तु इतिहास में हमें मीरांबाई की किसी भी देवरानी का नाम अजबकुँवर बाई नहीं मिलता। श्री महावीर सिंह जी गहलौत का मत है कि मीरां की एक देवरानी 'अजब-कुँवर बाई' गुंसाई विट्ठलनाथ जी की सेवक थीं। गुंसाई जी ने उसे मेवाड़ में जाकर दीक्षा दी थी। गुंसाई जी की प्रचार यात्राएँ संवत् १६०० वि० से आरम्भ हुई थीं। इससे हम कह सकते हैं कि मीरां की देवरानी अजबकुँवर बाई, मीरां के मेड़ता-निवास के समय गुंसाई जी की भक्त नहीं हुई होगी। यह अजबकुँवर बाई, सम्भव है राव सांगा की पुत्री रामकुंवर बाई हो, जो मीरां के देवर विक्रमादित्य की रानी थी।[२]

वार्ता साहित्य अपने वर्तमान रूप में अत्यधिक संदिग्ध है, अतः चौरासी वैष्णवन की वार्ता ओर दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ताओं में जो तथ्य उपलब्ध होते हैं उन्हें देखते हुए हमारा यह मत है कि मीरां न तो वल्लभाचार्य की शिष्या थीं न गोस्वामी

---

१. दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, डाकोर, संवत् १९६०, पृष्ठ १०६-१०७।
२. मीराँ : जीवनी और काव्य—महावीरसिंह गहलौत, जीवन-वृत्त, पृष्ठ २५

विट्ठलनाथ की । दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता वाली 'जैमलराजा की बेन' भी मीरां नहीं थी ।

तुकराम जी—

महाराष्ट्र के संत-शिरोमणि महात्मा तुकाराम जी का जन्म पूना के निकट इन्द्रायिणी के तट पर देहू ग्राम में संवत् १६६५ में हुआ था । इनके पिता का नाम बोलोजी और माता का नाम कनकाबाई था । तेरह वर्ष की अवस्था में इनका विवाह रखुमाई से हुआ किंतु उन्हें दमे की बीमारी थी, इसलिए इनके पिता ने इनका दूसरा विवाह जिजाबाई से कर दिया था । पारिवारिक संघर्ष और विपत्ति के कारण ये इक्कीस वर्ष की अवस्था में पूर्ण विरक्त हो गये । महाराष्ट्र में उनके जीवन के संबंध में अनेक आश्चर्यजनक दन्तकथायें फैली हुई हैं किंतु इतिहास से इतना अवश्य पता चलता है कि क्षत्रपति शिवाजी, श्री समर्थ रामदास और तुकराम जी समकालीन थे । ये गृहस्थ संत थे । इनके अंतकाल के समय इनके दो पुत्र महादेव और विठोबा तथा तीन कन्या काशी, भागीरथी और गंगा उपस्थित थे । चैत्र कृष्ण २ संवत् १७६० को इनका देहावसान हुआ । श्री ब्रजरत्नदास जी ने इन्हें चैतन्य महाप्रभु का शिष्य माना है । उनका कहना है, इन्हें स्वप्न में महाप्रभु कृष्ण-चैतन्य ने 'रामकृष्ण-हरि' मंत्र की दीक्षा दी ।[1]

तुकराम जी के अभंग महाराष्ट्र में अत्यधिक लोकप्रिय हैं । उनके एक अभंग में अनेक पौराणिक और ऐतिहासिक भक्तों के साथ मीरांबाई का भी उल्लेख बड़े सम्मान से किया गया है । मूल मराठी अभंग इस प्रकार है :—

पंढरिये माझें माहेर साजणी । ओवियें कांडणीं गाऊँ गीत ॥१॥ ध्रु ॥
राही रखुमाई सत्यभामा माता । पांडुरंग पिता माहियेर ।
उद्धव अक्रूर व्यास आंबऋषि । भाई नारदासी गौरवीन ॥२॥
गरुड बंधु लडिवाळ पुंडलीक । यांचे कवतुक वाटे मज ॥३॥
मज बहु गोत संत आणि महंत । नित्य आठवीत ओवियेसी ॥४॥
निवृत्ति ज्ञानदेव सोपान चांगया । जिवलगा माझिया नामदेवा ॥५॥
नागोजन मित्रा नरहरि सोनारा । रोहिदास कबिरा सोईरिया ॥६॥
परसो भागवता सुरदास सांवता । गाईन नेणतां सकळांसी ॥७॥
चोखामेला संत जिवाचे सोइरे । न पडे विसरे यांचा घड़ी ॥८॥
जीवींच्या जीवना एका जनार्दना । पाटका कान्हया मिराबाई ॥९॥
आणीक ही संत महानुभाव मुनि । सकळां चरणीं जीव माझा ॥१०॥

---

१. मीरां-माधुरी—ब्रजरत्नदास, भूमिका, पृष्ठ ३८

आनंदे ओविया गाईन मी त्यांसी । जाती पंढरीसी वारकरी ॥११॥
तुका म्हणे माझा बलिया जाप माया । हर्षे नांदों सये धराचारी ॥१२॥[1]

तुकाराम जी ने भी मीरां के प्रति पूज्य बुद्धि से श्रद्धा व्यक्त की है और उन्हें श्रेष्ठ भक्तों में परिगणित किया है ।

दादूपंथी राघवदास और चत्रदास--

राघवदास जी पीपावंशी चागल गोत्र के वैष्णव क्षत्रिय थे, किंतु बाद में ये दादूपंथी प्रह्लाददास जी के शिष्य हो गये और उन्हीं के आदेश से इन्होंने 'भक्तमाल' को रचना की । 'भक्तमाल' की समाप्ति आषाढ़ शुक्ल ३, संवत् १७१७ को हुई । इनके भक्तमाल में नाभादास जी के भक्तमाल की ही तरह अनेक भक्तों का उल्लेख किया गया है । उसमें मीरांबाई के संबंध में निम्नलिखित छप्पय मिलता है :—

मीरांबाई को बरनन

मूल छपै

लोक बेद कुल जगत सुष मुचि मीरां श्री हरि भजे ।
गोपिन की सी प्रीति रीति कलिकालि दिषाई ।
रसिकराई जस गाई निडर रही संत सभाई ॥
राजैं रोस उपाइ जहर कौ प्यालौ दीन्हौं ।
रोम षुस्यौ नहीं येक मांनि चरनामृत लीन्हौं ॥
नौबति भक्ति घुराइ कैं पति सो गिरधर ही सजे ।
लोकबेद कुल जगत सुष मुचि मीरां श्री हरि भजे ॥२१४॥

मनहर

रामजी की भक्ति न भावै काहू दुष्टन कौं,
मीरां भई वैष्णु जहर दीन्हौं जानिकैं ।
रानौं कहै मारै लाज मारि डारौं याहि आज,
आप करै कीरतन संत बैठे आनिकैं ॥
प्रेम मघि पीयो बिस पद गाये अहनिस भै न,
ब्यापौं नैंकहू न लीन्हौं दुष मांनिकैं ।
राघौ कहै रानों मुषि बैरी सब राजलोक,
मीरांबाई मगन भरोसौ चक्रपानिकैं ॥२१५॥

---

१. श्री तुकाराम बाबाच्या अभंगाची गाथा, बम्बई सरकार प्रकाशन, पृष्ठ २७०–७१, अभंग-क्रमांक १५६८

राघवदास जी के उक्त छप्पय में भी प्रायः उन्हीं बातों का उल्लेख किया गया है, जो हमें नाभादास जी के छप्पय में मिलती हैं ।

संवत् १८५७ में राघवदास जी के भक्तमाल पर दादू-पंथी चत्रदास जी ने टीका लिखी । भक्तमाल की इस टीका में उन्होंने लिखा है कि जिस प्रकार नारायणदास (नाभाजी) के भक्तमाल पर प्रियादास ने टीका लिखी उसी प्रकार राघोदास की कृति पर मैंने भी टीका लिखी है । टीका इस प्रकार है :—

टीका, इंदव छंद

माता पिता जनमीं पुर मेड़त प्रीति लगी हरि पीहर मांहीं ।
रांनहि जाइ सगाइ करावत ब्याहन आवत भावत नांहीं ॥
फेर फिरावत नाम सुहावत यौं मन में पति साथि न जांहीं ।
देन लगे पित मात आभूषण नैंन भरे जल मोहि न चांहीं ॥२७०॥
द्यौ गिरिधारिहि लाल निहारन बेस अभूषन बेग उठावौ ।
मातपितास सुता अति है प्रिय रोय दये प्रभु लेहु लड़ावौ ॥
पाइ महासुष देषत है मुख डोलहि मैं बयठाइ चलावौ ।
धांमहि पौंचत मात पुजावत सास करावत गाठि जुरावौ ॥२७१॥
मात पुजाइ लइ सुत पैं पुनि पूजि बहू अब सास कही है ।
सीस नवै मम श्री गिरिधारिहि आंन न मानत नाथ वही है ॥
होत सुहागणि याहिक पूजत टेक तजौ सिर नाइ मही है ।
येक नवै हरि और न नावत मांनत क्यूं नहिं बुद्धि बही है ॥२७२॥
होइ उदास मेरै उर सास गई पति पास बहू नहिं आछी ।
मानत नैं अब फेरि गिनै कब केति कहो फिरि आतन पाछी ॥
रोस कर्‌यौ नृप ठौर जुदी दई रीझि लई वह नाचन काछी ।
नृत्य करै उर लाल धरै सतसंग बरै सबेहे जन साछी ॥२७३॥
आई नणंद कहे सुनि भाभहि साधन संग निवारि भजीजे ।
लाजत है नृप तास बड़ी कुल लाजत ह्वै यप बेगि तजीजे ॥
संत हमारहि जीवन मांनस तारत ह्वै कुल सत्य मनीजे ।
जाई कही तब झैर पठावत लै चरनांमृत पांन करीजे ॥२७४॥
सीस नबाइर पीत भई बिष संतन छोड़न है दुष भारी ।
भूप कहे भृति चौकस राषहुँ आइकनै जन बोलत मारी ॥
स्यांमहि सौं बतलात सुनी तब जाइ कही अबहे सत यारी ।
सो सुनिकैं तरवारि लई कर दौरि गयौ पट बोल निहारी ॥२७५॥

बोलत हौस गयो कत मांनस देहु लषाइ न मारत तोही।
येह परे कछु नांहि डरे चितलेत हरे किन बाहुत माही ॥
भूप लजाइ रह्यौ जड़ होइर ऊठि गयो तजिकैं उह छोही।
देषि प्रताप न मानत आप रहै उर ताप करै हरि बोही ॥२७६॥
संत भेष कर्यौ विषई नर आइ कही मम संग करीजे।
लाल दीई यह आइस जावहु मानि लई अब भोजन लीजे ॥
सेज बिछावत साध सभा बिचि टेरि लियौ तब कारिज कीजे।
देषित ही मुष सेत भयो पग जाइ नयौ जब सिष्य मनीजे ॥२७७॥
भुप अकब्बर रूप सुन्यौ अति तांनहिसेन लीये चलि आयौ।
देषि कुस्याल भयो छबि लालहि एक सबद बनाइ सुनायौ ॥
जा वृज जीउ मिली पन हौ तिय देषतनैं सुष ताही छुड़ायौ।
कुंजन कुंज निहारि बिहारिहि आइरूदेस बनैं बन गायौ ॥ २७८॥
भूपति बुद्धि असुद्ध लषी आय द्वारावति बसि लाल लड़ाये।
पेटि जलँधर होत भयौ नृप जानि महादुष बिप्र षनाये ॥
लैकरि आवहु मोहि जिवावहु बेगि गये समाचार सुनाये।
होन बिदा चलि ठाकुर पैं मुष मांहिलई तुछ चीर रहाये ॥२७९॥[1]

वस्तु-वर्णन की दृष्टि से चत्रदास जी और प्रियादास जी की टीकायें प्रायः एक सी ही हैं।

नागरीदास :—

नागरीदास जी का जन्म पौष कृष्ण १२ संवत् १७५६ में राजस्थान के उसी राठौड़ वंश में हुआ था, जिसमें मीरांबाई पैदा हुई थीं। कहते हैं कि इनका असली नाम सामन्त सिंह था। छोटे भाई बहादुर सिंह द्वारा राज्य छीन लिये जाने पर ये विरक्त होकर मथुरा चले आये और वहीं ब्रह्म-सम्बन्ध कर सामन्त सिंह से नागरीदास बन गये। ये बड़े वीर ओर साहसी थे तथा संस्कृत, फारसी और ब्रजभाषा के अच्छे ज्ञाता थे। इनकी 'पद प्रसंग माला' में ३६ भक्तों की भावुकतापूर्ण जीवनियाँ मिलती है, जिसमें मीरांबाई का भी उल्लेख सातवीं संख्या पर इस प्रकार किया गया है :—

"मेडतैं मीरांबाई तिनकौं राना के छोटे भाई सौं ब्याही, यह जग प्रसिद्ध हैं ही' सो कितनेक दिन उपरान्त काहू समैं राना के वा भाई को देहान्त भयो, अरु राना हुते

१. राघवदास कृत भक्तमाल—हस्तलिखित पत्र ६३-६५ तक, टीका चतुरदास कृत

ाई सौं दुष पाय रहे ही है, ये वैष्णवनिको सतसंग करिते यातें, वा समें राना
ाो यह औसर हैं तुम भरता के संग सती होहु तब मीराबाई भगवत रंग
हैं, त्योंही लगे रहे या समें कछू षेद मानी नाहीं, अरुया बात के उत्तर कौं
-पद नयो बनाय राना कौं लिखि पठायो पद बहुत प्रसिद्ध भयो ।। सो वह

मीरा के रंग लभ्यो हरि को और रंग सब अटम परी ।
गिरधर गास्यां सती न होस्यां मन मोह्यो घन नामी ।
जेठ बहू को नातो नहीं राणा जो थे सेवक म्हे स्वामी ।।
चूड़ो दो वगे तिलक जुमाला सील वर्तं सिंगार ।
और सिंगार भावै नहीं राणा जो यौं गुर ग्यान हमार ।।
कोई निंदो कोई विंदो गुण गोविन्द रा गास्यां ।
जिण मारग वे संत वहूँता तिण मारग म्हे जास्यां ।।
चोरो करां न जींव संतांवां कांई करसी म्हारो कोई ।
हसती चढ़ि गधैं नहीं चडां यातो बात न होई ।।
राज करंता नरक पड़ेसो भोगीड़ा जम कै लीया ।
भगत करंता मुक्त पहूँता जोग करंता जीया ।
गिरधर धणी कटूम्बो गिरधर मात पिता सुत भाई ।
थे थांहरै म्हे म्हां म्हारे हो राणा जी, यौं कहैं मीराँबाई ।।

ा पद प्रसंग :--

मीरांबाई सौ राना बहौत दुष पार्यं रहैं, राना के घर की रीततैं इनके भिन्यरीत
ावत सम्बन्ध सत्यसंग बिसेस करैं देह सम्बन्ध को नातो ब्योहार कछु न मानैं
ाहुत समुझाय रह्यो, निदान एक विश की प्यालो उनकौं पठियो कह्यो चरनामृत
म लेकैं दीजियो, उनको प्रण है चरणामृत के नाम तें पीही जाँयगे, सो अैसैं ही
जान बूझ पीयौ, राना तो इनके मरिबे की राह देखत रह्यो, अरु यह झाँझ
संग लैकैं परम रंग सौ एक नयो पद बनाय ठाकुर आगैं गाँवत भये, पद बहुत
भयो, सो वह यह पद--

रानैं जू विष दीनौं हम जानी ।
जान बूझ चरनामृत सुनि पियो नहीं बौरी भौरानी ।।
कंचन कसत कसौटी जैसैं तन रह्यो बारह बानी ।
आपुन गिरधर न्याय कियो वह छान्यौं दूधरू पानी ।।
राना कोटक वारौं जिहि पर हौं तिहि हाथ बिमनी ।
मीरां प्रभु गिरधर नागर कैं चरन कमल लपटानी ।।

पुन: अन्य पद प्रसंग--

राना को छोटे भाई मीरां को देह सम्बन्ध को भर्ता हो, सो ताको परलोक भयो ता पीछैं मीरांबाई गंगादिक तीरथ करिकैं अरु श्री वृन्दावन हू आये तहाँ जीऊ गुंसाई जू कौ प्रण स्त्री के न देखिबे को छुटाय सब सौं गुरुगोविन्दवत् सनमान सत्संग करि द्वारिका कौं चले, ऊहा वास करिबे कै लिये तहाँ एक मारग में नयो पद बनायो, बहुत प्रसिद्ध भया, वह यह पद—

राय श्री रनछोड़ दीज्यो द्वारिका को वास ।
संख चक्र गदा पद्म दरसै मिटै जम की त्रास ॥
सकल तीरथ गोमती के रहत नित निवास ।
संख झालर झांझ बाजैं सदा सुख की रास ॥
तज्यो देसरू बेस हू तजि तज्यो राना राज ॥
दास मीरा सरन आवत तुम्हें अब सब लाज ॥३।

पुन: प्रसंग—

सो या भाँति मनोरथ करत यह पद गावत द्वारिका पहुँचे, तहाँ कोई दिन रहे ता पीछैं मीराबाई के संग प्रौहितादिक जे राना के लोक हे, तिन कह्यो अब बहुत दिन भये हैं अब देस कौं चलो राना की आज्ञा है । ऐसे द्वैं तीन दिन तक कह्यो, फिर मीराबाई परि धरनां कियौ, तब मीराबाई ठाकुर श्री रनछोड़ जू सौं विदा ह्वैबे को नांवलैं मन्दिर में ही अकेले ही जाय महा आरती सहित एक नयो पद बनाय गायो, सो वह यह पद—

हरि हरिहो जन की भीर ।
द्रौपदी की लाज राखी तुम बढ़यो चीर ॥
भक्ति कारन रूप नरसिंघ धर्यो आप शरीर ।
हरिनकुस्यप मारि लीनौं धर्यो नाहिंन धीर ॥
बूड़तें गजग्राह तार्यो कियो बाहिर नीर ।
दास मीरा लाल गिरिधर दुख जहाँ तहाँ पीर ॥

सो यह पद गाये हूँ उततैं न ढरे, तब महाआरति प्रेमावेस सहित एक और पद बनाय गयो, तब ही ठाकुर आप मैं उनकों याही शरीर तैं लीन करि लीनें, देहहू न रही सो जा पद के गायें लीन भये, सो वह यह पद—

सजन सुधि ज्यौं जानैं ज्यौं लीजैं ।
तुम बिन मेरैं और न कोई कृपा रावरी कीजैं ।
द्यौस न भूख रैन नही निद्रा यह तन पल पल छीजैं ।
मीरां प्रभु गिरिधर नागर अब मिलि बिछुरनि नहीं कीजैं ।

सो ये दोऊ पद निकट द्वार कैं इनका परम चतुर वैष्णव सखीन ।
कंठ करि लीनैं, तथालिखि लीने ते प्रसिद्ध भये ।

पुनः अन्य पद प्रसंग--

मीराबाई की कई भाँति की चरचा निंदक जन राना आगैं बहुत करन लागे, तब एक समैं राना नैं अपनैं अंतःपुर की एक स्त्री कौं पठाई कह्यो कि आधी राती उपरांत जहाँ वे होय तहाँ चली जाइये, काहू की हटकी मत रहिये सौ वानैं ऐसे ही कियो, मिराबाई अटारी पर सोई-सोई जागत ही सौंहें चंद्रमा को देखि हरि प्रीतम के अंतराय को विरह सह सहतहीं उनकी भावना करि करि परी उसास लेतही इतने हीं ये जाय ठाढ़ी भई, ताकूँ मीराबाई कह्यौ, तनकेक बैठि कैं हमारो दुख सुनौ, या समैं हमकूँ तुम बड़े श्रोता मिले, सो जद्यपि वह बिजाती ही, परन्तु ज्यों कोऊ अति अधीर अनुरागी होय, ताकूँ बिजाती सजाती को ज्ञान नाहीं रहैं, वहि अपने चित की कहैं सो कहैं ही कहैं, यातैं वाके आगैं वाहि बेर एक पद बनाय बनाय कैं गावन लगी, सो पद सुनि इनकी अवस्था देखि वह आई दूती सो परम अनुराग में मूरछित ह्वै गई, इनकी ही निकटवर्ती परम वैष्णव भई, फिरि राना के अतःपुर में न गई, फिरि राना और काहू स्त्रीनिकों इनपै पाठांवैं सोई नटजाइ, अरु कहैं ज्यो उनपें ज्यो जाय हैं, सो बावरी ह्वै जात हैं, तातें हम न जांहिगी, यह बात इनकै बहुत प्रसिद्ध भई, सो पिछली रात के समै जा पद के सुनै तैं राना की सहचरी की उनमत्त दशा ह्वै गई, सो वह यह पद--

सखी मेंरी नींद नसानी हो
पिय को पंथ निहारतां सब रैन बिहानी ।
सखियनि मिलि सीख दई मन एक न मानी ।
बिन देखैं कल ना परै जिय ऐसी ठानी ।
अंग छीन व्याकुल भई मुख पिय पिय वानी ।
अन्तर वेदन विरह की वाहि पीर न जानी ।
ज्यौं चातक घन कौं रटै मछरी बिन पानी ।
मीरां व्याकुल बिरहिनी सुधि बुधि बिसरानी ॥६॥

पद प्रसंग माला में श्री नागरीदास जी ने मीरां के जिन तथाकथित पदों के प्रसंग लिखे हैं, वे सभी पद मौखिक परम्परा से प्राप्त मीरां विषयक परवर्तीपद हैं या मीरां के मूल पदों के ब्रजभाषान्तरित रूप हैं। नागरीदासजी ने न तो मीरां के पति का नामोल्लेख किया है, न पिता का, न मीरां का जन्म संवत् ही लिखा है। उनके सभी विवरण मौखिक कथा-प्रसंगों पर आधारित जान पड़ते हैं। मीरां की जीव गोसाई से भेंट का प्रसंग देकर उन्होंने मीरां को जीवगोसाई की समसामयिक माना है।

पद-प्रसंग-माला में उन्होंने जिस प्रथम पद का उल्लेख किया है, उससे पता चलता है कि मीरां को कष्ट देने वाला उनका कोई देवर था। मीरां द्वारा विषपान, वृन्दावन और द्वारका की यात्रा के विवरण पूर्व उल्लेखानुसार ही हैं। नागरीदास जी के मत के अनुसार मीरां के संग जो पुरोहित आदि राणा के लोग थे, उन्होंने राणा की आज्ञा से मीरां को पुनः 'देस' लौट चलने के लिये कहा और 'धरना' दिया, पर मीरां श्री रणछोड़जी के मंदिर में गईं और उहमें ही लीन हो गईं। यह राणा कौन थे ? इसका भी उल्लेख नागरीदास जी ने नहीं किया।

चरणदास--

'चरणदासी सम्प्रदाय' के प्रणेता महात्मा चरणदासजी विद्वान सन्त, आत्मज्ञानी भगवद्‌भक्त और प्रेमी महात्मा थे। इनका जन्म अलवर राज्य के मेवात प्रदेश के अन्तर्गत डेहरा ग्राम में भादों शुक्ल तीज संवत् १७६० में हुआ था। इनके पिता का नाम मुरलीधर ढूसर बनिया बताय जाता है, जिनकी मृत्यु संवत् १७६७ में हुई थी। पिता की मृत्यु के बाद ये अपने नाना के घर दिल्ली चले आये और संवत १७७९ में बाबा सुखदेवदास के शिष्य हो गये। संवत् १७८१ से इन्होंने ग्रन्थ-रचना शुरू की और ब्रज-चरित्र, अष्टांग योग-वर्णन, भक्ति-पदार्थ-वर्णन, ब्रह्मज्ञानसागर, धर्म-जहाज, ज्ञान-स्वरोदय-शब्द और भक्ति-सागर तथा सहस्रों स्फुट पदों का प्रणयन किया। अगहन शुक्ल चौथ, संवत् १८३९ में इन्होंने योगबल से दिल्ली में ही समाधि ली।

इन्होंने एक संग्रह ग्रंथ 'शबद' में भक्त का अंग शीर्षकान्तर्गत पौराणिक और ऐतिहासिक भक्तों के साथ मीरां का भी सादर नामोल्लेख किया है। पद इस प्रकार है :—

'साधो सोई जन सूर जो खेत में मंड रहै, भक्ति मैदान में रहे ठाढ़ा।
सकल लज्जा तजै महानिरभै गजै, पैज निस्सांन जिन आय गाड़ा॥
भए बहुबीर गम्भीर जे धरि मत सबन को जस कहत ग्रंथ होई।
तिन विषै कछू इक नाम बरनन करूं सुनौ ही सन्त दे चित्त सोई॥

इस दोहे में कोई नवीन तथ्य नहीं है। राणा द्वारा मीरां को दिये गये विष की कथा बहुत पुरानी है, और मीरां के मूल पद[1] में भी इसका उल्लेख है।

नन्दराम

नन्दराम जी के जीवन और काव्य के विषय में विस्तृत जानकारी उपलब्ध नहीं है। काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट जिल्द १ में खण्डेलवाल बलराम के पुत्र अंबावती निवासी एक कृष्णोपासक भक्त का उल्लेख मिलता है, जिसने आमेर में एक पचीसी लिखी थी। पचीसी की भाषा से मिलती जुलती 'बारहमासा' की भाषा को देखकर ब्रजरत्नदास जी ने ब्राह्मण के बेटा नन्द राम को इस मीरां विषयक रचना को मीराँ-माधुरी में संकलित कर लिया है—

बारह मासा

म्हाने सुरत दिखावो, बेगा थे आवो, कृष्ण मुरार जी ॥टेक॥
प्रथम महीनो चैत शारदा, गणपत देव मनाऊँ।
बारामास बणाय बुद्धि से, तब वृजराज लड़ाऊँ ॥
कृपा करो थे मात शारदा, मन इच्छा फल पाऊँ।
मारवाड़ गढ़ मेड़तो, कमधज कुल राठौड़ ।
जननी मीरां भक्त कृष्ण की ब्याही गढ़चित्तौड़ ॥
श्याम म्हारी सुध ले जावो ॥ म्हाने० ॥१॥
लागत मास बैशाख साँवरा, भक्ती करूँ तिहारी।
मैं दासी थारी जनम जनम की, थे म्हारा सिरजनहारी ॥
गोतम नार भीलणी गणका, त्यारी अधम उधारी।
हे वृजबासी साँवरा, अरज करूँ कर जोड़ ।
उग्रसेन-सुत-मारण-तारण भक्त बछल सिरमौड़ ॥
मेड़तणी महिमा गावो ॥ म्हाने० ॥२॥
जेठ मास सुध लगन तात मेरी करी ब्याह की त्यारी।
गढ़ चित्तौड़ राव सिसोद्यो, भूप-शिरोमणि भारी ॥
जोसी दियो खिनाय तात मेरे रच्यो ब्याह बलकारी।
सेस मेवाड़ो गढ़पती, राणो सुघड़ सुजान ।
रच्यों सुयंबर तात बात मेरी, सुनो कृष्ण दे कान ॥
मीरां के फन्द छुड़ावो ॥ म्हाने० ॥ ३ ॥

---

१. डाकोर की हस्तलिखित प्रति, पद ४८

लागत मास आषाढ़ राव म्हाँसू करै लोभ की बात ।
सीसोद्यो भूल्यौ, फिरै सज्यो, मैं थाने समजूं भ्रात ।।
मैं न्यारी संसार से थे मोपर रखियो ख्यांत ।।
काम क्रोध मद लोभ को समद गयो भरपूर ।
मैं न्यारी संसार काम से, समझो आप हिजूर ।।
हो नहीं रस को दावो ।। म्हाने० ।।४।।
सावण सगुन मनाय कृष्ण का, मीराँ मन्दर जावे ।
प्रेम भक्ति सूं नाच कूदकर, गुण गिरिधर का गावे ।।
खबर भई रणवास में, मेंड़तणी लोग हँसावे
बात सुणी सिसोदिया, कोप कियो भरपूर ।
कुटिल नार पाळे पड़ी याने मारो तुरत जरूर ।।
जाय कर खड्ग दिखावो ।। म्हाने० ।।५।।
भादू मास राव सिसोद्या, मन में कपट उपायो ।
भरकर प्यालो जहर को उण मन्दर में धरवायो ।।
कपट माल कर ब्याल की, ऊँने खूंटी पर लटकायो ।
चरणामृत मीराँ लियो, ईमृत कियो मुरार ।
जा पर कृपा होय कृष्ण की कुण छे मारणहार ।
भक्त को बिड़द बधावो ।। म्हाने० ।।६।।
लागत मास आस्योज राव के रीस भई आति भारी ।
जहर ब्याल से बच गई वैरण, या छै, जादुगारी ।।
राव कहे सुणज्यो मेड़तणी, राखो लाज हमारी ।
सुण मेड़तणी सुन्दरी, राणो करे बयान ।
लाज तुम्हारे हाथ हमारी सुनो अरज दे कान ।।
बचन सुण ओड़ निभावो ।। म्हाने० ।।७।।
कातिक मास सास मीराँ को अपने पास बुलावे ।
सब कामण रणवास की, मीराँ ने वे समझावे ।।
बड़ाँ घराँ की नार बहू तूं मतना लोग हँसावे ।
हे रँग-मीनी गोरड़ी, कह्यौ हमारो मान ।
रैण राव सेवा करो, दिवस भजो भगवान ।।
जगत में जस फैलावो ।। म्हाने० ।।८।।
अगहन मास सास नणदल सूं, मीराँ करै बयान ।
म्हारो पति भगवान, सास मैं करूं रातदिन ध्यान ।।

भक्त उबारण असुर संधारण, वो वृजवासी कान ।
सुरपत-सुत-नाती जठर, रक्षा-करण कृपाल ।
सांतनु-सुत-नाती-रिपु यो पतनी प्रतिज्ञा पाल ॥
इसाने थें बी ध्यावो ॥ म्हाने० ॥९॥
पोष मास मोय आस साँवरा, अब तो हियो उम्यावे ।
कड़वा बोले बचन राव म्हारे, झूठो कलंक चढ़ावे ॥
कोप्यो राणो कुल छणों मने, कुल दूषणी बतावे ।
सुरपत-सुत-पतनी सखा, जलधि-सुता पतिनाथ ॥
रुद्रवेद सर अर्धकर, शीश हतन निज हाथ ।
मेवाड़े त्राण दिखावो ॥ म्हाने०॥ १०॥
लग्यो महीनो माघ साँवरा, अर्ज सुणो अविनाशी ।
चुटकी ताल बजाय नाच रही, निरत करत नित दासी ॥
राणो धायो खड्ग लेय कर, अब याने कूण बचासी ।
मारण लाग्यो रावजी, कर सूंती तलवार ॥
सौ मीराँ भगवत रची, यो इचरज भयो अपार ।
मीराँ इव सुर्ग सिधावो ॥ म्हाने० ॥११॥
फागण मास आस मीराँ की भगवत आज पुराई ।
नन्दराम ब्राह्मण का लड़का, बारामास कथ गाई ॥
सारां सिरै नग्र कर डावण, निपजै साल सवाई ।
स्वर्ग पूरी थी पासरों यहाँ थी आद्य चार ॥
सीसाद्यो समझो नहीं तो थाने ले उतरती पार ॥
मीराँ का इव गुण गावो ॥ म्हाने० ॥१२॥[१]

नन्दराम जी के 'बारह मासा' में मीराँ का जन्म-स्थान मेड़ता और पितृकुल (राठौड़-वंश) का उल्लेख है साथ ही इस बात का भी संकेत है कि मीराँ का विवाह चित्तौड़ में सीसोदिया कुल में हुआ था। विषपान, साँप आदि की कथायें सास और ननद द्वारा मीराँ को समझाने के प्रयास, तथा राणा द्वारा मीराँ को कुलक्षणी समझी जाने की कथायें परम्परागत हैं। मीराँ को मारने के लिये राणा का तलवार लेकर जाना और एक मीराँ की सौ मीरायें हो जाना भी एक कपोलकल्पित दन्तकथा है, जो पहले कहीं नहीं मिलती। इतना सब कुछ होने पर भी यह खेद की बात है कि इतने

१. मीराँ-माधुरी—व्रजरत्नदास, भूमिका, पृष्ठ ५१-५३

बड़े बारहमासे में मीराँ के माता, पिता, पति या श्वसुर-सास का कहीं भी नामोल्लेख नहीं हुआ है।

प्रीण धन—

प्रीणधन जी का कोई ऐतिहासिक इतिवृत उपलब्ध नहीं है। इस अज्ञात कवि का मीराँ विषयक निम्नलिखित पद मिलता है :—

राणा जी जेर दीयो सू में जाणी।
कुँचन लेर अगन में डारो नीकसो बारे बाणी॥
राणै जी बिष को प्यालो मेलो झेलो मीरां राणी।
बसन बीजय बेहाल करी है मो पे कछु सरीयो री॥
ललना सकीये हा हा कर छुटी पायन सीस धरीयो री।
'प्रीणधन' तन लहरीयो, मोरी लगर लार परीयो॥

प्रीणधन जी के पद में भी विष के प्याले की कथा और मीराँ की कंचनवत् अग्नि परीक्षा का उल्लेख मात्र है। यह पूरा पद मीराँ के प्रति कवि की श्रद्धा-भक्ति का द्योतक है।

बख्तावर—

रागकल्पद्रुम में अन्य पदों के साथ बख्तावर जी का निम्न पद मिलता है—

मेड़तणी रे मेलड़े रंग छायो ॥टेक॥
कोटिक भान भयो प्रकासो, हो मांनु गीरधर आयो ॥मेड़तणी०
सिव सनकादिक और ब्रह्मादिक बेद पुराण में गायो ॥ मेड़तणी रे०
'वषतावर' मीरां बड़भागण, घर बैठां हरि पायो ॥ मेड़तणी रे०

जन लछमन—

रणछोड़ जी के मंदिर में ब्राह्मणों द्वारा धरना देने पर राठौड़ वंशजा मीराँ के कृष्ण-रूप में तदाकार होने की दन्तकथा को लेकर 'जन लछमन' नामक किसी कवि ने मीराँ के बारे में यह पद लिखा है :—

'आई छुं राजा रणछोड़ शरणे थारे, आई छुं। टेक।
हितसु ब्राह्मण भेज दिया रे, लावो ने मेड़तणी बहोड़।
धरम संकट दियो ब्राह्मण, बैठी मंदिर में दौड़॥ आई०
अपणी ढिग राखि साँवरा, बिनती करू कर जोड़।
केमें पाछी जाऊँ जगत में, लागे मने मोटी खोड़।आई०
भयो प्रकाश मंदिर में भारी उगा सूरज करोड़।
ऐसा रूप देखि कृष्ण को आई मंदिर में दौड़॥

नीर खीर ज्यों मिल गया, सजनी परमानंद की ओड़
'जन लिछमन' सांचो जु जगत में धनि मीरां राठोड़।[१]

सुन्दरदास कायस्थ—

सुन्दरदास कायस्थ मथुरा निवासी थे। आठ-दस वर्ष ईस्ट इंडिया कम्पनी की सम्मति से मुर्शिदाबाद के नबाव के यहाँ दीवान के पद पर कार्य कर ये काशी चले आये और यहीं संत-संगति में समय बिताकर कृष्ण-लीला पर पद रचते रहे। भगवान कृष्ण के अतिरिक्त इन्होंने सन्त वन्दना लिखकर प्रत्येक सन्त के पदों का भी उल्लेख किया है। मीराँ के सम्बन्ध में इन्होंने लिखा है कि—

चौ०—श्रीं मीरा कों करौं प्रणाम। हरि के भक्तन में सरनाम॥
तिनको प्रेम बरनि नहि जाय। सागर तामें जात समाय॥
तिनको प्रेम मनो सागर उमड्यो। देसन देसन बादल घुमड्यो॥
चरनामृत कहि विष दियो डारि। अचै गई नहि लायो बार॥
तिन किरपातें भक्ति मैं पाऔं। संगहि संग कुंज में आऔं॥

(राग सोरठ ताल अड़ाना चौताला)
सखि मोहि लाज बैरिन भई।
चलत लाल गोपाल पिय के संग काहे न गई॥
दिवस चैन न रैन निद्रा बिरह या तन तई॥
लिखि संदेस मैं प्रान प्रिय पै काहि पठयो दई॥
कठिन छाती स्याम बिछुरत बिहरि दो किन भई।
दासि मीरा प्रान पिय पैं बारिदछिना दई॥

सुन्दरदास जी ने मीराँ के विषपान और प्रेमा-भक्ति का उल्लेख मात्र किया है, किन्तु उनके उल्लेख से किसी ऐतिहासिक विवरण की विशिष्ट उपलब्धि नहीं होती।

मैथिल द्विज कृत भक्तिमाहात्म्य चरित्रम्--

श्री ब्रजरत्नदास जी ने किसी अज्ञातनाम मैथिल द्विज कृत 'भक्ति-माहात्म्य-चरित्रम्' नामक खंडित ग्रंथ का उल्लेख मीराँ-माधुरी में किया है। उनके मत से यह ग्रंथ डेढ़ शताब्दी से अधिक प्राचीन नहीं ज्ञात होता। प्रत्येक भक्त पर संस्कृत में लिखी गई इस सर्गबद्ध रचना में मीराँ के बारे में जो अपूर्ण अंश है, उसका स्वरूप इस प्रकार है :—

१. रामरसिकावली-महाराज रघुराजसिंह, पृष्ठ ८७८

चिते गिरिधरं देवं पति कृत्वा व्यवरिच्छतं ॥६॥
जयमल्ल स्ततो मीरां सुमुहूर्ते ददौ मुदा ।
राना पुत्राय वीराय धनानि विविधानि च ॥७॥
ततः स मीरा नीत्वा स्वं भवनो चलितो भवत् ।
मीरा गिरिधरं त्यक्त्वा नमंतुँ सहतेऽस्यसा ॥८॥
प्रस्थान समये मीरा रूदंती मूर्छिता पतत् ।
पतस्तु पितरौ तस्याः समागत्येद मूचतुः ॥९॥
किमस्ति हृदये मीरे तद्दावोवनाशुवां ।
इति श्रुत्वा ब्रवीन्मीरा ससुन्मील्य विलोचने ॥१०॥
मह्यं गिरिधरं देहि नीत्वा तं यामि हर्षिता ।
नोचद द्यैव मरणं भविष्यति न संशयः ॥११॥
इति श्रुत्वा वचस्तस्याः पितरावति मोहितौ ।
ददतुस्तं गिरिधरं पुत्री तोषयतावु भौ ॥१२॥
अथ मीरा गिरिधरं शिवकायां निधायतं ।
हर्षिता प्रययौ पत्युर्गेह सैन्य समन्विता ॥१३॥
तत्र श्वश्रूः समागत्य मीरया सहचात्मज ।
ग्राम देवी समीपे तुनिनायाति प्रमोदिता ॥१४॥
पुत्रेण पूजयित्वा तां देवीं मीरामथाब्रवीत् ।
स्नुषे संपूज्य मनसा ग्राम देवी नमस्कुरु ॥१५॥
इति श्वश्रू वचः श्रुत्वामीरा प्राह कृतांजलिः ।
बिना गिरिधरं चान्यं नमस्कुर्यामहं नहि ॥१६॥
इति श्रुत्वा पुनः श्वश्रूराह सौभाग्य वर्धनं ।
भविष्यति ततस्त्वंतु न संशयः ॥१७॥
इति श्रुत्वा पुनः प्राह मीरा श्वश्रू न मे प्रतिः ।
मरिष्यति ततो नित्यं सोभाग्यं वर्धते मम् ॥१८॥
किंच मा विधवा संति ग्रामे तव कथंस्त्रियः ।
इति श्रुत्वा तदा श्वश्रूः कोपेन स्फुरिताधरा ॥१९॥
वधू पुत्रौ परित्यज्य पति संनिधिमागता ।
उवाच तं महाद्रुष्टा स्नुषानीता त्वया गृहे ॥२०॥
अद्येव न श्रृणोत्युक्तं किमेषाग्रे करिष्यति ।
अहं तु नैव वक्ष्यामि किंचिदस्यै हिताहितं ॥२१॥
इति श्रुत्वा तता राना नृपः क्रुद्धो विचारयन् ।

मारणेऽस्याः कलंक स्यात् स्त्रीवधश्चोति दारुणः ॥२२॥
तस्मात्क्वचिद्गृहे रक्ष्या भोजनाच्छादनादिभिः।
जिज्ञास्या नैव गैहेस्याः प्राधान्यस्यात्कथंचन ॥२३॥
इति निश्चित्यतां मीरां स्थापयामास मंदिरे।
क्वचित्तत्ररक्षासौ द्वारपालान् सुधार्मिकान् २४॥
मीरां गिरिधरं नित्यं पूजयन्ती पतिव्रता।
नवेद किंचिच्चरितं श्वश्रा वा श्वशुरस्यच ॥२५॥
पूजयंती गिरिधरं निर्लज्जाः साधुभिः सह।
अनभिज्ञा कुलाचारे निमग्नान्द सागरे ॥२६॥
तदारानादयः सर्व तदाचारेण दुःखिता।
कुळो कलंक भूतेयं मरिष्यति कदा पुनः ॥२७॥
एवं विचितयं तस्ते अभिरै शर्म न क्वचित्।
मीरा ननंदा चैकस्मिन् दिनेभ्योत्या ब्रवीत्यतां ॥२८॥
भ्रातृजाये, किमेवं त्वं कुलद्वय कलंकिनी।
भूत्वा गायति निर्लज्जा वैष्णवानां पुरः स्थिता ॥२९॥[1]

उक्त श्लोकों के अनुसार शुभ मुहूर्तमें जयमल्ल ने राणा के पुत्र को दहेज सहित मीरां अर्पित की। विदा के समय मीरां अपने 'गिरधर' के वियोग में मूर्च्छित हो गई। माता-पिता के पूछने पर मीरां ने 'गिरधर' को माँगा और शिविका में बैठ पति-गृह पधारीं। वहाँ सास की आज्ञा से मीरां ने ग्राम-देवता की पूजा नहीं की, अतः उनकी सास ने अपने पति से मीरां की शिकायत की राणा ने भी कुपित होकर मीरां को अलग घर में रख दिया। वहाँ लोकलाज को त्याग मीरां निर्भीक भाव से साधु-सन्तों के समक्ष नाचती-गाती थीं। उनके इस आचार से दुखी होकर उनकी ननद ने कहा-भाभी ! तुम अपने दोनों कुलों (पितृकुल और श्वसुर-कुल)को कलंकित करती हो, क्योंकि तुम वैष्णवों के समक्ष निर्लज्ज होकर गाती हो।

संस्कृत में वर्णित उक्त मीरां चरित्र बहुत कुछ नाभा जी के भक्तमाल की प्रियादास कृत टीका और दादू-पंथी राघवदास कृत भक्तमाल की चतुरदासकृत टीका से मिलता है। उक्त मीरां-चरित्र के वर्ण्य-विषय और शैली को देखते हुए ऐसा प्रतिभासित होता है कि इसके प्रणेता ने भक्तमालों की टीका के अनुरूप ही संस्कृत में 'भक्तिमाहात्म्य-चरित्रम्' के अंतर्गत् संस्कृत में भक्तमाल की रचना की है। जयमल द्वारा दहेज सहित मीरां का राणा के पुत्र को अर्पित किया जाना भी संदिग्ध है।

---

१. मीराँ-माधुरी—ब्रजरत्नदास, भूमिका, पृष्ठ ६५-६७,

(ख) मीरां का ऐतिहासिक जीवन वृत्त :—

मीरां की जीवनी के अंतरंग साधनों से उनके व्यक्तित्व और भक्तिभाव का प्रामाणिक रूप मिल जाता है, किन्तु मीरां के जन्म-काल माता-पिता, शिक्षा-दीक्षा, विवाह, वैधव्य और मृत्यु तिथि का कोई पता नहीं चलता। प्राचीन साहित्य में मीरां विषयक उल्लेखों से मीरां की मूल पदावली में प्राप्त तथ्यों की पुनरुक्ति और समर्थन के अतिरिक्त अनैतिहासिक घटनाओं और किम्बदन्तियों का विकास तो मिलता है किन्तु अपनी संदिग्ध स्थिति के कारण यह भी ऐतिहासिक शोध की अपेक्षा रखता है, अतः हमें सभी बातों को इतिहास की कसौटी पर कसना नितान्त अनिवार्य प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त मीरां की जीवनी के वहिरंग साधनों में जिन कहानियों, जीवनियों[1] लोक गीतों और चल-चित्रों की चर्चा की जाती है, वे भी कल्पना और सत्य के यौगिक मात्र हैं और उनमें मीरां की प्रवाहमुखी पदावली के अनुरूप घटना-विधानों का नियोजन किया गया है, अतः शोध की दृष्टि से वे उतना महत्व नहीं रखते। मीरां के सम्बन्ध में जो नाटक या महाकाव्य लिखे गये हैं, वे भी मीरां की जीवनी के बहिरंग साधनों के अन्तर्गत आते हैं किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से वे भी उतने प्रामाणिक नहीं हैं।

मीरां-मौलिक नाटक के प्रणेता श्री गोकुलचन्द शास्त्री सन्त ने स्वीकारा है कि "मीरा के जीवन की प्रमुख घटनाओं और उनसे सम्बद्ध व्यक्तियों का निवेश यथा सम्भव यथावत् किया है, तो भी नाटक शृंखला की टूटी हुई कड़ियों को जोड़ने के लिये यत्र-तत्र कुछ कल्पित पात्र स्टेज पर लाये गये हैं। मीरां की कुछ सखियाँ, गुसाईं, रत्ना और कतिपय अन्य व्यक्ति इस श्रेणी में आते हैं।[2]

कल्पित पात्रों का यह संयोजन कल्पित कथा-वस्तु और घटना-विधान का भी आधार है, अतः मीरां मौलिक नाटक, 'मौलिक' होते हुए भी पूर्णतः ऐतिहासिक नाटक नहीं माना जा सकता।

यही स्थिति मीरां-महाकाव्य की भी है। तेरह सर्गों के इस महाकाव्य में मीरां का प्रामाणिक इतिवृत्त नहीं पाया जाता। इसीलिये आचार्य श्री नन्ददुलारेजी बाजपेयी ने इस महाकाव्य के कथानक को ऐतिहासिक जीवनी न मानकर 'आख्यान' कहा है। उन्होंने लिखा है कि प्रसिद्ध ऐतिहासिक रमणी मीरांबाई का आख्यान लेकर यह काव्य-रचना की गई है। कवि ने राजस्थान की तत्कालीन सामाजिक रीतियों,

---

१. रामरसिकावली-मीराबाई का चरित्र-बांधवेश रघुराजसिंह, पृष्ठ ८६१—८७९

२. मीरा (मौलिक नाटक)-गोकुलचन्द शास्त्री सन्त, दो-चार शब्द, पृष्ठ '?'

रूढ़ियों और प्रथाओं की पृष्ठभूमि पर मीरां का पारिवारिक जीवन चित्रित किया है और उसे उन समस्त अवरोधों के बीच एक मनस्विनी नारी का व्यक्तित्व प्रदान किया है ।"[1] इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'मीरां' महाकाव्य में भी मीरां का ऐतिहासिक विवरण पूर्णतः उपलब्ध नहीं है ।

मीरां-पदावली के सम्पादित संस्करणों, हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रंथों और मीरां की जीवनी-सम्बन्धी समीक्षात्मक पुस्तकों में भी आज तक मीरां के प्रचलित पदों, भक्तों के उल्लेख, वार्ता साहित्य और इतिहासकारों के तर्क-वितर्कों को लेकर 'मीरां' की जीवनी लिखी गई है । प्रत्येक सम्पादक और लेखक ने अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार प्राप्त प्रमाणों के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकाले हैं, जिनमें से कुछ तो भ्रमात्मक हैं, कुछ विवादास्पद, अतः मीरा का ऐतिहासिक जीवन-वृत्त तत्सम्बन्धी सम्पूर्ण उपलब्ध सामग्री का अनुशीलन, तुलनात्मक विवेचन तथा तर्क-सम्मत साधार निष्कर्षों की अपेक्षा रखता है ।

मीरां का व्यक्तित्व :—

राजस्थान के इतिहास में जहाँ देश-प्रेम, त्याग, शौर्य और बलिदान की पावन भावनाओं तथा जातीय गौरव की आन, बान और शान के लिये आत्मोत्सर्ग करने वाले बाप्पारावल, राणा सांगा, जयमल, पुत्तां, राव जोधाजी, मालदेव आदि वीरों का सगर्व उल्लेख किया जाता है तथा सतीत्व की रक्षा के लिये प्राणों की आहुति देने वाली पद्मिनी जैसी वीरांगनाओं के नाम स्वर्णाक्षरों में लिखे जाते हैं, वहीं वीर श्रेष्ठ रत्नसिंह की पुत्री, तलवार के धनी भक्त जयमल की चचेरी बहन और हिन्दुआकुल सूर्य राणा सांगा की पुत्र बधू 'मीरां' का नाम भी बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ लिया जाता है । राजस्थान के इतिहास में तीर, तलवार और मारू बाजों के गगन-भेदी उद्घोष के बीच मीरां के घुँघरुओं का मृदुल स्वर, उनकी करताल और इकतारे की झंकार तथा पुकार-साकार वेदना से ओतप्रोत कोमल कान्त पदों का मधुर संगीत सर्वथा अभूत पूर्व है, अविस्मरणीय है । लोक-लाज और कुल-मर्यादा को त्यागकर साधु-सन्तों के बीच कृष्ण के समक्ष नृत्य करने वाली भाव-विदग्धा मीरां का व्यक्तित्व वास्तव में अनूठा और अद्वितीय है । 'क्षात्र-धर्म' को छोड़ भक्ति-पथ-गामिनी मीरां अपनी अनुभूति की तीव्रता, प्रेम की तन्मयता, अभिव्यक्ति की सरलता, और संगीत के तत्वों के सम्यक निर्वाह से चरमोत्कृष्ट भावनाओं को वाणी देकर अमर हो गई है ।

---

१. श्री परमेश्वर दिरेफ कृत 'मीरां महाकाव्य' भूमिका—आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, पृष्ठ संख्या—३

राजस्थानी कहावत 'नांव तो भीतड़ा के गीतड़ा सूं रेवे' के अनुसार मीरां के पद ही उनके कीर्ति-स्तम्भ हैं। विशुद्ध काव्य की दृष्टि से उन्हें हिन्दी तो क्या विश्व के किसी भी श्रेष्ठतम कवि या कवयित्री के समकक्ष मान्याता दी जा सकती है। उनकी लोकप्रियता ही उनके व्यक्तित्व की मोहिनी का निर्देश करती हैं, जिस पर देश, काल और परिस्थितियों का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ पाया है। अपने व्यक्तित्व और वक्तव्य के कारण ही मीरां अक्षुण्ण कीर्ति की अधिकारिणी हैं। इसी के साथ-साथ अनेक विद्वानों की मीरां सम्बन्धी जिज्ञासा भी उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व का निर्देश करती है।

"मीरां" नाम :—

स्वस्थ सन्देह और सहज जिज्ञासा अनुसन्धान का आधार है। मीरां के जीवन-वृत्त और प्रामाणिक काव्य के सम्बन्ध में विद्वानों की जिज्ञासा का कारण भी उनकी तत्सम्बन्धी शंका ही है। यही शंका शोध की जड़ है, ज्ञान-प्राप्ति की कुंजी है, रहस्योद्घाटन का प्रवेश-द्वार है और सत्य-बोध की प्रथम सीढ़ी है, किन्तु 'अति शंका' भ्रम और वितण्डवाद की जननी एवम् मत-मतान्तरों और विरोधों की सूत्रधारिणी होती है।

मीरां के जीवन और काव्य की संदिग्ध स्थिति का विवेचन तो हो चुका है और उसकी वस्तु स्थिति पर भी सप्रमाण प्रकाश डाला जा चुका है, किन्तु अनेक विद्वानों ने मीरां के जीवन और काव्य तो क्या मीरां के नाम पर भी शंका की है। फलतः मीरां के नाम को लेकर पर्याप्त तर्क-वितर्क किये गये हैं। ये तर्क-वितर्क मीरां नाम की व्युत्पत्ति, 'मीरां' शब्द का अर्थ और उसके शुद्ध रूप पर आधारित हैं, जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

सबसे पहले कबीर की तीन साखियों में 'मीरां' शब्द का उल्लेख पाया जाता है :—

(१) चौहटे च्यंतामंणि चढ़ी, हाड़ी मारत हाथि।
मीरां मुझसूं मिहर करि, इब मिलों न काहू साथि ॥[१]

(२) कबीर चात्या जाइ था, आगें मिल्या खुदाइ।
मीरां मुझसौं यौं कह्या किनि फुरमाई गाइ ॥[२]

---

१. कबीर-ग्रंथावली—संपादक डॉ० श्यामसुन्दर दास, परचा कौ अंग, पृष्ठ १४, साखी १६

२. वही, साध साषी भूत कौ अंग, पृष्ठ ५२, साखी २१

(३) हज काबै ह्वै ह्वै गया, केती बार कबीर।
मीरां मुझमें क्या खता, मुखां न बोलै पीर ॥[१]

कबीर के काव्य में प्रयुक्त 'मीरां' शब्द को देख डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने 'मीरां' शब्द की व्युत्पत्ति, उसके अर्थ और परम्परा पर शंका की और उसे फ़ारसी के 'मीर' शब्द से व्युत्पन्न माना । डॉ० बड़थ्वाल के मत से 'मीरां' ईश्वर-वाची शब्द का पर्याय और सन्तों द्वारा दिया गया उपनाम था । इसी धारणा से उन्होंने मीराबाई का अर्थ 'ईश्वर की पत्नि' लगाया और 'मीरां' को कबीर तथा रैदास से प्रभावित माना ।[२]

श्री विश्वेरनाथ रेउ ने भी डॉ० बड़थ्वाल का समर्थन किया । उन्होंने लिखा कि, "मीरां शब्द संस्कृत का नहीं है । मालूम होता है कि नागौर में मुसलमानों का अड्डा होने व मेड़ते के उसके निकट रहने से अथवा अन्य कारणों से उनका प्रभाव राजपूतों पर पड़ा होगा ।....मीरां शब्द फारसी में मीर का बहुवचन है और शाहजादों के अर्थ में प्रयुक्त होता है ।[३]"

श्री हरिनारायण जी पुरोहित का मत है कि अरबी भाषा के अक्षरी केवल रूप के अनुसार 'अम्र' बना । 'अम्र' से फ़ईल के वजन पर अमीर बना । अमीर का संकुचित रूप 'मीर' हुआ, मीर का बहुवचन और प्रतिष्ठा द्योतक मीरां शब्द बना ।[४] पुरोहित जी ने राजस्थान के वृद्ध मूल निवासियों और इतिहासवेत्ताओं से 'मीरां' नाम पर खोज कर यह धारणा बनाई कि 'मीरां' के माता-पिता सन्तान के लिये आकुल रहा करते थे । उन्होंने अजमेर शरीफ के सिद्ध मीरां शाह की मनौती करके सन्तान की कामना की, जिसके फलस्वरूप उनके यहाँ पुत्री हुई । यही पुत्री 'मीरां' कहलाई ।

महावीर सिंह जी गहलोत ने स्वामी जी की धारणा का खण्डन करते हुये लिखा कि प्रथम तो मीरां के माता-पिता के घर मीरां का जन्म उनकी युवावस्था में ही हुआ था, जिससे उनका सन्तान के लिये व्याकुल रहना संगत नहीं जान पड़ता । द्वितीय यह कि अजमेर में उन दिनों ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती का बोल बाला था ।

---

१. वही, विनती कौ अंग, पृष्ठ ८५, साखी ८५ ।
२. सरस्वती : भाग ४०, अंक ३, मीराबाई नाम—डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृष्ठ २११–१३ ।
३. सन्तवाणी पत्रिका, वर्ष १, अंक ११, पृ० २४ ।
४. वही, अंक ११, पृ० ४२ ।

मीरांशाह का प्रसिद्धि काल मीरां के जन्म के पश्चात् की बात है ।[1]

ऐतिहासिक प्रमाण से भी नरोत्तम स्वामी की धारणा असंगत सिद्ध हो जाती है, क्योंकि 'मीरां' हुसेन खंग सवार (मीरां साहब) संवत् १६०१ तक अप्रसिद्ध ही रहे। उनकी कब्र साधारण रूप में थी, पर उसकी मानता संवत् १६१८ से बढ़ी, जब स्वयं पातसाह अकबर वहाँ गया था ।'[2]

अतः भक्त शिरोमणि मीरां के जन्म और नामकरण का मीरां हुसेन खंग सवार से कोई सम्बन्ध नहीं माना जा सकता ।

गहलोत जी ने 'मीरां' नाम को व्यक्तिवाचक संज्ञा की भांति व्यवहृत माना और मीरां की समकालीन राव मालदेव की पाँचवीं पुत्री का नाम भी मीरांबाई बतलाया । साथ ही उन्होंने 'मीर' का सही अर्थ 'सागर' या 'महान' मानकर मीरां शब्द का सम्बन्ध 'मीर' से भी माना, और 'मीर' से व्युत्पन्न 'मीरासा' शब्द का अर्थ मुक्त मनवाला, कृपालु शीलवान पुरुष निकाला । अपने अनुमान से उन्होंने लिखा कि बहुत संभव तो यही जान पड़ता है कि मीरां के माता-पिता ने अपनी प्रथम सन्तान को जीवन चितामणि जानकर अपने सुखों में उसे अति उच्च पद दिया और उसके शील, गुण, नम्रता आदि को लखकर यथा गुणानुसार उसे मीर (श्रेष्ठ) ही माना और वही हमारी मीराबाई अपने नाम को भक्ति-क्षेत्र और काव्य-क्षेत्र में स्वर्णांकित करने में सफल हुई । यही सीधा-सादा रहस्य 'मीरां' नाम में निहित जान पड़ता है ।[3]

डाक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, विश्वेश्वर नाथ रेऊ, हरिनारायण जी पुरोहित, नरोत्तम स्वामी और महावीरसिंह जी गहलौत मीरां शब्द की व्युत्पत्ति फारसी के 'मीर' शब्द से ही मानते थे । इसके विरोध में दूसरा दल तैयार हुआ जिसने मीरां शब्द की खोज संस्कृत और भारतीय भाषाओं में प्रयुक्त शब्दों में की ।

डा० मंजुलाल मजूमदार ने संस्कृत भविष्य महापुराण में मीरांबाई का उल्लेख बतलाते हुये दो श्लोक उद्धृत किये :—

> मानकाशे नारी भावात् नारी देह मुपागतः ।
> मीरा नामेति विख्याता भूपते स्तनया शुभा ॥
> मा शोभा च तनौ तस्या गतिर्गज समाकिल ।
> सा मीरा च बुधै प्रोक्ता, मध्वाचार्य मते स्थिता ।[4]

---

१. मीराँ जीवनी और काव्य—महावीरसिंह गहलोत, पृ० १५

२. अजमेर—हरविलास सारडा, पृ० ५६

३. मीराँ: जीवनी और काव्य—महावीरसिंह गहलोत, पृ० १७ ।

४. संस्कृत भविष्य महापुराण, प्रतिसर्ग अध्याय २२, श्लोक ४१–४२ ।

प्राप्त प्रमाण और इतिहास के आधार पर मीरा मध्वाचार्य मतानुगामिनी नहीं थीं, अतः यह उल्लेख संस्कृत भविष्य महापुराण में होने पर भी प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

डा० गोकुल भाई पटेल ने 'गाथा सप्तमी' के आधार पर मदिरा से मइरा और मइरा से मीरा शब्द की उत्पत्ति मानी है,[1] जो केवल कल्पना मात्र है।

गुजराती के प्रसिद्ध विद्वान श्री के० का० शास्त्री ने संस्कृत शब्द मिहिर–सूर्य से मिहिरा, मिहरा, और मीरा शब्द का विकास बतलाते हुये लिखा कि मीरा शब्द का स्त्रीवाची 'आं' नामों के साथ गुजरात में खूब मिलता है। इसके उदाहरण स्वरूप उन्होंने रूपां, धनां, तेजां, शोभां, लीलां, जीपां आदि दृष्टान्त दिये, फिर उन्होंने शब्द की दूसरी उत्पत्ति भी बताई कि देशी मिरिया झोंपड़ी नाम के लिये न प्रयुक्त हुआ होगा। देशी मइहर-गांव का अगुवा> मईहर> मीअर> मीरा>मीरां। गांव के अगुवा राजा की पुत्री मीरां[2] हुई।

श्री शम्भुप्रसाद जी बहुगुणा ने शास्त्री जी के मत का खण्डन करते हुये लिखा है कि शास्त्री जी ने मइहर से जो व्युत्पत्ति दी है, वह मुझे ठीक नहीं जँचती और यदि वह ठीक भी हो तो उसका सम्बन्ध मीराँ नाम से नहीं हो सकता। मइहर शब्द का अर्थ मिहिर, मेहर दयावाला दयालु भी यद्यपि है, किन्तु वह जन्मभूमि पीहर, पितृगृह का द्योतक है। उदाहरणार्थ "बाबुल मोरा मइहर छूटी जाय" और इस दशा में स्वयं मइहर शब्द 'मातृगृहम्' व्युत्पन्न है। मातृ-गृह> माइहरं> महियर। महिअर फ्रांसीसी भाषा में मिलने वाला समुद्रवाची मेरला मेर मैडिटेरान्ने, भूमध्यसागर शब्द इस अर्थ में संस्कृत शब्द महार्णव विद्यमान है। जिसका रूप गुजराती भाषा के कवि भालण (स० १४९०–१५७०) की कादम्बरी से मिलता है। मिहिरामण मथिउ अति कोडी।

श्री एन० बी० दिवेतिया इस मिहिरामण की उत्पत्ति इस प्रकार देते हैं—

महार्णवः> महारणवु> महारावणु> मिहिरामण> महेरामण।

मुझे दिखाई देता है कि मीरा शब्द के नाम अर्थ में मिहिर-सूर्य से अधिक ठीक है। सूर्योदय के पर्वत को बाइबिल में मैरोस कहा गया है। यही हमारा सुमेरु है। मिहिर कुल नाम भी है और सूर्यवंश का द्योतक भी, सूर्यकुल से मीरा का सम्बन्ध

---

१. स्वर भार अने व्यापार–डॉ० गोकुल भाई पटेल, पृ० २१६।

२. मीरांबाई नाम–श्री के० का० शास्त्री, बुद्धिप्रकाश, अक्टूबर–दिसंबर १९३९, पृष्ठ ४२०।

था ही ।[1]

इस प्रकार बहुगुणा जी ने मीरां शब्द को मिहिरोत्पन्न माना है ।

श्री नरोतम स्वामी ने प्राकृत और अपभ्रंश के अक्षर परिवर्तन के व्याकरण सम्बन्धी नियमों के आधार पर 'मीरां' शब्द की उत्पत्ति 'वीरां' शब्द से मानी है । राजस्थानी में वीरां शब्द स्त्रीलिंग और पुत्री का पर्यायवाची है । 'वीरा' नाम की एक कवयित्री के कुछ पद महिला मृदुवाणी में मिलते हैं ।[2] पर 'वीरां' का 'मीरां' में परिवर्तन केवल कल्पना मात्र है ।

दलाल जेठालाल वाडीलाल लिखते हैं :—

प्रेम लक्षणा भक्ति थी वश कीधां करतार ।
घन घन मीराबाई ने गिरिधारी शूं प्यार ॥

उक्त दोहे को उद्धृत करने के बाद उन्होंने मीरा शब्द को मही और इरा के संयोग से बना हुआ माना और लिखा की "मीरा के जन्म के समय अलौकिक प्रकाश का बिंब दिखलाई पड़ा था, जिससे कुमारी का नाम मही इरा अर्थात् मीरा रखा गया । मही का अर्थ पृथ्वी और इरा का अर्थ तेज या प्रकाश हुआ । मीरा ने पृथ्वी पर निर्दोष प्रेम-भक्ति का प्रकाश फैलाया था और अपने पिता रत्नसिंह से प्रकट होने के कारण रत्न के प्रकाश के समान वह उज्जवल तथा निर्मल थीं ।[3]"

दलाल जी की उक्ति भावुक भक्तों की कल्पना सी लगती है । "मीरां के जन्म के समय अलौकिक प्रकाश का बिंब दिखलाई पड़ना" एक भावुकतापूर्ण कल्पना है, जो ऐतिहासिक सत्य और प्रमाण पर आधारित नहीं है, अतः मीरां शब्द की व्युत्पत्ति इससे नहीं मानी जा सकती ।

मीराँ-माधुरी के सम्पादक श्री ब्रजरत्नदास जी ने भी मीरां शब्द के स्वरूप, विकास, प्रचार और अर्थ को लेकर अनेक शब्द कोषों को छाना है । वे लिखते हैं कि-

"फारसी के कोषों में मीर शब्द 'अमीर का मुखफ़्फ़ अर्थात् छोटा रूप लिखा गया है, और अमीर का अर्थ सरदार है । मीर का बहुवचन मीरान् या मीरां होता हैं । इससे अनेक शब्द बनते हैं, जैसे मीरक=छोटा मीर, मीरजाद या मीरजा=मीर का वंशज, मीर मजलिस=सभापति; मीर आखोर=अस्तबल का दरोगा आदि । मुसलमानों में यह प्रमुख सैयदों का अल्ल भी

---

१. जनम जोगिण मीरा—शम्भुप्रसाद बहुगुणा, मीरा स्मृति ग्रन्थ, पृ० ५३–५४
२. महिला मृदुवाणी—मुन्शी देवीप्रसाद, पृ० ३९ ।
३. मीरां–माधुरी—ब्रजरत्नदास, भूमिका पृ० ११६ ।

होता है । मुगल दरबार में मीर मीरान् (मीरों का सर्दार)पदवी दी जाती थी और सम्मान के लिये एक मनुष्य को मीरान् जी कहकर सम्बोधित करते थे ।[१]

अंग्रेजी के कोषों को देखने से ज्ञात होता है कि एंग्लो- सैक्सन शब्द मेअर (एम ई आर ई) का अर्थ झील या ताल है । जर्मन तथा डच भाषाओं में मीर (एम ई ई आर); लेटिन के मेअर तथा फ्रेंच के मेर (एम ई आर) या मेअर समानार्थी हैं । इन सबका अर्थ समुद्र है । उन कोषों में यह टिप्पणी भी है कि यह शब्द संस्कृत के मरू (रेगिस्तान)या म्रि (मरना) शब्दों में से किसी से व्युत्पन्न है और इसी से मैराइन (समुद्री) तथा मार्श (दलदल) शब्द बने हैं ।

संस्कृत में मीर शब्द समुद्रवाची हैं ।संक्षिप्त विलसन डिक्शनरी में इसका अर्थ महासमुद्र लिखा है । यह पुल्लिंग है और इसकी व्युत्पत्ति मी (फेंकना, फैलाना) रक् उणादि दिया है । आप्टे के कोष में मीरः शब्द का समुद्र, सीमा, पेय तथा पर्वत का मुख्य भाग अर्थ दिये हुए है । मीरः को आकारान्त कर देने से वह स्त्रीलिंग हो जाता है और तब उसका अर्थ नदी या जल हो जाता है । मीर : के समान इरः का अर्थ क्षीर समुद्र है, और यह पुल्लिंग है,तथा इरा शब्द स्त्रीलिंग है । और इसका अर्थ पृथ्वी, सरस्वती, पेय, जल, सुरा, कश्यप की एक स्त्री आदि हैं । इरावती एक नदी का नाम भी है । इर धातु का अर्थ जाना है । मि धातु का अर्थ फेंकना, देखना, नापना, स्थापित करना आदि हैं । मी धातु का अर्थ जाना, समझना आदि हैं । मी यामि+इरा=मीरा बनता है । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मीर या मीरा शब्द संस्कृत है और इसी से यूरोपीय भाषाओं में गया है ।[२]

इस प्रकार ब्रजरत्नदास जी ने मीरां शब्द को संस्कृत शब्द प्रमाणित किया है, और मीरां का सम्बन्ध फारसी के मीर की अपेक्षा संस्कृत की मी या मि धातु से इरा के संयोग से माना है इसके अतिरिक्त मीरां शब्द की उत्पत्ति के बारे में उन्होंने कुछ और अटकलें लगाई हैं । संस्कृत से शुद्ध मीरां शब्द की उत्पत्ति के विवेचन के उपरान्त आपका अनुमान है कि "कभी कभी बड़े नाम का अंश मात्र पुकारने का नाम बन जाता है, जैसे कश्मीरा से मीरां । प्रमीला, मीला, तथा उपसर्ग प्रसंयुक्त है और मीला से मीरां बन सकता है । राजपूतों में पुरुषों का हम्मीरसिंह नाम प्राचीन काल से प्रचलित है और इस हम्मीर में मीर शब्द प्रस्तुत है, जिससे मीरा शब्द बन जाना सहज स्वाभाविक है ।"[3]

कश्मीरा से मीरा, या प्रमिला से मीरां शब्द की उत्पत्ति अटकल पच्चू बातें हैं ।

---

१. मीरां-माधुरी-ब्रजरत्नदास, भूमिका, पृष्ठ ११२
२. वही, भूमिका, पृष्ठ ११३-११४
३. वही, पृष्ठ ११४

कश्मीरा या प्रमिला को आज तक मीरां के नाम से सम्बोधित करते हुये कहीं नहीं देखा, सुना गया और न कहीं पढ़ने में ही आया है। मीरां शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ये दलीलें बहुत कमजोर, निराधार और व्यर्थ सी हैं। कम से कम मीरां का नामकरण कश्मीरा या प्रमीला से नहीं हुआ है, इतना तो निश्चित है।

मीरां-स्मृति ग्रंथ में आचार्य ललिताप्रसाद जी सुकुल ने मीरां निरुकत लिखा है, मेड़ता और मीरा शब्द की सन्तुलित व्याख्याकरते हुये उन्होंने लिखा, कि मीर+ता= मीरता। मीर शब्द का अर्थ संस्कृत कोष के अनुसार जलराशि, समुद्र, किसी पर्वत का कोई भाग, सीमा और पेय विशेष, और एकाक्षर कोषके अनुसार 'ता' शब्द लक्ष्मी शब्द का वाचक है। हमारे साहित्य में क्या प्राचीन और क्या नवीन—लक्ष्मी धन की देवी तो हैं ही, किन्तु सौन्दर्य, ऐश्वर्य इत्यादि भी उन्हीं के उपादन हैं। अतः यदि 'मीर' शब्द जल राशि अर्थात् जलाशय और 'ता' युक्त मीर सुन्दरतम जलाशय माना जाय तो आपत्ति की कोई गुंजायश नहीं और इस प्रकार न केवल मेड़ता शब्द की व्युत्पत्ति की ही समस्या हल हो जाती है, वरन उसकी पूर्ण सार्थकता भी स्पष्ट हो जाती है।

मीराबाई का नाम निस्सन्देह ही उपर्युक्त व्युत्पत्ति से सम्बन्धित है। 'मीर' वाच्य है जलाशय का। मेड़ते के चारों ओर सुन्दर सुन्दर झीलें हैं।[१] सरिता और झील इत्यादि पर स्त्रियों के नाम रखने की प्रथा हमारे देश में नवीन नहीं। यदि राव दूदा जी ने अपनी पौत्री के अलौकिक सौन्दर्य से प्रेरित होकर मेड़ते की सुन्दरतम झील के आधार पर उसे मीरा कहा हो तो आश्चर्य क्या? साथ ही जल हमारे देश में सात्विक भावना का सिद्ध उद्दीपन माना गया है। इसी के अनुसार मीरां की जल के समान सौम्य सुन्दरता और निर्मलता देखकर राव दूदा जी ने उन्हें मीरा कहा होगा।[२]

उक्त मन्तव्य से स्पष्ट हो जाता है कि मीरा शब्द की उत्पत्ति जलाशय के पर्यायवाची संस्कृत शब्द'मीरः' से हुई है और मीराका नामकरण राव दूदा जी ने किया है। सुकुल जी तथा अन्य विद्वानों ने मीरां शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में जो नये-नये तर्क और प्रमाण खोजे हैं उन सबका तुलनात्मक अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता हैं कि—मीरां का नामकरण करते समय उनके परिवार वालों ने मीरां के नामकरण का मूल शोधने वाले विद्वज्जनों की भाँति अरबी, फारसी,लैटिन, जर्मन, फ्रेंच संस्कृत आदिके शब्दकोषों की छानबीन कर मीरां शब्द का नवनिर्माण नहीं किया था। भाषा विज्ञान में शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से मीरां शब्द की व्युत्पति को लेकर यदि इस

---

1. Water is plentiful at Merta there being numerous tanks all around the city. राजस्थान गजेटियर-पृष्ठ२३१

२. मीरां-निरुक्त—ललिताप्रसाद सुकुल, मीरां स्मृति ग्रंथ, परिशिष्ट, पृष्ठ ४२

तरह बाल की खाल खींचीं जाती तो कोई बात न थी किन्तु कवयित्री मीरां के नामकरण के लिये इतने मत-मतान्तरों का आविर्भाव अतिबौद्धिक ऊहापोह मात्र है। जहाँ तक मीरां शब्द की उत्पत्ति का सम्बन्ध है, मीरां शब्द संस्कृत के 'मीर' से व्युत्पन्न माना जा सकता है और उससे मीर+आं=(स्त्रीलिंगी) नाम बन सकता है किन्तु राजस्थान के क्षत्रिय कुल में प्रयुक्त 'मीरां' शब्द फारसी के 'मीर' शब्द से व्युत्पन्न नहीं माना जा सकता। राजस्थानी राजवंश, जिनमें मीरां का पितृकुल भी सम्मिलित है, अरबों, तुर्कों और यवनों के कट्टर शत्रु थे, अतः किसी भी हालत में उन्होंने मीरां का नाम अपने दुश्मनों की भाषा फारसी में उच्चता और बड़प्पन के द्योतक मीर[1] शब्द को लेकर रखा होगा—यह धारणा बिल्कुल गलत है। इतना तो निश्चित है। यदि देखा जाय तो 'मीरां' शब्द का प्रयोग राजस्थान में मीरां के जन्म से एक शताब्दी पूर्व भी प्रचलित था। बारहठ बीठू जी के एक दोहे में 'मीरां' शब्द विद्यमान है—

> खगड़ैं किया खड़ाक सी 'लागा सुरताण सू।
> मीरां मीलक नूं मार, छोड्यां उतरी छाक।[2]

मीर शब्द संस्कृत-कोषों के अनुसार यदि समुद्र का पर्यायवाची है तो हम्मीर में प्रयुक्त 'मीर' शब्द समुद्र के गांभीर्य के लक्षणार्थ का द्योतक माना जा सकता है। श्री मैथिलीशरण गुप्त ने भी मीरां के लिए "हरि चरणामृत करवर विष भी पचा गई गम्भीरा।"[3] लिख मीरां के गांभीर्य का संकेत किया है। गांभीर्य पुरुषार्थ और महानता का द्योतक है।

अस्तु, 'मीरां' शब्द को लेकर किये गये इस विवाद का 'मीरां' के नामकरण से कोई सम्बन्ध नहीं है। मीरां उपनाम या उपाधि भी नहीं है जैसा कि डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने मान लिया है। अतः यह कहा जा सकता है कि मीरां को राजस्थानी का सौलहवीं शताब्दी में प्रचलित सामान्य नाम ही मानना चाहिये। राव मालदेव की पाँचवीं पुत्री का नाम मीरां था।[4] "गुजरात में भी मीरां नाम की दो कवियित्रियाँ और हुई जान पड़ती हैं, इनके नाम मीरां क्यों रहे ? इस विषय में कभी आगे विचार करेंगे।[5]"

---

१. मीर शब्द अरबी से फारसी में आया जो उच्चता और बड़प्पन का द्योतक है। देखिये-एन्साइक्लोपीडिया ऑफ इस्लाम, पृष्ठ ५०५।
२. मूता नैणसी री ख्यात (भाग-२) पृष्ठ २१७, बारहठ बीठू जी का दोहा।
३. मीरां-स्मृति ग्रंथ, काव्यांजलि, मैथिलीशरण गुप्त, पृष्ठ २५६।
४. जोधपुर राज्य का इतिहास-ओझा, खण्ड १, पृष्ठ ३२६।
५. मीरां : जीवनी और काव्य-महावीरसिंह गहलौत, भूमिका, पृष्ठ १६।

अतः मीरां नाम राजस्थान और गुजरात दोनों प्रदेशों में स्त्रियों में विद्यमान था और उसकी मधुरता के कारण वह उस युग में प्रचलित भी रहा है। डाकोर और काशी की प्रतियों में भी जो पद दिये गये हैं उनमें भी मीरां शब्द ही प्रयुक्त है। आधुनिक युग में खड़ी बोली तक आते-आते मीरां शब्द अनुस्वारांत न रहकर आकारान्त मात्र रह गया है अतः आजकल लड़कियों के नाम मीरां न रखकर मीरा ही रखे जाते हैं। मीरां नाम को लेकर खड़े हुये वितण्डवाद का यही स्वरुप है।

वंश परम्परा

मीरां का जन्म जोधपुर के राठौर वंश और उनका विवाह उदयपुर के सीसोदिया वंश में महाराणा सांगा के कुँवर भोजराज के साथ हुआ था, अतः इन दो इतिहास-प्रसिद्ध राजवंशों से सम्बन्धित मीरां का ऐतिहासिक जीवन-वृत्त निरूपित करने के लिये दोनों राजकुलों की वंशावली लेकर उनका तुलनात्मक अध्ययन किया जाना नितान्त आवश्यक है। ये वंशावलियाँ हरविलास सारडा कृत महाराणा सांगा, महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचंद ओझा कृत राजपूताने का इतिहास, उदयपुर राज्य का इतिहास, वीर-विनोद, बरबे देवीदीन का ख्यात, चतुरकुल चरित, जगदीशसिंह गहलोत कृत मारवाड़ राज्य का इतिहास, विश्वेश्वरनाथ रेऊ कृत भारत के प्राचीन राजवंश, मुहणोत नेणसी रीख्यात, चारणों की ख्यात और कुरसी नामों के तुलनात्मक विवरण तथा दि सिख रिलीजन (मेंक्स ऑर्थर मेकॉलिफ) आदि में प्राप्त सम्पूर्ण ऐतिहासिक उल्लेखों के तुलनात्मक अध्ययन कर बनाई गई हैं। केवल कर्नल टॉड के एनल्स एण्ड एण्टिक्विटीज ऑफ राजस्थान तथा शिवसिंह सरोज आदि ग्रंथों को अनैतिहासिक और अप्रामाणिक उल्लेखों के कारण हमने छोड़ दिया है।

मीरां के पितृ-कुल की वंशावली[1]

राव चूँड़ा जी
(जन्म संवत् १४३४, राज्यकाल १४४०–८०)

- हंसकुमारी
- राव रिड़मल (रणमल)
  (जन्म सं० १४४६ राज्यकाल १४८०–९५)

१. वंशावली बनाते समय केवल महत्वपूर्ण व्यक्तियों का ही निर्देश किया है। वंशावली के अन्य पात्र गौण समझकर छोड़ दिये गये हैं।—लेखक

वंशावली विवेचन
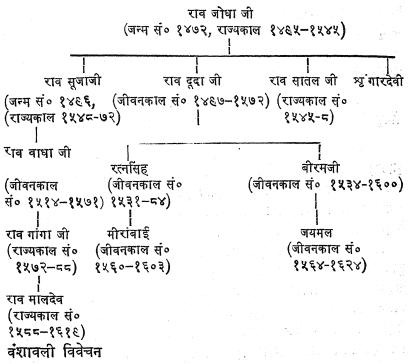
राजस्थान के क्षत्रिय वंशों में राठौड़ों की संख्या बहुत ज्यादा है, और राठोड़ों में भी मेड़तियों राठोड़ों की संख्या सबसे अधिक है। यह शाखा राव दूदा जी से चली है। मेड़ता निवासी होने के कारण ये राठौड़ मेड़तिया कहलाये, फलतः मीरां भी अपने श्वसुर-कुल में 'मेड़तणी राणी' के नाम से पुकारी जाती थीं।

मेड़ता का शुद्ध नाम महारेता या मान्धातृपुर कहा जाता है, जिसका अपभ्रंश मेड़तक या मेड़ता हो गया है। राजा मांधाता ने इसे कई सहस्र वर्ष हुए तब बसाया था।[1]

इसके चारों ओर लाल पत्थर का प्राकार जीर्ण-शीर्ण अवस्था में अभी भी विद्यमान है। इसपर नागवंशियों, परमारों और प्रतीहारों का राज्य रहा और इसके बाद मुसलमानों का अधिकार हुआ। मुसलमानों के अधिकार में लगभग दो शताब्दी तक रहने के बाद मेड़ता को, राव दूदा जी ने अपने अधिकार में लिया और इसे नये सिरे से बसाया।[2] रावदूदा जी ने यहाँ अनेक प्रासादों और चतुर्भुज जी के मंदिर का

---

१. मारवाड़ राज्य का इतिहास, जगदीशसिंह गहलोत, पृष्ठ ३११-४।

२. भारत के प्राचीन राज्यवंश-विश्वेश्वरनाथ रेऊ, भाग ३, पृष्ठ १५३।

निर्माण कराया, किन्तु संवत् १६१३ में राव मालदेव ने ईर्ष्यावश मेड़ता विजय कर चतुर्भुज जी के मंदिर के अतिरिक्त सभी प्रासाद गिरवा दिये और उन पर मालकोट दुर्ग बनवाया । जिसका निर्माण कार्य सं० १६१६ में समाप्त हुआ । दूदा जी के वंशज मेड़तिये राठोड़ों को इन्हीं चतुर्भुज जी का इष्ट है ।

मेड़ता अजमेर के ४० मील पश्चिम और जोधपुर से ८० मील उत्तर-पूर्व में है । जोधपुर रेलवे का स्टेशन मेड़ता सिटी के नाम से प्रसिद्ध है ।

मारवाड़ नरेश राव रणमल के पुत्र राव जोधाजी (जीवनकाल संवत् १४७२-१५४५) ने अपने नाम से जोधपुर नगर बसाया और उसे अपनी राजधानी बनाया । इनकी २० सन्तानें थीं, १९ पुत्र और १ पुत्री । पुत्री का नाम शृंगार देवी था, जो महाराणा रायमल्ल को ब्याही थी । राव रिणमल की बहन हंसकुमारी का विवाह राणा लाखा से हुआ था । राव जोधा जी के चौथे पुत्र दूदा जी और पाँचवें पुत्र वरसिंह जी, जालौर के सोनीगरा चौहान राजा की पुत्री राणी चांद कुंवर से थे । रावदूदाजी का जन्म आषाढ़ शुक्ल १५, संवत् १४९७ को मांडोवर में हुआ था । संवत् १५१८ में दूदाजी और वरसिंह जी को राव जोधाजी ने सैन्य समेत मेड़ता-विजय के लिये भेजा । महापराक्रमी दूदा ने मालवे के सुलतान महमूद शाह खिलजी (सं० १४९३-१५२६) की ओर से नियुक्त अजमेर के शासक से मेड़ता और उसके आसपास की भूमि छीन ली, और वे वहीं रहने लगे । बाद में उन्होंने मेड़ता में चतुर्भुज जी का मंदिर, महल तथा गढ़ बनवाये ओर वैशाख शुक्ल ३, संवत् १५१८ से दूदा जी और वरसिंह मेड़ता में आकर रहने लगे ।

विक्रम संवत् १५४४ में नरबद जी के भाई आसकरण की मृत्यु का प्रतिशोध लेने के लिये दूदा जी की आज्ञा से जोधा जी ने जैतारण के सिंघल मेधा पर चढ़ाई की और द्वन्द्व युद्ध में उसे मारकर पितृाज्ञा का पालन किया ।[1]

राव जोधाजी की मृत्यु पर संवत् १५४५ में राव सातल जी गद्दी पर बैठे । इसके दो वर्ष बाद मेड़ता के दूदाजी और बरसिंह ने साँभर पर आक्रमण कर उसे लूट लिया, जिसकी खबर पाकर संवत् १५४८ में अजमेर के शासक मल्लूखाँ ने मेड़ते पर चढ़ाई की और कोसाना गाँव की गौरीपूजन के लिये गई कुछ स्त्रियों को पकड़ लिया । इससे मेड़ता से दूदाजी और बरसिंह तथा जोधपुर से सातल जी ने मल्लूखाँ पर आक्रमण किया । मल्लूखां हारकर भाग गया और स्त्रियाँ मिल गई, पर सातल जी घायल

१. मुहणोत नैणसी री ख्यात (भाग-२), पृष्ठ १३३ ।

होकर उसी रात्रि मर गये ।[१]

संवत् १५५० में मल्लू खाँ ने धोखे से बरसिंह को अजमेर में कैद कर लिया। इसकी खबर पाते ही जोधपुर से सूजाजी, मेड़ते से दूदाजी और बीकानेर से बीकाजी अजमेर पर चढ़ दौड़े। जिसे देखकर मल्लूखाँ घबरा गया और बरसिंह जी को छोड़ दिया। बरसिंह जी अधिक दिन नहीं जिये। अजमेर से छूटने के छः माह बाद उनकी मृत्यु हो गई।[२]

दूदाजी ने बरसिंह जी के सीहाजी आदि पुत्रों को रीयां ठिकाना जागीर में दिया। सीहाजी की पाँचवीं पीढ़ी में केशवदास हुये, जिन्हें जागीर में झाबुआ राज्य मिला, जो उनके वंशजों के आधीन रहा।

सीहाजी को रीयां ठिकाना देने के बाद मेवाड़-नरेश राणा रायमल्ल की पुत्री गोरज्याबाई से बीरमदेव का विवाह हुआ। इस सम्बन्ध से मेड़ता और मेवाड़ के सम्बन्ध और भी दृढ़ हो गये।

दूदाजी की दो रानियाँ थीं। एक सीसोदिया वंश की सादड़ी की चन्द्रकुंवर और दूसरी चौहान मृगकुंवर। इनसे दूदाजी की छः सन्तानें हुईं–पाँच पुत्र और एक पुत्री। राव दूदाजी के प्रथम पुत्र वीरमदेव का जन्म संवत् १५३४ में हुआ था, जो संवत् १५७२ में राव दूदा जी की मृत्यु के बाद मेड़ता के अधिकारी हुये। इन्हीं बीरमदेव ने संवत् १५७३ में अपनी भतीजी मीरांबाई का विवाह राणा सांगा के पाटवी कुमार भोजराज से किया।

कन्हवा के युद्ध में, जो संवत् १५८४ में राणा सांगा और बाबर के बीच में हुआ था, राणा सांगा, वीरमदेव, रत्नसिंह और रायमल के साथ ४००० सैनिकों को लेकर गये थे और वहीं रायमल्ल तथा रत्नसिंह ने वीरगति पाई थी।[3]

तुजुक बाबरी के अनुसार धरमदेव चार हजार सवार लेकर राणा सांगा की ओर से बाबर से लड़ा था।[४]अकबर नामा के हिन्दी अनुवाद में इसका उल्लेख मेड़ता के शासक के रूप में मिलता है और वहीं टिप्पणी में इसका दूसरा नाम परमदेव कहा गया है,[५]

---

१. भारत के प्राचीन राजवंश-विश्वेश्वरनाथ रेऊ (भाग-३), पृष्ठ १५५-५६।
२. वही, पृष्ठ १५८-५६।
३. मेमॉयर्स ऑफ बाबर (भाग २), पृ० ५६३।
४. तुजुक बाबरी, बाबर, पृ० ५६२।
५. अकबर नामा (हिन्दी अनुवाद) भाग १ पृ० २६१।

किन्तु मेड़ता के शासकों में धरमदेव या परमदेव नाम का कोई शासक नहीं हुआ, अतः परमदेव को बीरमदेव का ही अशुद्ध लेख मानना चाहिये । कर्नल टॉड ने भी वीरमदेव के साथ रतनसिंह का कनवा के युद्ध में मारे जाने का उल्लेख किया है ।[1]

संवत् १५८५ में राव सांगा जी और शेखा जी में युद्ध हुआ, जिसमें शेखाजी के सहायक नागौर के शासक दौलत खाँ का हाथी भागकर मेड़ते पहुँचा, जिसे वीरम जी ने पकड़ लिया । राव गांगा के पुत्र मालदेव ने बीरमजी से हाथी माँगा, पर बीरमदेव ने हाथी न लौटाया । इससे दोनों में बिगाड़ हो गया । जब राव गांगा ने बीरमदेव से हाथी माँगा तो बीरमदेव ने हाथी लौटाया, पर वह रास्ते में ही मर गया इससे मालदेव को और बुरा लगा । राव गांगा की मृत्यु के बाद मालदेव ने झगड़ा किया । बीरमदेव ने संवत् १५६५ में अजमेर पर अपना कब्जा कर लिया । इसपर मालदेव ने बीरमदेव से अजमेर माँगा । इसके अस्वीकृत करने पर मालदेव ने मेड़ता पर चढ़ाई की और इनसे मेड़ता छीन लिया । बीरमदेव अजमेर भागे, पर मालदेव की सेना ने उनका पीछा किया । बीरमदेव ने रणथम्भौर दुर्ग में शेखावत के पास अपनी रानियों और परिवार को छोड़ा और संवत् १६०० में सुलतान शेरशाह को, राव मालदेव पर चढ़ा लाये । दोनों सेनाओं के युद्ध में शेरशाह की चालाकी समझ राव मालदेव लौट गये और जोधपुर पर शेरशाह का तथा मेड़ता पर राव बीरमदेव का अधिकार हो गया । संवत् १६०० के फाल्गुन मास में राव बीरमदेव की मृत्यु हो गई । इन्हें चार रानियों से तेरह पुत्र और तीन पुत्रियाँ थीं ।

बीरमदेव की मृत्यु के उपरान्त जयमल मेड़ता का स्वामी हुआ । राव मालदेव मेड़ता पर खार खाये बैठा था, अतः उसने मेड़ते पर कई बार चढ़ाइयाँ की । कहते हैं बाईस युद्ध दोनों पक्षों में हुये । अंतिम बार भी जयमल युद्ध करने को तैयार थे, पर महाराणा उदयसिंह उन्हें अपने साथ ले गये । संवत् १६११ में मेड़ता पर मालदेव का अधिकार हुआ, किन्तु कुछ दिन बाद महाराणा उदयसिंह की सहायता से जयमल ने राव मालदेव से फिर मेड़ता छीन लिया ।

मंगलवार, फागण वदी ६, संवत् १६१३ में राव मालदेव ने जयमल से फिर मेड़ता छीन लिया और राव दूदाजी के समय के चतुर्भुजजी के मन्दिर को छोड़कर तमाम महल गिरवा दिये और वहाँ अपने नाम से संवत् १६१३ से १६१६ तक मालकोट दुर्ग बनवाया । हारकर जयमल जी बेदनोर चले गये पर संवत् १६१६ में मालदेव ने उन्हें वहाँ से भी निकाल दिया तब अजमेर के सूबेदार की सहायता से जयमल ने फिर

1. राजस्थान (भाग १), पृ० २४१ ।

मेड़ते पर अपना अधिकार कर लिया । कार्तिक सुदी ९, संवत् १६१९ को मालदेव की मृत्यु हुई । लेकिन शरफुद्दीन की बगावत में राव जयमल पर शंका कर अकबर ने मेड़ता जगमल को दे दिया । जयमल जी महाराणा के पास चले गये और चित्तौड़ के तृतीय शाका के समय चैत बदी १०, संवत् १६२४ में अकब्र बादशाह की गोली से मारे गये ।

राव दूदा के चतुर्थ पुत्र राव रत्नसिंह मीरां के पिता थे, जिन्हें कुड़की (चौकड़ी) बाजोली आदि बारह गाँव जागीर में दिये गये थे । राव रत्नसिंह कुड़की में ही रहते थे और वहीं संवत् १५६० में मीरां का जन्म हुआ । मीरां की माँ की मृत्यु के पश्चात् राव दूदाजी ने ही उनका पालन पोषण किया । रत्नसिंह जी प्रायः युद्धरत रहते थे । राणा सांगा और बाबर के बीच में होने वाले प्रसिद्ध कन्हवा के युद्ध में रायमल और रत्नसिंह ने सेनापतियों के रूप में संवत् १५८४ में वीरगति पाई ।

मीरां के पितृकुल की पाँच पीढ़ियों का यही ऐतिहासिक इतिवृत्त है ।

मीरां के श्वसुर-कुल की वंशावली

राणा क्षेत्रसिंह
(राज्यकाल संवत् १४२१–३९)
|
राणा लाखा
(राज्यकाल संवत् १४३९–५४)
|
राणा मोकल
(जन्म सं० १४४९–, राज्यकाल १४५४–१४९०)
|
राणा कुम्भा
(जन्म संवत् १४७५, राज्यकाल १४९०–१५२५)
|
राणा उदयसिंह (प्रमथ) (राज्यकाल सं० १५२५–३०) | राणा रायमल (राज्यकाल संवत् १५३०-६६) | रमादेवी

'मीरांबाई का जीवन चरित्र' में मुन्शी देवीप्रसाद मुन्सिफ ने पृष्ठ ८ पर टिप्पणी में लिखा है कि--

'ऊदा (उदयसिंह प्रथम) शासन काल (१४६८-१४७४ ई० तक) १४७४ ई० में गद्दी पर से उतार दिया गया था और उसका भाई रायमल गद्दी पर बैठाया गया था। किन्तु ओझा जी यह घटना १४७३ ई० की मानते हैं। वहीं फुट नोट में आपने 'राणा रायमल राज्यकाल १४७३-१५०६ ई० तक' भी लिखा है। यदि १४७३ ई० से राणा रायमल का शासनकाल शुरू होता है तो ऊदा का शासन काल १४६८ से १४७४ ई० तक नहीं माना जा सकता। ऊदा का शासनकाल १४७३ में ही समाप्त होना चाहिये। मुन्शी जी के मत परस्पर विरोधी हैं। अतः हमने उदयसिंह (प्रथम) का राज्यकाल ओझा जी के मतानुसार १४६८ से १४७४ ई० या संवत् १५२५ से १५३० विक्रमाब्द ही माना है।

वंशावली विवेचन

मीरां का श्वसुर-कुल चित्तौड़ का इतिहास-प्रसिद्ध गहलौत या सिसोदिया वंश था, जिसमें राणा क्षेत्रसिंह (राज्यकाल संवत् १४२१ से १४२९) के उपरान्त राणा

लाखा संवत १४३६ में चित्तौड़ की गद्दी पर बैठे[१] और १५ वर्ष तक राज्य कर संवत १४५४ में स्वर्ग सिधारे । उनके पुत्र मोकल जी अल्पावस्था में संवत १५५४ में गद्दी पर बैठे[१] और संवत १५९० में एक षड़यन्त्र में मारे गये ।[२] इनके पुत्र महाराणा कुम्भा (कुम्भकर्ण) संवत १५९० में सिंहासनासीन हुये और अनेक युद्धों में विजय प्राप्त कर सम्वत् १५२५ में अपने ही पुत्र उदयसिंह द्वारा मारे गये ।[३] यही उदयसिंह (प्रथम) ऊदा हत्यारे के नाम से राजस्थान में कुख्यात है । सम्वत् १५३० में यही उदयसिंह गद्दी पर से हटाया गया और उसका भाई रायमल राणा हुआ । रायमल्ल ने सम्वत् १५३० से १५६६ तक राज्य किया, और उनकी मृत्यु के बाद राणा सांगा (संग्रामसिंह) ने संवत् १५६६ से संवत् १५८४ तक राज्य किया । इन्होंने अनेक युद्ध किये और मेवाड़ राज्य का खूब विस्तार किया ।

भाटों की ख्यात के अनुसार महाराणा सांगा ने २८ विवाह किये थे, जिनसे उनके सात पुत्र भोजराज, विक्रमादित्य, उदयसिंह, कर्णसिंह, रत्नसिंह, पर्वतसिंह, और कृष्णसिंह तथा चार लड़कियाँ कुँवरबाई, गंगाबाई, पद्मबाई और राजबाई हुई ।[४]

पूर्णमल्ल, भोजराज, पर्वतसिंह और कृष्णसिंह—चार तो महाराणा सांगा के सामने ही परलोक सिधारे, इनमें से वे भोजराज, जो सोलंकी रायमल की बेटी के गर्भ से जन्मे थे, उनका विवाह मेड़ता के राव दूदा जोधावत के पाँचवे बेटे रत्नसिंह

---

१. 'रिडमल की बहन हंसबाई के साथ वृद्धावस्था में जब राणा लाखा ने विवाह किया था तो रिडमल ने शर्त कराई थी कि हंसाबाई का पुत्र ही मेवाड़ की गद्दी पर बैठेगा । ज्येष्ठ पुत्र चूंड़ा ने सहर्ष पदत्याग की प्रतिज्ञा की थी और इसीलिये स्वयं गद्दी पर न बैठकर हंसा के बालक पुत्र मोकल को उसने गद्दी दी ।'

राजपूताने का इतिहास-ओझा, पृ० ५७७ ।

२. मोकलदेव-राज्यकाल (१३९७-१४३३ ई०) १४३३ ई० में अपने खवास-बाल चाचा मेरा के द्वारा मारा गया-मीरांबाई का जीवन चरित्र-मुन्शी देवीप्रसाद फुटनोट पृ० ७ ।

३. सम्वत १५२५ (१६६८ ई०) में राणा कुम्भा जी के कपूत बेटे ऊदा ने राज के लालच से बाप को मार डाला । मीरांबाई का जीवन चरित्र-मुन्शी देवीप्रसाद, पृष्ठ ८ ।

४. उदयपुर राज्य का इतिहास—गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, पृ० ३८४ ।

'मीरांबाई का जीवन चरित्र' में मुन्शी देवीप्रसाद मुन्सिफ ने पृष्ठ ८ पर टिप्पणी में लिखा है कि---

'ऊदा (उदयसिंह प्रथम) शासन काल (१४६८-१४७४ ई० तक) १४७४ ई० में गद्दी पर से उतार दिया गया था और उसका भाई रायमल गद्दी पर बैठाया गया था। किन्तु ओझा जी यह घटना १४७३ ई० की मानते हैं। वहीं फुट नोट में आपने 'राणा रायमल राज्यकाल १४७३-१५०६ ई० तक' भी लिखा है। यदि १४७३ ई० से राणा रायमल का शासनकाल शुरू होता है तो ऊदा का शासन काल १४६८ से १४७४ ई० तक नहीं माना जा सकता। ऊदा का शासनकाल १४७३ में ही समाप्त होना चाहिये। मुन्शी जी के मत परस्पर विरोधी हैं। अतः हमने उदयसिंह (प्रथम) का राज्यकाल ओझा जी के मतानुसार १४६८ से १४७४ ई० या संवत् १५२५ से १५३० विक्रमाब्द ही माना है।

वंशावली विवेचन

मीरां का श्वसुर-कुल चित्तौड़ का इतिहास-प्रसिद्ध गहलौत या सिसोदिया वंश था, जिसमें राणा क्षेत्रसिंह (राज्यकाल संवत् १४२१ से १४२९) के उपरान्त राणा

लाखा संवत १४३६ में चित्तौड़ की गद्दी पर बैठे[१] और १५ वर्ष तक राज्य कर संवत १४५४ में स्वर्ग सिधारे । उनके पुत्र मोकल जी अल्पावस्था में संवत १५५४ में गद्दी पर बैठे[१] और संवत १५९० में एक षड़यन्त्र में मारे गये ।[२] इनके पुत्र महाराणा कुम्भा (कुम्भकर्ण) संवत १५९० में सिंहासनासीन हुये और अनेक युद्धों में विजय प्राप्त कर सम्वत् १५२५ में अपने ही पुत्र उदयसिंह द्वारा मारे गये ।[३] यही उदयसिंह (प्रथम) ऊदा हत्यारे के नाम से राजस्थान में कुख्यात है । सम्वत् १५३० में यही उदयसिंह गद्दी पर से हटाया गया और उसका भाई रायमल राणा हुआ । रायमल्ल ने सम्वत् १५३० से १५६६ तक राज्य किया, और उनकी मृत्यु के बाद राणा सांगा (संग्रामसिंह) ने संवत् १५६६ से संवत् १५८४ तक राज्य किया । इन्होंने अनेक युद्ध किये और मेवाड़ राज्य का खूब विस्तार किया ।

भाटों की ख्यात के अनुसार महाराणा सांगा ने २८ विवाह किये थे, जिनसे उनके सात पुत्र भोजराज, विक्रमादित्य, उदयसिंह, कर्णसिंह, रत्नसिंह, पर्वतसिंह, और कृष्णसिंह तथा चार लड़कियाँ कुँवरबाई, गंगाबाई, पद्मबाई और राजबाई हुई ।[४]

पूर्णमल्ल, भोजराज, पर्वतसिंह और कृष्णसिंह–चार तो महाराणा सांगा के सामने ही परलोक सिधारे, इनमें से वे भोजराज, जो सोलंकी रायमल की बेटी के गर्भ से जन्मे थे, उनका विवाह मेड़ता के राव दूदा जोधावत के पाँचवे बेटे रत्नसिंह

---

१. 'रिडमल की बहन हंसबाई के साथ वृद्धावस्था में जब राणा लाखा ने विवाह किया था तो रिडमल ने शर्त कराई थी कि हंसाबाई का पुत्र ही मेवाड़ की गद्दी पर बैठेगा । ज्येष्ठ पुत्र चूंड़ा ने सहर्ष पदत्याग की प्रतिज्ञा की थी और इसीलिये स्वयं गद्दी पर न बैठकर हंसा के बालक पुत्र मोकल को उसने गद्दी दी ।'

राजपूताने का इतिहास-ओझा, पृ० ५७७ ।

२. मोकलदेव-राज्यकाल (१३९७-१४३३ ई०) १४३३ ई० में अपने खवास-वाल चाचा मेरा के द्वारा मारा गया-मीरांबाई का जीवन चरित्र-मुन्शी देवीप्रसाद फुटनोट पृ० ७ ।

३. सम्वत १५२५ (१९६८ ई०) में राणा कुम्भा जी के कपूत बेटे ऊदा ने राज के लालच से बाप को मार डाला । मीरांबाई का जीवन चरित्र-मुन्शी देवीप्रसाद, पृष्ठ ८ ।

४. उदयपुर राज्य का इतिहास–गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, पृ० ३८४ ।

'मीरांबाई का जीवन चरित्र' में मुन्शी देवीप्रसाद मुन्सिफ ने पृष्ठ ८ पर टिप्पणी में लिखा है कि—

'ऊदा (उदयसिंह प्रथम) शासन काल (१४६८-१४७४ ई० तक) १४७४ ई० में गद्दी पर से उतार दिया गया था और उसका भाई रायमल गद्दी पर बैठाया गया था। किन्तु ओझा जी यह घटना १४७३ ई० की मानते हैं। वहीं फुट नोट में आपने 'राणा रायमल राज्यकाल १४७३-१५०९ ई० तक' भी लिखा है। यदि १४७३ ई० से राणा रायमल का शासनकाल शुरू होता है तो ऊदा का शासन काल १४६८ से १४७४ ई० तक नहीं माना जा सकता। ऊदा का शासनकाल १४७३ में ही समाप्त होना चाहिये। मुन्शी जी के मत परस्पर विरोधी हैं। अतः हमने उदयसिंह (प्रथम) का राज्यकाल ओझा जी के मतानुसार १४६८ से १४७४ ई० या संवत् १५२५ से १५३० विक्रमाब्द ही माना है।

वंशावली विवेचन

मीरां का श्वसुर-कुल चित्तौड़ का इतिहास-प्रसिद्ध गहलौत या सिसोदिया वंश था, जिसमें राणा क्षेत्रसिंह (राज्यकाल संवत् १४२१ से १४२९) के उपरान्त राणा

लाखा संवत १४३६ में चित्तौड़ की गद्दी पर बैठे[१] और १५ वर्ष तक राज्य कर संवत १४५४ में स्वर्ग सिधारे । उनके पुत्र मोकल जी अल्पावस्था में संवत १५५४ में गद्दी पर बैठे[१] और संवत १५६० में एक षड़यन्त्र में मारे गये ।[२] इनके पुत्र महाराणा कुम्भा (कुम्भकर्ण) संवत १५६० में सिंहासनासीन हुये और अनेक युद्धों में विजय प्राप्त कर सम्वत् १५२५ में अपने ही पुत्र उदयसिंह द्वारा मारे गये ।[3] यही उदयसिंह (प्रथम) ऊदा हत्यारे के नाम से राजस्थान में कुख्यात है । सम्वत् १५३० में यही उदयसिंह गद्दी पर से हटाया गया और उसका भाई रायमल राणा हुआ । रायमल्ल ने सम्वत् १५३० से १५६६ तक राज्य किया, और उनकी मृत्यु के बाद राणा सांगा (संग्रामसिंह) ने संवत् १५६६ से संवत् १५८४ तक राज्य किया । इन्होंने अनेक युद्ध किये और मेवाड़ राज्य का खूब विस्तार किया ।

भाटों की ख्यात के अनुसार महाराणा सांगा ने २८ विवाह किये थे, जिनसे उनके सात पुत्र भोजराज, विक्रमादित्य, उदयसिंह, कर्णसिंह, रत्नसिंह, पर्वतसिंह, और कृष्णसिंह तथा चार लड़कियाँ कुँवरबाई, गंगाबाई, पद्मबाई और राजबाई हुई ।[४]

पूर्णमल्ल, भोजराज, पर्वतसिंह और कृष्णसिंह–चार तो महाराणा सांगा के सामने ही परलोक सिधारे, इनमें से वे भोजराज, जो सोलंकी रायमल की बेटी के गर्भ से जन्मे थे, उनका विवाह मेड़ता के राव दूदा जोधावत के पाँचवे बेटे रत्नसिंह

---

१. 'रिडमल की बहन हंसबाई के साथ वृद्धावस्था में जब राणा लाखा ने विवाह किया था तो रिडमल ने शर्त कराई थी कि हंसाबाई का पुत्र ही मेवाड़ की गद्दी पर बैठेगा । ज्येष्ठ पुत्र चूंड़ा ने सहर्ष पदत्याग की प्रतिज्ञा की थी और इसीलिये स्वयं गद्दी पर न बैठकर हंसा के बालक पुत्र मोकल को उसने गद्दी दी ।'

राजपूताने का इतिहास-ओझा, पृ० ५७७ ।

२. मोकलदेव-राज्यकाल (१३९७-१४३३ ई०) १४३३ ई० में अपने खवास-वाल चाचा मेरा के द्वारा मारा गया-मीरांबाई का जीवन चरित्र-मुन्शी देवीप्रसाद फुटनोट पृ० ७ ।

३. सम्वत १५२५ (१६६८ ई०) में राणा कुम्भा जी के कपूत बेटे ऊदा ने राज के लालच से बाप को मार डाला । मीरांबाई का जीवन चरित्र-मुन्शी देवीप्रसाद, पृष्ठ ८ ।

४. उदयपुर राज्य का इतिहास–गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, पृ० ३८४ ।

की बेटी मीरांबाई के साथ हुआ था।[१] इस तरह से मीरांबाई के पति-कुल की सात पीढ़ियों का ऐतिहासिक विकास हुआ है।

मीरां का जीवन काल

मीरां के नाम की ही तरह मीरां का जीवन-काल भी इतना विवादास्पद है कि विभिन्न विद्वानों ने मीरां के जीवन-काल की सीमायें पन्द्रहवीं शताब्दी के तृतीय चरण से अठारहवीं शताब्दी के चौथे चरण तक फैला दी हैं और ऐतिहासिक पुष्ट प्रमाणों के अभाव में सभी की मान्यतायें अपना-अपना महत्व रखती हैं।

राजस्थान के इतिहास विशेषज्ञ कर्नल जेम्स टॉड ने राणा कुम्भा द्वारा अपनी अनेक विजयों के उपलक्ष में बनवाये गये कीर्ति-स्तम्भ और उसी के पास आदि वाराह तथा कुम्भ स्वामी के मन्दिरों को देख मीरां को राणा कुम्भा की पत्नी लिखा है। क्योंकि बड़ा आदि वाराह का मन्दिर कुम्भा का और छोटा-कुम्भ-स्वामी का मन्दिर मीरां का कहा जाता है, किन्तु टॉड की यह धारणा लोक श्रुति और कल्पना पर आधारित है। उन्होंने एक स्थान पर मीरां को रतनसिंह की पुत्री और राणा कुम्भा की पत्नी[२] लिखा है, तो दूसरी बार मीरां को दूदा की पुत्री और राणा कुम्भा की पत्नी[३] भी लिखा है। मीरां के पितृ-कुल की वंशावली में ऐतिहासिक शोध से स्पष्ट

---

१. वीर विनोद–राजस्थान का सर्वाधिक प्रामाणिक इतिहास–श्री वरवे देवीदीन की ख्यात, महाराणा रत्नसिंह, पृ० १।

२. "Rao Duda had three sons besides Maldeo; Namely, first Raimall, second Birsingh, who founded Ajmer in Malwa, still held by his decendents; third Ratansingh, father of Mira Bai, the celebrated wife of kumbha Rana."
—Annals and Antiquities of Rajasthan—Col. James Todd Vol II, Footnote on page 856.

३. "The fourth son Duda, established himself on the plains of perta and his clan the Mertia is numerous and has always sustained the reputation of being the first swords of Maru. His daughter was the celebrated Mira Bai, wife of Rana Kumbha, and he was the grand sire of the heroic Jaimall, who defended chitor against Akbar."
—Annals and Antiquities of Rajasthan. Col James Todd, Vol II, Page 946.

है कि राव दूदा का जन्म-सम्वत १४६७ और मृत्यु-सम्वत् १५७२ है और रत्नसिंह का जन्म-सम्वत् १५३१ और मृत्यु-संवत १५८४ है। ऐसी स्थिति में मीरां राव दूदा की प्रपौत्री और रत्नसिंह की पुत्री हैं। उन्हें राव दूदा की पुत्री मानना कर्नल टॉड की भूल है, फिर मीरां के श्वसुर-कुल की वंशावली से यह प्रमाणित हो जाता है कि मीरां के जन्म से ३५ वर्ष पूर्व ही महाराणा कुम्भा का निधन हो गया था। ऐसी स्थिति में मीरां राणा कुम्भा की पत्नी नहीं हो सकतीं।

सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने भी मीरां को राणा कुम्भा की पत्नी माना है।[१] और मीरां को विद्यापति की समसामयिक कवयित्री लिखा है।[२] ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने कर्नल टॉड का समर्थन किया है।[३] गुजराती साहित्य के इतिहास मर्मज्ञ श्री गोवर्धनराम माधोरामत्रिपाठी[४] और श्री के० एम० झावेरी[५] भी मीरां को पन्द्रहवीं शताब्दी की कवयित्री मानते हैं।

कर्नल टॉड और उनके समर्थकों का विरोध सबसे पहले मुंशी देवी प्रसाद जी ने किया। उन्होंने कर्नल टॉड की गलती प्रमाणित करते हुये लिखा कि "कर्नल टॉड ने अपनी तवारीख टाड राजिस्थान में मीरांबाई को राणां कुंभा की राणी लिखा है और इसी पर से बाबू कार्तिक प्रसाद ने भी जीवन-चरित में मीरांबाई का ब्याह राना कुंभा से रचाया है, सो यह बिल्कुल गलत है, क्योंकि राणा कुंभा तो मीरांबाई के पति कुंवर भोजराज के परदादा थे और मीरांबाई के पैदा होने से २५ या ३० बरस पहले मर चुके थे। मालूम नहीं की यह भूल राजपुताने के ऐसे बड़े तवारीख लिखने

---

१. "The remarkable women (Mira Bai) who flourished in the year 1420 A. D., was the daughter of Raja Ratana Rana, the Rathour of merta and was married in Sambat 1470 (A. D. 1413) to Raja Kumbha karan son of mokal Deb of Chitour."
—The medern Vernacular Literature of Hindustan, George A. Grierson. Page 12.

२. इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया-सर जॉर्ज ग्रियर्सन (भाग २), पृष्ठ ४२४।

३. शिवसिंह सरोज-ठाकुर शिवसिंह सेंगर, पृष्ठ ४७५।

४. क्लासिकल पोयट्स ऑफ गुजरात-जी० एम० त्रिपाठी, पृष्ठ १०।

५. माइल स्टोन्स इन गुजराती लिटरेचर-के०एम० झावेरी, भाग ८, पृष्ठ ३०।

वाले से क्यों कर हो गई है। मेरे मित्र पंडित गौरी शंकर जी ऐसा विचार करते हैं कि चितौड़ के किले पर कुंभ शाम जी का मंदिर कुंभा राणा का बनवाया हुआ है, उसके पास एक और मंदिर है, जिसको मीरांबाई का बनाया हुआ बताते हैं। इन दोनों मंदिरों के पास-पास होने से शायद टाड साहिब ने धोका खाया हैं। मीरांबाई का नाम मेड़-तनी है और महाराणा कूंभा जी का इन्तकाल संवत् १५२५ (१४६८ ई०) में हुआ है, उस वक्त तक मीराबाई के दादा दूदाजी को मेड़ता मिला ही नही था, इसलिये मीरांबाई राणा कुम्भा की राणी नहीं हो सकती।[१]"

कर्नलटॉड और उनके अनुयायियों की त्रुटि का उल्लेख करने वाले मुंशी देवी प्रसाद जी ने मीरां को सांगा के पुत्र भोजराज की ही राणी बतलाया।[२]

फलतः मीरां का जीवन काल पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में माना जाने लगा।

महामहोपाध्याय पं०गौरीशंकर हीराचंद जी ओभा ने अपने प्रसिद्ध इतिहास ग्रंथों[३] में मीरां का जन्म जन्मकाल संवत् १५५५ माना है और उन्हें रत्नसिंह की पुत्री तथा भोजराज जी की राणी लिखा है। ओभाजी के मतानुसार मीरां का विवाह संवत् १५७३ में भोजराज जी से हुआ था। लगभग यही बात स्वर्गीय हरिनारायणजी पुरोहित भी मानते हैं[४]

हरविलास सारडा ने भी टॉड का विरोध और ओभा जी का समर्थन किया है। वे लिखते हैं कि—

"Col. Todd has stated that Miran Bai to be the queen of Kumbha. This is an error. Kumbha was Killed in 5. 1524 (A.D. 1467), while Miran's grand father Duda, became Raja of merta after that year. Miran's father Ratansingh was Killed in the battle of Khanua, 59 years after kumbha's death. Miran Bai was married to Prince Bhoj-raj in S. 1573 (A. D. 1516). Miran Bai was born at 1555 (A.D, 1498) and died in S. 1603 (A,D, 1546) at Dwarka (kathiawar) at which place she had been residing for several years. "[५]

---

१. मीरांबाई का जीवन चरित्र-मुंशी देवीप्रसाद, पृष्ठ २८-२६।

२. "रतनसिंह जी ने उनका (मीरांबाई का) ब्याह संवत् १५७३ (१५१६)ई० में राणा सांगा जी के बड़े बेटे भोजराज से कर दिया।" वही-पृष्ठ १०।

३. उदपुर राज्य का इतिहास-ओभा (भाग १) पृष्ठ ३५८।
जोधपुर राज्य का इतिहास-ओभा (भाग १) पृष्ठ २५३।

४. मीरां बृहत्पदावली-प्रथम भाग सं० श्री हरिनारायण जी पुरोहित पृष्ठ ५।

५. महाराणा सांगा-हरविलास सारडा-पृष्ठ ६५-६६।

मीरां के पिता, जन्म-संवत, विवाह, पति और मृत्यु-स्थल तथा मृत्यु-संवत, का यह प्रथम क्रमबद्ध उल्लेख है ।

डा०आई०जे० सोराब जी तारापोरवाला ने मीरां को रत्नसिंह की पुत्री लिखा है । उनके मत से मीरां जन्म- संवत, १५५६, जन्म स्थान कुडकी, विवाह-संवत, १५७४ (१५१७ ई०) मीरां के पति का नाम भोजराज, और मीरां की निधन तिथि संवत, १६०४ (१५४७ ई०) है ।[1]

तारापोरवाला जी ने ऐतिहासिक तिथियों की तुलना में मीरां का विवाह-संवत् और मृत्यु-संवत् एक-एक वर्ष अधिक लिखा है, पर उन्होंने इसके लिये कोई कारण या प्रमाण नहीं दिये ।

स्वामी आनन्द स्वरूप ने मीरां का जन्म-संवत् १५५६ और संवत् १६०० के बाद तक उनका जीवन काल माना है ।[2]

डॉ० श्रीकृष्णलाल ने लिखा है कि तनसुखराम मनसुखराम त्रिवेदी ने वृहत् काव्य दोहन भाग ७ की भूमिका में मीरां का जन्म-तिथि संवत् १५५० और १५६० के बीच मानी है, और कुँवर कृष्ण, विष्णुकुमारी मंजु और डॉ० धीरेन्द्र वर्मा मीरां का जन्म संवत् १५६० में मानते हैं । सभी बातों पर सम्यक विचार करने पर मीरां की जन्म तिथि संवत् १५५६-६० के आसपास ठीक जान पड़ती है ।[3]

मीरांबाई की शब्दाबली में भी मीरां का जन्म-काल संवत् १५५५ और संवत् १५६० के बीच माना गया है । [4] श्री नरोत्तमदास जी स्वामी मीरां का जन्म संवत् १५६०-६१ मानते हैं ।[5]

मेकॉलिफ ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दि सिख रिलीजन' में मीरां का जन्म संवत् १५६१ लिखा[6] और इस तिथि का समर्थन इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका[7] और फर्कुहर

---

१. सिलेक्शन्स फ्राम क्लासिक गुजराती लिटरेचर-तारापोरवाला (भाग १), पृष्ठ ३७२ ।

२. मीरां-सुधा-सिन्धु-आनन्द स्वरूप, जीवनी, पृ० ८-७० ।

३, मीरांबाई-डा० श्रीकृष्ण लाल, जीवनी खण्ड, पृ० ५७ ।

४. मीरांबाई की शब्दावली-बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, मीरांबाई का जीवन चरित्र, पृष्ठ १ ।

५. मीरां-मन्दाकिनी-नरोत्तमदास स्वामी, प्रस्तावना, पृ० ३ ।

६. दि सिख रिलीजन-मेक्स आर्थर मेकालिफ (भाग ६), पृ० ३४२ ।

७. इन्साइक्लोपीडिया-ब्रिटानिका, (भाग ६), पृ० २०५ ।

के 'आउटलाइन आफ दि रेलिजस लिट्रेचर आफ इंडिया' से किया है।[१]

इस तरह से मीरां का जन्म-संवत् १५५५ से १५६१ तक मानने वाले विद्वानों का एक वर्ग है, जिसमें मीरां की मृत्यु-तिथि का अधिक से अधिक अनुमानित समय संवत् १६३० वि० के आसपास आंका गया है।[२]

इसी बीच में मिश्रबंधुओं[३] और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल[४] ने भ्रमवश मीरां के विवाह संवत् १५७३ को, मीरां का जन्म-संवत् मान लिया है, जो सही नहीं है। स्थानीय साक्ष्य के अनुसार मेड़ता में चतुर्भुज जी के मन्दिर में मीरां की जो शुभ्र प्रस्तर प्रतिमा स्थापित की गई है, उसके नीचे मीरां का जन्म-संवत् १५६१, विवाह-संवत् १५७३ और निर्वाण-संवत १६०७ लिखे हैं किन्तु इन संवतों का उल्लेख किस आधार पर हुआ है, इसका कोई पता नहीं है।

मीरां के जीवनकाल के सम्बन्ध में स्वतन्त्र मत रखने वाले विद्वानों का एक तीसरा भी दल है। जिनमें बाबू कार्तिक प्रसाद खत्री अग्रणी है। खत्री जी लिखते हैं कि मारवाड़ मेड़ता निवासी राठौर सरदार जयमल की परम रूपवती कन्या मीरांबाई ने १७७५ संवत् में जन्म ग्रहण किया था[५] और उदयपुर के राणा कुम्भा जी से उनका विवाह हुआ था।[६] साथ ही साथ आपने यह भी लिखा है कि अकबर बादशाह भेष बदलकर तानसेन के साथ मीरांबाई के दर्शनों के लिये आया था।[७]

जयमल का जन्म, संवत १५६४ में हुआ था और जयमल के जन्म से ३६ वर्ष पूर्व ही राणा कुम्भा की उन्हीं के पुत्र ऊदा द्वारा हत्या की जा चुकी थी। ऐसी स्थिति में जयमल की पुत्री मीरां को राणा कुम्भा की रानी मानना भारी भूल है, फिर जयमल मीरा के पिता नहीं, चचेरे भाई थे। पता नहीं बाबू कार्तिक प्रसाद जी ने ये सब अनैतिहासिक बातें किस आधार पर लिखी हैं। प्रोफेसर रामलोचन शर्मा[८] और गुज-

---

१. आउटलाइन आफ दि रेलिजस लिट्रेचर आफ इंडिया—फर्कुहर, पृ० ३०६।
२. मीरांबाई—डा० कृष्णलाल, जीवनी खण्ड, पृ० ६१।
३. मिश्रबन्धु विनोद, मिश्रबन्धु, प्रथम भाग, पृ० २६२।
४. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १८२।
५. मीरांबाई का जीवन चरित्र—बाबू कार्तिक प्रसाद खत्री, पृ० १।
६. वही, पृ० ३।
७. वही, पृ० १२।
८. मीरांबाई—प्रोफेसर रामलोचन शर्मा, राजस्थान वर्ष १, संख्या १, पृ० २७।

राती लेखक कृष्ण प्रसाद भट्ट ने भी यही बातें लिखी हैं। भट्ट जी ने अपनी पुस्तक 'मीरांबाई' में लिखा है कि—प्रेमलक्षणा भक्ति ने गानार प्रेमदीवानी मीरांबाई नो जन्म थयो मेड़तामां, जयमल राठौड़ ने त्यां....कुम्भा जी राज साथे मीरांना लग्न अेटले-जयमल ने स्वर्ग ज मली गयु होय तेम लागतु हतु।[१]

भक्ति माहात्म्य चरित्रम् में भी "जयमल स्ततो मीरां सुमुहूर्ते ददौ मुदा" से भी कुछ ऐसा संकेत मिलता है कि मीरां जयमल की पुत्री थी। संभव है, शुरू के पाँच श्लोकों में और कोई विवरण हो, जो अनुपलब्ध है।

'राम रसिकावली' में भी 'मीरांबाई का चरित्र' लिखते समय बाँधवेश महाराज रघुनाथ सिंह ने मीरां को जयमल की ही पुत्री लिखा है।[२]

उपरोक्त सम्पूर्ण मत-मतान्तरों की जब हमने राजस्थान के इतिहास से तुलना की तो पता चला कि मीरां न तो कुम्भा की राणी थीं न जयमल की पुत्री। अतएव इनसे सम्बन्धित सभी मत अनैतिहासिक और गलत हैं और इसीलिए उन्हें मान्यता नहीं दी जानी चाहिये।

मीरां का कुल, जन्म-संवत और जन्म-स्थान

ऐतिहासिक शोध और तदनुसार किये गये अनुमानों के आधार पर अधिकांश विद्वानों ने मीरां का जन्म-संवत १५५५ से १५६१ के बीच माना है। किन्तु लिखित प्रमाण के अभाव में इन छः वर्षों के बीच किसी भी संवत विशेष को मीरां का जन्म-संवत मानने का आग्रह नहीं किया जा सकता। मीरां और भोजराज के वैवाहिक सम्बन्ध और आयु को देखते हुये अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि मीरां का जन्म राठौड़ कुल में हुआ था। वे जोधपुर के संस्थापक राव जोधा जी की प्रपौत्री राव दुदाजी की पौत्री और राव रत्नसिंह की पुत्री थीं।

विद्यानन्द शर्मा डीडवाना के मतानुसार "मीराबाई की माता का नाम कुसुमकुँअरथा। वे टाँकनी राजपूत थी। मीराबाई के नाना कैलनसिंह जी थे।"[३] स्वामी आनन्द स्वरूप जी के विचार से मीरां की माँ का नाम वीर कुँवरी था,

---

१. मीरांबाई—कृष्णप्रसाद भट्ट, पृ० १-१८।

२. रामरसिकावली—बांधवेश महाराज रघुनाथसिंह, मीरांबाई का चरित्र, पृ० ८६१।

३. मीरा के जीवन वृत्त का स्थानीय साक्ष्य—विद्यानन्द शर्मा, डीडवाना, मीरा स्मृति ग्रंथ, परिशिष्ट क (५), पृ० ५१।

जो झाला राजपूत सुरतानसिंह की कन्या थी ।[1]

प्राप्त इतिहास और प्रमाण के आधार पर मीरां का जन्म मेड़ता प्रदेश के अन्तर्गत कुड़की ग्राम[2] में संवत १५६० के लगभग आँका जा सकता है ।

मीरां का जन्म-संवत १५५५ के लगभग मानने में एक आपत्ति यह है कि संवत १५५५ में मीरां के श्वसुर राणा सांगा की आयु १४ वर्ष ठहरती है अतः इस आयु में वे भोजराज के पिता बन गये होंगे, विश्वसनीय नहीं है, फिर इतिहास हमें भोजराज के पूर्व भी राणा सांगा की एक पुत्री पद्मावती के जन्म की सूचना देता है, अतः ऐसी स्थिति में राणा सांगा का १४ वर्ष के पूर्व ही एक पुत्री का और फिर एक पुत्र का पिता होना प्रतीत होता है, जो संभव नहीं है । इसके अतिरिक्त यदि भोजराज जी की आयु मीरां से १ वर्ष भी अधिक मान ली जाय तो भोजराज जी का जन्म-संवत १५५४ और उसी समय उनके पिता राणा सांगा की आयु १३ वर्ष की मानी जायगी, जो असंभव है ।

मीरां का जन्म-संवत १५६० मानने से मीरां के जन्म के समय मीरां के श्वसुर राणा सांगा की आयु २१ वर्ष की होती है । यदि राणा सांगा की प्रथम पुत्री पद्मावती का जन्म, राणा सांगा की आयु के सोलहवें वर्ष में (संवत् १५५५) और भोजराज का जन्म उसके दो वर्ष बाद (संवत् १५५७) में माना जाय और मीरां की आयु भोजराज की आयु से दो-तीन वर्ष कम मानी जाये, तो मीरां का जन्म संवत् १५६० के लगभग आता है । फलतः मीरां का जन्म-संवत् १५५९ के बीच किसी समय माना जा सकता है ।

बाल्यकाल

मीरां के बाल्यकाल के सम्बन्ध में श्री विद्यानन्द शर्मा डीडवाना का मत है कि 'तीन वर्ष की अवस्था में उनके पिता जी तथा दस वर्ष की अवस्था में माता जी का शरीरान्त हो गया । उनका शेष अविवाहित काल अपने बाबा राव दूदाजी के पास मेड़ता (जोधपुर) में बीता ।[3] रावदूदाजी परम वैष्णव थे और मीरां के चचेरे भाई जयमल भी उच्च श्रेणी के भगवद्भक्त थे, अतः पूर्व जन्म के संस्कार और पारिवारिक

---

१. मीरां-सुधा-सिन्धु-स्वामी आनन्द स्वरूप, जीवनी, पृ० ८ ।

२. महिला मृदुवाणी में मुन्शी देवी प्रसाद जी ने पृष्ठ ५९ पर मीरां का जन्म स्थान कुड़की की जगह चौकड़ी लिखा है ।

३. डाकोर की प्रति, पद क्रमांक ३६ ।

वातावरण से शैशव में ही मीराँ के मन में भक्ति का अंकुर पल्लवित हो गया और उन्होंने संगीत, नृत्य और धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन राव दूदाजी के ही संरक्षण में ही किया । सन्त-समागम से उनका धार्मिक ज्ञान भी पर्याप्त बढ़ा । मीरां-पदावली में भी हमें मीरां की नैसर्गिक प्रतिभा का उन्मेष उनके विवाह के पूर्व दिखाई देता है, जब मीरां अपने परिणय की चर्चा अपनी सहेली से करते हुये कहती हैं कि–

> 'माई म्हाणों शुपणां मां परण्यां दीणानाथ ।
> छप्पण कोटां जणां पधारयां दूल्हा सिरी ब्रजनाथ ।
> शुपणां मां तोरण बंध्यारी, शुपणां मां गह्या हाथ ।
> शुपणां मां म्हारो परण गया पायां अचळ शुहाग ।
> मीराँ रो गिरधर मिळ्यारी, पुरब जणम रो भाग ।'[1]

इससे पता चलता है कि मीरां ने अपने पूर्व जन्म के संस्कार से अपने आपको कृष्णार्पण कर दिया था और वे अपने आपको कृष्ण की परिणीता मानती थीं। भक्तों में इसी प्रकरण को लेकर कई कथायें प्रचलित हैं । मीरां को किसी भजनानन्दी भ्रमणार्थी साधु से 'गिरधर' की मूर्ति प्राप्त हुई थी । मीरां ने उस मूर्ति को देखकर उसे पाने के लिये हठ किया और स्वप्न में प्रेरणा पाकर साधु ने वह मूर्ति मीरां को दे दी ।[2] उसी मूर्ति को मीरां ने अपना पति स्वीकारा,[3] और विवाह के समय भी वे उसी मूर्ति को लेकर ससुराल गईं ।[4]

'पुरब जणम रो भाग' के अनुरूप भक्तों ने मीरां को राधा, ललिता, चंपकलता अथवा किसी गोपी का अवतार माना है ।[5]

विवाह

मीरां की मूल पदावली से प्राप्त अंतरंग साधन और प्राचीन भक्तों के उल्लेखों

---

१. मीरां सुधा सिन्धु-आनन्द स्वरूप, जीवनी, श्री गिरिधर गोपाल प्रतिमा की प्राप्ति, पृष्ठ ११–१३ ।

२. वही, पृष्ठ ११-१३ ।

३. वही–भक्ति प्रेमांकुर, पृष्ठ १५-१६ ।

४. श्री नाभादास जी कृत भक्तमाल सटीक-मीराबाई जी की टीका, टीकाकार प्रियादास-कबित्त सं० ४६७-४६८ ।

५. मीराँ-सुधा-सिन्धु, आनन्द स्वरूप, जीवनी, पूर्व जन्म सम्बन्ध, पृष्ठ ८ ।

से मीरां के राणा कुल में विवाहित होने के सम्बन्ध-सूत्र पाये जाते है। राजस्थान के प्राचीन इतिहासकारों ने, जिनमें से कर्नल टॉड, सर जॉर्ज ग्रियर्सन आदि महत्वपूर्ण हैं, मीरां और राणा कुम्भा के विवाह का जो उल्लेख किया है, वह गलत है और हम भी इसे प्रामाणित कर चुके हैं। मीरां राणा कुंभा की पत्नी नहीं थीं। वे राणा कुंभा के पुत्र राणा सांगा के पुत्र भोजराज की पत्नी थीं और उनका विवाह संवत् १५७३ में हुआ था। प्रायः सभी इतिहासकार इससे सहमत हैं और ऐतिहासिक शोध और तिथियों के मिलान से भी यही ठीक है। केवल मिश्रबन्धुओं और पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने अपने साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में भूल से मीरां के विवाह संवत् को मीरां की जन्म तिथि लिख दिया है, जो अशुद्ध है।

प्रोफेसर शंभुप्रसाद जी बहुगुणा ने अपने लेख 'जनम जोगिण मीरां' में सभी किम्बदन्तियों को जोड़-तोड़ बैठाकर लिखा है कि 'यदि ऊदाबाई ऊदा की बहिन हों, और उदयसिंह मीरा के जेठ माने जायं, तो मीरां का रायमल की पत्नी होना अधिक संभव है[1]। टॉड सहारा लेकर आपने आगे यह भी लिखा है कि मीरा को दूदा जी की लड़की टॉड ने भी माना है। उन्हें रायमल की पत्नी के रुप में यदि माने, तो रैदास उनके गुरू हो सकते हैं, जेठ उदयकर्ण और ननद ऊदाबाई मिल जाती हैं।[2]

बहुगुणा जी का मन्तव्य एक कल्पना मात्र है जो मीरां को ऊदा की ननद और रैदास की शिष्या सिद्ध करने के लिये की गई हैं। बहुगुणाजी ने स्वयं स्वीकारा है कि 'ऊदाबाई' कौन है ठीक-ठीक रुप से इतिहास हमें नहीं बतलाता। मीरां के भजनों में वह मीरां की ननद हैं और सीसौदिया वंश की हैं। हो सकता है वह राजा ऊदा (उदयकर्ण) (राज्यकाल १४६८ से १४७३) की बहिन और राणा कुंभा (जन्म १४१६, राज्य काल १४३३ से १४६८ई०) की पुत्री हों।[3]

इतिहास में उदयकर्ण की किसी भी बहन का नाम ऊदाबाई नहीं मिलता, फिर वे पद जिनमें ऊदा मीरा की ननद हैं, प्रामाणिक नहीं है, और रैदास तो मीरां के नहीं उनकी पितामही रानी झाली के गुरू थे,[4] अतः मीरां को रायमल की पत्नी मानना अनैतिहासिक कल्पना मात्र है।

---

१. मीरा स्मृति ग्रंथ, पृष्ठ ३६-४०।
२. वही, पृष्ठ ४५।
३. वही, पृष्ठ ३६।
४. दि सिख रिलीजन-मेकालिफ (भाग ६) पृष्ठ ३१८।

वैवाहिक जीवन और पारिवारिक कलह

अन्य बातों की तरह मीरां का वैवाहिक जीवन और पारिवारिक कलह का स्वरुप भी विवादास्पद है। मीरां के मेवाड़ निवास-काल में तीन राणा हुये - १. राणा सांगा (राज्यकाल १५६६-८४) २. राणा रत्नसिंह (राज्यकाल संवत १५८५ से ८८ तक) और राणा विक्रमादित्य (राज्यकाल संवत् १५८८ से १५९३ तक) न इनमें से किस-किस राणा ने मीरां पर क्या-क्या अत्याचार किये ? यही विचारणीय। है।

नाभा जी भक्तमाल की प्रियादासकृत टीका से मीरां के वैवाहिक जीवन का संघर्ष गृह प्रवेश से ही शुरू हो जाता है, क्योंकि मीरां अपनी सास के कथनानुसार कुल देवी के समक्ष नत मस्तक हो उनकी पूजा नहीं करती तथा अपनी सास की आज्ञा का उल्लंघन करती है। मीरां के श्वसुर उन्हें अलग कर देते हैं। वहां भी मीरां-साधु-संतो की सेवा करती है। ननद उन्हें लोक-लाज का भय दिखाकर साधु-सन्तो के किये जाने वाले हेत से कलकं लगने का डर दिखाती है' पर मीरां संत-सत्संगति नही छोड़ती। इस पर राणा मीरां के लिये एक कटोरा जहर भेजते हैं, जिसे मीरां पी जाती हैं। साधु-संगति तथा मीरां के कृष्ण प्रेम और भावोद्रेकपूर्ण संलापों से मीरां को कुल-कलंकिनी समझ राणा स्वयं मीरां को तलवार से मारना चाहते है, अतः मीरां के ये प्राणान्तक प्रयास मीरां की सास की प्रेरणा से, मीरां के श्वसुर राणा सांगा द्वारा किये गये से प्रतीत होते हें।

किन्तु राणा सांगा ने मीरां पर ऐसे अत्याचार नहीं किये, क्योंकि मीरां उनकी पुत्र वधू थीं। राणा सांगा के जीवन काल में मीरां के पिता राव रत्नसिंह काका वीरमदेव और चचेरे भाई जयमल सभी जिन्दे थे अतः उनके रहते हुये मीरां पर ऐसे अमानुषिक अत्याचार राणा सांगा नहीं कर सके होंगे। मीरां के पिता रत्नसिंह तो राणा सांगा के सहयोगी थे। वे राणा सांगा और बाबर के बीच में होने वाले कन्हाव के युद्ध में राणा सांगा की ओर से लड़ते-लड़ते १५८४ में स्वर्ग सिधारे। अतः रत्नसिंह की इकलोती बेटी मीरां को पुत्र वधू बनाकर राणा सांगा ने उन पर ऐसे अत्याचार किये होंगे, असंगत है, अव्यवहारिक है, अनैतिहासिक कल्पना है। संभवतः लोक प्रचलित अनुश्रुतियों के आधार पर प्रियादास जी ने 'राणा' को मीरां के ऊपर अत्याचार करने वाला मान लिया है।

राणा रत्नसिंह, राणा सांगा की मृत्यु (संवत् १५८४) और राणा सांगा के कुँवर पाटवी भोजराज जी की मृत्यु (जो राणा सांगा के ही सामने हो चुकी थी) के पश्चात् गद्दी पर बैठे। रत्नसिंह जी प्रजावत्सल और योग शासक थे। वे बूंदी कें राव सूरजमल के षडयन्त्र से संवत् १५८८ में शिकार करते समय मारे गये। इस समय तक मीरां के चचेरे भाई शिरोमणि जयमल और काक वीरमदेव जी जीवित थे, अतः ऐसी

स्थिति में अल्पकालीन शासक रत्नसिंह जी ने मीरां पर स्वयं अत्याचार किये होंगे, इसका कोई प्रमाण इतिहास और भक्तों के उल्लेखों से नहीं मिलता । अधिक से अधिक यही अनुमान लगाथा जा सकता है कि रत्नसिंह के राज्यकाल में राजमहल के भीतर मीरां को बुरा भला कहा जाता होगा और उन्हें संत-संगति के लिये बार–बार समझाया गया होगा ।

राणा रत्नसिंह की मृत्यु के बाद तीसरे राणा विक्रमाजीत गद्दी पर बैठे। मुंशी देवी प्रसाद जी लिखते हैं कि चित्तौड़ के सरदार, राणा जी (रत्नसिंहजी) को दाग देकर रणथंभोर में गये और वहाँ से विक्रमाजीत (विक्रमादित्य सांगा का चतुर्थ पुत्र, राज्यकाल सवत् १५८८ से १५९३ तक) को चित्तौड़ में लाकर गद्दी पर बैठा दिया, उस वक्त राणा विक्रमाजीत की उमर २० बरस से कम थी और मिजाज में छिछोरपन जियादा था, इस सबब से सरदार सब नाराज हो गये और राणा जी ने मीरांबाई को भी बहुत तकलीफ दी, क्योंकि उनकी भगती देखकर साधू और सन्त उनके पास बहुत आया करते थे यह बात राणाजी को बुरी लगती थी और वे बदनामी के ख्याल से उन लोगो का आना-जाना रोकने के वास्ते मीरांबाई के ऊपर बहुत सखती किया करते थे।[1]

इसके अतिरिक्त भक्तमाल के टीकाकार श्री सीताराम शरण भगवान प्रसादजी रूपकला ने लिखा है कि 'गनगौर' की पूजा न करने पर मीरां की सास ने जब अपने पति से शिकायत की तब बात यहाँ तक बढ़ी कि मीरां जी के लौकिक पति राना के कुमार ने दूसरा विवाह कर लिया और इस संसार से भी चल दिया । [2]

मीरां की सास, ननद पति से कहा सुनी वाले पदों में मीरां का जो पारिवारिक संघर्ष दर्शाया गया है, वह परवर्ती भक्तों और मीरां-गुण-गायकों की कृतियाँ हैं । मीरां जैसी भक्तात्मा, सुशीला द्वारा इस तरह के अशिष्ट संवाद समीचीन नहीं हैं ।

श्री महाबीर सिंह जी गहलोत का मत है कि 'मीरां के कुछ कहे जाने वाले पदों में उसका और उसकी सास या श्वसुर का या पति का वाद विवाद मिलता है । ये नितान्त झूठी कल्पनायें हैं । मीरां और उसकी ननद ऊदाबाई का विवाद, संभव है, हुआ हो पर उसे पद रूप में किसने स्थान दिया-यह चिन्त्य विषय है । यह ऊदाबाई तो ऐतिहासिक पात्र हैं । इनका नाम तो इतिहास में नहीं है, पर कुछ पदों में यह कहती हैं—

---

१. मीरांबाई का जीवन चरित्र-मुंशी देवी प्रसाद पृष्ठ १२ ।

२. भक्त माल सटीक-टीकाकार श्री सीतारामशरण भगवानप्रसाद रुपकला पृष्ठ ७०४ ।

भाभी मीरां, कुल ने लगाई गाल ।
ईडरगढ़ का आया जी ओलंबा ।[1]

इससे यह ज्ञात होता है कि यह ईडरगढ़ में ब्याही गई होंगी । इतिहाससे जान पड़ता है कि ईडर के राव सूर्यमल के पुत्र रायमल जब अपने चाचा भीम के डर से सिंहासन छोड़कर राणा सांगा की शरण में आये तब रायमल की सगाई राणा ने अपनी पुत्री से कर दी थी । भीम के पश्चात् भारमल गद्दी पर बैठा । उसे संवत् १५७१ में रायमल ने राणा सांगा की सहायता से गद्दी से उतार दिया और स्वयं राजा बना । इन्हीं ईडर के राव रायमल की पत्नी ऊदा, मीरां की ननद थी । बहुत संभव है ननद ऊदा ने अपनी भाभी मीरां को लोक-लाज छोड़ने पर उसे बहुत कुछ कहा सुना हो ।'[2]

मीरां की मूल पदावली में भी उनके पारिवारिक क्लेशों के संकेत पाये जाते हैं । यथा:—

(अ) 'भाया छांड्यां बंधा छांड्यां, छांड्यां सगा सूयां ।
साधा संग बैठ बैठ ळोक ळाज खूयां ॥'[3]

(ब) 'पग बांध घुंघरयां णाच्यां री ।
ळोक कह्यां मीरां बावरी शाशू कह्या कुळनाशां री ।'[4]

(इ) मीरा गिरधर हाथ विकाणो , लोग कह्यां बिगड़ी ।[5]

(ई) कड़वा बोळ ळोक जग बोळयां, करश्यां म्हारी हांशी ।[6]

मीरां ने 'राणा' को सम्बोधन करते हुये जो पद लिखे हैं उनमें भी उनके पारिवारिक संघर्ष की गहरी छाप है -

सांवरियो रंग रांचा, राणां सांवरियों रंग रांचा ।
ताळ पखावजां मिरदंग बाजां साधां आगे णाचां ।
बूझयां माणे मदण बावरी, श्याम प्रीत म्हां कांचा ।[7]

---

१. मीराबाई की शब्दावली-मीराबाई और कुटुम्बियों की कहा सुनी, पृष्ठ ३७ शब्द २ ।
२. मीराँ : जीवनी और काव्य-महाबीरसिंह गहलौत, भूमिका, पृष्ठ २४-२५ ।
३. डाकोर की प्रति, पद १ ।
४. वही पद ४७ ।
५. डाकोर की प्रति, पद १५ ।
६. डाकोर की प्रति, पद ८६ ।
७. वही , पद ४८ ।

विधि के विधान का उल्लेख करते हुये एक पद में मीरां ने 'मूरख जण सिंगासण राजां, पंडित फिरतां द्वारां। मीरां रे प्रभू गिरधर नागर, राणां भगतः संधारा।[1] लिखा है। 'राणा भगत संधारा' से राणा रत्नसिंह का संकेत मिलता है। राणा रत्नसिंह अपने पिता राणा सांगा की ही भाँति प्रजावत्सल थे। शैव और वैष्णव धर्मों के प्रति उनकी परम्परागत निष्ठा थी[2] अतः उनकी मृत्यु से मीरां को अवश्य खेद हुआ होगा और फिर "मूरख जण सिंघासण राजां" कहकर मीरां ने अदूरदर्शी राणा विक्रमाजीत की ओर इंगित किया है, जो मीरां को 'मदण बावरी' और "श्याम प्रीत म्हां कांचां" समझता था।

इन्हीं विक्रमाजीत नें मीरां के लिये विष का प्याला और पिटारी में काला नाग भेजा था। यथा -

राणा भेज्यां बिखरो प्याला चरणामृत पी जाणा।
काळा णाग पिटांरयां भेज्यां शाळगराम पिछाणा।[3]

इन सभी दृष्टान्तों से पता चलता है कि मीरां का वैवाहिक जीवन सुख पूर्ण नहीं था। उनका भक्ति-भाव और सन्त-समागम ही उनके पारिवारिक विरोध का कारण था।

वैधव्य

मीरां के वैधव्य की तिथि इतिहास से ज्ञात नहीं होती। मीरां के श्वसुर कुल के सम्पूर्ण इतिहास और वंशावली को देखने से पता चलता है कि मीरां के पति कुँवर भोजराज राणा सांगा के ही सामने स्वर्गस्थ हो चुके थे। मीरां का विवाह सम्वत १५७३ और राणा सांगा की मृत्यु सम्वत १५८४ है, अतः इसी बीच भोजराज जी की मृत्यु हुई होगी। श्री परशुराम जी चतुर्वेदी ने मीरां वैधव्य काल सम्वत १५७५ और सम्वत १५८० के बीच माना है।[4] डा० श्रीकृष्णलाल उसे सम्वत् १५८० के आसपास मानते हैं।[5] श्री महावीरसिंह जी गहलौत ने उसे सम्वत् १५७२ से १५८४ के मध्य

---

१. डाकोर की प्रति, पद ५१।
२. अर्क्योलौजिकल सर्वे आँफ इंडिया, सालाना रिपोर्ट, सन् १९३४-३५, पृष्ठ ५९।
३. डाकोर की प्रति, पद ६१।
४. मीराँबाई की पदावली-परशुराम चतुर्वेदी, भूमिका, पृष्ठ-१७।
५. मीराँबाई-डॉ० श्रीकृष्ण लाल, जीवन वृत्त, पृष्ठ-६९।

लिखा है ।[1] श्री नरोत्तमदास जी स्वामी ने भोजराज जी की निधन-तिथि सम्वत् १५८३ दी है ।[2]

सन्त समागम और जोगी

मीरां की जीवनी के अन्तरंग साधनों, प्राचीन भक्तों के उल्लेखों और सभी इतिहासकारों का निश्चित मत है कि मीरां साधु-सन्तों को पूज्य बुद्धि से देखती थी और उनके समक्ष लोक-लाज-कुल मर्यादा को छोड़ कर गिरधर की मूर्ति के सामने नाचती थी । सखी सहेलियों के समझाने और राणा द्वारा विष और काला नाग भेजे जाने पर भी उनका मीरां पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा । साधु संगति न चाहने वाले संसार को वे 'कुबुधरो भांडो'[3] मानती थीं, क्योंकि बरजने पर भी वे 'स्याम' के बिना नहीं रह सकती थीं । वे साधुओं की संगति में 'हरिशुख' पाती थीं और संसार से दूर रहती थीं ।[4] इसीलिये उन्होंने राणा-द्वारा दिये गये विष के प्याले को पिया और काले नाग को सालिगराम के रूप में पहचाना ।[5]

मीरां के संत समागम का विरोध क्यों हुआ ? यह भी विचारणीय है । मीरां के युग में सम्पूर्ण भारतवर्ष में भक्ति आन्दोलन चल रहा था । राजस्थान में भी, विशेष कर मीरां के श्वसुर कुल से बल्लभ सम्प्रदायी कृष्ण-भक्तों और रैदासी संतों का ऐतिहासिक सम्बन्ध था, अतः मीरां के उनसे मिलने-जुलने और ज्ञान-चर्चा करने के बारे में किसी को भी आपत्ति नहीं थी । मीरां की मूल पदावली और उसके विकास को देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि लौकिक भोगानंद में ब्रह्मानंद की कल्पना करने वाले योगी अवधूत और कापालिकों, जिन सबके लिये भी मीरां के मंदिर के द्वार खुले थे, को लेकर मीरां की सास, देवर तथा नन्द और अन्य परिवार वालों ने घोर विरोध किया था । मीरां के कुछ मूल पद,[6] जो वास्तव में कृष्ण-वियोग की भावना से ओतप्रोत है, जब किसी साधु द्वारा जोगी-वियोग की भावना में परिवर्तित कर गली-गली में गाये गये होंगे, तो उससे मीरां की लोक निंदा हुई होगी और उसी से चिढ़कर राणा विक्रमा-

---

१. मीराँ: जीवनी और काव्य-महावीरसिंह गहलौत, पृष्ठ-२२-२३ ।
२. मीरां-मन्दाकिनी-श्री नरोत्तमदास स्वामी, प्रस्तावना, पृष्ठ ६ ।
३. डाकोर की प्रति, पद ५५ ।
४. वही-पद ६० ।
५. डाकोर की प्रति, पद ६१ ।
६. देखिये प्रस्तुत प्रबन्ध का खण्ड ३, अध्याय ८ पद ७४-७७ ।

दित्य ने मीरां को मार डालने के प्रयत्न किये थे । संभव है नाभा जी के भक्त माल की प्रियादास जी कृत टीका, तथा राघवदास कृत भक्तमाल की चतुरदास कृत टीका में वर्णित विषयी कुटिल साधु कोई नाथपंथी भोगाचारी जोगी रहा हो जिसने मीरां से सन्त समाज में लज्जित होने के बाद उनके विरोध में हीन भावनात्मक प्रचार किया हो और मीरां के कृष्ण वियोगी पदों को जोगी-वियोगी पदों के रूप में ब्रजभाषान्तरित कर गाया हो । जोगी के प्रति सम्बोधित मीरां के नाम से प्रचलित पदों के आधार पर श्रीमती पद्मावती जी शबनम ने मीरां के 'जोगी विशेष प्रति गहरे व्यक्तिगत दाम्पत्य सम्बन्ध को व्यक्त करने वाले अन्तःस्रोत की कल्पना की है,[१] जो अनुचित है, अप्रामाणिक है, मीरां की पवित्र नैतिकता पर आरोपित कलंक है ।

विषपान और साँप-पिटारा

मीरां की मूल पदावली में राणा द्वारा दिये गये प्राणान्तक क्लेशों में विषपान और साँप पिटारे की कथा विद्यमान है:—

'राणा भेज्यां बिखरो प्याळा चरणामृत पी जाणा ।
काळा णाग पिटारयां भेज्यां शाळगराम पिछाणा ।'[२]

सभी प्राचीन भक्तों ने मीरां के विषपान का उल्लेख किया है । मुन्शी देवी प्रसाद जी ने मीरां को विष देने वाले व्यक्ति को राणा विक्रमादित्य का मुसाहिब बीजावर्गी वैश्य लिखा है ।[३] बाबू शिवनन्दन सहाय ने भी मुन्शीजी के ही मत का समर्थन किया है ।[४] श्री ब्रजरत्नदास जी ने मीरां को विष ले जाकर देने वाले पंडा का नाम 'दयाराम' दिया है,[५] जो संभवतः मीरांबाई की शब्दावली पर आधारित है ।[६] बहुत संभव है कि मीरां पर इस विष का कोई प्रभाव न पड़ा हो, अथवा मीरां तक पहुँचाये जाने वाले प्याले में कुछ परिवर्तन हो गया हो ।

'मीरां' मौलिक नाटक में श्री गोकुलचन्द शास्त्री सन्त ने विष का प्याला लाने वाले दयाराम पंडा के स्वकथन में लिखा है—वैद्यराज ने तो कहा था कि विष भयंकर

---

१. मीरां : एक अध्ययन—पद्मावती शबनम, पृष्ठ-१२६ ।
२. डाकोर की प्रति, पद क्रमांक ६१ ।
३. मीरांबाई का जीवन चरित्र, मुन्शीदेवीप्रसाद, पृष्ठ-१३-१५ ।
४. श्री गोस्वामी तुलसीदास-बाबू शिवनन्दन सहाय, पृष्ठ ११३-११४ ।
५. मीराँ-माधुरी-ब्रजरत्नदास, भूमिका पृष्ठ १०८ ।
६. मीरांबाई की शब्दावली, मिश्रित अंग, पृष्ठ ६७, पद ३२ ।

है । एक बिन्दु मात्र ही अन्दर जाने से प्राण निकलने में देर न लगेगी, पर प्राण निकलने की बात तो दूर रही, उल्टे इनमें अधिक सजीवता और स्फूर्ति आ गई है । ......यह हो नहीं सकता कि विष भयङ्कर हो और वह असर न करे । अवश्य वैद्य ने धोखा दिया है ।'[1]

नाटकीय ढंग से विष-पान के असर न होने का यह अच्छा मनोवैज्ञानिक समाधान है, किन्तु वस्तु स्थिति मीरां के विषपान की समर्थक है । यही स्थिति 'साँप-पिटारा' वाली कथा की है ।

प्राणान्तक क्लेशों की अन्य कथायें

भक्तों की महिमा, भगवद्कृपा की शक्ति और ईश्वरीय अनुग्रह के अधिष्ठान केलिये जैसे अनेक भक्तों के जीवन में चमत्कारिक अलौकिक घटनायें, कथा प्रसंगों पर सुनाई जाती हैं, उसी प्रकार मीरां के बारे में भी अनेक कथायें चल पड़ी हैं, जिनमें से कुछ अतिप्रचलित कथायें इस प्रकार हैं:—

१. राणा ने मीरांबाई को काल कोठरी में रखा, जहाँ साँप, बिच्छू व गोयरे आदि जंतुओं की कमी नहीं थी । मीरां सात दिन तक उसमें रहकर अलौकिक तेजस्विनी बन वहाँ से निकली ।

२. मीरां को कष्ट देने के लिये राणा ने कठोर हृदय की भयंकर रूपवाली दासियाँ नियुक्त कीं, किन्तु त्रिजटा के समान चम्पा और चमेली दासियों ने मीरां की रक्षा की ।

३. राजवैद्य से तीव्र विष लेकर राणा ने ऊदाबाई की देख रेख में दयाराम पंडा द्वारा चरणामृत के नाम से मीरां के पास भेजा, किन्तु मीरां सब विष पी गई और उन पर कुछ असर नहीं हुआ । राणा ने राजवैद्य को बुलाकर उसी विष की शेष बूदें बलपूर्वक उसकी जिव्हा पर डलवाई और राजवैद्य मर गया । मीरां ने मल्हार राग गाकर मृत राजवैद्य को पुनः जीवन दान दिया ।

४. राणा द्वारा भेजे गये सर्प मीरां के गले में रत्नहार बन गये ।

५. भूखे व्याघ्र के पिंजड़े में मीरां सकुशल बच गई । भूखा व्याघ्रश्वान के समान मीरां के चरणों के पास बैठ गया । इसलिये राणा ने मीरां को मंत्र-तंत्र में निपुण माना ।

---

१. मीरां (मौलिक नाटक)—गोकुलचंद शास्त्रीसंत, पृष्ठ ११३

६. राणा ने मीरां को तीक्ष्ण शूलों की सेज पर सुलाया, पर गिरधर की प्रतिमा के साथ उसपर सोते ही वे शूल मीरां के लिये कमल के फूल बन गये ।

७. राणा ने मीरां को भूत महल में रखा, पर मीरां का बाल भी बाँका नहीं हुआ, उल्टे भूतात्माओं की मुक्ति हो गई ।

८. राणा मीरां को मारने के लिये तलवार लेकर गया, किन्तु मीरां के कमरे में नरसिंह रूप देख भयभीत होकर भागा ।[1]

ये सभी कथायें मीरा के भक्त रूप की समर्थक हैं और यह सिद्ध करती हैं कि "जाको राखे साइयाँ मारि न सक्कै कोय। बाल न बाँको करि सकै, जो जग बैरी होय ।" किन्तु प्रामाणिकता की दृष्टि से ये कथायें संदिग्ध हैं । वास्तव में ये कथायें भक्तों द्वारा गढ़ी गई हैं । केवल विषपान और साँप पिटारे वाली कथायें ही मीरां की मूल पदावली में प्राप्त हैं, अतः अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि "विषमप्य मृतायते-क्वचित् ।"[2] सर्प-दर्शन के प्रयासों से भी मीरां इसी प्रकार बच गई होगी ।

मीरां का तुलसीदास से पत्र व्यवहार

कहा जाता है कि पारिवारिक क्लेशों से उद्विग्न होकर मीरां ने गोस्वामी तुलसीदास जी को एक पत्र लिखकर मार्ग-दर्शन चाहा और तुलसीदास जी ने उन्हें 'सब तजि हरि भजिबो भलो' सन्देश भेजा । बाबा वेणीमाधवदास ने इस घटना की तिथि संवत् १६१६ बतलाते हुये लिखा है :—

> सोरह सौ सोरह लगै, कामद गिरि ढिग वास ।
> सुचि एकान्त प्रदेश महँ, आये सूर सुदास ।।२९।।
>
> ... .
>
> लैपाति गये जब सूर-कबी, उर में पधराय के श्याम छबी ।।३०।।
> तब आयो मेवाड़ ते, विप्रनाम सुखपाल ।
> मीरांबाई पत्रिका, लायो प्रेम प्रबाल ।।३१।।
> पढ़ि पाती, उत्तर लिखे, गीत कवित्त बनाय ।
> सब तजि हरि भजिबो भलो, कहि दिय विप्र पठाय ।।३२।।[3]

---

१. मीरां-सुधा-सिन्धु,-आनन्द स्वरूप, पृष्ठ ४९—५८ ।

२. रघुवंश सर्ग ८, श्लोक ४६ ।

३. मूल गोसाईं चरित (गीता प्रेस गोरखपुर)—श्री वेणीमाधव दास, पृष्ठ १५ ।

मीरां का पत्र--मीरांबाई की शब्दावली में मीरां के पत्र का स्वरूप इस प्रकार है :--

श्री तुलसी सुख-निधान, दुख हरन गुसाईं।
बारहि बार प्रनाम करूं, अब हरो सोक समुदाई ॥
घर के स्वजन हमारे जेते, सबन उपाधि बढ़ाई।
साधु सँग अरु भजन करत, मोहि देत कलेस महाई ॥
बाल पने तें मीरां कीन्हीं गिरधर लाल मिताई।
सो तौ अब छूटत नहिं क्यों हूँ, लगी लगन बरियांई ॥
मेरे मात पिता के सम हौ, हरि भक्तन सुखदाई।
हमको कहा उचित करिबो है, सो लिखियो समुझाई ॥[1]

इस पत्र के उत्तर में गुसाईं तुलसीदास जी ने एक पद और एक सवैया लिख भेजे :--

पद- जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही ॥
तज्यो पिता प्रहलाद, विभीषण बन्धु भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो, कन्त ब्रज बनिता, भये सब मंगलकारी ॥
नातो नेहराम सों मनियत, सुहृद, सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँख जो फूटे, बहुतक कहौं कहाँ लौं ॥
तुलसी सो सब भाँति परम हित, पूज्य प्रान ते प्यारो।
जासों बढ़े सनेह राम पद, एतो मतो हमारो ॥

सवैया- सो जननी, सो पिता, सोइ भ्रात,
सो भामिन, सो सुत सो हित मेरो।
सोइ सगो सो सखा सोइ सेवक सो गुर सो सुर साहिब चेरो ॥
सो तुलसी प्रिय प्रान समान, कहाँ लौं बनाइ कहौं बहुतेरो।
जो तजि गेह को, देह को नेह, सनेह सों राम को होय सबेरो ॥

उक्त पद और सवैया तुलसीदास जी की ही रचनायें हैं, और थोड़े से हेर फेर के साथ काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'तुलसी' ग्रन्थावली के दूसरे खंड

१. मीरांबाई की शब्दावली,जीवन चरित्र, पृष्ठ ४।

में संग्रहीत हैं ।[1]

मीरां और तुलसीदास का यह पत्र व्यवहार ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वथा असत्य है, क्योंकि मीरां का स्वर्गवास संवत् १६०३ में हो गया था, अतः संवत् १६१६ में तुलसीदास से मिलने के लिये मीरां का व्यक्तिगत प्रयास[2] अथवा यह पत्र व्यवहार सर्वथा असंभव है । डॉ० श्री कृष्ण लाल ने इस पत्र व्यवहार के सारे ऐतिहासिक पहलुओं पर विचार कर लिखा है कि 'मीरांबाई के परमार्थी पत्र-व्यवहार में लेश मात्र भी सत्य नहीं है, केवल गुसाईं जी की महत्ता प्रमाणित करने के लिये उनके भक्तों द्वारा कल्पित जान पड़ती है ।[3]' श्री परशुराम चतुर्वेदी,[4] श्री महावीरसिंह गहलोत[5] आदि सभी विद्वान इस परमार्थी पत्र-व्यवहार को अप्रामाणिक मानते हैं ।

मेवाड़-त्याग

राणा विक्रमाजीत की अयोग्यता, 'छिछोरपन' और शासन की कुव्यवस्था से प्रोत्साहित होकर गुजरात के हाकिम बहादुर शाह ने संवत् १५८६ में मेवाड़ पर चढ़ाई की, पर सुलह हो गई । दो वर्ष बाद संवत् १५९१ में बहादुरशाह ने फिर चित्तौड़ पर हमला किया और फतह पाई । इसी बीच में संवत् १५६० के लगभग मीरां अपने चाचा राव वीरमदेव जी के पास मेड़तां चली गईं । बहादुरशाह की चित्तौड़ विजय के बाद जो शाका हुआ, उसमें १३,०० महिलाओं ने जौहर किया था । यदि उस समय मीरां वहाँ होती तो उन्हें भी अवश्य जौहर की ज्वाला में भस्मी-भूत होना पड़ता, किन्तु इस शाके के पूर्व ही मीरां ने मेवाड़ त्याग दिया था । इतना निश्चित है ।

माई (साखी) ललिता

मीरांबाई की शब्दावली में लिखा है कि 'मीरांबाई ने चित्तौड़ छोड़ने का मनसूबा पक्का किया और ऊदा बाई को आज्ञा की कि तुम यहीं बनी रहो और आप

---

१. पद—तुलसी ग्रंथावली (दूसरा खण्ड), विनय पत्रिका, पृष्ठ ५५१ ।
सवैया—वही, कवितावली, पृष्ठ २११ ।

२. श्री गोस्वामी तुलसीदास जी—बाबू शिवनन्दन सहाय, पृष्ठ १११, टिप्पणी ।

३. मीराबाई—डा० श्रीकृष्णलाल, जीवनी खण्ड पृष्ठ ४२ ।

४. मीरांबाई की पदावली—श्री परशुराम चतुर्वेदी, परिशिष्ट पृष्ठ २२८-२३६

५. मीरां जीवनी और काव्य—महाबीरसिंह गहलोत, दंतकथायें, पृष्ठ ३७-४० ।

गेरुआ वस्त्र पहिन कर रात के समय चम्पा, चमेली आदि सेवकों के साथ अपने मायके मेड़ता को आईं ।[1] किन्तु मीरां की चम्पा, चमेली सेविकाओं के नाम प्राचीन भक्तों के उल्लेखों अथवा इतिहास-ग्रंथों में नहीं मिलते । हो सकता है कि चम्पा, चमेली नाम की कोई दासियाँ मीरां के साथ रहीं हों, किन्तु मीरां के साथ सदैव रहने वाली एक विशिष्ट आत्मीया सखी ललिता का उल्लेख ध्रुवदास जी कृत 'भक्तनामावली' में मिलता है । इसी ललिता ने मीरां के पद लिपिबद्ध किये थे, जिसका इतिहास हम पहले प्रस्तुत कर चुके हैं । मीरां के सुख-दुःख की यह अन्तरंग सहेली अवश्य मीरां के साथ चित्तौड़ में भी रही होगी और विक्रमादित्य द्वारा किये गये षडयन्त्रों से इसने अवश्य ही मीरां को बचाया होगा । यही ललिता सखी मीरां के साथ मेड़ता से वृन्दावन और द्वारका तक गई थी ।

मेड़ता-निवास

मेड़ता आने पर मीरां को भजन-पूजन और सत्संग के लिये अनुकूल वातावरण मिला । मीरां के चचेरे भाई वीर श्रेष्ठ जयमल सुप्रसिद्ध भक्त थे, अतः मीरां अपने चचेरे भाई जयमल और चाचा वीरमदेव के साथ सानन्द रही होंगी । वीरमदव के यहाँ मेड़ता में मीराँ के भक्ति-भाव का कोई विरोध नहीं हुआ क्योंकि वैधव्य के कारण वे वीरमदेव और जयमल के विशिष्ट स्नेह और सहयोग की अधिकारिणी बन गई थीं, इसीलिये मेड़ता में मीरां खुले हृदय से साधु सन्तों का आतिथ्य सत्कार और सत्संग करती थीं । पुष्टिमार्गी वार्ता साहित्य के अनुसार हरिवंश व्यास, सचौरा गोविन्द दुबे, रामदास कीर्तनियाँ, कृष्णदास अधिकारी आदि वैष्णव भक्तों का मीरां के घर पर धर्म-चर्चा और भगवद्वार्ता के लिये रुकना इसका प्रमाण है । साथ ही इन वार्ताओं से इस तथ्य का भी समर्थन होता है, कि मीरा बल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित नहीं हुई थीं ।

मेड़ता-त्याग

जोधपुर के राव मालदेव और मीरां के चाचा राव वीरमजी में संवत् १५८५ से ही मनमुटाव चला आ रहा था । संवत् १५९५ में जब वीरमदेव जी ने अजमेर पर अपना कब्जा कर लिया; तो मालदेव ने उनसे अजमेर माँगा । वीरमदेव जी के मना करने पर संवत् १५९५ में मालदेव ने मेड़ता पर आक्रमण किया और वीरमदेव जी से मेड़ता छीन लिया । वीरमदेव जी अजमेर भागे, पर मालदेव ने वहाँ भी उनका पीछा न छोड़ा । तब वीरमदेव जी ने रणथंभौर के दुर्ग में अपने परिवार को छोड़ा और शेर-

---

१. मीराबाई की शब्दावली—मीराबाई का जीवन चरित्र, पृष्ठ ५ ।

शाह की शरण ली । बहुत संभव है कि इसी समय, पारिवारिक संकट-काल और अनिश्चित भविष्य से सशंक मीरां ने मेड़ता छोड़ वृन्दावन की यात्रा की होगी । मीरां की यह तीर्थ यात्रा भी अन्य बातों की तरह विवादास्पद है ।

तीर्थ-यात्रा का स्वरूप

'मीरां: एक अध्ययन' प्रस्तुत करते समय 'तीर्थगमन' प्रकरण के अन्तर्गत शबनम जी ने मीरां की तीर्थ-यात्रा के सम्बन्ध में निम्नलिखित संकेत किये हैं :—

(१) लोक गीतों के आधार पर उन्होंने लिखा है कि 'मेड़ते से ही मीरां द्वारिका की ओर प्रस्थान करती हैं । मेड़ते से द्वारिका जाते समय पुष्कर तीर्थ मार्ग में ही पड़ता है । जूनागढ़ द्वारिका के करीब पड़ता है । नाथ पंथियों का प्रमुख मठ भी यहीं है ।[1]

(२) मुन्शी देवीप्रसाद जी द्वारा लिखित 'मीरांबाई का जीवन-चरित्र' के पृष्ठ २८ और २९ पर दो बार मीरा की वृन्दावन यात्रा का उल्लेख देखकर शबनम जी को यही आभासित होता है कि उनके मातानुसार मीरां ने वृन्दावन की यात्रा दो बार की थी ।[2]

(३) भक्तमाल के टीकाकार ध्रुवदास जी का हवाला देते हुये आप लिखती हैं कि 'वृन्दावन की यात्रा से लौटने पर' राणा की मलीन मति देखि बसी द्वारावती इससे यही आभासित होता है कि मीरां वृन्दावन से सीधे द्वारिका नहीं चली जाती, जैसी कि प्रायः विद्वानों की राय है । इतना ही नहीं, अपितु वे चित्तौड़ आती हैं, और एक काल विशेष तक रह भी जाती हैं । 'राणा की मलीन मति देखि' वाक्यांश बहुत ही महत्वपूर्ण है । राणा की कुल वधू रूप में रहकर ही राणा की 'मति' को 'देखि' उस पर असन्तोष किया जा सकता है । उपर्युक्त बातों पर विचार करने से यही प्रतीत होता है कि सम्भवतः तीर्थ हेतु की गई वृन्दावन यात्रा से लौटने पर' राणा की रीति-नीति से दुखित हो मीरां गृह-त्याग कर द्वारिका चली जाती हैं ।[4]

(५) सर्वमान्य मतों, लोक गीतों और मीरां के नाम से प्रचलित पदों में पाई जाने वाली असंगतियों को देख अतिशंकित हो शबनम जी ने लिखा है कि 'उपर्युक्त'

---

१. मीरां : एक अध्ययन—पद्मावती शबनम, पृष्ठ ७५ ।

२. वही, पृष्ठ ७५ ।

३. वही, पृष्ठ ७६ ।

४. मीरां : एक अध्ययन—पद्मावती शबनम, पृष्ठ ८०-८१ ।

बातों पर विचार करने से गृह-त्याग के बाद मीरां द्वारा की गई वृन्दावन यात्रा ही संदिग्ध जान पड़ती है ।[1]

मीरां का वृन्दावन वास

ध्रुवदास जी की भक्त नामावली, नागरीदास जी की 'पद प्रसंग माला' आदि प्राचीन उल्लेखों तथा सभी इतिहासकारों के मतों से मीरां की वृन्दावन यात्रा निश्चित है । मीरां की मूल पदावली की डाकोर की प्रति के पद क्रमांक ३,४,५,७ और ८ से मीरां के वृन्दावन-वास का पुष्ट प्रमाण प्राप्त हो जाता है, अतः देवी जी के पहले और पाँचवे निष्कर्ष निस्सार हैं । मीरां की दो बार वृन्दावन-यात्रा के कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है । प्रियादास जी की टीका में भी 'वृन्दावन आई जीव गुसाई जी सों मिली झिली, से मीरां की एक वृन्दावन-यात्रा का संकेत मिलता है, अतः देवी जी का दूसरा निष्कर्ष भी बौद्धिक भ्रम मात्र है । 'राणा की मलीन मति देखि बसी द्वारावती' को महत्वपूर्ण मानकर देवी जी ने मीरां के वृन्दावन से चित्तौड़ लौट कर कुछ दिन वहाँ रहने की तथा राणा की 'मलीन मति' को 'देखि' चित्तौड़ से द्वारिका जाने की जो कल्पना की है वह नितान्त भ्रामक है । जिस चित्तौड़ में मीरां ने जग के बोल सहे, जिस राणा ने उसे मदन बावरी समझ विष पान कराया और पिटारी में काला नाग भेजा, उसी राणा-परिवार में वृन्दावन से लौटकर मीरां आई होंगी और वहाँ एक 'काल विशेष' तक रहकर द्वारका गई होंगी, मीरां जैसी मनस्विनी नारी के लिये संभव प्रतीत नहीं होता । मीरां की मूल पदावली, उनकी जीवनी के अन्तः साक्ष्य और ऐतिहासिक शोध तथा मीरां के स्वाभिमानी व्यक्तित्व को देखते हुये इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मीरां ने वैधव्य के बाद एक बार चित्तौड़ छोड़ने पर फिर वहाँ कदम नहीं रखा होगा । मीरां की तीर्थ-यात्रा वृन्दावन से डाकोर और डाकोर से द्वारका तक हुई थी । इसका विवेचन मीरां की जीवनी के अन्तरंग साधनों का विश्लेषण करते समय सप्रमाण किया जा चुका है, अतः उसे यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं है ।

जीव गोस्वामी से भेंट

'भक्त माल' की टीका करते समय मीरांबाई के विषय में प्रियादास जी ने लिखा है कि "वृन्दावन आई, जीव गुसाईं सो झिली मिली, तिया मुख देखिवे को पन ले छुड़ायौ है । "इसी घटना का उल्लेख चत्रदास जी ने राघवदास जी के भक्तमाल की

१. मीरां : एक अध्ययन, पद्मावती शबनम, पृष्ठ ८०-८१ ।

टीका में जा बृज जीउ मिली पन हौ तिय देषत नै मुष ताही छुड़ायो" और नागरीदास जी ने भी यही लिखा है कि "मीरांबाई गंगादिक तीरथ करिकैं अरु श्री वृन्दावन हू आये, तहां जीऊ गुसाई जू को प्रण स्त्री के न देखिबे को छुटाय सब सों गुरु गोविन्दवत् सनमान सत्संग करि द्वारिका कों चले ।"

मीरां और जीव गोस्वामी की भेंट की कथा का सार यह है कि वृन्दावन में मीरां सुप्रसिद्ध विद्वान और भक्त जीव गोस्वामी जी से मिलने गई । गोस्वामी जी कट्टर ब्रह्मचारी थे, अतः वे स्त्रियों का मुख तक नहीं देखते थे । यही उनकी प्रतिज्ञ थी, अतः मीरां के पहुँचने पर उन्होंने कहला भेजा कि नारी होने के नाते मीरां से वे भेंट नहीं करेंगे । इस पर मीरां ने जो गूढ़, रहस्यमय और विद्वत्तापूर्ण उत्तर दिया, उससे प्रभावित हो जीव गोस्वामी अपनी प्रतिज्ञा भंग कर मीरां से मिले । मीरां ने उन्हें बतलाया कि वृन्दावन में पुरुष तो केवल एक मात्र मेरे प्रियतम श्रीकृष्ण हैं, शेष सब स्त्रियाँ हैं, फिर आप पुरुष कैसे ? जीव गोस्वामी को मीरां द्वारा दिया गया उत्तर श्रीमद्भागवत के "वासुदेव पुमनेकः स्त्रीमयमितरज्जगत्" के अनुरूप था, अतः जीव गोस्वामी मीरां से मिलने के लिये बाध्य हुये ।

रूप गोस्वामी से भेंट

मीरां की जीवनी से सम्बन्धित सभी ग्रंथों में यह कथा विभिन्न रूपों में पाई जाती है, किन्तु श्री शिशिर कुमार घोष के "लार्ड गौरांग और सेल्वेशन फॉर आल ग्रंथ में जीव गोस्वामी के बदले उनके चाचा रूपगोस्वामी से मीरां की भेंट होने का उल्लेख किया गया है ।[1] इसी आधार पर डॉ० श्रीकृष्ण लाल ने लिखा है कि 'जिस समय (संवत १५९६-१६००) मीरां वृन्दावन में थीं, उस समय जीव एक नवयुवक सन्यासी मात्र थे, रूपसनातन पचास वर्ष के प्रौढ़ भक्त और प्रख्यात विद्वान थे । अतः मीरांबाई का रूप गोस्वामी के दर्शनों के लिये जाना अधिक सुसंगत और संभव जान पड़ता है । जान पड़ता है जीव गोस्वामी की अधिक कीर्ति फैलने के कारण रूप के स्थान पर जीव का नाम प्रचलित हो गया ।'[2]

हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स में डॉ० सुशीलकुमार डे के मतानुसार जीव गोस्वामी का जन्म शाके १४४५ (संवत् १५८०) और मृत्यु शाके १५४० (संवत्

---

१. लार्ड गौरांग और सेल्वेशन फ़ॉर आल—शिशिर कुमार घोष, भाग १ भूमिका, पृष्ठ ४० ।

२ मीराँबाई—डॉ० श्रीकृष्ण लाल, जीवनी खण्ड, पृष्ठ ३८ ।

१६७५) में हुई थी ।[1] इस हिसाब से मीरां जीव गोस्वामी से लगभग २० वर्ष बड़ी थीं, फिर भी यह संभव है कि मीरां रूप गोस्वामी और जीव गोस्वामी दोनों से ही वृन्दावन में मिली हों ।

मीरां के प्रस्तावित गुरू

जीव गोस्वामी :—श्री वियोगी हरि का मत है कि 'मीरां को जीव गुसाईं ने दीक्षा दी थी ।[2] किन्तु जीव गोस्वामी मीरां के गुरू नहीं माने जा सकते, क्योंकि मीरां और जीव गोस्वामी में जो संवाद परिकल्पित है, उससे तो यही मालूम पड़ता है कि मीरां ही जीव गोस्वामी को अज्ञानान्धकार से सत्य के प्रकाश में लाती है । जीव गोस्वामी को दिया गया मीरां का उत्तर ही मीरां का उपदेश है; अतः मीरां जीव गोस्वामी की शिष्या नहीं हो सकती ।

चैतन्य महाप्रभु :—श्री वियोगी हरि ने जीव गोस्वामी को दीक्षा-गुरू लिख कर मीरां को चैतन्य की शिष्या वतलाने का प्रयत्न किया है । उन्होंने मीरांबाई के नाम से प्रचलित एक पद भी उदधृत किया है । पद इस प्रकार है :—

अब तो हरि नाम लौ लागी ।
सब जग को यह माखन चोरा, नाम धर्‌यौ वैरागी ।
कित छोड़ी वह मोहन मुरली, कहँ छोड़ी सब गोपी ।
मूंड़ मुड़ाई डोरि कटि बाँधी, माथे मोहन टोपी ।।
मात जसोमति माखन कारन, बाँधे जाको पाँव ।
स्याम किशोर भयो नव गोरा, चैतन्य जाको नाँव ।।
पीताम्बर को भाव दिखावै, कटि कोपीन कसै ।
गौरकृष्ण की दासी मीरां, रसना कृष्ण बसै ।[3]

संकीर्तन प्रधान भक्ति-भावना से अनुप्राणित होने पर भी मीरां न तो वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित हुई थी, न चैतन्य-सम्प्रदाय में । जीव गुसाई को उन्होंने अपना गुरु नहीं बनाया और महाप्रभु चैतन्य से तो मीरां का कभी साक्षात्कार हुआ ही नहीं, अतः वे उनकी भी शिष्या नहीं हो सकतीं । महाप्रभु चैतन्य का प्राकट्य संवत् १५४३

---

१. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स–डॉ० सुशील कुमार डे, भाग १, पृष्ठ २५५-२५६ ।

२. मीरां, सहजो, दया-पद-संग्रह-संपादक श्री वियोगी हरि, पृष्ठ ६ ।

३. राग कल्पद्रुम, प्रथम भाग, पृष्ठ २५५ ।

और अवसान संवत् १५९० में हुआ था ।[१] महाप्रभु के स्वर्गारोहण के लगभग १५ वर्षों बाद मीरां वृन्दावन पहुँची थीं अतः मीरां और चैतन्य महाप्रभु का साक्षात्कार नितान्त अशुद्ध धारणा है और उक्त पद भी प्रामाणिक नहीं है । संगीत राग कल्पद्रुम में उपरोक्त पद की अंतिम पंक्ति का पाठ 'दास भक्त की दासी मीरां, रसना कृष्ण बसै' दिया गया है ।[२] अतः मीरां जीव गोस्वामी, रूप गोस्वामी, रूप गोस्वामी या चैतन्य महाप्रभु की शिष्या नहीं थी ।

रैदास :—मीरांबाई की शब्दावली में मौखिक परम्परा से संकलित पदों में चार जगह रैदास को मीरां का गुरू बताया गया है । यथा—

(१) 'रैदास संत मिले मोंहि सतगुरू, दीन्हीं सुरत सहदानी ।[३]
(२) 'गुरू मिलिया रैदास जी, दीन्हीं ज्ञान की गुटकी ।[४]
(३) 'गुरू रैदास मिले मोंहि पूरे, धुर से कलम भिड़ी ।'[५]
(४) 'मीरां ने गोविन्द मिल्या जी, गुरु मिलिया रैदास ।'[६]

रैदास का जीवन काल संवत् १४८५ से १५८५ तक[७] माना जाता है । वे कबीर के समकालीन थे । श्री गहलौत ने रैदास जी का मृत्यु संवत १५५० विक्रमाब्द[८] के लगभग माना है । ऐसी स्थिति में मीरां और रैदास का मिलन असम्भव है । यदि भटनागरजी के मतानुसार रैदास का मृत्यु संवत १५८५ ही माना जाय तो भी मीरां और रैदास का मिलन संभव नहीं है, क्योंकि इस बीच में मीरां चित्तौड़ में थीं, और संवत १५७३ से लेकर १५८५ तक मीरां और रैदास के मिलन का इतिहास में कहीं कोई प्रमाण नहीं मिलता ।

---

१. भारत के सन्त महात्मा—श्री रामलाल महाप्रभु चैतन्य देव, पृष्ठ २८६-३०५ ।
२. संगीत राग कल्पद्रुम, भाग २, पृष्ठ ३७ ।
३. मीरांबाई की शब्दावली, विरह और प्रेम का अंग, पृष्ठ २०, शब्द ४१ ।
४. वह, पृष्ठ २५, शब्द ५७ ।
५. वही, विनती और प्रार्थना का अंग, पृष्ठ ३६, शब्द १४ ।
६. वही, मीरांबाई और कुटुम्बियों की कहासुनी, पृष्ठ ३७, शब्द १ ।
७. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज-उदयसिंह भटनागर, तृतीय भाग पृष्ठ ५ ।
८. मीरां: जीवनी और काव्य, महावीरसिंह गहलोत, पृष्ठ ४७ ।

नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से प्रकाशित नाभा जी के सटीक भक्तमाल में 'बसत चितौर माँझ रानी एक झाली नाम, नाम बिन कान खाली आनि सिष्य भई है'।[१] लिखा है। 'दि सिख रिलीजन' में भी यही लिखा हुआ है कि 'चित्तौड़ की रानी झाली अवश्य रैदास की समकालीन थीं और बाद में उनकी शिष्या भी हो गई थी।'[२] बहुत सम्भव है कि चित्तौड़ के राजवंश से सम्बन्धित रैदासी सम्प्रदाय के अनुयायी और भक्त चित्तौड़ आते-जाते रहे हों, और मीरां उनका भी अन्य साधु संतों की ही तरह स्वागत सत्कार और सत्संग करती रही हों। उन्हीं में से किसी साधु ने उपरोक्त पद मीरां के नाम पर रचकर प्रचारित कर दिये हों और मीरां रैदास की शिष्या समझी जाने लगी हों। उक्त पदों की भाषा मीरां की भाषा नहीं है, और मीरां की मूल पदावली में कहीं भी रैदास का संकेत नहीं है, अतः मीरां रैदास की शिष्या नहीं हो सकतीं।

रघुनाथ गोस्वामी:—श्री ब्रजरत्नदास जी ने राग कल्पद्रुम (भाग १) पृष्ठ ५५५ पर दिये गये "अब तो हरी नाम लौ लागी।"....पद की अंतिम पंक्ति "दास भक्त की दासी मीरां, रसना कृष्ण बसे" का उद्धरण देकर चैतन्य महाप्रभु द्वारा वृन्दावन भेजे गये छः गोस्वामियों में से एक गोस्वामी श्री रघुनाथ दास जी को 'दास भक्त' या 'दास गोस्वामी' के उपनाम से प्रसिद्ध बतलाते हुये लिखा है कि 'वह (मीरां) भक्तदास रघुनाथ दास की शिष्या थीं।'[३] यह धारणा भी उतनी ही भ्रामक है जितनी मीरां को चैतन्य महाप्रभु, जीव गोस्वामी या रूप गोस्वामी की शिष्या मानना।

बीठल दास:—श्री महावीरसिंह जी गहलौत ने "कबीर कालीन रैदास को मीरां की सास की सास (राणा सांगा की पत्नी) झाली रानी का गुरू माना है और लिखा है कि भक्तमाल में वर्णित रैदासी बीठलदास को, जब तक मीरां के मूल पदों में रैदास का उल्लेख न मिले तब तक के लिये प्राप्त पदों के आधार पर (जिनके बारे में आप यह भी लिखते हैं कि 'वे (पद) भी अप्रमाणिकता की गंध से रहित नहीं है) रैदास बीठलदास को ही मीरां का गुरू मानना चाहिये।[४]"

---

१. श्री नाभादास जी कृत भक्तमाल सटीक, टीकाकार श्री प्रियादास, श्री रैदास जी, कवित्त २६३, पृष्ठ १४१।

२. दि सिख रिलीजन—मेकॉलिफ (भाग ६), पृष्ठ ३१८।

३. मीरां-माधुरी-ब्रजरत्नदास, भूमिका पृष्ठ ९९-१०२।

४. मीरां-जीवनी और काव्य—महावीरसिंह गहलौत, पृष्ठ ४६-४९।

फिर गहलौत जी ने रैदास बीठलदास को मीरां के गुरू मानने का तर्क स्वयं अपने ही मत से खंडित कर लिया है, वे लिखते हैं कि 'मीरां की जीवनी से ज्ञात होता है कि वह कभी किसी गुरू या सम्प्रदाय के आश्रय में नहीं रही'।[१] अतः गहलौत जी द्वारा बीठलदास को मीरां का गुरू मानना, न मानना दोनों बराबर हैं। स्पष्ट है, बीठलदास मीरां के गुरू नहीं थे।

हरिदास दर्जी :—श्रीमती पद्मावती शबनम ने लोक गीतों के आधार पर एक नई मान्यता प्रस्थापित की है। उन्होंने लिखा है कि लोक गीतों के आधार पर प्राप्त, तथाकथित मीराँ के कुछ पदों से यही व्यक्त होता है कि मीरां के गुरू रैदास सन्त दर्जी जाति के थे—

मीरां ए ज्ञान धरम की गांठड़ी, हीरा रतन जड़ाओ जी।
लोग थांरी निंदरा करै, साधां के मत जाओ जी।
कुण गुरू समझायो, घर को धन्धो छोड्यो जी।
लोग थारी निंदरा करै, साधाँ में मत जाओ जी।
कने कहोगी बाई माइड़ी, कने कहोगी बाई बीरोजी।
कूण थाराँ पगलिया चापसी, कूड़ बुझे थारे मन री बात।
बुढ़ी ठेढ़ी म्हाँरी मायड़ी बीराँ भर्यो ए संसार।
पावड़ी पगलियाँ चापसी, माला बूझे मन की बात।
हरिदास दर्जी की बीनती जी, घोला वस्त्र सिमाओ।
देर नगारो मीरां चढ़ गई, माता हियो मत हारोजी।
बागाँ में बोली कोयली, बन में दादुर मोर।
मीरां ने गिरधर मिलिया, नागर नन्दकिशोर।

पदाभिव्यक्ति से स्पष्ट है कि गुरु हरिदास दर्जी के कहने पर मीरां सफेद वस्त्र धारण कर दे नगारो (डंके की चोट) अपने मार्ग पर चल देती है। सम्भव है कि "हरि को भजे सो हरि का होय, जाति पांति पूछे नहिं कोय" जैसे सिद्धान्त को अपनाकर 'हरिदास दर्जी' को अपना गुरू बनाने के कारण ही मीरां को इतना कठिन विरोध सहना पड़ा।"[२]

'हरिदास दर्जी' मीरां के गुरू नहीं हो सकते। 'हरिदास दर्जी' यदि मीरां के गुरू होते तो वे कभी भी मीरां से' 'घोला वस्त्र सिमाओ जी' की 'बीनती' नहीं करते।

---

१. मीरां-जीवनी और काव्य, महावीरसिंह गहलौत, पृष्ठ ४६-४९।
२. मीरां: एक अध्ययन, पद्मावती शबनम, पृष्ठ १३२-१३३।

गुरू 'बीनती' नहीं करते, आदेश देते हैं। बीनती करने वाला यह 'हरिदास दर्जी' साधारण दर्जी सा लगता है, जो मीरां को लोक-निन्दा से बचाने के लिये उनके प्रति सहानुभूति रखता है और बड़े विनीत भाव से उनसे सफेद कपड़े सिलाने के लिये निवेदन करता है। पद की प्रथम छः पंक्तियों में हरिदास मीरां से पूछते से जान पड़ते है। सातवीं और आठवीं पंक्तियों में मीरा का उत्तर है। नवीं पंक्ति हरिदास दर्जी की विन्ती है। तथा नवीं, दसवीं और ग्यारहवीं पंक्तियों का पूर्वापर सम्बन्ध शेष पद से नहीं जमता। पूरा पद मौखिक परम्परा से प्राप्त प्रक्षिप्त जान पड़ता है। हरिदास दर्जी का उल्लेख (मीरां के गुरू के रूप में) न तो किसी मूल प्रामाणिक पद में मिलता है, न इतिहास में, अतः ये हरिदास दर्जी मीरां के गुरू नहीं माने जा सकते, फिर मीरां के पितृकुल में मीरां को कभी कठिन विरोध नहीं सहना पड़ा, मीरां का विरोध उनके पति कुल में ही हुआ है। यदि मीरां के पति कुल में ही राणा सांगा की पत्नी रानी झाली चर्मकार रैदास को निर्विरोध अपना गुरू बना सकती हैं, तो दर्जी हरिदास को मीरां द्वारा गुरू बनाये जाने पर उसका विरोध अनिवार्य नहीं है, अतः मीरां के कठिन विरोध को 'हरिदास दर्जी' के गुरु होने के लिये तर्क नहीं माना जा सकता। मीरां के विरोध का कारण कुछ और ही था, जिसका 'संतसमागम' में हम उल्लेख कर चुके हैं।

गजाधर पुरोहित:—श्री शम्भुप्रसाद जी बहुगुणा ने अपने लेख 'जनम जोगिण मीरां' में लिखा है कि 'ऐसे भी ताम्रपत्र बतलाये जाते हैं, जिनका सम्बन्ध मीराँ से कहा जाता है। कहा जाता है कि मीरां ने बाल्यकाल में अपने पुरोहित गजाधर से पुराण इत्यादि सुने थे, और विवाह हो जाने पर वे उसे चितौड़ ले गई, जहाँ उन्हें मुरलीधर के मंदिर की पूजा सौंपी और व्यास की उपाधि के साथ-साथ एक हजार बीघा भूमि भी दान दी, जो आज भी गजाधर के वंशज भोग रहे हैं।[1]

इस बात की पुष्टि अभी अन्य सामग्री से नहीं हुई है और न ताम्रपत्र ही मेरे देखने में आया है। इतिहास ग्रंथों में तथा चित्तोड़ की पुरानी चोपड़ियों में भी मीरां के गजाधर पुरोहित का कहीं कोई इतिवृत्त नहीं मिलता। श्री महावीर सिंह जी गहलौत ने भी 'मीरां : जीवनी और काव्य' ग्रंथ में गजाधर पुरोहित और ताम्र-पत्र का उल्लेख किया है,[2] किन्तु यह ताम्रपत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं हुआ।

---

१. जनम जोगिण मीरां-प्रो० शंभुप्रसाद बहुगुणा, मीरां स्मृति ग्रंथ पृष्ठ ४२

२. मीरां: जीवनी और काव्य, महाबीर सिंह गहलौत, भूमिका, फुट नोट पृष्ठ २०।
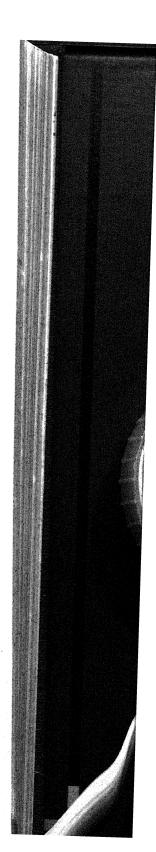
श्री हरि नारायण जी पुरोहित के मत से मीरां के विद्यागुरू गजाधर जी गूजर गौड़ ब्राह्मण काँटिया तिवाड़ी गोत व खाँप के थे ।[१]

मीरां की भाव-धारा और साधना-पद्धति को देखते हुये हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि मीरां ने अनेकों साधु सन्तों से सत्संग अवश्य किया था, किन्तु वे किसी भी गुरु विशेष की शिष्या बन सम्प्रदाय विशेष में दीक्षित नहीं हुई । उनकी उपासना माधुर्य भाव-प्रेरित थी, अतः अपने 'प्रियतम' से अपने अन्तर की बात कहने के लिये उन्हें किसी भी मध्यस्थ की–किसी गुरु की-आवश्यकता नहीं थी । एक सच्ची पतिव्रता के प्रियतम के प्रति प्रेषित वैयक्तिक निवेदन के लिये मध्यस्थ नहीं चाहिये, अतः मीरां ने कभी किसी गुरू से दीक्षा ली होगी, इसका कोई प्रमाण आधार और तर्क-सम्मत समर्थन नहीं कर सकता । अतः हम तटस्थ रूप से इतना निवेदन करना चाहेंगे कि मीरां सम्प्रदाय-मुक्त, गुरु-शिष्य-परम्परा-विहीन सर्वथा स्वतंत्र आत्मजागृत संत-शिरोमणि थीं और उनकी मूल पदावली को देखते हुये तो उन्हें किसी भी साम्प्रदायिक घेरे में बाँधना सर्वथा अनुचित है ।

अकबर तानसेन और मीरां की भेंट

नाभा जी के भक्तमाल की प्रियादास कृत टीका, और दादूपंथी राघवदास जी के भक्तमाल की चत्रदास कृत टीकाओं में अकबर और तानसेन की मीरां से भेंट का क्रमशः उल्लेख पाया जाता है । यथा—

१—रूप की निकाई भूप अकबर भाई हिये, लिये संग तानसेन, देखिबो को आयो है। निरखि निहाल भयो, छबि गिरिधारी लाल पद सुखजाल एक तब ही चढ़ायो है।[२]

२—'भूप अकबर रूप सुन्यो अति तांनहि सेन लीये चलि आयौ ।
देषि कुस्याल भयो छबि लालहि, एक सबद बनाइ सुनायौ ।,[३]

अकबर का जन्म संवत् १५९९ (१४ शाबान् सन् ९४९ हिजरी या गुरुवार, २३ नवम्बर सन् १५४२ ईस्वी को अमरकोट) में हुआ था। संवत् १६१९ में अकबर ने तानसेन को राजा रामचंद्र बघेला के यहाँ से बुलाकर अपने दरबार में रखा ।[४] अकबर और तानसेन के मिलने के पूर्व ही मीरां का स्वर्गवास संवत् १६०३ में हो चुका

---

१. मीरां बृहत्पदावली-प्रथम भाग सम्पादक श्री हरिनारायण जी पुरोहित, भूमिका, पृष्ठ ५ ।

२. श्री नाभादास जी कृत भक्तमाल–सटीक, पृष्ठ २५१ ।

३. श्री राघवदास कृत भक्तमाल-सटीक, पृष्ठ ६५ ।

४. मुगल दरबार या मआसिरुल उमरा-हिन्दी, भाग १, पृष्ठ ३३० ।

था । मीरां की मृत्यु के समय अकबर केवल ४ वर्ष का था, अतः मीरां के रूप को देखने के लिए अकबर का आना असंभव है इसीलिये अकबर, तानसेन और मीरां की भेंट मीरां माहात्म्य-प्रदर्शक एक काल्पनिक कथा मात्र है ।

द्वारका-निवास

मीरां की मूल पदावली में मीरां के द्वारका-निवास का प्रमाण मिलता है[1] और सभी प्राचीन उल्लेख तथा इतिहासकार इस बात से सहमत हैं कि मीरां वृन्दाबन से द्वारका गई थीं । श्री प्रियादास जी ने नाभा जी के भक्तमाल की टीका में "राना की मलीन मति देखि बसी द्वारवती", श्री चत्रदास जी ने राववदास जी के भक्तमाल की टीका में 'भूपति बुद्धि असुद्ध लषी आय द्वारावति बसि लाड़ लड़ाये ।' और श्री नागरी दास जी ने पद प्रसङ्ग माला में 'मीरांबाई गंगादिक तीरथ करिकै अरु श्री वृन्दावन हू आये, तहाँ जीऊ गुसाई जी को प्रण स्त्री के न देखिबे को छुटाय सबसों गुरु गोविन्दवत् सनमान सत्संग करि द्वारका कौ चले । 'लिखकर मीरां की वृन्दावन से द्वारका-यात्रा का उल्लेख किया है ।

मीरां संवत् १५९५ के लगभग वृन्दावन आई । इस बीच चित्तौड़ और मेड़ता के राजनैतिक जीवन में अनेक परिवर्तन हुये । राणा विक्रमादित्य को मारकर महाराणा रायमल के राजकुमार पृथ्वीराज का अनौरस पुत्र बनवीर संवत् १५९३ में चित्तौड़ की गद्दी पर बैठा, पर वह संवत् १५९५ में गद्दी पर से हटाया गया और संवत् १५९५ में राणा उदयसिंह गद्दी पर बैठे । इन्होंने सम्वत् १५९७ तक अपने सारे पैतृक राज्य पर अधिकार कर लिया । राणा उदयसिंह ने भी सम्भवतः मीरां के प्रति प्रारम्भ में मलीन मति रखी होगी इसीलिये मीरां प्रिय के पथ का अनुगमन करती हुई सम्वत् १६०० के लगभग वृन्दावन से द्वारका चली गई ।

एक और भी बात है कि सम्वत् १६०० में मीरां के चचेरे भाई जयमल को मेड़ता मिल गया था । अतः स्वाभाविक हैं कि जयमल की ओर से भी मीरां को वापिस बुलाने के लिये प्रयत्न किये गये होंगे । मीरां के पितृ और श्वसुर कुल से उन्हें वापिस लौटा लाने के सम्बन्ध में किये गये प्रयासों से यह पता चलता है कि मीरां को वृन्दावन से नहीं, द्वारका से वापिस लौटा लाने के लिये ही कोशिशें की गई थीं । ये कोशिशें सम्वत् १६०० से ही शुरू हुई थीं, अतः यह माना जा सकता है कि सम्वत् १६०० के लगभग मीरां द्वारका पहुँची थीं ।

धरना:—भव-त्रास और बन्धु-बान्धवों से ऊबकर ही मीरां द्वारका गई थी,

---

१. डाकौर की प्रति, पद ६५

किन्तु मीरां के साथ जो राजपरिवार के पुरोहितादि थे, वे उन्हें निश्चिन्त नहीं बैठने देते होंगे। वे मीरां से बार-बार घर चलने के लिये आग्रह करते होंगे और मीरां 'पीछे पैर रखने' के पक्ष में नहीं थीं, इसीलिये जब ब्राह्मणों ने हठपूर्वक धरना दिया तो वे रण छोड़ जी से आज्ञा प्राप्त करने के लिये मंदिर में प्रविष्ट हुई और सम्वत् १६०३ में कृष्णमय हो गई। भक्तों में प्रचलित किम्बदंतियों के अनुसार वे रणछौड़ जी की मूर्ति में समा गई।

'पद-प्रसङ्ग-माला' में श्री नागरीदास जी ने लिखा है कि सो या भाँति मनोरथ करत यह पद गावत द्वारिका पहुँचे। तहाँ कोई दिन रहे ता पीछे मीरांबाई के सङ्ग प्रौहितादिक जे राना के लोक है, तिन कह्यो, अब बहुत दिन भये हैं, अब देस कों चलो, राना की आज्ञा है। ऐसे द्वै तीन दिन तो कह्यो फिरि मीरांबाई परि धरना कियो, तब मीरांबाई ठाकुर श्री रनछोर जू सौं बिदा हैवे को नाँव ले मंदिर में अकेले ही जाय महा आरती सहित एक नयो पद[1] बनाय गायो...सो यह पद गाये हूँ उतते न ढरे, तब महाआरति प्रेमावेस सहित एक और पद बनाय गायो[2], तब ही ठाकुर आप में उनको याही शरीर तैं लीन करि लीनें, देहहु न रही। प्रियादास जी और चत्रदास जी की भक्तमाल की टीकाओं से भी इसी मत की पुष्टि होती है।

ललिता की मृत्यु

ललिता का उल्लेख करते हुये श्री ललिता प्रसाद जी सुकुल ने लिखा है कि 'जीवन पर्यन्त वह मीरां के साथ ही रही। कहा जाता है कि रणछोड़ के मन्दिर में जिस दिन मीरां ने समाधिस्थ होकर अपना शरीर छोड़ा था, उसकी पहली ही रात्रि में नव विवाहिता का सा श्रृंगार करके वह मीरां के सामने उपस्थिति हुई थी और अन्तिम प्रणाम करके समुद्र की लहरों में समा गई थी। वह शायद संकेत था मीरा के लिये कि उनकी चिर वेदना भी अपनी अवधि को प्राप्त कर चुकी थी। तपस्या पूर्ण हो चुकी थी, चिरसंयोग की घड़ी प्रभात की किरणों का मार्ग जोह रही थी।'[3]

ललिता की यह मृत्यु निस्संदेह महाप्रभु चैतन्य के समुद्र-लाभ की भाँति भावातिरेक का प्रतिफल मानी जा सकती है। लोक, लाज, कुल, परिवार को त्याग प्रभु-

---

१. डाकोर की प्रति, पद ६६ (मूल पद)।

२. मीरां-माधुरी, ब्रजरत्नदास, भूमिका, पृष्ठ ४६।

३. पदावली-परिचय-श्री ललिताप्रसाद सुकुल, मीरा स्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ (छ)।

पथानुगामिनी मीरां का पुनः सांसारिक वातावरण में लौटना असम्भव था और 'धरना' उन्हें वहीं लौटा लाने का दुराग्रह था। राणा के लोगों के दृढ़ निश्चय से, मीरां से भी पूर्व ललिता का परिचित होना स्वाभाविक है, अतः उसका यह प्राणोत्सर्ग अपनी स्वामिनी के लिये भावी आयोजना की पूर्व पीठिका थी। भव-सागर की मझधार में प्रियतम कृष्ण की प्राप्ति के बिना होने वाले 'घणो अकाज' देख मीरां ने उनसे अपनी लाज रखने के लिये निवेदन किया और 'जुग जुग भगतां री भीर' हरने वाले 'गिरधर नागर' ने मीराँ की 'भीर' हर ली। मीरां उनकी चरण-शरण में पहुँचकर 'कृष्णमय' हो गई और अन्ततः अलौकिक अनन्त जीवन की अधिकारिणी मीरां का लौकिक जीवन समाप्त हो गया।

मीरां की मृत्यु-तिथि

मीरां को राणा कुंभा की राणी या वीर-श्रेष्ठ जयमल की पुत्री मानने वाले विद्वानों द्वारा निर्धारित मीरां की जन्म और मृत्यु की तिथियाँ अनैतिहासिक और अप्रामाणिक होने के कारण विचारणीय नहीं रहीं, अतः ऐतिहासिक शोध से प्रमाणित तिथियों पर ही अब विचार किया जायगा—

एनल्स एण्ड एण्टिक्विटिज आफ़ राजस्थान के संपादित संस्करण में विलियम कुक ने कर्नल टॉड की भूल सुधार कर मूल विवरण में इतना और जोड़ दिया है कि 'मीरांबाई कुंभ की स्त्री न होकर राणा सांगा के पुत्र भोजराज की स्त्री थीं।[1]

मीरां को भोजराज की स्त्री प्रमाणित करने वाले मुंशी देवीप्रसाद जी ने लिखा है कि राठोड़ों का १ भाट जिसका नाम भूरदान है, गांव लूंणवे परगने मारोठ इलाके मारवाड़ में रहता है, उसकी जबानी सुना गया कि मीरांबाई का देहांत संवत् १६०३ (१५४६ ई०) में हुआ था।[2]

राजस्थान के अनेक इतिहासकार और हिन्दी-साहित्य के इतिहास ग्रंथों में मुंशी जी की मान्यता को पर्याप्त समर्थन प्राप्त हुआ और मीरां की जीवनी को देखते हुये भी मीरां की मृत्यु तिथि संवत् १६०३ मानना ही अधिक संभाव्य है। महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा,[3] हरिविलास सारडा,[4] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल,[5]

---
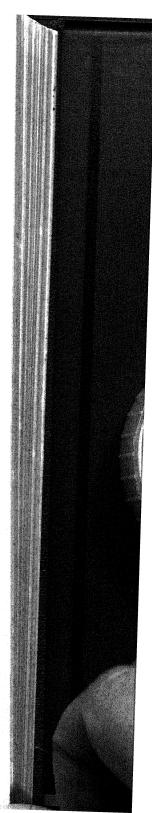
१. एनल्स एँण्ड एण्टिक्विटीज ऑफ राजस्थान-जेम्स टॉड, (सम्पादक-विवियम क्रुक) भाग १, पृष्ठ ३३७।

२. मीरांबाई का जीवन चरित्र-मुंशी देवीप्रसाद, पृष्ठ २६।

३. उदयपुर राज्य का इतिहास-ओझा, भाग १, पृष्ठ ३६०।

४. महाराणा सांगा-हरबिलास सारडा। फुटनोट पृष्ठ ८८।

५. हिन्दी साहित्य का इहिहास-रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ १८५।

डा० रमाकुमार वर्मा,[१] श्री ब्रजरत्नदास[२] आदि विद्वान मीरां की मृत्यु तिथि संवत् १६०३ ही मानते हैं।

श्री महावीर सिंह जी गहलौत ने मीरां की मृत्यु तिथि संवत् १६०२[३] और श्री तारापोरवाला ने सम्वत १६०४[४] लिखी है, जो पूर्णातः वैयक्तिक अनुमानों पर आश्रित है।

बृहद्काव्य दोहन में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के मत का उल्लेख करते हुये श्री तनसुखराम मनसुखराम त्रिपाठी ने लिखा है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तो मीरांना तानसेन तथा तुलसीदास साथे ना समागमों ने सत्य गणी मीरांनो शरीर त्याग सम्वत १६२० थी १६३० मध्ये ययानु अनुमाने छे, अने तेने बहुजनों प्रामाणिक माने छे।[५]

श्रीमती विष्णु कुमारी मन्जु[६] भी उक्त मत का समर्थन करती हैं। शबनम जी[७] और रामलाल जी[८] भी मीरां की निधन तिथि सम्वत १६३० ही मानते हैं।

बंगाली लेखक श्री स्वामी वामदेवानन्द ने मीरां की निधन तिथि[९] सम्वत १६२६ और डॉ० श्रीकृष्ण लाल ने सम्वत १६३० लिखी है। वार्ता-साहित्य तथा अन्य लेखकों के आधार पर डॉ० लाल लिखते हैं कि "गुजरात में मीरां की प्रसिद्धि को देखते हुये यह असम्भव जान पड़ता है कि वे इतनी कम अवस्था में मरी होंगी। वियोगी हरि सम्वत १६२५ के आसपास मीरां का निधन मानते हैं, और कुंवर कृष्ण सम्वत् १६३० के आसपास। मृत्यु-तिथि सम्वत् १६३० मानने पर मीरां की अवस्था भी ७० के आसपास पहुँच जाती है, जो इस कीर्ति के लिये पर्याप्त है और किसी प्रकार अधिक भी नहीं कही जा सकती।[१०]

---

१. हिन्दी साहित्य का अलोचनात्मक इतिहास, डा०रामकुमार वर्मा, पृष्ठ ५८०।
२. मीरां-माधुरी-ब्रजरत्नदास, भूमिका, पृष्ठ २१।
३. मीराँ: जीवनी और काव्य, महावीरसिंह गहलोत, भूमिका पृष्ठ ३४।
४. सिलेक्शन्स फ्रॉम क्लासिकल गुजराती लिटरेचर, डॉ० तारापोरवाला, मीरांबाई, पृष्ठ ३७२।
५. बृहद् काव्य दोहन—त०म० त्रिपाठी, मीरांबाई, भाग ७, पृष्ठ २४।
६. मीरां-पदावली-श्रीमती विष्णु कुमारी मन्जु, भूमिका, पृष्ठ 'ज'।
७. मीरां : एक अध्ययन-पद्मावती शबनम, पृष्ठ ९०।
८. भारत के सन्त महात्मा—श्री रामलाल, सन्त मीराबाई, पृष्ठ ३९९।
९. मीराबाई—स्वामी वामदेवानन्द, पृष्ठ ३२।
१०. मीरांबाई—डॉ० श्रीकृष्णलाल, पृष्ठ ६०।

डा० कृष्णलाल का मत और तर्क विचारणीय है। वल्लभसम्प्रदायी वार्ता-साहित्य के आधार पर उन्होंने मीरांबाई का सम्वत् १६२२ के बाद तक जीवित रहने का[1]अनुमान लगाया है। फिर वहीं फुटनोट में आपने यह भी लिखा है कि "विद्या विभाग कॉकरोली से प्रकाशित प्राचीन वार्ता रहस्य, द्वितीय भाग में जो कृष्णदास अधिकारी की वार्ता दी गई है, उसके प्रथम प्रसंग में हरिवंश और व्यास का उल्लेख नहीं मिलता, जैसा कि डाकोर से प्रकाशित संस्करण में मिलता है। उसी ग्रन्थ के गुजराती अंश के अनुसार कृष्णदास और मीरांबाई की मिलन-तिथि संवत् १५८२ के पश्चात् संवत् १५८३ के आसपास निश्चित की गई है। यदि प्राचीन वार्ता रहस्य का पाठ प्रामाणिक ठहराया जाय तो मीरां के संवत् १६२२ तक जीवित रहने का प्रमाण इस प्रसंग से नहीं मिलता।[2]" स्पष्ट है कि डॉ श्रीकृष्णलाल का मत मीरां की मृत्यु-तिथि के बारे में संदिग्ध और अनिश्चित है, पर इतना तो निश्चित है कि वार्ता-साहित्य संदिग्ध है। गुजरात में मीरां की प्रसिद्धि का 'मीरां' से कोई सम्बन्ध नहीं है फिर गुजराती में प्राप्त 'मीरां' छाप वाले पद राजस्थानी मीरां की रचना नहीं है। साथ ही मीरां के गुजराती पदों की कोई भी मूल प्रति गुजरात में नहीं है, और तो और, मीरां गुजरात में कब आंई, किससे मिली और उन्होंने वहाँ क्या-क्या किया ? इसका पता भी गुजराती शोधकर्त्ताओं को मालूम नहीं है।[3] ऐसी स्थिति में मीरां के तथाकथित गुजराती पदों को 'मीरां' की ही रचना मानना भ्रामक अनुमान है। हमारा निवेदन है आयु और कीर्ति का सह-अस्तित्व प्रतिभा के दायरे में नहीं माना जा सकता। कीर्ति प्रतिभा की अनुगामिनी है, आयु से उसका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध संसार की अनेक विभूतियों की साधना में नहीं पाया जाता। शैली, कीट्स, मीरां ज्ञानेश्वर, भारतेन्दु और गुलेरी सभी इसी श्रेणी के हैं। मीरां की मूल पदावली के आधार पर मीरां के नाम से प्रचलित गुजराती पदों को देखते ही स्पष्ट हो जाता है कि गुजराती में मीरां ने काव्य-रचना नहीं की। इस विषय का सप्रमाण विवेचन हम आगे करेंगे।

---

१. मीराँबाई—डॉ० श्रीकृष्ण लाल, जीवनी खंड, पृष्ठ २२।

२. वही, फुटनोट, पृष्ठ २२।

३. मीरां गुजरात मां क्यारे आवी, क्यां रही, शुं कर्युं, कोने मळी अने क्यारे अनुं मृत्यु थयुं, अेनीपण कशी आधार भूत माहिती मळती नथी।
मीरां : जीवन अने कवन (शोध-प्रबन्ध)—डॉ० निर्मला लालभाई झावेरी प्रस्तावना, पृष्ठ २१।

अतः समय, परिस्थिति, वातावरण और ऐतिहासिक गति-विधियों को देखते हुये मीरां की निधन-तिथि संवत् १६०३ ही मानी जा सकती है ।

यों तो सभी किम्बदन्तियों को प्रामाणिक मानने वाले श्री सीतारामशरण भगवान प्रसाद जी 'रूपकला' ने मीरां की निधन-तिथि संवत् १६५४ लिखी है,[1] जो सर्वथा अनैतिहासिक और भ्रांतिमूलक है, अतः हम मीरां का निधन संवत् १६०३ मानने के पक्ष में हैं ।

मीरां की रचनायें

अन्य बातों की तरह मीरांबाई की रचनायें भी विवादास्पद हैं । मीरांबाई का जीवन-चरित्र लिखने वाले मुन्शी देवीप्रसाद जी ने मीरां की चार रचनाओं का उल्लेख किया है :—

(१) गीत गोविन्द की टीका, (२) नरसी जी माहरा, (३) फुटकर पद, (४) राग सोरठ पद-संग्रह ।

इनमें से एक भी ग्रंथ अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं है । संभवतः राणा कुम्भा द्वारा लिखित गीत गोविन्द की टीका[2] को मीरां की रचना मान लिया गया है । नरसी जी का माहरा का कुछ अंश मुन्शी देवीप्रसाद[3] श्री महावीरसिंह जी गहलोत[4] तथा श्री ब्रजरत्नदास जी[5] ने अपने ग्रन्थों में प्रकाशित किया है, किन्तु इसकी भाषा संदिग्ध है । यह ग्रन्थ किसी अन्य मीरां ने मिथुला सखी को सम्बोधित कर लिखा है, ऐसा प्रतीत होता है, किन्तु यह निश्चित रूप से मीरां की रचना नहीं है । 'फुटकर पद'[6] में मीरां के अतिरिक्त कबीर, नानक आदि मिलाकर कुल दस कवियों के पद हैं । यह संग्रह-ग्रन्थ है, मीरां की मूल रचना नहीं । यही स्थिति राग सोरठ

---

१. भक्तमाल सटीक—टीकाकार सीतारामशरण भगवानप्रसाद रूपकला, पृष्ठ ७०४ ।

२. राजपूताना में हिन्दी पुस्तकों की खोज-मुन्शी देवीप्रसाद, संवत् १९६८ पृष्ठ ५ ।

३. वही-पृष्ठ ७ महिला मृदुवाणी-मुन्शी देवीप्रसाद, पृष्ठ ६२ ।

४. मीरां: जीवनी और काव्य-महावीरसिंह गहलोत, पृष्ठ ४२, ४३ ।

५. मीरां-माधुरी व्रजरत्नदास, पृष्ठ ८२ ।

६. राजपूताना में हिन्दी पुस्तकों की खोज-मुन्शी देवीप्रसाद, पृष्ठ १२ ।

पद संग्रह[1] की है । इसमें विभिन्न कवियों के सोरठ राग के पद संकलित हैं ।

पंडित रामचन्द्र जी शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में[2] 'राग गोविन्द' नामक मीरां की एक रचना का उल्लेख किया है, किन्तु संगीत-शास्त्र में राग गोविन्द नाम का कोई राग नहीं है । संभवतः गोविन्द विषयक मीरां के गेय पदों के आधार पर मीरां के किसी पद संग्रह का नाम राग गोविन्द पड़ गया हो ।

श्री परशुराम जी चतुर्वेदी ने ओझा जी के मतानुसार 'मीरांबाई का मलार' और श्री के० एम झावेरी के मतानुसार 'गर्वा गीत' नाम की दो अन्य रचनाओं को भी मीरां की ही रचना माना है ।[3] श्री ब्रजरत्नदास ने उक्त गर्वा गीत को 'मीरांनी गरबी[4] लिखा है ।

किन्तु मीरां के नाम से बताये जाने वाले ग्रंथों में से एक भी ग्रन्थ हस्तलिखित और प्रामाणिक रूप में उपलब्ध नहीं है । संभव है, मीरा नामधारी साधु-संतों ने ये रचनायें मीरां के नाम से चला दी हों और प्रक्षिप्त पदावली की तरह ये रचनायें भी मीरां की वाणी न होकर अन्य भक्तों की वाणी हों । मीरां की मूल काव्य-धारा को देखते हुये ये सभी ग्रन्थ मीरां की रचना नहीं माने जा सकते ।

निष्कर्ष

मीरां की जीवनी के अंतरंग साधन, प्राचीन भक्तों के मीरां विषयक उल्लेख, मीरां के पितृकुल की पांच तथा श्वसुर कुल की सात पीढ़ियों के इतिहास, मीरां के नाम जीवन और काव्य-रचनाओं से सम्बन्धित सम्पूर्ण सामग्री का अध्ययन, संकलन और विवेचन के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मीरां अपने युग की सर्वश्रेष्ठ आत्म-चिन्तन-रत महान विभूति थीं । उनका जन्म संवत् १५६० के लगभग मेड़ता राज्य के कुड़की नामक ग्राम में हुआ था । उनके पिता का नाम रत्नसिंह और चचेरे भाई का नाम जयमल्ल था । मीरां का शैशव अपने पितृव्य राव दूदा जी के संरक्षण में बीता और वहीं उन्होंने साहित्य, संगीत और नृत्य-कला आत्मसात् की । राव दूदा जी

---

१. राजपूताना में हिन्दी पुस्तकों की खोज-पृष्ठ १७, काशी नागरी प्रचारिणी सभा-खोज रिपोर्ट सन् १९०२, पृष्ठ ८१ ।
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास-रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ १८४ ।
३. मीरांबाई की पदावली-परशुराम चतुर्वेदी, पृष्ठ २३-२४ ।
४. मीरां-माधुरी—ब्रजरत्नदास, पृष्ठ १२० ।

और जयमल परम श्रेष्ठ वैष्णव भक्त थे, उनके सुयोग्य संरक्षण में मीरां की आध्यात्मिक चेतना उद्बुद्ध हुई और संत-समागम से उनके जन्म-जन्मान्तरों के चिर संचित संस्कार जागरूक हुये। उन्होंने कृष्ण को अपना आराध्य, प्रियतम और जन्म-जन्म का साथी मान उनके ही प्रति अपने प्रेम, विरह और उद्वेग समन्वित अनुभूति-सम्पृक्त पदों की रचना की और लोक-लाज-कुल-मर्यादा को कृष्णार्पण कर भक्ति-मार्ग में प्रवेश किया।

राव दूदा जी की मृत्यु (सम्वत् १५७२) के बाद उनके पुत्र राव बीरमदेव मेड़ता के अधिकारी हुये और उन्होंने सम्वत् १५७३ में चित्तौड़ के हिन्दुआकुल सूर्य, सीसौदिया राणा सांगा के कुंवर पाटवी राजकुमार भोजराज से मीरां का विवाह कर दिया, किन्तु सम्वत् १५८४ के पूर्व ही भोजराज का स्वर्गवास हो गया।

ससुराल में मीरां का भक्ति-भाव और सन्त-समागम विधिवत् बना रहा। राणा सांगा (राज्यकाल सम्वत् १५६६ से १५८४ तक), तथा राणा रत्नसिंह (राज्यकाल सम्वत् १५८५ से १५८८ तक) के राज्य काल में मीरां को कोई विशेष कष्ट नहीं दिया गया और मीरां के आत्म-विश्वास ने साधु-सन्तों के प्रति पूज्य बुद्धि ही रखी। बाद में लोक-निन्दा के भय से, तथा राज-परिवार की प्रतिष्ठा को धूल-धूसरित होने से बचाने के लिके राणा विक्रमादित्य ने अपने 'छिछोरपन' के कारण मीरां को 'विषपान' कराया तथा उसे सर्प दर्शन के लिये काला नाग भेजा। राणा विक्रमादित्य मीरां को 'मदण बावरी' और 'स्याम प्रीत' में 'कच्ची' समझता था, इसीलिये वह मीरां के प्राणों का प्यासा बना बैठा था।

'विषपान' और 'काला नाग' से वचकर मीरां, सम्वत् १५९१ में होने वाले चित्तौड़ के शाके के पूर्व ही सम्वत् १५९० में अपने चाचा राव वीरमदेव के पास मेड़ता पहुँच गई। पाँच वर्ष तक मीरां मेड़ता में रही; और सम्वत् १५९५ में जब मालदेव ने राव वीरमदेव से मेड़ता छीन लिया, तब वे मेड़ता से वृन्दावन चली गई। वृन्दावन के कृष्ण-जीवन से सम्बद्ध स्थलों पर मीरां की वृत्ति खूब रमी। उन्होंने जीव गोस्वामी से भेंट की। किन्तु मीरां ने जीव गोस्वामी, या रूप गोस्वामी को अपना गुरु नहीं बनाया। वे चैतन्य-सम्प्रदाय, नाथ-सम्प्रदाय, वल्लभ-सम्प्रदाय या रैदासी सम्प्रदाय में कभी भी दीक्षित नहीं हुई। वे साम्प्रदायिकता से परे, उन्मुक्त कृष्ण-प्रेम की अमर गायिका थीं और दाम्पत्य सम्बन्ध मूला माधुरी भक्ति के कारण अपने और कृष्ण के बीच किसी भी मध्यस्थ (गुरू) को नहीं चाहती थीं। सन्त के प्रति उनकी समदृष्टि थी। कालान्तर में अपने प्रिय के पथ का अनुसरण करती हुई वे सम्वत् १६०० के

लगभग वृन्दावन से द्वारिका पहुँची, और वहीं पुरोहितादि के द्वारा 'देस' लौट चलने के लिये आग्रह पूर्ण धरना देने पर सम्वत् १६०३ में रायरणछोड़ जी के समक्ष स्वर्ग सिधारीं। आजीवन कृष्ण की उपासना करने वाली कृष्ण की अनन्य साधिका कृष्णमय हो गई। यही मीरां का ऐतिहासिक जीवन वृत्त है।

मीरां के नाम से रचे गये आठ ग्रन्थों का विद्वानों ने उल्लेख किया है, किन्तु मीरां ने केवल कुछ ही पद प्राचीन राजस्थानी रचे थे। मीरां ब्रज और गुजराती भाषा की भी कवयित्री नहीं थीं। उनके मूल पदों में उनकी करुणा, उनकी वेदना, आत्मा की पुकार मूर्तिमान हो गई है, और उनकी इसी पुकार साकार वेदना ने-एक पवित्र आत्मा की पावन अन्तःसलिला ने-उन्हें मर्त्य से अमर्त्य बना दिया है।

—:o:—
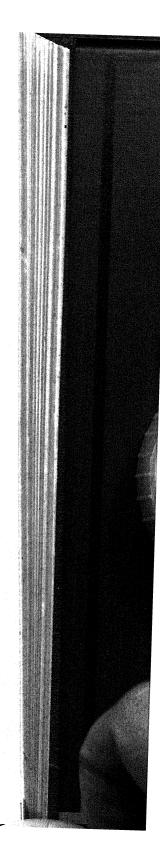
अध्याय—३

मीरां का व्यक्तित्व और उनकी भक्ति-सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ

मीरां के व्यक्तित्व की सामान्य रूपरेखा

मीरां के समस्त जीवन और काव्य में एक उदात्त आत्मचेता व्यक्तित्व की ऊर्ध्वगामी भक्ति-साधना का प्रतिबिम्ब परिलक्षित होता है, जिससे हमें एक ऐसी आस्थावान मनस्विनी नारी के दर्शन होते हैं, जो सम्पत्ति में उदार, विपत्ति में धीर और भक्ति-तत्व-चिन्तन में गम्भीर रहकर आध्यात्मिक उन्नयन के सम्पूर्ण व्यवधानों को निर्भीक मन से पार करती हुई दिखाई देती है, पारिवारिक क्लेशों, सामाजिक प्रताड़नाओं और साम्प्रदायिक गुटबन्दियों द्वारा उपेक्षित तथा तिरस्कृत होकर भी सुख-दुखों को समभाव से सहती है तथा श्रद्धा, निष्ठा और आत्म-विश्वास पूर्वक अविचल कृष्ण-भक्ति करते हुये अपना जीवन-यापन करती है।

इतना तो सभी जानते हैं कि भगवान कृष्ण मीरां के आराध्य देव थे, जन्म जन्म मे के 'भरतार' थे और वे उनकी चिरपरिणीता दासी थीं। मीरां के रूप में अवतीर्ण होने पर भी उनकी यह आध्यात्मिक स्वीकृति थी कि स्वप्न में दीनानाथ से उनका परिणय हो चुका है और इसीलिये वे उस लौकिक पति का वरण नहीं करना चाहतीं, जो जन्म लेकर मर जाता है। 'अमरवधू' मीरां की यह अनुभूति उनके चिर-संचित पुनीत संस्कारों की प्रतिक्रिया थी, जिसने उनके लौकिक जीव्न को एकदम से पावन आध्यात्मिक धरातल पर अधिष्ठित कर दिया और उनकी समस्त समस्त इन्द्रियाँ समस्त चेतना और अनुभूति मन, वचन और कर्म की सम्पूर्ण एकनिष्ठता के साथ कृष्णाभिमुख हो गई थीं, फलतः मीरां इहलौकिक नारी होते हुए भी अलौकिक जगत में विचरण करने वाली जीवात्मा बन गई थीं। पार्थिक शरीर पर अपार्थिव सूक्ष्म चेतना की यह एक ऐसी आन्तरिक विजय थी, जिसने मीरां के जीवन की सम्पूर्ण आशा-आकांक्षाओं को 'कृष्णार्पण' कर दिया था, फलस्वरूप कृष्ण-भक्ति ही मीराँ के जीवन का धर्म-कर्म बन गई थी और 'गिरधर नागर' के दाम्पत्य-सम्बन्ध-प्रणीत चिरसान्निध्य की कामना एक आध्यात्मिक-पिपासा बनकर उनके रोम-रोम में समा गई थी।

मीरां की इस आन्तिक प्रेरणा और आध्यात्मिक चेतना का ही यह परिणाम था कि उन्होंने लोक-लाज, कुल-मर्यादा की लौह श्रृंखलाओं को तृणवत् तोड़ दिया। उनके पैरों में शील के घुंघरू थे, हृदय में 'गिरधर,' और उसी 'हृदयस्थ' को पाने के लिये पार्थिव शरीर में बन्दी विकल प्राण लिये एक सक्रिय साक्षात्कारेषु स्वकीया की भाँति वे अपने भावोन्मेषपूर्ण, व्यक्तिनिष्ठ, अनलंकृत काव्य के माध्यम से अपने प्रियतम को गृह-वन में खोजती फिरती थीं, भव-सागर से उबारने के लिये करुण पुकार करती थीं, भक्ति-भाव-निमग्न साधु-संतों का सत्संग करती थीं, आत्मोल्लास के पुनीत क्षणों में ताल, पखावज और मृदंग के समवेत स्वरों के बीच हरि-मंदिर में नृत्य करती थीं।

उनकी अनुरक्ति उनकी विरक्ति का विलोम थी, इसीलिये हलाहल उन्हें कृष्ण-प्रेम-पथ से विचलित नहीं कर सका। यह एक दूसरी बात थी कि कृष्ण को खोजते-खोजते मीरां ने अपने आप को खो दिया, किन्तु सिन्धु में बिन्दु का यह विलीनी करण एक आध्यात्मिक परितृप्ति का परिचायक संकेत है। मीरां का कृष्ण में विलीन हो जाना भी एक ऐसा ही रहस्य है, आध्यात्मिक रूपक है, आत्मा परमात्मा का मीरां और कृष्ण का शाश्वत सम्मिलन है। अस्तु, कृष्ण के व्यक्तित्व में मीरां के व्यक्तित्व का एकीकरण उनकी तद्रूपता और तादात्म्य की चरम परणति है, परम सिद्धि है।

सम्यक् रूप से यह कहा जा सकता है कि मीरां का जीवन उत्सर्ग की बलिवेदी और समर्पण का त्यौहार था। उनके व्यक्तित्व में आत्म-शक्ति की शीतलता, लौकिक-संघर्ष की ज्वाला और विरह-विगलित प्राणों की असीम करुणा समाविष्ट थी। हम उनमें वैष्णवों की आचार-निष्ठा, सगुणोपासकों की पूजा-उपासना, विनीत भक्तों का दैन्य, तत्वज्ञानी सन्तों का आध्यात्म दर्शन, प्रेम-बावले सूफियों की अलौकिक विरह-वेदना, विरक्त सन्यासियों का तीर्थाटन, भावुक भक्तों का नृत्य-गायन, विदग्ध प्रेमिका का प्रणय-निवेदन, प्रेम-योगिनी की दिव्य साधना, आत्मा के सनातन नारीत्व का चिर-पुरुष रूप परमात्म तत्व श्रीकृष्ण के प्रति मधुर मिलन और आत्म समर्पण का साकार स्वरूप देख सकते हैं। इन सब परिस्थितियों को देखते हुये मीराँ का व्यक्तित्व विविधताओं का सरस, सुमधुर, सम्मोहक पुंजीभूत व्यक्तित्व परिलक्षित होता है।

यदि मन, वचन और कर्म के त्रिकोणात्मक समुच्चय को जो समष्टिगत जीवन में व्यष्टि को सामान्य से विशिष्ट निरूपित करता है, व्यक्तित्व समझा जाय और जीवन-संघर्ष को उसकी कसौटी स्वीकारा जाय तो भारतीय भक्त-समाज में मीरां के व्यक्तित्व के समकक्ष इतर व्यक्तित्व खोज निकालना कठिन है। तलवार के धनी राठौड़ राव रत्नसिंह की पुत्री, रण-देवता के सुविख्यात पुजारी, हिन्दुआकुल-सूर्य राणा

सांगा की पुत्र-बधू मीरां का रत्नाभरण त्याग, भगवा वस्त्र धारण कर सांसारिक प्रताड़ना और लोकापवाद के बीच साधु-सन्तों के समक्ष नाचना-गाना राजस्थान के रूढ़िवादी राजवंशों को भीषण चुनौती है, इतिहास का सर्वथा नूतन अध्याय है, प्राणों का मोह त्याग भक्ति-पथ-गामिनी आत्म जागरूक नारी की अटल आस्था का अद्वितीय प्रमाण है। इसीलिये संघर्षों की विभीषिका में नित्य अग्नि-परीक्षा देने वाली मीरां का व्यक्तित्व जितना दिव्य और भव्य है, उतना ही वह महान और अभिनन्द-नीय भी है।

व्यक्तित्व विश्लेषण :—

व्यक्तित्व का विश्लेषण दर्शन की कतरब्योंत और मनोविज्ञान की समस्या है। यदि हम किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व का विश्लेषण और मूल्यांकन करना चाहें तो हमें उसके व्यक्तित्व का निरीक्षण, परीक्षण और विश्लेषण करना पड़ता है। सामान्यतः व्यक्ति विशेष के व्यक्तित्व का विश्लेषण उसके वंश-परिवार, परिपार्श्विक परिस्थितियाँ, युग की विचार-सरणि, व्यक्ति विशेष के आस्था विश्वास की रूपरेखा संस्कार, रुचियाँ, आचार-विचार, व्यवहार, रीति-नीति, जीवन-संघर्ष और कर्म के आधार पर किया जा सकता है जिससे हम व्यक्ति विशेष के व्यक्तित्व का अध्ययन, विश्लेषण और निरूपण कर तत्सम्बन्धी उपलब्धियों पर विचार कर सकते हैं और यह जान सकते हैं कि व्यक्ति विशेष 'अनेक' में 'एक' किस रूप में है? और उसकी वैयक्तिकता में विशिष्टता क्या है? अपनी इसी मान्यता के आधार पर हम मीरां के व्यक्तित्व और उनकी भक्ति-सम्बन्धी प्रवृत्तियों पर विचार करेंगे।

मीरां का वंश परिवार :—

मीरां जन्मजात क्षत्राणी थीं, किन्तु क्षात्र-धर्म के वदले उन्होंने भक्ति-पथ का अनुसरण किया था। राजस्थान के दो इतिहास प्रसिद्ध राजवंशों से उनका सम्बन्ध था-एक से विवाह के पूर्व और दूसरे से विवाहोपरान्त।

राजस्थान के राठौड़ों की मेड़तिया शाखा में उनका जन्म हुआ था, इसीलिये अपने श्वसुर-कुल में वे 'मेड़तणी राणी' के नाम से विख्यात थीं। राठौड़ की मेड़तिया शाखा राव दूदा जी (जीवन काल संवत् १४९७ से संवत् १५७२ तक) से चली है। राव दूदा जी परम वैष्णव थे। मेड़ता को नये सिरे से बसाने के बाद उन्होंने वहीं चतुर्भुज जी का मन्दिर बनवाया था। मेड़तिया राठौड़ों को इन्हीं चतुर्भुजी जी का इष्ट है। मीरां को अपने पितृ-कुल से वैष्णव-भक्ति की विरासत तो मिली थी किन्तु उन्हें राव दूदा जी द्वारा प्रतिष्ठापित चतुर्भुज जी का इष्ट नहीं था। उनके इष्ट-

देव 'गिरधर गोपाल' थे, जो चतुर्भुज जी (भगवान विष्णु) के द्वापर कालीन अवतार थे । इससे ज्ञात होता है कि 'मेड़तणी राणी' मीरां वैष्णवी होते हुये भी चतुर्भुज जी की अपेक्षा कृष्णोपासिका थीं । उनके आराध्य चतुर्भुज जी नहीं, अपितु मोर मुकुट मकराकृत कुण्डल धारी श्री कृष्ण थे ।

मीरां का श्वसुर कुल एकलिंग का उपासक था । यों, मीरां के श्वसुर राणा सांगा ने गीत गोविन्द की टीका लिखकर अपने कृष्ण-प्रेम का भी परिचय दिया था, किन्तु मीरां की कृष्ण-भक्ति उनके पूर्व जन्म के संस्कारों की देन थी, श्वसुर कुल की भेंट नहीं ।

इस प्रकार से मीरां का व्यक्तित्व दो राजवंशों से सम्बन्धित होते हुए भी सर्वथा उन्मुक्त और व्यक्तिनिष्ठ मान्यताओं का पोषक था । कुँवर भोजराज की मृत्यु के बाद उनकी चिता में सदेह भस्मीभूत न होकर अन्ततः द्वारका में कृष्ण की मूर्ति में समा जाने से भी उनकी वैयक्तिक विचार-प्रणाली और आध्यात्मिक धारणाओं का प्रबल प्रमाण मिलता है । संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि वंश-परम्परा में 'लकीर के फकीर' की अपेक्षा मीरां का व्यक्तित्व 'लीक छाँड़ि तीनहुँ चलें, सायर, सिंह सपूत' की उक्ति को अधिक चरितार्थ करता है ।

परिपार्श्विक परिस्थितियाँ :--

मीरां की परिपार्श्विक परिस्थितियाँ दो वर्गों में विभक्त की जा सकती हैं-(१) पारिवारिक परिस्थितियाँ, (२) सामाजिक परिस्थितियाँ ।

(१) पारिवारिक परिस्थितियाँ :—काल-खण्ड और परिस्थिति-चिन्तन की दृष्टि से मीरां की पारिवारिक परिस्थितियों को भी दो खण्डों में विभक्त कर लेना समीचीन प्रतीत होता है, यथा-मीरां के पितृ-कुल की परिस्थितियाँ और श्वसुर-कुल की परिस्थितियाँ ।

(अ) मीरां के पितृकुल की परिस्थितियाँ—मीरां के जीवन-काल में उनके पितृ-कुल की परिस्थितियाँ सदैव संकटापन्न रही हैं । प्राप्त सूचनाओं के अनुसार शैशव में ही उनकी माता का निधन हो गया था । मीरां के पिता राव रत्नसिंह निरन्तर युद्धरत रहते थे, अतः मीरां का पालन-पोषण उसके पितृव्य राव दूदा जी के संरक्षण में हुआ । मीरां के मन में भक्ति-भाव का अंकुर शैशव से ही विद्यमान था और वह निरन्तर पारिवारिक वातावरण और सन्त-सत्संग से पल्लवित और पुष्पित होता रहा । अपने सुहृदयों की दुर्दशा और मृत्यु से मीरां का वैराग्य-भाव दृढ़ से दृढ़तर हुआ और
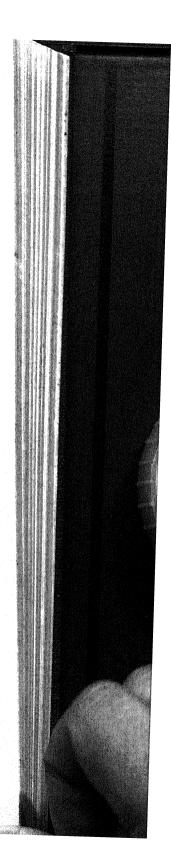
विषपान जैसी भीषण परिस्थितियों ने उसे श्वसुर-कुल में दृढ़तम बना दिया। मीरां ने संवत् १५७२ में अपने पितृव्य राव दूदा जी का निधन देखा, संवत् १५८४ में कन्हवा के युद्ध से पिता रत्नसिंह की वीरगति की सूचना पाई। संवत् १५६५ में चाचा राव वीरमदेव का शरीरपात देखा और चचेरे भाई जयमल को राव मालदेव से होने वाले संघर्ष में विवश होकर मेड़ता छोड़ते हुए देखा। संभवतः पितृ-कुल की इन घटनाओं से मीरां के मन में सांसारिक सुखों की क्षण-भंगुरता और शरीर की नश्वरता के भाव और भी परिपुष्ट हुये होंगे।

(आ) श्वसुर कुल की परिस्थितियाँ—श्वसुर कुल में भी मीरां की स्थिति अच्छी नहीं थी। उनके सन्त-समागम से उनके चरित्र पर सन्देह किया जाता था। भोजराज जी की मृत्यु के बाद ही कदाचित मीरां की सास ने उन्हें 'कुलनाशी' कहा था। जन-साधारण द्वारा 'बिगड़ी' कही जाने पर राणा विक्रमादित्य ने मीरां के प्राण लेने की कोशिशें भी की थीं, जिनके कारण मीरां का मानसिक क्लेश और आध्यात्मिक यंत्रणायें अत्यधिक बढ़ गई थीं। राजमहल के भीतर भी वे दाँतों के बीच में जीभ सी रहीं, किन्तु उन्होंने अपने 'सांवरिया' का नाम-स्मरण नहीं छोड़ा। अन्त में विषम परिस्थितियों की ज्वाला में तिल-तिल जलकर ही मीरां का व्यक्तित्व कंचनवत् निखरा। उनकी पवित्र आत्मा ने सम्पूर्ण सांसारिक संताप धैर्यपूर्वक सहे, शांतिपूर्वक निन्दा और भर्त्सना सुनी, सांसारिक प्रपंचों से ऊपर उठकर पवित्र भक्ति-भाव से अपनी आत्मा का उद्धार किया। क्षत्रिय बाला की तरह विपरीत परिस्थितियों के समक्ष घुटने नहीं टेके, बल्कि संघर्षों का जी खोलकर स्वागत किया, उनपर विजय पाई और अपनी भक्ति-साधना की सिद्धि तक अनवरत संघर्ष किया।

(२) सामाजिक परिस्थितियाँ—परिस्थितियाँ व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं, संघर्ष उसमें प्राण भरता है और साधना उसमें सौन्दर्य-सृष्टि करती है। किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व के निर्माण में वैयक्तिक और सामाजिक परिस्थितियों की यही महत्ता है।

मीरां की सामाजिक परिस्थितियाँ संक्रमणकालीन थीं। उनके युग में हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों का संघर्ष विद्यमान था। धार्मिक कट्टरता के साथ-साथ साम्प्रदायिकता पनप रही थी। साम्प्रदायिक तत्वों का प्रचार-प्रसार भी हो रहा था और विविध सम्प्रदायों के अनुयायियों में साम्प्रदायिकतापूर्ण आचार-विचार भी विद्यमान थे, किन्तु साम्प्रदायिकता के क्षुद्र घेरे में घिरी हुई संकुचित मनोवृत्ति मीरां ऐसी उदात्त भक्त आत्मा के संस्कारों के प्रतिकूल पड़ती थी, इसीलिये मीरां ने वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायियों से सत्संग तो किया, किन्तु उनके सतत सचेष्ट प्रयासों के बावजूद भी वे

'आचार्य जीं महाप्रभून की सेविका' नहीं हुई। उन्होंने ज्ञानी एवं योगियों से ज्ञान-चर्चा तो की, किन्तु जोगी होयां जुगत णा जाणा, उलट जणमरां फांसी[1] को भी वे नहीं भूलीं। जीव गोस्वामी के पौरुष को ब्रजभाव के 'नारीत्व' से तो रंगा, किन्तु स्वयं 'गौर कृष्ण की दासी' हुईं।

उनके मन्दिर के द्वार सबके लिये खुले थे, किन्तु वे किसी सम्प्रदाय विशिष्ट के कठघरे में बन्दिनी नहीं हुई। यों तो मानने के लिये सन्त-सत्संग का प्रभाव मीरां पर अवश्य कहा जा सकता है किन्तु इतना तो निश्चित है कि मीरां का भक्ति-मार्ग साम्प्रदायिक पगडण्डी न होकर स्वतंत्र राजमार्ग था। उनके विचार अतीत और वर्तमान से सम्बद्ध होकर भी मौलिक थे, परम्परा-समर्थित होकर भी पूर्णतः स्वतंत्र थे, व्यापक होकर भी सर्वथा व्यक्तिनिष्ठ थे, जिनका स्वतन्त्र रूप से आगे विवेचन किया जायगा।

युग की विचार सरणि

संक्रमणकाल के नाते मीरां के युग की विचार-सरणि विविध रूपा थी। नाथ-पंथी योगी और सिद्धों की सिद्धाई जनता पर आतंक जमाये बैठी थी। युगनद्ध की साधना अपनी उच्च भाव-भूमि से गिरगर लौकिक भोगानन्द की उपासिका बन गई थी। पिण्ड में ब्रह्माण्ड के उपदेशकों की गुह्य-साधना अटपटी वाणी में 'रहस्य' को और भी रहस्योन्मुख बना रही थी। योगियों में प्रच्छन्न भोगी भी थे। सामान्यतः अधिकांश योगियों की नैतिकता पर से जन-साधारण की आस्था उठ गई थी। जन्त्र, मन्त्र-तन्त्र भी प्रचलित थे। मोहन, मारण, वशीकरण, उच्चाटन की भी महिमा थी तथा उन्हें अशिक्षित वर्ग के अन्ध-विश्वास का समर्थन भी प्राप्त था, किन्तु युग-जीवन की विचार सरणि को नाथ पंथी योगियों, सिद्धों और तान्त्रिकों ने पूर्णतः प्रभावित नहीं किया क्योंकि वे जन-जीवन में कोई प्रभुत्वशाली परिष्कार नहीं कर सके, अतः धीरे-धीरे समाज द्वारा उनका बहिष्कार होता जा रहा था।

कबीरपन्थी, रैदासी तथा अन्य निर्गुणियाँ सन्त भी आस्थावादी ठोस जीवन-दर्शन के अभाव में संकीर्ण और प्रचारात्मक कार्य ही अधिक कर रहे थे। उनकी-खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति उनकी निर्माणात्मक प्रवृत्ति से अधिक बलवती थी और उनकी साम्प्रदायिकता संकीर्णता से घिरी थी। यद्यपि जाति-पाँति की निस्सारता और मानव-जीवन की क्षण भंगुरता का उल्लेख कर का निर्गुणियाँ सन्तों ने मानवीय

१. डाकोर की प्रति, पद २।

समता का प्रतिपादन किया तथा जाति, धर्म और सम्प्रदाय के नाम पर क्षत-विक्षत-विशृंखल समाज के समक्ष मानवीय समता और ईश्वर की एकता के विशदतर सार्वभौम सत्य की दुहाई दी, किन्तु निर्गुणियों की साधना व्यक्तिकेन्द्रित थी। उसमें एकांगिता का भारी दोष था। सम्पूर्ण जन-जीवन में आमूल-चूल परिवर्तन द्वारा समष्टिगत सर्वांगीण आदर्श की प्रतिष्ठा और उसकी उपलब्धि का मार्ग वे नहीं दे सके। उनकी वाणी पुनरुक्ति और उपदेशों से सराबोर थी। उनके सुधारवादी प्रयासों में बौद्धिकता अधिक और उसकी तुलना में हृदय-पक्ष कमजोर था, तर्क तेज और भावना धीमी थी, इसीलिये वे विध्वंसक स्वरों के स्रोत थे, नवनिर्माण के पंचम में उन्होंने कम गाया। नतीजा यह हुआ कि कबीर जैसा व्यक्तित्व युग-जीवन का व्याख्याता भले ही रहा, किन्तु वह युग-जीवन का निर्माता नहीं बन सका। बहुत सम्भव है कि उनकी साधना और परिस्थितियों ने उनका साथ नहीं दिया।

भारतीय प्रेमाख्यानों पर सूफियाना रंग चढ़ाकर हृदय की आँखों से प्रेम की पीड़ा को परखने वाले सूफियों ने भी भारतीय कथानकों द्वारा सूफी-दर्शन का प्रचार किया, किन्तु वे हिन्दू और इस्लाम संस्कृति के बीच की खाई नहीं पाट सके। उन्होंने भारतीय जन-समूह की रागात्मिका वृत्ति को उकसाकर उसे प्रेम और पीड़ा का रसास्वादन तो कराया, किन्तु वे हिन्दू और मुसलमानों के आन्तरिक तनाव को कम नहीं कर सके। परिणाम यह हुआ कि मुसलमान शासकों की असन्तुलित नीति के कारण इस्लाम का धर्म-दर्शन और सूफियों की भावनायें भी भारतीयों को प्रभावित न कर सकीं और भारतीय जन-समाज सूफियाना रंग में नहीं रँगा जा सका।

इसके बाद सगुण भक्ति का पुनरुत्थान मीरां के युग की विशेषता थी। उस युग में बंगाल से गुजरात तक और हिमाचल से सेतुबन्ध तक विविध आचार्यों और सम्प्रदायों द्वारा वैष्णव-धर्म का जोरदार प्रचार-प्रसार हो रहा था। अचार्यगण महापंडित थे। उनका बौद्धिक अभियान, तार्किक दार्शनिकों की पद्धति के अनुरूप था और उनकी विचार-धारायें वादों के दुकूलों में सिमटी हुई थी। जीव, जगत और ब्रह्म-विवेचन उनके प्रिय विषय थे। वैष्णव आचार्यों का प्रभाव बुद्धिवादी पंडित वर्ग पर अधिक था, किन्तु उनके सम्प्रदायों में दीक्षित भक्त कवियों की भावनायें बौद्धिक खींचातानी को छोड़ स्फुट पदों के द्वारा लोक-हृदय में सरसता का संचार कर रही थीं। मीरां के यूग में भगवान विष्णु के लोकरंजक और लोकरक्षक दोनों रूपों को लेकर कृष्ण-भक्ति और राम भक्ति की वेगवती अन्तः सलिला जन-मानस को आनन्द और प्रेरणा के पुनीत भावों से अभिसिंचित कर रही थी। तन्त्र-मंत्र वाले सिद्धों, गुह्य-साधना वाले नाथपंथी योगियों, सामाजिक कुरीतियों और धार्मिक पाखण्डों को झाड़-फ़टकारकर धक्कामार भाषा में

हिन्दू-मुसलमानों को खरी खोटी सुनाने वाले निर्गुणियाँ सन्तों की चेतावनी और सूफियों की प्रेम पीड़ा की अपेक्षा जनता का मन कृष्ण के रूप-लावण्य और राम के शील, शक्ति और सौन्दर्य पर केन्द्रित होता जा रहा था। युग की विचार-सरणि कर्म-काण्ड और बौद्धिक ऊहापोह को छोड़ हृदय की कोमल अनुभूतियों को सहला रही थी, निवृत्ति प्रवृत्ति की ओर झुक रही थी और निराशा, आस्था और विश्वास में परिणत होती जा रही थी। संक्रमणकालीन भक्ति-काल का यही महत्वपूर्ण मोड़ था।

मीरां के युग में विशेषकर उत्तर भारत में कृष्ण-भक्ति का अधिक प्रचार था। बंगाल में महाप्रभु चैतन्य के अनुयायी गोपी-भाव से कृष्णाराधना में तल्लीन थे। व्रज-भूमि में अष्टसखा और अष्ट सखीन के रूप में अष्टछाप के कवि कृष्ण के रूप-सौन्दर्य, गुण-लीला-गान में आत्मविभोर थे। गुजरात में नरसी मेहता के पद गूँज उठे थे और उधर मिथिला में विद्यापति के गीत घर-घर में गाये जाते थे।

इस कृष्ण-भक्ति के विकास में अष्टछाप के कवियों का सबसे अधिक हाथ रहा है। उनको साधना में सख्य-भाव, सखी-भाव, गोपी भाव, राधा-भाव सभी समा गये थे। अष्टछाप के पुरुष कवियों ने अपने पौरुष पर राधा, गोपी या गोप की अनुभूतियों का आलेपन कर तदनुरूप भावनाओं को वाणी देने में सफलता पाई थी, किन्तु फिर भी उनका सख्य, दास्य, गोप, गोपी या राधाभाव व्रजभाव से निबद्धित था। मीरां ने ऐसी कोई भी आरोपित अनुभूति लेकर अपने भावों को व्यंजित नहीं किया। उन्होंने 'रास पूणां जणमिया री राधका अवतार'[1] कहकर अपने आपको राधा का अवतार माना इस-लिये उनकी अनुभूति और धारणाओं में नारीत्व का आरोप नहीं, स्वयंसिद्ध नारीत्व का सहज मुखर रूप विद्यमान है। फलतः मीरां की नारी भावनाएँ जितनी स्वाभाविक और स्वयं स्फूर्ति है, उतनी अष्टछाप के कवियों की नहीं। दूसरे शब्दों में अष्टछाप के कवियों की नारी भावनाएँ परानुभूत कल्पनायें हैं, मीरां की भावनाओं में स्वानुभूति-युक्त सत्य का बल है। यद्यपि सत्कवि के लिये 'पर' और 'स्व' दोनों की अनुभूति स्वानुभूति ही होती हैं, किन्तु कल्पना-प्रसूत अनुभूति और सत्यानुभूति में जो अन्तर हो सकता है, वैसा ही कुछ-कुछ अन्तर अष्टछाप के कवियों की नारी-भावना और मीरां की भावना में विद्यमान है। इस दृष्टि से मीरां का अनुभूति-जगत् सर्वथा स्वतन्त्र है और उसकी उपज भी तत्वतः व्यक्तिनिष्ठ, विशिष्ट और आत्मीय है।

मीरा के आस्था-विश्वास की रूपरेखा

मीरां के युग में समाज की आस्था धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष-चारों पुरुषार्थों पर

१. डाकोर की प्रति, पद ६७ (ख)

समता का प्रतिपादन किया तथा जाति, धर्म और सम्प्रदाय के नाम पर क्षत-विक्षत-विश्रृंखल समाज के समक्ष मानवीय समता और ईश्वर की एकता के विशदतर सार्वभौम सत्य की दुहाई दी, किन्तु निर्गुणियों की साधना व्यक्तिकेन्द्रित थी। उसमें एकांगिता का भारी दोष था। सम्पूर्ण जन-जीवन में आमूल-चूल परिवर्तन द्वारा समष्टिगत सर्वांगीण आदर्श की प्रतिष्ठा और उसकी उपलब्धि का मार्ग वे नहीं दे सके। उनकी वाणी पुनरुक्ति और उपदेशों से सराबोर थी। उनके सुधारवादी प्रयासों में बौद्धिकता अधिक और उसकी तुलना में हृदय-पक्ष कमजोर था, तर्क तेज और भावना धीमी थी, इसीलिये वे विध्वंसक स्वरों के स्रोत थे, नवनिर्माण के पंचम में उन्होंने कम गाया। नतीजा यह हुआ कि कबीर जैसा व्यक्तित्व युग-जीवन का व्याख्याता भले ही रहा, किन्तु वह युग-जीवन का निर्माता नहीं बन सका। बहुत सम्भव है कि उनकी साधना और परिस्थितियों ने उनका साथ नहीं दिया।

भारतीय प्रेमाख्यानों पर सूफियाना रंग चढ़ाकर हृदय की आँखों से प्रेम की पीड़ा को परखने वाले सूफियों ने भी भारतीय कथानकों द्वारा सूफी-दर्शन का प्रचार किया, किन्तु वे हिन्दू और इस्लाम संस्कृति के बीच की खाई नहीं पाट सके। उन्होंने भारतीय जन-समूह की रागात्मिका वृत्ति को उकसाकर उसे प्रेम और पीड़ा का रसास्वादन तो कराया, किन्तु वे हिन्दू और मुसलमानों के आन्तरिक तनाव को कम नहीं कर सके। परिणाम यह हुआ कि मुसलमान शासकों की असन्तुलित नीति के कारण इस्लाम का धर्म-दर्शन और सूफियों की भावनायें भी भारतीयों को प्रभावित न कर सकीं और भारतीय जन-समाज सूफियाना रँग में नहीं रँगा जा सका।

इसके बाद सगुण भक्ति का पुनरुत्थान मीरां के युग की विशेषता थी। उस युग में बंगाल से गुजरात तक और हिमाचल से सेतुबन्ध तक विविध आचार्यों और सम्प्रदायों द्वारा वैष्णव-धर्म का जोरदार प्रचार-प्रसार हो रहा था। अचार्यगण महापंडित थे। उनका बौद्धिक अभियान, तार्किक दार्शनिकों की पद्धति के अनुरूप था और उनकी विचार-धारायें वादों के दुकूलों में सिमटी हुई थी। जीव, जगत और ब्रह्म-विवेचन उनके प्रिय विषय थे। वैष्णव आचार्यों का प्रभाव बुद्धिवादी पंडित वर्ग पर अधिक था, किन्तु उनके सम्प्रदायों में दीक्षित भक्त कवियों की भावनायें बौद्धिक खींचातानी को छोड़ स्फुट पदों के द्वारा लोक-हृदय में सरसता का संचार कर रही थीं। मीरां के युग में भगवान विष्णु के लोकरंजक और लोकरक्षक दोनों रूपों को लेकर कृष्ण-भक्ति और राम भक्ति की वेगवती अन्तः सलिला जन-मानस को आनन्द और प्रेरणा के पुनीत भावों से अभिसिंचित कर रही थी। तन्त्र-मंत्र वाले सिद्धों, गुह्य-साधना वाले नाथपंथी योगियों, सामाजिक कुरीतियों और धार्मिक पाखण्डों को झाड़-फ़टकारकर धक्कामार भाषा में

हिन्दू-मुसलमानों को खरी खोटी सुनाने वाले निर्गुणियाँ सन्तों की चेतावनी और सूफियों की प्रेम पीड़ा की अपेक्षा जनता का मन कृष्ण के रूप-लावण्य और राम के शील, शक्ति और सौन्दर्य पर केन्द्रित होता जा रहा था । युग की विचार-सरणि कर्म-काण्ड और बौद्धिक ऊहापोह को छोड़ हृदय की कोमल अनुभूतियों को सहला रही थी, निवृत्ति प्रवृत्ति की ओर झुक रही थी और निराशा, आस्था और विश्वास में परिणत होती जा रही थी। संक्रमणकालीन भक्ति-काल का यही महत्वपूर्ण मोड़ था ।

मीरां के युग में विशेषकर उत्तर भारत में कृष्ण-भक्ति का अधिक प्रचार था । बंगाल में महाप्रभु चैतन्य के अनुयायी गोपी-भाव से कृष्णाराधना में तल्लीन थे । व्रज-भूमि में अष्टसखा और अष्ट सखीन के रूप में अष्टछाप के कवि कृष्ण के रूप-सौन्दर्य, गुण-लीला-गान में आत्मविभोर थे । गुजरात में नरसी मेहता के पद गूँज उठे थे और उधर मिथिला में विद्यापति के गीत घर-घर में गाये जाते थे ।

इस कृष्ण-भक्ति के विकास में अष्टछाप के कवियों का सबसे अधिक हाथ रहा है । उनको साधना में सख्य-भाव, सखी-भाव, गोपी भाव, राधा-भाव सभी समा गये थे । अष्टछाप के पुरुष कवियों ने अपने पौरुष पर राधा, गोपी या गोप की अनुभूतियों का आलेपन कर तदनुरूप भावनाओं को वाणी देने में सफलता पाई थी, किन्तु फिर भी उनका सख्य, दास्य, गोप, गोपी या राधाभाव व्रजभाव से निबद्धित था । मीरां ने ऐसी कोई भी आरोपित अनुभूति लेकर अपने भावों को व्यंजित नहीं किया । उन्होंने 'रास पूणां जणमिया री राधका अवतार'[1] कहकर अपने आपको राधा का अवतार माना इस-लिये उनकी अनुभूति और धारणाओं में नारीत्व का आरोप नहीं, स्वयंसिद्ध नारीत्व का सहज मुखर रूप विद्यमान है । फलतः मीरां की नारी भावनाएँ जितनी स्वाभाविक और स्वयं स्फूर्ति है, उतनी अष्टछाप के कवियों की नहीं । दूसरे शब्दों में अष्टछाप के कवियों की नारी भावनाएँ परानुभूत कल्पनायें हैं, मीरां की भावनाओं में स्वानुभूति-युक्त सत्य का बल है । यद्यपि सत्कवि के लिये 'पर' और 'स्व' दोनों की अनुभूति स्वानुभूति ही होती हैं, किन्तु कल्पना-प्रसूत अनुभूति और सत्यानुभूति में जो अन्तर हो सकता है, वैसा ही कुछ-कुछ अन्तर अष्टछाप के कवियों की नारी-भावना और मीरां की भावना में विद्यमान है । इस दृष्टि से मीरां का अनुभूति-जगत् सर्वथा स्वतन्त्र है और उसकी उपज भी तत्वतः व्यक्तिनिष्ठ, विशिष्ट और आत्मीय है ।

मीरा के आस्था-विश्वास की रूपरेखा

मीरां के युग में समाज की आस्था धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष-चारों पुरुषार्थों पर

१. डाकोर की प्रति, पद ६७ (ख)

थी; ज्ञान, कर्म, योग और भक्ति के चारों मार्ग खुले थे। आध्यात्म चिन्तक और आत्मोद्धारक आर्त्त जिज्ञासुओं के लिये विवेक, वैराग्य, षडसम्पत्ति और मुमुक्षता के चारों साधन विद्यमान थे, प्रेमाभक्ति के चारों अंग नाम-स्मरण, रूप-वर्णन, लीला-गायन और धाम-प्राप्ति की प्रार्थना भी परिपुष्ट हो रहे थे। इनमें से धर्म, वैराग्य और प्रेमाभक्ति पर मीरां की विशेष आस्था थी।

मीरा की आस्था में प्रेमाभक्ति के चार अंग

(क) **नाम स्मरण**—सगुण और निर्गुण भक्ति-साधना-क्षेत्र में भगवन्नाम स्मरण की बड़ी व्यापक महिमा है। भक्ति के दायरे में 'नाम माहात्मय' सर्व सम्मत है। 'नारद भक्ति सूत्र' में देवर्षि नारद ने भी 'नारदस्तुतदर्पिताखिलाचारता' तद्वि-स्मरणे परम व्याकुलतेति'[1] कहकर अखण्ड हरिनाम स्मरण को भक्ति का प्रधान लक्षण माना है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी भगवान श्री कृष्ण ने 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' की घोषणा कर जप (नामस्मरण) माहात्मय निरूपित किया है।

श्रीमद्भागवत में भी भगवन्नाम की गौरव-गाथा गाई गई है। यथा—

'एतन्निर्विद्यमानानाभिच्छ तामू कुतो भयम्।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम्॥[2]

संसार से विरक्त साधकों एवं सिद्धि-प्राप्त योगियों को पाप-नाश और सांसा-रिक सुखों की प्राप्ति के लिये नहीं, निर्भय मोक्षपद की कामना से भगवान श्री हरि के नामों का स्मरण करना चाहिये। यही शास्त्रों का सार है। सम्पूर्ण धार्मिक अनुष्ठानों का परम फल भी हरि नाम ही है, क्योंकि—

'अहोवत श्वपचोऽतो गरीयान यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
ते पुस्तपस्ते जुहुवः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥[3]

जिसकी जिह्वा पर भगवन्नाम विराजमान है, वह चाण्डाल भी श्रेष्ठ है। हरिनाम स्मरण करने वाले भाग्यवान पुरुष को तप, यज्ञ, तीर्थाटन, सदाचार पालन और वेदाध्ययन के फल की प्राप्ति अपने आप हो जाती है, क्योंकि इन सब (धर्माचारों) का परम फल 'नाम' उसे उपलब्ध हो गया है।

---

१. नारद-भक्ति-सूत्र, १६।
२. श्रीमद्भागवत, २ : १ : ११।
३. श्रीमद्भागवत, १२ : १३ : २३।

हरिनाम में पापों का नाम और दुःख-शमन की अमोघ शक्ति है, यथा–

'नाम संकीर्तनं यस्य सर्व पाप प्रनाशनम् ।
प्रमाणो दुःख शमनस्तं नमामि हरिं परम ॥'[1]

अर्थात जिन (श्री हरि) का नाम-संकीर्तन समस्त पापों का नाश कर देता है और जिनको प्रणाम करने से समस्त दुखों का शमन हो जाता है, उन्हीं परमेश्वर श्री हरि को मैं नमन करता हूँ ।

मीरां भी अपने 'सांवरे' के नाम-स्मरण को पाप-नाशक और मोक्ष प्रदायक मानती थीं । उन्होंने स्वीकार किया था कि–

म्हारो मण 'सांवरों' णाम रट्यां री ।
सांवरो णाम जपां जग प्राणी, कोट्यां पाप कट्यां री ।
जणम जणम री खतां पुराणी, णामां स्याम मट्यां री ।'[2]

मीरां के जीवन में नाम-स्मरण से जीवात्मा के मोक्ष की जो आस्था विद्यमान थी, उसकी भी उन्होंने सप्रमाण स्वीकृति दी है । यथा—

पिया थारे णाम लुभाणी जी ।
णाम ळेता तिरतां सुण्यां जग पाहण पाणी जी ।
कीरत काई णा किया, घणां करम ळुमाणी जी ।
गणकां कीर पढावतां बैकुण्ठ बसाणी जी ।
अरध णाम कुंजर लयां दुख अवध घटाणी जी ।
गरुड छांड़ पग धाइयां, पुसु-जूण पटाणी जी ।
अजांमैळ अघ ऊधरे जम त्रास णसाणी जी ।
पूत णाम जश गाइयां जग सारा जाणी जी ।
सरणागत थे बर दियां परतीत पिछाणी जी ।
मीरां दासी रावली, अपणी कर जाणी जी ।[3]

मीरां के नाम-माहात्म्य-द्योतक पदों से हमें उनकी इस धारणा का पता चलता है कि वे अपने प्रियतम 'सांवरे' के नाम-स्मरण और कीर्तन को ही अपनी मुक्ति का साधन मानती थीं । उनका ऐसा विश्वास था कि कृष्ण के नाम-स्मरण से ही अनेक

---

१. श्रीमद्भागवत, ३ : ३३ : ७ ।
२. डाकोर की प्रति, पद ५८
३. डाकोर की प्रति, पद २५ ।

अधम और पापी प्राणियों का उद्धार हुआ है, अतः वे भी नाम-स्मरण द्वारा अपना उद्धार कर भवसागर से पार हो जाना चाहती थी, अन्ततः उनकी निष्ठा के कृत कार्य होने में भी यही रहस्य था, कि हरिनाम-स्मरण करते-करते वे भवसागर से पार हो गई।

(ख) रूप वर्णन—मीरां सगुणोपासिका थीं, निर्गुणोपासिका नहीं। वह रहस्य-वादी भावनाओं को स्वीकार करने पर भी कबीरादि की तरह अपने प्रियतम को रहस्यवाद के शून्य अंधकार में नहीं टटोलती फिरती थी। उनके उपास्य देव श्रीकृष्ण थे। सच्चिदानन्द सन्दोह परम ब्रह्म-स्वरूप भगवान विष्णु के द्वापर कालीन सगुण लीलावतार थे, जिन्हें भक्तवत्सल भगवान के रूप में द्रौपदी ने गोविन्द द्वारिकावासिन कृष्ण गोपी जन प्रिय[1] कहकर अपनी रक्षा के लिये पुकारा था, और जिन्होंने गीता में अर्जुन को 'सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज[2] का सुझाव देकर कर्मफल की चिन्ता छोड़ कर्त्तव्य पालन की प्रेरणा दी थी। मीरां ने भी एक जगह कृष्ण को 'ब्रज वणता रो कन्त'[3] कहा है और उसी द्वारकावासी कृष्ण के पथ का अनुसरण करती हुई वे ब्रज से द्वारका तक गई थीं। अपने इन्हीं आराध्य कृष्ण का रूप वर्णन मीरां ने इस प्रकार किया है :—

सांवरो णदणण्दण दीठ पड्यां माई।
डार्यां शब ळोक लाज शुध बुध बिशराई।
केसर रो तिळक भाल ळोचण शुखदाई।
कुण्डल झळकां कपोल अळकां लहराई।
मीणा तज सरवर ज्यों मकर मिलण धाई।
नटवर प्रभु भेख धर्यां रूप जग ळोभाई।
गिरधर प्रभु अंग अंग मीरा बळ जाई॥[4]

सगुणोपासिका मीरां का व्यक्तित्व अपने आराध्य के ऐसे मोहक स्वरूप से अत्यधिक प्रभावित था, इसीलिये उन्होंने जहाँ कहीं भी आराध्य का रूप-वर्णन किया है वहीं उनके वर्णन बड़े सजीव और आकर्षक बन पड़े हैं।

---

१. महाभारत, द्यूतपर्व, अध्याय ६८, श्लोक ४१।
२. गीता, अध्याय १८, श्लोक ६६।
३. डाकोर की प्रति, पद ३२।
४. काशी की प्रति, पद ८६।

(ग) लीला गायन—लीला गायन में मीरां की वृत्ति अधिक नहीं रमी। इसका एक मात्र कारण यह था कि वे सम्प्रदाय-मुक्त थीं। कृष्ण की लीलाओं का प्रचार और गुण-गायन उनका ध्येय नहीं था। वे न तो कृष्ण की सखा थी न सखी, न उन्हें चैतन्य सम्प्रदाय के अनुयायियों की तरह राधा-कृष्ण की लीलायें गानी थीं, न अष्टछाप के कवियों की तरह पुष्टिमार्ग पर चलते हुये ब्रजभाव की परिधि के भीतर 'राधा-रानी' या 'राधा-वल्लभ' के प्रेमपरक कार्यकलापों का इतिवृत्तात्मक लेखा-जोखा रखना ही अभीष्ट था। उन्हें तो अपने 'प्रियतम' से 'अपनी बात' कहनी थी, अपने आत्म-निवेदन में अपना हृदय खोल कर रखना था, भव-सागर से पार उतारने के लिये बाँह गहे की लाज रखनी थी, विरह में तड़पना था, मिलन की उत्कण्ठा को वाणी देनी थी। अस्तु, उनका जीवन एक आध्यात्मिक पुकार था, जो मुखर होना चाहता था। इसीलिये उनके पदों में आत्म-प्रकाशन अधिक और लीला-गायन का वस्तुनिष्ठ अभाव पाया जाता है। केवल डाकोर की प्रति में पद क्रमांक ३२ ही एक ऐसा पद है, जिसमें काली नाग-नाथन-लीला का वर्णन है, किन्तु उसमें भी मीरां द्वारा लीला-गायन की अपेक्षा अपने आराध्य की शक्तिमता की यशगाथा की ध्वनि ही अधिक पायी जाती है।

(घ) धाम—सगुणोपासक वैष्णव भक्तों की भाँति मीरां का व्यक्तित्व भी परम धाम या परम पद का अभिलाषी था, जिसका स्वरूप मीरां के ही शब्द में इस प्रकार था—

> चाळा अगम वा देस काळ देख्यां डरां।
> भरां प्रेम रां होज हंश केळा करां।
> साधा सन्त रो शंग ग्याण जुगतां करा।
> धरां सांवरो ध्यान चित्त उजळो करां।
> सील घूंघरां बांध तोस निरतां करां।
> साजा शोळ सिंगार शोणा रो राखड़ां।
> सांवळ्या शूं प्रीत ओर शूं आखड़ां।[1]

मीरां द्वारा वर्णित अगम देश का उक्त स्वरूप वस्तुतः वैष्णवों द्वारा कल्पित मान्य और वांछित 'मोक्ष' है, जहाँ काल का प्रवेश नहीं होता। इसी अगम देश में प्रवेश कर उन्मुक्त आत्मा रूपी हंस, परमात्म प्रेम सरोवर में नित्य क्रीड़ा किया करते हैं। मीरां की यह 'धर्म-कल्पना' उनकी रहस्यवादी धारणा का संकेत करती है।

---

१. काशी की प्रति, पद ७१।

इस तरह से मीरां की प्रेम-साधना में प्रेमाभक्ति के चारों अंग यथा नाम, स्मरण, रूप-वर्णन, लीला गायन और धाम विद्यमान थे, जिनमें उनके व्यक्तित्व का वैशिष्ट्य स्पष्टतः दिखाई देता है और उनके आस्था-विश्वास के प्रमाण भी विद्यमान हैं।

मीरां के व्यक्तित्व की विशेषताएँ

मीरां भक्त आत्मा थीं। उनके संस्कार वैष्णव-भक्ति से अनुप्राणित थे और शैशव से ही उनके पवित्र मन में कृष्ण विषयक आध्यात्मिक दाम्पत्य-सम्बन्ध अंकुरित हो गया था। वे अपने आपको राधा का अवतार मानती थीं और पुनर्जन्म में उनका विश्वास था, इसीलिये उन्होंने 'रास पूणों जणमियारी राधका अवतार'[1] की घोषणा कर कृष्ण को अपना जन्म-जन्मान्तर का 'भरतार' माना था। वे कलियुग की राधा थी, जो द्वापर की राधा की अपूर्ण कामनाओं की परिपूर्ति के लिये अवतीर्ण हुई थी। द्वापर की राधा तो ब्रज में ही कृष्ण वियोग में कुढ़ती रही, वृन्दावन की लता बल्लरियों को अश्रु जल से सींचती रही, ब्रज से बाहर जाने का उसे सुयोग नहीं मिला किन्तु कलिकाल में अवतीर्ण राधा ने मीरां के रूप में अपनी शेष कामनाओं की पूर्ति कर ली और अपने प्रिय की खोज में कृष्ण के मार्ग पर भटकते-भटकते द्वारका जा, अपने आपको खो दिया। वृषभानुदुलारी राधा, रत्नसिंह के घर मीरां के रूप में अवतरित हुई थी। यही मीरां की जीवन व्यापी मान्यता का रहस्यपूर्ण तथ्य था।

इसके बाद लौकिक जगत में रह कर भी मीरां ने आध्यात्मिक जगत में आजीवन विचरण किया। इसका कारण उनके पूर्व जन्म के चिरसंचित संस्कारों का उदात्तीकरण था, आध्यात्मिक चेतना की आन्तरिक सुगबुगाहट थी। उनका कृष्ण प्रेम लौकिक विराग पर अधिष्ठित था। इसलिये "जेतांई दीसां धरण गगण मां तेताई उठ जासी।"[2] द्वारा उन्होंने अपनी वैराग्य विषयक मान्यता का प्रति-पादन किया है। सांसारिक सम्बन्धों की क्षणभंगुरता और लौकिक पति की मृत्यु की आशंका से ही उन्होंने ऐसे 'अमरवर' का वरण किया था, जिसे 'काल व्याल' नहीं खाता। अपने उसी सर्वस्व की प्राप्ति के लिये उन्होंने अपना सर्वस्व त्याग दिया था।[3]

---

१. डाकोर की प्रति, पद ६७ ख।

२. वही, पद २।

3. "In order to have the All thou must leave the all"
Introduction to the Mystical Doctrine of St. Jolm of the cross, By The Very Rev. R.H.J. Steuart S.J. Page X

आत्मा के उद्धार के लिये वे संसार से परांगमुख हो गई थी । आर्य-चाणक्य की नीति—

त्यजदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ॥
ग्रामं जनपदस्यार्थे, आत्मार्थं पृथ्वी त्यजेत् ।

'के अनुसार मीरां' ने अपने आत्मोद्धार के लिये 'कुळ जग छांड्या'[1] रत्नाभूषणों का परित्याग कर भगवा भेष धारण किया और अपने 'गिरधर नागर' को चारों देशों में ढूंढा । कृष्णानुराग में पगी हुई मीरां वैरागिन बन गई । मीरां का यह वैराग्य भी विचारणीय है । सैद्धान्तिक दृष्टि से भावनाओं का वशीकरण वैराग्य है, जो सांसारिक भुक्त और भोग्य विषयों के प्रति अनासक्ति का द्योतक हैं ।[2] मीरां के जीवन और कार्यों में हमें जो लोक-विषयक विरक्ति दिखाई देती है, वही उनकी परलोक-विषयक अनुरक्ति का कारण है । इसीलिये मीरां ने संसार से नाता तोड़ कर 'गिरधर' से अपनी प्रीति जोड़ी थी । मीरां के इस भक्ति-प्रवण व्यक्तित्व के निर्माण में साधु सन्तों के दुर्लभ अगम्य, अमोघ सत्संग का बड़ा हाथ था । धर्म-ग्रन्थों में इन साधु संतों के समागम की बड़ी महिमा है । देवर्षि नारद का कथन है कि—

महत्संगस्तु दुर्लभोऽगम्यो अमोघश्च ॥
लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव ॥
तस्मिंस्तज्जने भेद भावात् ॥[3]

महापुरुषों का संग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है । वह भी भगवद्कृपा से प्राप्त होता है, क्योंकि भगवान और उनके भक्तों में भेद का अभाव है ।

श्रीमद्भागवत में भी सन्त-समागम की महिमा का बखान किया गया है । यथा—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं ना पुनर्भवम् ।
भगवत्संगि संगस्य, मर्त्यानां किमुताशिषः ॥[4]

× × ×

---

१. काशी की प्रति, पद ८० ।
२. दृष्टानुश्रविक विषय वितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम् ॥ योगसूत्र, समाधिपाद सूत्र १५ ।
३. नारद-भक्ति-सूत्र ३९,४०,४१ ।
४. श्रीमद्भागवत, १:१८:१३ ।

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् ।
मदन्यत्तेन जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ।। [1]

मीरां के व्यक्तित्व-निर्माण में इसी सन्त-सत्संग का विशेष महत्व था क्योंकि वे संसार से दूर रह कर साधु-सन्तों की संगति में 'हरि-शुख' पाती थीं । यथा—

'साधां संगत हरि-शुख पास्यूं, जग शूं दूर रह्यां ।[2]

मीरां का सन्तों-सम्बन्धी दृष्टिकोण पवित्र और उदार था । वे साधु-सन्तों को पूज्य बुद्धि से देखती थीं । सभी धर्मों और सम्प्रदायों के आत्मचेता साधु-सन्तों की मीरां ने सद्भाव से सेवा की, सम्मान किया । सभी से आदर-भाव-युक्त सत्संग कर भक्ति-लाभ लिया । राणा परिवार द्वारा सन्देह की दृष्टि से देखे जाने पर भी मीरां ने अपने इस पवित्र सन्त-समागम को नहीं छोड़ा । सन्त-समागम के सन्दर्भ में वे हलाहल तक पचा गई । यह उनके व्यक्तित्व की आस्था, विश्वास और निष्ठा का शाश्वत प्रमाण है । इसीलिये मीरां के जीवन-काल में अन्तिम क्षण तक सांच को आंच नहीं आई ।

वार्ता-साहित्य तथा अन्य प्रमाणों से मीरां-द्वारा अनेक साधु-सन्तों के आतिथ्य-सत्कार और उनके प्रति मीरां के उदार सेवा-भाव का पता चलता है । वार्ता-साहित्य के अनुसार बल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायियों की संकीर्ण मनोवृत्ति और अशिष्ट व्यवहार के अतिरिक्त हमें मीरां का उनके प्रति जो व्यवहार दिखाई देता है, उससे मीरां की उदारता और महानता का समर्थन होता है । साथ ही यह भी ज्ञात होता हैं कि मीरां का व्यक्तित्व किसी साम्प्रदायिक कठघरे में कभी बन्दी नहीं हुआ । उनकी आध्यात्मिक साधना तो निश्चत रूप से व्यक्तिनिष्ठ थी । वे अपने हृदय में प्रभु-दर्शन की अभिलाषा संजोये बैठी थीं । वे जन्म-मरण के चक्कर में बार-बार नहीं फँसना चाहती थीं इसीलिये वे गिरधर नागर से सदैव यही प्रार्थना करती थीं कि—

'भौ समुन्द अपार देखां, अगम ओखी धार ।
ळाळ गिरधर तरण तारण, बेग करश्यो पार ।।'[3]

प्रेमाभक्ति की गायिका के नाते मीरां ने आजीवन जीवात्मा के रूप में परमात्मा के प्रति आत्म-निवेदन प्रेषित किया, अतः उनका व्यक्तित्व परमात्मा-वियोग की प्रदीप्त

---

१. श्रीमद्भागत, ९,४:६८ ।
२. डाकोर की प्रति, पद ६० ।
३. डाकोर की प्रति, पद ६७ (क) ।

चिनगारी और स्वर्गीय वेदना के अश्रु संयोग से बना हुआ प्रतीत होता है। उनके सम्पूर्ण काव्य का मूल स्वर परमात्मा-प्राप्ति की कामना है। वे परमेश्वर (श्रीकृष्ण) की प्राप्ति को ही अपनी जीवन-साधना की परम सिद्धि मानती थीं और एक बार उन्हें पाकर फिर किसी को भी नहीं पाना चाहती थीं। श्रीमद्भागवत और गीता में उनकी धारणाओं के स्रोत विद्यमान हैं:—

> 'विपदः सन्तुनः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।
> भवतो दर्शनम् यत्स्याद पुनर्भव दर्शनम्॥' श्रीमद्भागवत १।८।२५
> 'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
> यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥' गीता ६।२

आत्मोपलब्धि और परमात्मा-प्राप्ति के क्षेत्र में मीराँ ने जीव और जगत के संघर्ष में गीता के आदर्श 'सुख दुःख समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।'[१] को अपने जीवन का आदर्श माना था।

कृष्ण-भक्ति मीराँ की आत्मा का मर्म था और एक क्षत्राणी के नाते संघर्षों के समक्ष उन्होंने कभी समर्पण नहीं किया, हथियार नहीं डाले, इसीसे उनके चरित्र की दृढ़ता, नैतिक निष्ठा और आत्मबल का पता चलता है। भक्तिन के साथ-साथ मीरां जन्मजात कवयित्री थीं, आत्मप्रबुद्ध विदुषी थीं, रससिद्ध संगीतज्ञा थीं। उनके पदों में उनकी पार्थिव और आध्यात्मिक यंत्रणा के जो सजीव शब्द-चित्र हैं, वे आँसुओं में अनुराग की लालिमा और वियोग की कालिमा को घोल भाव-तूलिका से रँगे गये हैं। मीरां की पदावली के प्रत्येक पंक्ति के प्रत्येक शब्द में एक-एक अक्षर में—उनकी आत्मा की आवाज है, अनुभूतियों की स्वयं प्रणीत झाँकी है। इसीलिये मीरां के प्रत्येक पद में मीरां के व्यक्तित्व की छाप है। यों भले ही मीराँ ने किसी सम्प्रदाय को जन्म न दिया हो, किन्तु विविध सम्प्रदायों में उनके पदों का प्रचार-प्रसार उनके व्यक्तित्व और काव्य-गौरव के प्रमाण माने जा सकते है। वास्तव में विविध सम्प्रदायों में मीरां के पदों का प्रचार-प्रसार उनके व्यक्तित्व और काव्य-गौरव के प्रमाण माना जा सकता है। उनके काव्यमय व्यक्तित्व ने अनेक सम्प्रदायों को अपने आप में आत्मसात् कर लिया, किन्तु वे स्वयं अनेक सम्प्रदायों से प्रभावित नहीं हुई। इसीलिये देश, काल, वातावरण और साम्प्रदायिकता की जंजीरें आजीवन मीरां को, मीरां के व्यक्तित्व और काव्य को अपनी बाँहों में नहीं बाँध पायीं। यही मीरां के व्यक्तित्व की

---

१. श्रीमद्भगबद्गीता, २।३०।

महानता, उनकी भक्ति-साधना की गरिमा और उनके भव्य व्यक्तित्व की वन्दनीय उपलब्धि है।

मीरां की भक्ति-सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ

मीरां के सम्पूर्ण व्यक्तित्व और वक्तव्य में भक्ति-तत्व का प्राधान्य है। उनकी रमणी-सुलभ अनुभूतियों ने भगवान कृष्ण के साथ जो दाम्पत्य-सम्बन्ध-सूत्र जोड़ा था, वह उनकी आध्यात्मिक स्वीकृति और भगवद्विषयक आत्मरतिका परिचायक है। मीरां ने स्पष्ट शब्दों में अपने कृष्ण-प्रेम को अभिव्यक्त किया है और अपनी अन्तर्पीड़ा को वाणी दी है—

स्याम विणा सखि रह्यां णा जावां।
तण मण जीवण प्रीतम वार्‌यां थारे रूप ळुभावां।
खाण-पाण म्हाणे फीकां ळागां णेण रह्यां मुरझावां।
निसदिण जोवां बाट मुरारी कब रो दरसण पावां।
बार बार थारी अरजां करश्यूं रेण गयां दिण जावां।
मीरां रे हरि थें मिळ्यां बिण तरस तरस जीया झावां।'[१]

मीरां का यह दाम्पत्य भाव ही उनका प्रेम-भाव और भक्ति-भाव था, जिसमें संयोग और वियोग के शाश्वत अनुभव मीरां की अन्तरात्मा में कचोट पैदा करते थे। वे प्रेम-योगिनी थी और प्रेमाभक्ति ही उनकी भक्ति-साधना का मार्ग था। अपने 'मोहणा' को उपालम्भ देते समय उन्होंने अपनी एक मात्र मूल प्रवृत्ति का स्पष्टतः उल्लेख किया है—

'जाणां रे मोहणा जाणां थारो प्रीत।
प्रेम भगतिरो पैंडा म्हारो और ण जाणां रीत।'[२]

इससे पता चलता है कि मीरां की भक्ति सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ तत्वतः प्रेममूला थीं। मीरां की यह प्रीति पूर्व जन्म की 'पुरानी प्रीति' थी, जिसका निवारण नहीं हो सकता था। यथा—

'पुरब जणम री प्रीत पुराणो, जावाणां णिरवारी।'[३]

---

१. डाकोर की प्रति, पद १८।
२. वही, पद ६।
३. वही, पद ३०

मीरां अपने उसी प्रेम-पंथ पर चलती हुई कृष्ण-प्रेमामृत-सिन्धु में निमग्न होना चाहती थीं । उनकी धारणा थी कि

'बड़े घर ताळो लाग्यां री पुरबळा पुन्न जगावां री ।
झीळढयां रो काम णा म्हारो, डाबरां कुण जावां री ।
गंगा जमणा कामणा म्हारे, म्हा जावां दरयावां री ।
भाग हमारो जाग्यां रे रतणाकर म्हारी शोर्यां री ।
प्यालो अमृत छांड्यां रे, कुण पीवां कडवां नीर्यां री ।
भगत जणा प्रभु परचाँ पावाँ जावाँ जगताँ दूर्याँ री ।
मीरा रे प्रभु गिरधर नागर मणरथ करश्याँ पूर्याँ री ।'[1]

मीरां की दृष्टि में सांसारिक सुख और लौकिक आनन्द डबरे का पानी था, कड़वा नीर था, इसीलिये उन्होंने अपने 'बड़े घर' का ध्यान किया था तथा झील डबरा और गंगा-जमना को छोड़ भगवान कृष्ण के प्रेम-सिन्धु में समाकर वे उसका रसपान करना चाहती थी । वे भली भाँति जानती थीं कि भक्त जन ही प्रभु का परिचय पा सकते हैं । और सच्चे भक्त ही संसार (सांसारिक आवागमन के चक्र) से दूर चले जाते हैं । मीरां को इस बात का भी विश्वास था कि एक दिन उनके प्रभु 'गिरधर नागर' अवश्य उनके मनोरथों को पूरा करेंगे और वे भी भवसागर से पार हो जायेंगी, जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जावेंगी ।

मीरां ने सांसारिक सुख को 'डबरे' का जो दृष्टान्त दिया है उसका स्रोत भी श्रीमद्भागवत में पाया जाता है । श्री शुकदेव मुनि कहते हैं कि–

'यस्य भक्तिर्भगवति हरौ निःश्रेयसेश्वरे ।
विक्रीड़तोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रैः खात कोदकैः ।'[2]

अर्थात् जो परम कल्याण के स्वामी भगवान श्री हरि की भक्ति करता है, वह अमृत के समुद्र में क्रीड़ा करता है । डबरे में भरे हुये गन्दे जल के सदृश किसी भी भोग में या स्वर्गादि में उसका मन चलायमान नहीं होता ।

मीरां ने अपनी इस अनन्त प्रेम-पिपासा और सांसारिक सुखों से विरक्ति को कई बार विविध रूपों में अभिव्यक्ति दी है । जैसे–

---

१. डाकोर की प्रति, पद ६४ ।

२. श्रीमद्भागवत, ६।१२।२२ ।

'चौमाश्यां री बावड़ी, ज्याकूं णीर णा पीवाँ।
हरि निर्झर अमरित झर्यां म्हारी प्याश बुझावाँ।'[1]

मीरां की ऐसी अभिव्यक्तियों में सांसारिक सुखों के प्रति उनकी उदासीनता और उपेक्षा प्रकट होती है। ऐसा प्रतीत होता है मानो उनकी समस्त कामनायें, आशा आकांक्षायें और प्रवृत्तियाँ यावज्जीवन कृष्ण-प्रेम के महासागर का रसपान करने के लिये व्यग्र रही थीं और उन्हें अपने लौकिक जीवन, दृश्य-जगत् और सांसारिक सम्बन्धियों से कोई लगाव नहीं था। वे केवल कृष्ण को ही अपना सर्वस्व मानती थीं और उनका ही चिरसान्निध्य पाने के लिये आजीवन प्रेम-साधना-रत थीं। उनकी भक्ति-सम्बन्धी प्रवृत्तियों में भगवद् प्रेम और भक्ति में अन्तर नहीं है। श्रीमद्भागवत् में एक स्थल पर प्रेमोन्मत्त भक्त का स्वरूप इस प्रकार वर्णित है:—

शृण्वन् सुभद्राणि रथाँगपाणेर्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
गीतानि नामानि तदर्थकानि गायन विलज्जो विचरैदसग।
एवंव्रत: स्वप्रियनाम कीर्त्याजातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रीदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोक बाह्यः॥[2]

भक्त चक्रपाणि भगवान के कल्याणकारक एवं लोक प्रसिद्ध जन्मों और कर्मों को सुनता हुआ, उनके अनुसार रखे गये नामों को लज्जा छोड़कर गान करता हुआ संसार में अनासक्त होकर विचरता है। इस प्रकार का व्रत धारण कर वह अपने प्रियतम प्रभु के नाम संकीर्तन से उनमें अत्यन्त प्रेम हो जाने के कारण द्रवितचित्त हुआ उन्मत्त के समान कभी अलौकिक भाव से खिलखिलाकर हँसता है, कभी रोता है, कभी चिल्लाता है, कभी ऊँचे स्वर से गाने लगता है और कभी नाच उठता है।

इस तरह से उन्मत्त की तरह आचरण करता हुआ प्रेमी भक्त आनन्दमग्न हो आत्म-विभोर हो जाता है, आत्मविस्मृत हो मौन, शान्त और पूर्णकाम हो जाता है तब प्रभु की मूर्ति उसके हृदय में प्रकट हो जाती है और वह उनकी रूप-माधुरी से रस-सिक्त हो ध्यान-मग्न हो जाता है।

मीराँ का भक्त-रूप बहुत कुछ ऐसा ही था, अतः उन्हें प्रेमाभक्ति की प्रतीक कहा जा सकता है।

---

१. डाकोर की प्रति, पद ३७

२. श्रीमद्भागवत, ११ : २ : ३६-४०।

मीराँ की नवधा-भक्ति

मीरां की प्रेमाभक्ति के चारों अंगों का विवेचन पहले किया जा चुका है, अतः अब मीरां की भक्ति सम्बन्धी अभिरुचियों पर प्रकाश डाला जायगा, क्योंकि व्यक्ति की अभिरुचियों में ही उसकी प्रवृत्तियाँ व्यक्त होती हैं।

यदि मीरां की सम्पूर्ण पदावली पर आद्यन्त विचार कर उनके काव्य का वर्गीकरण किया जाय तो हमें मीरां की प्रामाणिक पदावली में नवधा भक्ति के समस्त उपादान परिलक्षित होते हैं। श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध के पाँचवे अध्याय में तेई-सवाँ श्लोक है:—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम्।
अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्म निवेदनम्॥

मीरां की भक्ति में श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य सस्य और आत्मनिवेदन की प्रवृत्तियाँ और प्रमाण विद्यमान हैं, अतः अब मीरां की नवधा भक्ति के प्रत्येक अंग का विवेचन किया जाता है:—

(१) श्रवण—मीरां की श्रवण भक्ति सन्त-समागम से बलवती हुई थी विविध सम्प्रदायों के साधु-सन्तों से वे भगवद्चर्चा करती थीं और श्री हरि की लीला एवं गुणावली का श्रवण कर वे अपने भक्ति-भाव को परिपुष्ट करती थीं। मीरां का विश्वास था कि हरि-नाम-स्मरण से पापों का नाश और आत्मा का उद्धार होता है अतः उन्होंने कहा था कि—

'म्हा सुण्या हरि अधम उधारण।
अधम उधारण भव भय तारण।'—डाकोर की प्रति, पद ३४।

मैंने सुना है कि हरि पापियों के उद्धार करने वाले हैं वे अधर्मियों का उद्धार कर भव-भय शमन करने वाले हैं। मूल पदों के अलावा वार्ता-साहित्य से भी यह ज्ञात होता है कि मीरां अनेक साधु-सन्तों और भक्तों से हरि-चर्चा करती और हरि-गुणगाथा सुनती थीं।

(२) कीर्तन—मीरां की दृष्टि में कीर्तन भक्ति का प्रधान अंग था। हरि-कीर्तन में उनकी सहज अभिरुचि थी इसीलिये वे साधु-सन्तों के बीच भजन कीर्तन और नृत्य किया करती थीं। कीर्तन प्रिय मीरां ने स्वीकार किया था कि—

'मीरां रे प्रभु गिरधर नागर भजण बिणा नर फीकां।
डाकोर की प्रति, पद ८

× × × ×

'चौमाश्यां री बावड़ी, ज्याकूं णीर णा पीवाँ ।
हरि निर्झर अमरित झर्‌याँ म्हारी प्याश बुझावाँ ।'[1]

मीरां की ऐसी अभिव्यक्तियों में सांसारिक सुखों के प्रति उनकी उदासीनता और उपेक्षा प्रकट होती है । ऐसा प्रतीत होता है मानो उनकी समस्त कामनायें, आशा आकांक्षायें और प्रवृत्तियाँ यावज्जीवन कृष्ण-प्रेम के महासागर का रसपान करने के लिये व्यग्र रही थीं और उन्हें अपने लौकिक जीवन, दृश्य-जगत् और सांसारिक सम्बन्धियों से कोई लगाव नहीं था । वे केवल कृष्ण को हो अपना सर्वस्व मानती थीं और उनका ही चिरसान्निध्य पाने के लिये आजीवन प्रेम-साधना-रत थीं । उनकी भक्ति-सम्बन्धी प्रवृत्तियों में भगवद् प्रेम और भक्ति में अन्तर नहीं है । श्रीमद्‌भागवत् में एक स्थल पर प्रेमोन्मत्त भक्त का स्वरूप इस प्रकार वर्णित है:—

श्रृण्वन् सुभद्राणि रथाँगपाणेर्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके ।
गीतानि नामानि तदर्थकानि गायन विलज्जो विचरैदसग ।
एवंव्रत: स्वप्रियनाम कीर्त्याजातानुरागो द्रुतचित्त उच्चै: ।
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोक बाह्य: ॥[2]

भक्त चक्रपाणि भगवान के कल्याणकारक एवं लोक प्रसिद्ध जन्मों और कर्मों को सुनता हुआ, उनके अनुसार रखे गये नामों को लज्जा छोड़कर गान करता हुआ संसार में अनासक्त होकर विचरता है । इस प्रकार का व्रत धारण कर वह अपने प्रियतम प्रभु के नाम संकीर्तन से उनमें अत्यन्त प्रेम हो जाने के कारण द्रवितचित्त हुआ उन्मत्त के समान कभी अलौकिक भाव से खिलखिलाकर हँसता है, कभी रोता है, कभी चिल्लाता है, कभी ऊँचे स्वर से गाने लगता है और कभी नाच उठता है ।

इस तरह से उन्मत्त की तरह आचरण करता हुआ प्रेमी भक्त आनन्दमग्न हो आत्म-विभोर हो जाता है, आत्मविस्मृत हो मौन, शान्त और पूर्णकाम हो जाता है तब प्रभु की मूर्ति उसके हृदय में प्रकट हो जाती है और वह उनकी रूप-माधुरी से रस-सिक्त हो ध्यान-मग्न हो जाता है ।

मीराँ का भक्त-रूप बहुत कुछ ऐसा ही था, अतः उन्हें प्रेमाभक्ति की प्रतीक कहा जा सकता है ।

---

१. डाकोर की प्रति, पद ३७

२. श्रीमद्‌भागवत्, ११ : २ : ३९-४० ।

मीराँ की नवधा-भक्ति

मीरां की प्रेमाभक्ति के चारों अंगों का विवेचन पहले किया जा चुका है, अतः अब मीरां की भक्ति सम्बन्धी अभिरुचियों पर प्रकाश डाला जायगा, क्योंकि व्यक्ति की अभिरुचियों में ही उसकी प्रवृत्तियाँ व्यक्त होती हैं।

यदि मीरां की सम्पूर्ण पदावली पर आद्यन्त विचार कर उनके काव्य का वर्गीकरण किया जाय तो हमें मीरां की प्रामाणिक पदावली में नवधा भक्ति के समस्त उपादान परिलक्षित होते हैं। श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध के पाँचवे अध्याय में तेईसवाँ श्लोक है:—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम् ।
अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्म निवेदनम् ॥

मीरां की भक्ति में श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य सस्थ और आत्मनिवेदन की प्रवृत्तियाँ और प्रमाण विद्यमान हैं, अतः अब मीरां की नवधा भक्ति के प्रत्येक अंग का विवेचन किया जाता है:—

(१) श्रवण—मीरां की श्रवण भक्ति सन्त-समागम से बलवती हुई थी विविध सम्प्रदायों के साधु-सन्तों से वे भगवद्चर्चा करती थीं और श्री हरि की लीला एवं गुणावली का श्रवण कर वे अपने भक्ति-भाव को परिपुष्ट करती थीं। मीरां का विश्वास था कि हरि-नाम-स्मरण से पापों का नाश और आत्मा का उद्धार होता है अतः उन्होंने कहा था कि—

'म्हा सुण्या हरि अधम उधारण ।
अधम उधारण भव भय तारण ।'–डाकोर की प्रति, पद ३४ ।

मैंने सुना है कि हरि पापियों के उद्धार करने वाले हैं वे अधर्मियों का उद्धार कर भव-भय शमन करने वाले हैं। मूल पदों के अलावा वार्ता-साहित्य से भी यह ज्ञात होता है कि मीरां अनेक साधु-सन्तों और भक्तों से हरि-चर्चा करती और हरि-गुणगाथा सुनती थीं।

(२) कीर्तन—मीरां की दृष्टि में कीर्तन भक्ति का प्रधान अंग था। हरि-कीर्तन में उनकी सहज अभिरुचि थी इसीलिये वे साधु-सन्तों के बीच भजन कीर्तन और नृत्य किया करती थीं। कीर्तन प्रिय मीरां ने स्वीकार किया था कि—

'मीरां रे प्रभु गिरधर नागर भजण बिणा नर फीकां।

डाकोर की प्रति, पद ८

× × × ×

'चौमाश्यां री बावड़ी, ज्याकूं णीर णा पीवाँ।
हरि निर्झर अमरित झर्याँ म्हारी प्याश बुझावाँ।'[1]

मीरां की ऐसी अभिव्यक्तियों में सांसारिक सुखों के प्रति उनकी उदासीनता और उपेक्षा प्रकट होती है। ऐसा प्रतीत होता है मानो उनकी समस्त कामनायें, आशा आकांक्षायें और प्रवृत्तियाँ यावज्जीवन कृष्ण-प्रेम के महासागर का रसपान करने के लिये व्यग्र रही थीं और उन्हें अपने लौकिक जीवन, दृश्य-जगत् और सांसारिक सम्बन्धियों से कोई लगाव नहीं था। वे केवल कृष्ण को ही अपना सर्वस्व मानती थीं और उनका ही चिरसान्निध्य पाने के लिये आजीवन प्रेम-साधना-रत थीं। उनकी भक्ति-सम्बन्धी प्रवृत्तियों में भगवद् प्रेम और भक्ति में अन्तर नहीं है। श्रीमद्भागवत् में एक स्थल पर प्रेमोन्मत्त भक्त का स्वरूप इस प्रकार वर्णित है:—

श्रृण्वन् सुभद्राणि रथाँगपाणेर्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
गीतानि नामानि तदर्थकानि गायन विलज्जो विचरैदसग।
एवंव्रतः स्वप्रियनाम कीर्त्याजातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोक बाह्यः॥[2]

भक्त चक्रपाणि भगवान के कल्याणकारक एवं लोक प्रसिद्ध जन्मों और कर्मों को सुनता हुआ, उनके अनुसार रखे गये नामों को लज्जा छोड़कर गान करता हुआ संसार में अनासक्त होकर विचरता है। इस प्रकार का व्रत धारण कर वह अपने प्रियतम प्रभु के नाम संकीर्तन से उनमें अत्यन्त प्रेम हो जाने के कारण द्रवितचित्त हुआ उन्मत्त के समान कभी अलौकिक भाव से खिलखिलाकर हँसता है, कभी रोता है, कभी चिल्लाता है, कभी ऊँचे स्वर से गाने लगता है और कभी नाच उठता है।

इस तरह से उन्मत्त की तरह आचरण करता हुआ प्रेमी भक्त आनन्दमग्न हो आत्म-विभोर हो जाता है, आत्मविस्मृत हो मौन, शान्त और पूर्णकाम हो जाता है तब प्रभु की मूर्ति उसके हृदय में प्रकट हो जाती है और वह उनकी रूप-माधुरी से रस-सिक्त हो ध्यान-मग्न हो जाता है।

मीराँ का भक्त-रूप बहुत कुछ ऐसा ही था, अतः उन्हें प्रेमाभक्ति की प्रतीक कहा जा सकता है।

---

१. डाकोर की प्रति, पद ३७

२. श्रीमद्भागवत्, ११ : २ : ३६-४०।

मीराँ की नवधा-भक्ति

मीरां की प्रेमाभक्ति के चारों अंगों का विवेचन पहले किया जा चुका है, अतः अब मीरां की भक्ति सम्बन्धी अभिरुचियों पर प्रकाश डाला जायगा, क्योंकि व्यक्ति की अभिरुचियों में ही उसकी प्रवृत्तियाँ व्यक्त होती हैं।

यदि मीरां की सम्पूर्ण पदावली पर आद्यन्त विचार कर उनके काव्य का वर्गीकरण किया जाय तो हमें मीरां की प्रामाणिक पदावली में नवधा भक्ति के समस्त उपादान परिलक्षित होते हैं। श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध के पाँचवे अध्याय में तेईसवाँ श्लोक है:—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम् ।
अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्म निवेदनम् ॥

मीरां की भक्ति में श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य सख्य और आत्मनिवेदन की प्रवृत्तियाँ और प्रमाण विद्यमान हैं, अतः अब मीरां की नवधा भक्ति के प्रत्येक अंग का विवेचन किया जाता है:—

(१) **श्रवण**—मीरां की श्रवण भक्ति सन्त-समागम से बलवती हुई थी विविध सम्प्रदायों के साधु-सन्तों से वे भगवद्चर्चा करती थीं और श्री हरि की लीला एवं गुणावली का श्रवण कर वे अपने भक्ति-भाव को परिपुष्ट करती थीं। मीरां का विश्वास था कि हरि-नाम-स्मरण से पापों का नाश और आत्मा का उद्धार होता है अतः उन्होंने कहा था कि—

'म्हा सुण्या हरि अधम उधारण ।
अधम उधारण भव भय तारण ।'—डाकोर की प्रति, पद ३४ ।

मैंने सुना है कि हरि पापियों के उद्धार करने वाले हैं वे अधर्मियों का उद्धार कर भव-भय शमन करने वाले हैं। मूल पदों के अलावा वार्ता-साहित्य से भी यह ज्ञात होता है कि मीरां अनेक साधु-सन्तों और भक्तों से हरि-चर्चा करती और हरि-गुणगाथा सुनती थीं।

(२) **कीर्तन**—मीरां की दृष्टि में कीर्तन भक्ति का प्रधान अंग था। हरि-कीर्तन में उनकी सहज अभिरुचि थी इसीलिये वे साधु-सन्तों के बीच भजन कीर्तन और नृत्य किया करती थीं। कीर्तन प्रिय मीरां ने स्वीकार किया था कि—

'मीरां रे प्रभु गिरधर नागर भजण बिणा नर फीकां।
डाकोर की प्रति, पद ८

× × × ×

भाई म्हां गोविण्द गुण गाणा ।
राजा रूठयाँ णगरी त्यागां हरि रूठयां कठ जाणा ।'—

वही, पद ६१

× × × ×

'गायाँ गायाँ हरि गुण णिस दिण काळ ब्याळ री बाँची ।'

काशी की प्रति, पद ८३

× × × ×

'साधां संगत हरि गुण गाइयां और णा म्हारी लार ।'—

वही, पद ८४

साधु-सन्तों और जन-समाज में हरिकीर्तन की यह परम्परा मीरां के युग में सारे देश में विद्यमान थी । हरि-गुण-श्रवण और कीर्तन से श्रोता और वक्ता दोनों ही लाभान्वित होते तथा कीर्तन से उनके पापों का क्षय और पुण्य की श्रीवृद्धि होती है । मध्यकालीन धर्मसाधना-क्षेत्र की कीर्तन-सम्बन्धी यह मान्यता साधु-सन्तों की सर्व सामान्य आस्था थी ।

(३) **स्मरण**—मीरां अपने आराध्य देव का प्रतिक्षण नाम स्मरण करती थी, क्योंकि उनके प्रियतम के नाम की बड़ी महिमा थी । मीरां अपने प्रियतम के नाम पर लुभा गई थीं, उनकी धारणा थी कि:—

'पिया थारे णाम ळुभाणी जी ।
णाम ळेता तिरताँ सुण्याँ जग पाहण पाणी जी ।
कोरत काई णा कियाँ धणाँ करम कुमाणी जी ।
गणका कीर पढ़ावताँ बैकुण्ठ बसाणी जी ।
अरध णाम कुन्जर लयाँ दुख अवध घटाणी जी ।
गरुड़ छौड़ पग धाइयाँ, पसु जूण पटाणी जी ।
अजामेळ अध ऊधरे जम त्रास णसाणी जी ।
पूतणाम जश गाइयाँ जग सारा जाणी जी ।
सरणागत थे वर दयाँ परतीत पिछाणी जी ।
मीरां दासी रावली अपणी कर जाणी जी ।'

डाकोर की प्रति, पद २५

'साँवरो उमरण साँवरो शुमरण, साँवरो ध्यान धराँ री ।'

वही, पद ५७

× × × ×

'म्हारो मण साँवरो णाम रट्याँरी ।
साँवरो णाम जपाँ जग प्राणी, कोट्याँ पाप कट्याँरी ।
जणम जणम री खताँ पुराणी णामाँ स्याम मट्याँरी ।'

वही, पद ५८

× × × ×

'गिरधर ध्याण धरां निशवासर, मूरत मोहण म्हारे बशी ।'

काशी की प्रति, पद ७७

उक्त उदाहरणों से पता चलता है कि मीराँ दिन-रात कृष्ण का ध्यान और उनका नाम-स्मरण करती थीं । उन्हें विश्वास था कि श्याम नाम स्मरण से सांसारिक प्राणियों के करोड़ों पाप कट जाते हैं और जन्मजन्मान्तरों के पाप-कर्मों का लेखा मिट जाता है । इसीलिये वे 'साँवरे' के नाम का 'उमरण' शुमरण' कर उनका ध्यान करती थीं ।

(४) पाद-सेवन—मीरां श्री हरि के चरणों का सेवन कर उनकी कृपा से अपना उद्धार चाहती थी, इसीलिये उन्होंने अपने मन को प्रबोधा :—

'भण थें परसि हरि रें चरण ।
सुभग सीतळ कंवळ कोमळ जगत ज्वाळा हरण ।
दासि मीराँ लाल गिरधर अगम तारण तरण

डाकोर की प्रति, पद १४

मीरां को भगवान कृष्ण के मोक्षदायक श्री चरणों की लगन लगी थी । उन्होंने संसार की माया को स्वप्नवत् समझ भव-सागर-मय; और जग-कुल-बन्धन सभी हरि-चरणों में अर्पित दिये थे और श्री हरि की चरण-शरण गही थी—

'म्हाँ लागाँ लगण सिरि चरणा री ।
दरस विणा म्हाणे कछणा भावाँ जगभाया या सुपणाँ री ।
भो सागर भय जग कुळ बण्धण डार दयाँ हरि चरणा री ।
मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर आस गह्याँ थें सरणाँ री ।'

काशी की प्रति, पद ६६

(५) अर्चन—मीरां गिरिधर नागर के पूजन-अर्चन के समय मोतियों के चौक पूरती थी और उन पर अपना तन-मन न्योछावर करती थी—

'मोती चौक पुरावाँ णेणाँ तण मण डाराँ वारी ।'

डाकोर की प्रति, पद ३०

वे गिरधरलाल के लिये छप्पन भोग, छत्तीसों व्यंजन और राजभोग अर्पित करती थीं—

'थे जिम्या गिरधर लाळ ।
मीराँ दासी अरज करयाँ छे, म्हारो लाळ दयाळ ।
छप्पण भोग छतीशाँ बिंजण पावाँ जण प्रतिपाळ ।
राजभोग आरोग्याँ गिरधर सण्मुख राखाँ थाळ ।
मीराँ दासी सरणाँ ज्याँशी, कीज्याँ बेग निहाळ ॥

काशी की प्रति, पत ८२ ।

(६) वंदना—मीरां विनीता भक्त आत्मा थी । वे बार-बार गिरिधर नागर से यही प्रार्थना करती थी कि हे गोवर्द्धन गिरिधारी ! तुम्हारे बिना मेरी खबर कौन लेगा ? तुमने भरी सभा में द्रौपदी की लज्जा रखी थी । हे गिरिधर नागर ! मैं तुम्हारी चरण-शरण हूँ । मुझ पर दया करो । मेरी ओर देखो ! मैं तुम्हारे चरण-कमलों की बलिहारी जाती हूँ ।

थे बिण म्हारे कोण खबर ळे गोवरधण गिरधारी ।
मोर मुगट पीताम्बर शोभाँ कुण्डळ री छब ण्यारी ।
भरी सभाँ मा द्रुपद सुताँरी राख्या ळाज मुरारी ।
मीराँ रे प्रभु गिरिधर नागर, चरण कंवळ बळहारी ॥

डाकोर की प्रति, पद ४२ ।

वे भक्त-वत्सल 'गिरधर' से बार-बार भव-सागर से उबारने के लिये प्रार्थना करती थीं, ।

भौ समुन्द अपार देखाँ अगम ओखी धार ।
ळाळ गिरधर तरण तारण बेग करश्यो पार ॥

डाकोर की प्रति, पद ६७ (क) ।

(७) दास्य :—मीरां की भक्ति सम्बन्धी प्रवृत्तियों में उनकी दास्य-भावना

भी विद्यमान थी । 'मीरां हरि रे हाथ बिकाणी, जणम जणम री दासी [1] कहकर उन्होंने अपने आपका कृष्ण की जन्म-जन्म की दासी बतलाया है, और इस जन्म में भी उन्होंने कृष्ण की दासी ही बनी रहने की कामना की--

म्हाणो चाकर राखाँ जी गिरधारी ळाळा चाकर राखाँ जी ।
चाकर रहश्यूं बाग ळगाश्यूं णित उठ दरशण पाश्यूं ।
ब्रिन्दावण री कुन्ज गैळ माँ गोविण्द ळीळा गाश्यूं ।
चाकरी माँ दरसण पाश्यूं शुमरण पाश्यूं खरची ।
भाव भगत जागीरां पाश्यूं जणम जणम री तरशौ ।

डाकोर की प्रति, पद ३५ ।

मीरां का यह दास्य-भाव तुलसी आदि के दास्य-भाव की तरह नहीं है, अपितु इसे मीरां के दाम्पत्य-भाव का ही एक अध्यात्मिक उपकरण समझना चाहिये । दाम्पत्य-भाव से ही मीरां एक दासी की तरह अपने स्वामी 'गिरधर नागर' की सेवा करना चाहती थी ।

(८) संख्या :—मीरा का सख्य भाव अष्ट छाप के कवियों के सख्य भाव से भिन्न था । यह एक ध्यान देने योग्य बात है क्योंकि अष्ट छाप के कवियों का सख्य-भाव साथी खिलाड़ियों की मैत्री के रूप में था, जो दो बालकों की या गोप-ग्वालों की मित्रता का द्योतक है, किन्तु मीरां ने कृष्ण को अपने बचपन का साथी नहीं, जन्म-जन्म का साथी (जीवन साथी) माना था और इसी लिये उन्होंने कृष्ण को 'म्हारी जणम जणम रो शाथी, थाणे ना बिशरयां दिण रांती'[2] कहकर स्मरण किया है । इस प्रकार से मीरां का सख्य-भाव खिलाड़ी साथियों का सख्य भाव नहीं, सहजीवन बिताने वाले पति-पत्नि का सख्य-भाव है ।

(९) आत्म-निवेदन :—मीरां का अधिकांश काव्य उनका आत्म-निवेदन है । आत्मोद्धार और परमात्म-कृपा की प्राप्ति के लिये ही मीरां की सम्पूर्ण प्रवृत्तियाँ आजीवन आत्म-निवेयन, भजन, पूजन और तीर्थाटन में तल्लीन रही हैं, अतः मीरां जीवन भर अपने प्रियतम की प्रतीक्षा करती रही–

म्हाँ गिरधर रंगराँती ।
— —

---

१. काशी की प्रति, पद ८६ ।

२. डाकोर की प्रति, पद ४३ ।

'मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर, मग जोवाँ दिण राती ॥'

डाकोर की प्रति, पद १० ।

प्रतीक्षा के साथ-साथ वे प्रियतम से मिलने की अपनी उत्कण्ठा और विरह-जन्य व्याकुलता भी प्रकट करती रहीं—

'मीराँ रे प्रभु कल रे मिलोगाँ थे विण रह्याँ णा जाय ॥'

डाकोर की प्रति, पद ११ ।

और भगवान कृष्ण को अपने जीवन और प्राण का आधार मानकर उनकी कृपा-कोर की कामना करती रहीं—

'हरि म्हारा जीवण प्रान अधार ।
और आसिरो णा म्हारा थे विणा तीणूं लोक मझार ।
थे बिणा म्हाणे जग णा सुहावाँ निरख्याँ जग संसार ।
मीराँ रे प्रभु दासी रावली, ळीज्यो णेक णिहार ।

—डाकोर की प्रति, पद १२ ।

भव-सागर में डूबने से बचाने के लिये वे बार-बार कृष्ण से अपनी बाँह पकड़कर उबारने की प्रार्थना करती थीं ।

स्याम म्हाँ बाँहड़िया जी गह्याँ ।
भो सागर मंझधारा बूडयाँ, थारी सरण लह्याँ ।
म्हारे अवगुण बार अपाराँ, थे विण कूण सह्याँ ।
मीराँ रे प्रभु हरि अबिणासी, ळाज बिरद री बह्यां ।'

—डाकोर की प्रति, पद २२ ।

साथ ही वे गिरिधर नागर से अपना बेड़ा पार करने के लिये निवेदन भी करती जाती थीं :—

'मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर बेड़ा पार ळगाज्यो जी ।'

—वही, पद्र २८ ।

और भक्त-जनों के संकटों को मिटाकर पुण्य की प्रतिष्ठा करने वाले 'गिरधर नागर' से अपनी बाँह गहे की लाज रखने के लिये विनती करती थीं—

"संकट मेटयाँ भगत जणाराँ, थाप्याँ पुन्न रा पाज ।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर, बाँह गह्याँ री ळाज ॥"

—वही, पद २६ ।

....

'अब तो निभायाँ बाँह गह्याँरी ळाज ।
असरण सरण कह्याँ गिरधारी पतित उधारण पाज ।
भो सागर मझधार अधाराँ थे बिण घणो अकाज ।
जुग जुग भीर हराँ भगताँ री, दीश्या मोच्छ नेवाज ।
मीराँ सरण गह्याँ चरणाँ री, लाज रखाँ महाराज ।।,
—डाकोर की प्रति, पद ६८ ।

इस तरह से मीरां के सम्पूर्ण काव्य पर उनका आत्म-निवेदन छाया हुआ है, जिसमें ४ प्रमुख तथ्य हैं ।

(क) मीरां भव-सागर में डूबने से बचने के लिये कृष्ण को अपना उद्धारक मानती थीं, और उनसे बाँह पकड़कर उबारने के लिये प्रार्थना करती थीं ।

(ख) वे कृष्ण को उनकी भक्त-वत्सलता का विरुद स्मरण दिलाती थीं और अपने दोषों पर दृष्टिपात न करते हुए उनसे अपने उद्धार के लिये निवेदन करती थीं ।

(ग) उनके आत्म-निवेदन में सुदीर्घ प्रतीक्षा, विराट विरह और क्षणिक मिलन की छटा दिखाई देती है, जिसके अन्त में मीरां स्थायी रूप से कृष्ण के सान्निध्य की कामना करती थीं ।

(घ) मीरां के आत्म-निवेदन में मृत्यु के वाद स्वर्ग में प्रिय-मिलन की कामना नहीं है, वल्कि वे जीते जी कृष्ण को इहलोक में आने के लिये आमंत्रित करती थीं और अपने आत्मोद्धार के लिये ही बार-बार उनसे प्रार्थना करती थीं ।

मीराँ का भक्त-रूप और उसका आचरण-पक्ष

मीरां की भक्ति-भावना प्रेम-तत्व-समन्विता थी और वे अपने प्रियतम 'गिरधर नागर' के प्रेम-प्रदीप्त राज्य में निरन्तर रस-विभोर रहा करती थीं । प्रेमा-भक्ति के चारों अंग और नवधा भक्ति के सम्पूर्ण सोपान उनके भक्ति-भाव में विद्यमान थे । वे श्याम नाम का जहाज चलाकर भव-सागर से पार होना चाहती थी, इसलिये कृष्ण-गुण-गायन में उन्हें आत्म-सुख प्राप्त होता था । वे नित्य नियम से हरि-मंदिर में दर्शनार्थ जाती थीं, नियमपूर्वक प्रातःकाल चरणामृत पान करती थीं, हरि

'मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर, मग जोवाँ दिण राती ॥'

डाकोर की प्रति, पद १० ।

प्रतीक्षा के साथ-साथ वे प्रियतम से मिलने की अपनी उत्कण्ठा और विरह-जन्य व्याकुलता भी प्रकट करती रहीं—

'मीराँ रे प्रभु कल रे मिलोगाँ थे विण रह्याँ णा जाय ॥'

डाकोर की प्रति, पद ११ ।

और भगवान कृष्ण को अपने जीवन और प्राण का आधार मानकर उनकी कृपा-कोर की कामना करती रहीं—

'हरि म्हारा जीवण प्रान अधार ।
और आसिरो णा म्हारा थे विणा तीणू लोक मझार ।
थे बिणा म्हाणे जग णा सुहावाँ निरख्याँ जग संसार ।
मीराँ रे प्रभु दासी रावली, ळीज्यो णेक णिहार ।

—डाकोर की प्रति, पद १२ ।

भव-सागर में डूबने से बचाने के लिये वे बार-बार कृष्ण से अपनी बाँह पकड़कर उबारने की प्रार्थना करती थीं ।

स्याम म्हाँ बाँहड़िया जी गह्याँ ।
भो सागर मंझधारा बूडयाँ, थारी सरण लह्याँ ।
म्हारे अवगुण वार अपाराँ, थे विण कूण सह्याँ ।
मीराँ रे प्रभु हरि अबिणासी, ळाज बिरद री वह्याँ ।'

—डाकोर की प्रति, पद २२ ।

साथ ही वे गिरिधर नागर से अपना बेड़ा पार करने के लिये निवेदन भी करती जाती थीं :—

'मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर बेड़ा पार ळगाज्यो जी ।'

—वही, पद्द २८ ।

और भक्त-जनों के संकटों को मिटाकर पुण्य की प्रतिष्ठा करने वाले 'गिरधर नागर' से अपनी बाँह गहे की लाज रखने के लिये विनती करती थीं—

"संकट मेटयाँ भगत जणाराँ, थाप्याँ पुन्न रा पाज ।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर, बाँह गह्याँ री ळाज ॥"

—वही, पद २६ ।

....

'अब तो निभायाँ बाँह गह्याँरी ळाज ।
असरण सरण कह्याँ गिरधारी पतित उधारण पाज ।
भो सागर मझधार अधाराँ थे' बिण धणो अकाज ।
जुग जुग भीर हराँ भगताँ री, दीश्याँ मोच्छ नेवाज ।
मीराँ सरण गह्याँ चरणाँ री, लाज रखाँ महाराज ।।,

—डाकोर की प्रति, पद ६८ ।

इस तरह से मीरां के सम्पूर्ण काव्य पर उनका आत्म-निवेदन छाया हुआ है, जिसमें ४ प्रमुख तथ्य हैं ।

(क) मीरां भव-सागर में डूबने से बचने के लिये कृष्ण को अपना उद्धारक मानती थीं, और उनसे बाँह पकड़कर उबारने के लिये प्रार्थना करती थीं ।

(ख) वे कृष्ण को उनकी भक्त-वत्सलता का विरुद स्मरण दिलाती थीं और अपने दोषों पर दृष्टिपात न करते हुए उनसे अपने उद्धार के लिये निवेदन करती थीं ।

(ग) उनके आत्म-निवेदन में सुदीर्घ प्रतीक्षा, विराट विरह और क्षणिक मिलन की छटा दिखाई देती है, जिसके अन्त में मीरां स्थायी रूप से कृष्ण के सान्निध्य की कामना करती थीं ।

(घ) मीरां के आत्म-निवेदन में मृत्यु के बाद स्वर्ग में प्रिय-मिलन की कामना नहीं है, वल्कि वे जीते जी कृष्ण को इहलोक में आने के लिये आमंत्रित करती थीं और अपने आत्मोद्धार के लिये ही बार-बार उनसे प्रार्थना करती थीं ।

मीराँ का भक्त-रूप और उसका आचरण-पक्ष

मीरां की भक्ति-भावना प्रेम-तत्व-समन्विता थी और वे अपने प्रियतम 'गिर-धर नागर' के प्रेम-प्रदीप्त राज्य में निरन्तर रस-विभोर रहा करती थीं । प्रेमा-भक्ति के चारों अंग और नवधा भक्ति के सम्पूर्ण सोपान उनके भक्ति-भाव में विद्यमान थे । वे श्याम नाम का जहाज चलाकर भव-सागर से पार होना चाहती थी, इसलिये कृष्ण-गुण-गायन में उन्हें आत्म-सुख प्राप्त होता था । वे नित्य नियम से हरि-मंदिर में दर्शनार्थ जाती थीं, नियमपूर्वक प्रातःकाल चरणामृत पान करती थीं, हरि

'मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर, मग जोवाँ दिण राती ॥'

डाकोर की प्रति, पद १० ।

प्रतीक्षा के साथ-साथ वे प्रियतम से मिलने की अपनी उत्कण्ठा और विरह-जन्य व्याकुलता भी प्रकट करती रहीं—

'मीराँ रे प्रभु कल रे मिलोगाँ थे बिण रह्याँ णा जाय ॥'

डाकोर की प्रति, पद ११ ।

और भगवान कृष्ण को अपने जीवन और प्राण का आधार मानकर उनकी कृपा-कोर की कामना करती रहीं—

'हरि म्हारा जीवण प्रान अधार ।
और आसिरो णा म्हारा थे विणा तीणू लोक मझार ।
थे बिणा म्हाणे जग णा सुहावाँ निरख्याँ जग संसार ।
मीराँ रे प्रभु दासी रावली, ळीज्यो णेक णिहार ।

—डाकोर की प्रति, पद १२ ।

भव-सागर में डूबने से बचाने के लिये वे बार-बार कृष्ण से अपनी बाँह पकड़कर उबारने की प्रार्थना करती थीं ।

स्याम म्हाँ बाँहड़िया जी गह्याँ ।
भो सागर मंझधारा बूडयाँ, थारी सरण लह्याँ ।
म्हारे अवगुण वार अपाराँ, थे विण कूण सह्याँ ।
मीराँ रे प्रभु हरि अबिणासी, ळाज बिरद री बह्याँ ।'

—डाकोर की प्रति, पद २२ ।

साथ ही वे गिरिधर नागर से अपना बेड़ा पार करने के लिये निवेदन भी करती जाती थीं :—

'मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर बेड़ा पार ळगाज्यो जी ।'

—वही, पद्द २८ ।

और भक्त-जनों के संकटों को मिटाकर पुण्य की प्रतिष्ठा करने वाले 'गिरधर नागर' से अपनी बाँह गहे की लाज रखने के लिये बिनती करती थीं—

"संकट मेटयाँ भगत जणाराँ, थाप्याँ पुन्न रा पाज ।
मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर, बाँह गह्याँ री ळाज ॥"

—वही, पद २६ ।

....

'अब तो निभायाँ बाँह गह्याँरी ळाज ।
असरण सरण कह्याँ गिरधारी पतित उधारण पाज ।
भो सागर मझधार अधाराँ थे बिण घणो अकाज ।
जुग जुग भीर हराँ भगताँ री, दीश्या मोच्छ नेवाज ।
मीराँ सरण गह्याँ चरणाँ री, लाज रखाँ महाराज ।।,

—डाकोर की प्रति, पद ६८ ।

इस तरह से मीरां के सम्पूर्ण काव्य पर उनका आत्म-निवेदन छाया हुआ है, जिसमें ४ प्रमुख तथ्य हैं ।

(क) मीरां भव-सागर में डूबने से बचने के लिये कृष्ण को अपना उद्धारक मानती थीं, और उनसे बाँह पकड़कर उबारने के लिये प्रार्थना करती थीं ।

(ख) वे कृष्ण को उनकी भक्त-वत्सलता का विरुद स्मरण दिलाती थीं और अपने दोषों पर दृष्टिपात न करते हुए उनसे अपने उद्धार के लिये निवेदन करती थीं ।

(ग) उनके आत्म-निवेदन में सुदीर्घ प्रतीक्षा, विराट विरह और क्षणिक मिलन की छटा दिखाई देती है, जिसके अन्त में मीरां स्थायी रूप से कृष्ण के सान्निध्य की कामना करती थीं ।

(घ) मीरां के आत्म-निवेदन में मृत्यु के बाद स्वर्ग में प्रिय-मिलन की कामना नहीं है, वल्कि वे जीते जी कृष्ण को इहलोक में आने के लिये आमंत्रित करती थीं और अपने आत्मोद्धार के लिये ही बार-बार उनसे प्रार्थना करती थीं ।

मीराँ का भक्त-रूप और उसका आचरण-पक्ष

मीरां की भक्ति-भावना प्रेम-तत्व-समन्विता थी और वे अपने प्रियतम 'गिरधर नागर' के प्रेम-प्रदीप्त राज्य में निरन्तर रस-विभोर रहा करती थीं । प्रेमा-भक्ति के चारों अंग और नवधा भक्ति के सम्पूर्ण सोपान उनके भक्ति-भाव में विद्यमान थे । वे श्याम नाम का जहाज चलाकर भव-सागर से पार होना चाहती थी, इसलिये कृष्ण-गुण-गायन में उन्हें आत्म-सुख प्राप्त होता था । वे नित्य नियम से हरि-मंदिर में दर्शनार्थ जाती थीं, नियमपूर्वक प्रातःकाल चरणामृत पान करती थीं, हरि

मन्दिर में नृत्य करती और घुँघरू धमकाती थी ।[1] ताल, पखावज और मृदंग बजते समय साधुओं के समक्ष वे हरिगुण गाते-गाते नृत्य करती थीं । इस तरह से मीरां का भक्ति-भाव कीर्तन, गायन और नृत्य की त्रिवेणी का संगम था ।

'गिरधर' के समक्ष नाच-नाच कर वे उस रसिक प्रिय को रिझातीं और उनसे अपनी पुरातन प्रीति की याचना करती थीं, यथा :—

'म्हां गिरधर आगां नाच्यां री ।
णाच णाच म्हा रसिक रिझावां प्रीत पुरातन जांच्यां री ।
स्याम प्रीत रो बांध घूघर्‌या मोहण म्हारो सांच्यां री ।
ळोक ळाज कुळ रा मरज्यादां जग मां णेक णा राख्यां री ।
प्रीतम पळ छण णा बिसरावां मीरां हरि रंग राच्यां री ।
—डाकोर की प्रति, पद ५६ ।

अतः संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मीरां के व्यक्तित्व में सांसारिक वितृष्णा से परे आध्यात्मिक चेतना और परमार्थिक अनुभूति की विराट चेतना समाई हुई थी, उनमें चिन्तनशील आत्मा की विरक्ति, साधक की लगन, भावुक प्रेमिका का उत्कट प्रेम और कर्मठ दार्शनिक का पुरुषार्थ समाया हुआ था । हम उनके व्यक्तित्व में भक्त, प्रेमी और साधक की आत्माओं का संगम देख सकते हैं, जिसमें एक जागरूक आत्मा का आन्तरिक अभाव और तड़पन भरी अवसन्नता पाई जाती है । इसके अतिरिक्त परम वैष्णवी के नाते मीरां की भक्ति में नवधा भक्ति के सारे अंग, पूजा उपासना, तीर्थाटन, मन्दिर जाना, चरणामृत लेना, भगवान को भोग लगाना, साधु-सन्तों से सत्संग करना, हरि-मन्दिर में नृत्य करना, आदि गुण भी पाये जाते हैं, जो उनके व्यक्तित्व के सर्वथा अनुरूप हैं । कृष्णोपासिका मीरां की यह भक्ति-भावना भारतीय वैष्णव धर्म-दर्शन के अनुकूल थी, जिससे पता चलता हैं कि उन्होंने पवित्रात्मा वैष्णवों की भाँति आचार-विचार, व्यवहार एवं भक्ति साधनों में अपना जीवन बिताया ।

मीरां के व्यक्तित्व, भक्ति-भाव और आचरण के सम्बन्ध में भक्त प्रवर

---

१. काशी की प्रति, पद १०१ ।

नाभांदास जी का यह मन्तव्य सर्वथा सत्य है कि—

लोक लाज कुल श्रृंखला, तजि मीरा गिरिधर भजी ॥
सदृस गोपिका प्रेम प्रगट कलिजुगहिं दिखायो ।
निर अंकुस अति निडर रसिक जस रसना गायो ॥
दुष्टन दोष बिचार मृत्यु कों उद्दिम कीयो ।
वार न बांको भयो गरल अमृत ज्यों पीयो ॥
भक्ति निसान बजाय कै काहू ते नाहिन लजो ।
लोक लाज कुल श्रृंखला तजि मीरा गिरिधर भजी ।[1]

—०—

१. श्री नाभादास जी कृत भक्त माल सटीक, पृष्ठ २४७, छप्पय ११५ ।

मन्दिर में नृत्य करती और घुँघरू धमकाती थी ।[1] ताल, पखावज और मृदंग बजते समय साधुओं के समक्ष वे हरिगुण गाते-गाते नृत्य करती थीं । इस तरह से मीरां का भक्ति-भाव कीर्तन, गायन और नृत्य की त्रिवेणी का संगम था ।

'गिरधर' के समक्ष नाच-नाच कर वे उस रसिक प्रिय को रिझातीं और उनसे अपनी पुरातन प्रीति की याचना करती थीं, यथा :—

'म्हां गिरधर आगां नाच्यां री ।
णाच णाच म्हा रसिक रिझावां प्रीत पुरातन जांच्यां री ।
स्याम प्रीत रो बांध घूघर्या मोहण म्हारो सांच्यां री ।
ळोक ळाज कुळ रा मरज्यादां जग मां णेक णा राख्यां री ।
प्रीतम पळ छण णा बिसरावां मीरां हरि रंग राच्यां री ।

—डाकोर की प्रति, पद ५६ ।

अतः संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मीरां के व्यक्तित्व में सांसारिक वितृष्णा से परे आध्यात्मिक चेतना और परमार्थिक अनुभूति की विराट चेतना समाई हुई थी, उनमें चिन्तनशील आत्मा की विरक्ति, साधक की लगन, भावुक प्रेमिका का उत्कट प्रेम और कर्मठ दार्शनिक का पुरुषार्थ समाया हुआ था । हम उनके व्यक्तित्व में भक्त, प्रेमी और साधक की आत्माओं का संगम देख सकते हैं, जिसमें एक जागरूक आत्मा का आन्तरिक अभाव और तड़पन भरी अवसन्नता पाई जाती है । इसके अतिरिक्त परम वैष्णवी के नाते मीरां की भक्ति में नवधा भक्ति के सारे अंग, पूजा उपासना, तीर्थाटन, मन्दिर जाना, चरणामृत लेना, भगवान को भोग लगाना, साधु-सन्तों से सत्संग करना, हरि-मन्दिर में नृत्य करना, आदि गुण भी पाये जाते हैं, जो उनके व्यक्तित्व के सर्वथा अनुरूप हैं । कृष्णोपासिका मीरां की यह भक्ति-भावना भारतीय वैष्णव धर्म-दर्शन के अनुकूल थी, जिससे पता चलता हैं कि उन्होंने पवित्रात्मा वैष्णवों की भाँति आचार-विचार, व्यवहार एवं भक्ति साधनों में अपना जीवन बिताया ।

मीरां के व्यक्तित्व, भक्ति-भाव और आचरण के सम्बन्ध में भक्त प्रवर

---

१. काशी की प्रति, पद १०१ ।

नाभांदास जी का यह मन्तव्य सर्वथा सत्य है कि—

लोक लाज कुल श्रृंखला, तजि मीरा गिरिधर भजी ॥
सदृस गोपिका प्रेम प्रगट कलिजुगहिं दिखायो ।
निर अंकुस अति निडर रसिक जस रसना गायो ॥
दुष्टन दोष बिचार मृत्यु कों उद्दिम कीयो ।
वार न बांको भयो गरल अमृत ज्यों पीयो ॥
भक्ति निसान बजाय कै काहू ते नाहिन लजी ।
लोक लाज कुल श्रृंखला तजि मीरा गिरिधर भजी ।[1]

—o—

---

१. श्री नाभादास जी कृत भक्त माल सटीक, पृष्ठ २४७, छप्पय ११५ ।

अध्याय ४

मीरां की भक्ति-साधना के विभिन्न उपकरण

मीरां के आराध्य का स्वरूप

मीरां के आराध्य देव श्रीकृष्ण थे, जिसका प्रमाण मीरां की मूल पदावली में सर्वत्र पाया जाता है। उन्होंने अपने मन को आराध्य की खोज में यमुना के तट पर चलने के लिये प्रबोधते हुये कहा—'हे मन! उस यमुना के तट पर चल, जिसका जल निर्मल है और जिसमें स्नान करने से शरीर शीतल होता है। उस (यमुना) के तट पर बलवीर को साथ लेकर कान्हा वंशी बजाते हैं, गाते हैं। उनके सिर पर मोर मुकुट, शरीर पर पीताम्बर और कानों में हीरे के कुण्डल शोभायमान हैं और (उसी यमुना के तट पर) मीरां के प्रभु 'गिरधर नागर' बलराम के साथ क्रीड़ायें करते हैं।'[१]

'मीरां के यही प्रभु ब्रज-वनिताओं के कन्त हैं, कमल-नयन हैं। उन्होंने काली दह में कूदकर काली नाग को नाथा था और उसके फन-फन पर नृत्य किया था। वे (श्रीकृष्ण) एक हैं, किन्तु उनकी भुजायें अनन्त हैं।[१] वे दीनानाथ हैं, उन्होंने छप्पन करोड़ बरातियों के साथ दूलह के रूप में आकर स्वप्न में मीरां का हाथ पकड़ा था, तथा उन्हें अपनी परिणीता बनाकर अचल सुहाग प्रदान किया था।'[२]

अपने प्रिय का परिचय देते हुए मीरां कहती हैं कि वे मोर मुकुट मकराकृत कुण्डल धारण करते हैं। उनके ललाट पर अरुण तिलक शोभायमान है। श्याम वर्ण हैं और उनकी मूर्ति मन का लुभाने वाली है। उनके नेत्र विशाल हैं। उनके नेत्र विशाल हैं। उनके अधरों पर सुधारस-प्रवाहिनी मुरली सुशोभित है और गले में वैजयन्ती माला। मीरां के ये प्रभु सन्तों को सुख देने वाले, भक्तवत्सल गोपाल हैं।'[३] वे ब्रजवासी हैं। उनकी ब्रजलीलाओं को देखकर सांसारिक लोग और भक्त

---

१. डाकोर की प्रति, पद ७।

२. डाकोर की प्रति, पद ३२।

३. वही, पद ३६।

४. वही, पद ४६।

जन सुख प्राप्त करते हैं । वे व्रजबनिताओं के लिये अनन्त सुखों की राशि हैं । बृजांगनायें उनके साथ हँसती, गाती, ताली बजाती, नाचती, और आनन्द पाती हैं । नन्द और यशोदा के पुण्य से (मीरां के आराध्य) अविनाशी प्रभु प्रकट हुये हैं ।'[४]

उक्त विवरण से पता चलता है कि मीरां के आराध्य मोर मुकुट, मकराकृत कुण्डल, पीताम्बर तथा बैजन्तीमाला धारण करने वाले ब्रज बनिताओं के कन्त, नन्द-नन्दन श्रीकृष्ण हैं । वे बलराम के साथ यमुना के तट पर मुरली बजाते हैं, क्रीड़ायें करते हैं । उन्होंने काली नाग को नाथा था और छप्पन करोड़ बरातियों के साथ आकर स्वप्न में मीरां का हाथ पकड़कर उन्हें अचल सुहाग प्रदान किया था । 'वे गोवर्धन गिरिधारी हैं, मुरारी हैं और उन्होंने भरी सभा में द्रुपद-सुता की लज्जा रखी थी ।[५] मीरां के आराध्य का यह स्वरूप सगुण लीलावतार कृष्ण का परिचायक है, किन्तु इसी के साथ-साथ मीरां ने कृष्ण के विष्णु-रूप का भी अनेक स्थलों पर विविध सन्दर्भों में स्मरण किया है ।

वे कहती हैं—'मैंने सुना है कि सुना है कि हरि अधमोद्धारक है, भव-भय-तारण हैं । भक्तों के कष्ट निवारणार्थ डूबते हुये गजेन्द्र की पुकार सुन वे दौड़े थे । दुःशासन का मद-स्खलित कर उन्होंने द्रुपद-सुता का चीर बढ़ाया था और भक्त प्रहलाद की प्रतिज्ञा की रक्षा कर 'हिरणाकुस' का उदर विदीर्ण किया था ।[१]

गजेन्द्र-मोक्ष और नरसिंहावतार के ऐसे संश्लिष्ट चित्रों से मीरां कृष्णोपासिका वैष्णावी प्रतीत होती हैं जिनके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मीरां के आराध्य भगवान कृष्ण थे, जो भगवान विष्णु के द्वापर कालीन अवतार थे ।

मीरां दाम्पत्य-भाव से भगवान कृष्ण की निरंतर भक्ति करती थीं । उनसे मिलने के लिये वे आर्त्त-स्वर में पुकारती थीं—हे प्यारे ! आओ और आकर मुझे दर्शन दो । तुम्हारे बिना मुझसे नहीं रहा जाता । जैसे जल के बिना कमल और चन्द्रमा के बिना रात (कान्तिहीन और निर्जीव से) रहते हैं, उसी तरह तुम्हारे बिना मेरा जीवन जा रहा है । मैं व्याकुल हो तड़प-तड़प कर रात बिताती हूँ । विरह मेरे कलेजे को खा रहा है । दिन में भूख नहीं लगती । रात को नींद नहीं आती ।

---

१. वही, पद ६२ ।
२. वही, पद ४२ ।
३. डाकोर की प्रति, पद ३४ ।

अध्याय ४

मीरां की भक्ति-साधना के विभिन्न उपकरण

मीरां के आराध्य का स्वरूप

मीरां के आराध्य देव श्रीकृष्ण थे, जिसका प्रमाण मीरां की मूल पदावली में सर्वत्र पाया जाता है। उन्होंने अपने मन को आराध्य की खोज में यमुना के तट पर चलने के लिये प्रबोधते हुये कहा–'हे मन! उस यमुना के तट पर चल, जिसका जल निर्मल है और जिसमें स्नान करने से शरीर शीतल होता है। उस (यमुना) के तट पर बलवीर को साथ लेकर कान्हा वंशी बजाते हैं, गाते हैं। उनके सिर पर मोर मुकुट, शरीर पर पीताम्बर और कानों में हीरे के कुण्डल शोभायमान हैं और (उसी यमुना के तट पर) मीरां के प्रभु 'गिरधर नागर' बलराम के साथ क्रीड़ायें करते हैं।'[१]

'मीरां के यही प्रभु ब्रज-वनिताओं के कन्त हैं, कमल-नयन हैं। उन्होंने काली दह में कूदकर काली नाग को नाथा था और उसके फन-फन पर नृत्य किया था। वे (श्रीकृष्ण) एक हैं, किन्तु उनकी भुजायें अनन्त हैं।[१] वे दीनानाथ हैं, उन्होंने छप्पन करोड़ बरातियों के साथ दूलह के रूप में आकर स्वप्न में मीरां का हाथ पकड़ा था, तथा उन्हें अपनी परिणीता बनाकर अचल सुहाग प्रदान किया था।'[२]

अपने प्रिय का परिचय देते हुए मीरां कहती हैं कि वे मोर मुकुट मकराकृत कुण्डल धारण करते हैं। उनके ललाट पर अरुण तिलक शोभायमान है। श्याम वर्ण हैं और उनकी मूर्ति मन का लुभाने वाली है। उनके नेत्र विशाल हैं। उनके नेत्र विशाल हैं। उनके अधरों पर सुधारस-प्रवाहिनी मुरली सुशोभित है और गले में वैजयन्ती माला। मीरां के ये प्रभु सन्तों को सुख देने वाले, भक्तवत्सल गोपाल हैं।'[३] वे ब्रजवासी हैं। उनकी ब्रजलीलाओं को देखकर सांसारिक लोग और भक्त

---

१. डाकोर की प्रति, पद ७।

२. डाकोर की प्रति, पद ३२।

३. वही, पद ३६।

४. वही, पद ४६।

जन सुख प्राप्त करते हैं । वे ब्रजबनिताओं के लिये अनन्त सुखों की राशि हैं । बृजांगनायें उनके साथ हँसती, गाती, ताली बजाती, नाचती, और आनन्द पाती हैं । नन्द और यशोदा के पुण्य से (मीरां के आराध्य) अविनाशी प्रभु प्रकट हुये हैं ।'[४]

उक्त विवरण से पता चलता है कि मीरां के आराध्य मोर मुकुट, मकराकृत कुण्डल, पीताम्बर तथा बैजन्तीमाला धारण करने वाले ब्रज बनिताओं के कन्त, नन्द-नन्दन श्रीकृष्ण हैं । वे बलराम के साथ यमुना के तट पर मुरली बजाते हैं, क्रीड़ायें करते हैं । उन्होंने काली नाग को नाथा था और छप्पन करोड़ बरातियों के साथ आकर स्वप्न में मीरां का हाथ पकड़कर उन्हें अचल सुहाग प्रदान किया था । 'वे गोवर्धन गिरिधारी हैं, मुरारी हैं और उन्होंने भरी सभा में द्रुपद-सुता की लज्जा रखी थी ।[५] मीरां के आराध्य का यह स्वरूप सगुण लीलावतार कृष्ण का परिचायक है, किन्तु इसी के साथ-साथ मीरां ने कृष्ण के विष्णु-रूप का भी अनेक स्थलों पर विविध सन्दर्भों में स्मरण किया है ।

वे कहती हैं—'मैंने सुना है कि सुना है कि हरि अघमोद्धारक है, भव-भय-तारण हैं । भक्तों के कष्ट निवारणार्थ डूबते हुये गजेन्द्र की पुकार सुन वे दौड़े थे । दुःशासन का मद-स्खलित कर उन्होंने द्रुपद-सुता का चीर बढ़ाया था और भक्त प्रहलाद की प्रतिज्ञा की रक्षा कर 'हिरणाकुस' का उदर विदीर्ण किया था ।[१]

गजेन्द्र-मोक्ष और नरसिंहावतार के ऐसे संश्लिष्ट चित्रों से मीरां कृष्णोपासिका वैष्णावी प्रतीत होती हैं जिनके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मीरां के आराध्य भगवान कृष्ण थे, जो भगवान विष्णु के द्वापर कालीन अवतार थे ।

मीरां दाम्पत्य-भाव से भगवान कृष्ण की निरंतर भक्ति करती थीं । उनसे मिलने के लिये वे आर्त्त-स्वर में पुकारती थीं—हे प्यारे ! आओ और आकर मुझे दर्शन दो । तुम्हारे बिना मुझसे नहीं रहा जाता । जैसे जल के बिना कमल और चन्द्रमा के बिना रात (कान्तिहीन और निर्जीव से) रहते हैं, उसी तरह तुम्हारे बिना मेरा जीवन जा रहा है । मैं व्याकुल हो तड़प-तड़प कर रात बिताती हूँ । विरह मेरे कलेजे को खा रहा है । दिन में भूख नहीं लगती । रात को नींद नहीं आती ।

---

१. वही, पद ६२ ।

२. वही, पद ४२ ।

३. डाकोर की प्रति, पद ३४ ।

मुँह से बोल नहीं निकलते । मैं अपनी बात कहूँ भी तो किससे ? (मेरी करुणा कहानी को) सुनने वाला ही कौन है ? हे प्रिय ! मुझसे आकर मिलो और मेरी अन्तर्ज्वाला को शान्त करो । हे अन्तर्यामी ! तुम मुझे क्यों तरसाते हो ? शीघ्र आकर मिलो, ताकि मेरा दुख दूर हो । मैं तुम्हारी जन्म-जन्म की दासी हूँ और तुम्हीं से नेह लगाये बैठी हूँ ।[२]

ऐसे सरस भावों से प्रमाणित होता है कि मीरां अपने आपको भगवान कृष्ण की जन्म-जन्मान्तरों की दासी मान आध्यात्मिक स्तर पर माधुरी भक्ति करती थीं । भक्ति की यह विरासत उन्हें भारतीय धर्म-साधना के विकास और समसामयिक कृष्णोपासना से प्राप्त हुई थी और उन्होंने उसे अपने व्यक्तित्व के अनुरूप वाणी दी थी ।

हिन्दी साहित्य के इतिहास से अभिज्ञ पाठक इस तथ्य को भली भाँति जानते हैं कि मीराँ के अविर्भाव के समय इस देश में आसेतु हिमाचल भक्ति-भाव उमड़ पड़ा था और विविध सम्प्रदायों के आचार्य तथा भक्त अपने-अपने सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार के लिए प्रयत्नशील थे । मीराँ ने इसी भक्तिपूर्ण वातावरण में अपने काव्य का प्रणयन किया था ।

कृष्ण-भक्ति-परम्परा में मीरां की काव्य की भूमिका

मीराँ का काव्य उनकी जीवन-व्यापी भक्ति-साधना का प्रमाण है । उनके काव्य में कृष्ण-भक्ति के वे सम्पूर्ण उपादान विद्यमान हैं, जिनका उल्लेख और अनुसरण प्रायः सभी कृष्णोपासक सम्प्रदायों में न्यूनाधिक मात्रा में पाया जाता है । मीराँ सम्प्रदाय-मुक्त थीं, अतः उनके काव्य को किसी भी कृष्णोपासक भक्ति-सम्प्रदाय की दार्शनिक विचार-धारा या उसके आचार-शास्त्र की किसी विशिष्ट पद्धति की कसौटी पर कसना न्याय-संगत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि सम्प्रदाय-मुक्त कवि पर सम्प्रदायिकता का आरोप कवि के व्यक्तित्व और वक्तव्य को संकुचित परिधि से घेर उसके स्वतंत्र अस्तित्व को धूमिल बना देता है, फलतः कुछ ऐसी गलत धारणायें कवि के सम्बन्ध में बना दी जाती हैं, जो कलान्तर में तर्क-वितर्क और वितण्डवाद को जन्म देती हैं ।

---

१. काशी की प्रति, पद ६० ।

२. दि मिस्टिक टीचिंग्स अव दि हरिदासाज अव कर्नाटक—डा० हेरॉस, भूमिका, पृष्ठ ४१

हमारे विनम्र मत से कृष्ण-भक्ति-परम्परा में मीरां के काव्य का मूल्यांकन कृष्ण भक्ति-साधना के प्रस्थानत्रयी महाभारत, गीता और श्रीमद्भागवत पुराण में विद्यमान सिद्धान्तों के आधार पर करना अधिक तर्क-संगत एवं उपयुक्त है ।

महाभारत में कृष्ण के प्रति पूज्य बुद्धि से उनके ब्रह्मत्व का प्रतिपादन तथा उसकी स्वीकृति पाई जाती है[1] तथा यह भी कहा गया है कि एकाँत भाव से आराधना और उनका भजन-पूजन करने वाले भक्तों पर भगवान कृष्ण प्रसन्न होते हैं ।[2]

गीता में भक्ति के दार्शनिक पक्ष के साथ-साथ उसके साध्य और साधना पक्ष पर भी अच्छी तरह विचार किया गया है, अतः गीता के सम्बन्ध में आचार्य श्री नन्द-दुलारे जी वाजपेयी का मत है कि 'गीता भक्ति का शास्त्रीय ग्रंथ है ।'[3] यों तो गीता में भगवान कृष्ण के भक्ति-सम्बन्धी मन्तव्य यत्र-तत्र सर्वत्र पाये जाते है किन्तु विशेषकर उन्होंने द्वादश अध्याय में स्वतन्त्र रूप से भक्तियोग पर प्रकाश डाला है, जिसके सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि—

'भत्कर्मकन्मत्परभोमद्भक्तः संगवर्जितः ।
निर्वैरः सर्व भूतेषु यः स मामेति पाण्डव ।।'

हे अर्जुन ! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये, सब कुछ मेरा समझता हुआ यज्ञ' दान और तप आदि सम्पूर्ण कर्त्तव्य कर्मों को करने वाला है, और मेरे परायण है, अर्थात् मुझे ही परम आश्रय और परम गति मानकर मेरी प्राप्ति के लिये तत्पर है, तथा मेरा भक्त है अर्थात् मेरे नाम, गुण, प्रभाव और रहस्य के श्रवण, कीर्तन, मनन, ध्यान और पठन-पाठन का प्रेम सहित, निष्काम भाव से निरन्तर अभ्यास करने वाला हैं, और आसक्ति रहित है अर्थात् स्त्री, पुत्र और धनादि सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थों में स्नेह-रहित है, और सम्पूर्ण भूत प्राणियों में, बैर-भाव से रहित है, ऐसा वह अनन्य भक्ति वाला पुरुष मुझे ही प्राप्त होता है ।'[4]

अनन्य भक्ति का यही स्वरूप गीता के बारहवें अध्याय में भगवान कृष्ण ने अर्जुन को सविस्तार समझाया है और इसी की चरम परिणति गीता के अठारहवें

---

१. महाभारत, आदिपर्व अध्याय ६३ ।
२. वही, शांतिपर्व, अध्याय ३४४ ।
३. महाकवि सूरदास—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, भक्ति का विकास, पृष्ठ २२ ।
४. श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ११, श्लोक ५५ पृष्ठ २१२-२१३, गीता प्रेस गोरखपुर संस्करण ।

अध्याय में ६५ और ६६ वें श्लोकों में हुई है, जिसके सम्बन्ध में आचार्य श्री नन्द-दुलारे जी वाजपेयी का मत है कि 'गीता का महावाक्य अंतिम अध्याय में दिया हुआ है। वहाँ भगवान कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि अपने हृदय में मुझे बसाकर मेरी शरण में आ जाओ। मेरी कृपा-दृष्टि से तुम्हें परमशांति प्राप्त होगी। मन को पूर्णतया मुझमें लीन कर दो। मेरी उपासना करो; मेरी पूजा तथा मेरे लिये ही यज्ञ करो। तुम मोक्ष गति को अवश्य प्राप्त करोगे, क्योंकि तुम मुझे बहुत प्रिय हो। समस्त धर्मों को छोड़कर मेरी शरण में चले जाओ। मैं तुम्हें समस्त पापों से मुक्त करके मोक्ष दूंगा।'[1]

इसी अनन्य शरणागति भाव से मीरां का काव्य प्रारम्भ हुआ है। मीरां ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है कि—

'म्हारां री गिरधर गोपाळ दूसरां णा कूयां।
दूसरा णा कोयाँ साधाँ सबळ ळोक जूयाँ।'[2]

समस्त संसार में मीरां गिरिधर के अतिरिक्त अन्य किसी को भी अपना नहीं समझती थीं। वे एकाँतिक दाम्पत्य भाव से भगवान कृष्ण की शरण-प्राप्त करना चाहती थीं। उनका मन पूर्णतया कृष्ण में ही अनुरक्त था और लोक, लाज, कुल, मर्यादा त्याग वे सांसारिक बन्धनों से विरक्त रह कृष्ण की पूजा, उपासना और आराधना किया करती थीं। नवधा भक्ति के सम्पूर्ण उपकरण उनके काव्य में विद्यमान थे, जिनका विवेचन मीरां का व्यक्तित्व और उनकी भक्ति-सम्बन्धी प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में पिछले अध्याय में देखा जा सकता है।

मीरां निरन्तर कृष्ण से अनुरोध किया करती थीं कि—

'स्याम म्हाँ बांहड़िया जी गह्याँ।
भो सागर मंझधारा बूड्याँ थारी शरण ळह्याँ।'
'म्हारे अवगुण वार अपाराँ थे विण कूण सह्याँ।
मीराँ रे प्रभु हरि अविणासी, ळाज विरदरी वह्याँ।'[2]
'मीराँ रे प्रभु दरशण दीज्यो, थे चरणा आधारा।'[3]

---

१. महाकवि सूरदास—आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, भक्ति का विकास, पृष्ठ २१।
२. डाकोर की प्रति, पद १।
३. डाकोर की प्रति, पद २२।

मीराँ ने भगवान कृष्ण की शरण में जाकर ही परम पद प्राप्ति का समर्थन किया था—

'मीराँ रे प्रभु थारी शरणाँ, जीव परम पद पावाँ ।'[1]

भव-बन्धनों से जीवात्मा की मुक्ति के लिये ही मीराँ आजीवन कृष्ण की उपासना, पूजा और वन्दना के साथ अपने काव्य की सृष्टि करती रहीं । अतः मीरां के सम्पूर्ण काव्य की भाव-भूमि उनके कृष्ण-प्रेम और कृष्ण-भक्ति के सरस भावों से आप्लावित है ।

मीरां की भक्ति-साधना के अन्तरंग पक्ष में प्रवेश करने के पूर्व हमें भारतीय भक्ति साधना के दार्शनिक पक्ष पर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिये, जिसके परिवेश में मीरां की भक्ति-साधना के विभिन्न उपकरणों का सम्यक् रूप से मूल्यांकन किया जा सके ।

भक्तिसाधना का मूल रूप

भक्ति, जीव और ब्रह्म के सम्मिलन का माध्यम है । अनादि काल से जीवात्मा अपनी समस्त प्रज्ञा और अनुभूति से परमात्मा की खोज में व्यग्र है । अतः ब्रह्म के स्वरूप की सनातन जिज्ञासा और उसकी उपलब्धि के प्रयासों का इतिहास ही भक्ति-भावना का इतिहास है । मनुष्य अनादि काल से कुछ शाश्वत प्रश्नों के उत्तर खोजने के लिये निरंतर व्यग्र है । वह सोचता है–ब्रह्म कौन है ? क्या है ? कैसा है ? जीव कौन है ? क्या है ? कैसा है ? जीव और ब्रह्म का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है ? क्यों है ? कैसा है ? प्रकृति, जीव और ब्रह्म से किस प्रकार, क्यों और किसलिये सम्बद्ध है ? जीव, ब्रह्म, को कब, कैसे और क्यों पा सकता है ? उसे पाने का मार्ग कौन सा है ? आदि अनेक प्रश्नों में और उनके उत्तरों की खोज में बुद्धि के पक्ष में अनेक दार्शनिक मतवादों और भावना के क्षेत्र में विविध भक्ति-साधनाओं का स्वरूप-निर्धारण किया है ।

ज्ञानमूला भक्ति और ब्रह्म-जिज्ञासा

बुद्धि सोचती है–अखिल विश्व का विधायक, सचराचर सृष्टि का पालक, पोषक और संहारक कौन है ? सूर्य, चन्द्र, ग्रह और अनन्त नक्षत्र किसके संकेत से संचालित हैं ? विविध रूपा प्रकृति के विविध स्वरूपों में किस रहस्य की प्रतिच्छवि अंकित है ? क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर में किस की अमोघ शक्ति व्याप्त है ? जीवन का जीवन, प्राणों का प्राण, रहस्यों का रहस्य परम तत्व कौन है ?

---

१. वही, पद २७ ।

ऐसे जटिल, गूढ़ और रहस्यात्मक प्रश्नों का समाधान करना भक्ति का ज्ञान-मार्गीय अभियान है। इस अभियान पर हमारे वैदिक ऋषियों की चेतना और बुद्धि अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये क्रियमाण थे। उनकी सहज जिज्ञासा और कुतूहल-वृत्ति ब्रह्म-स्वरूप के शाश्वत सत्यान्वेषण के लिये बहुत व्याकुल थीं। दिव्य अनुभूति के किसी पुनीत क्षण में उन्होंने कहा--

नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परोयत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गंभीरम् ॥१॥
न मृत्युरासीद मृतं न तर्हि न रात्रया अह्व आसीत्प्रकेतः।
आनीद वातं स्वधयात देकं तस्माद्धान्यन्न परः किं च नास ॥२॥

--ऋग्वेद, नासदीय सूक्त, मण्डल १०, सू० १२६।

अर्थात् उस समय वहाँ न तो असत् था, न सत्। न आकाश था, न सुदूर व्योम। क्या ढँका था? कहाँ और किसके संरक्षण में? क्या गहन और गंभीर जल-राशि (महासमुद्र) थी? वहाँ मृत्यु न थी? फिर अमृत का क्या प्रश्न? (वहाँ) रात और दिन का भेद करने वाला प्रकाश भी न था। वह एकाकी बिना वायु के श्वांस ले रहा था। इसके अतिरिक्त और कुछ न था। जिससे इस सृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ, उसने इसे उत्पन्न किया या नहीं? उच्चतम आकाश में जो इसका परम दृष्टा है, वह भी जानता है, या नहीं?

वैदिक ऋषियों की यह अन्तर्मुखी रहस्यानुभूति परम तत्व के आत्म बोध और प्रज्ञासमर्थित सत्य के रहस्यमय, सर्वव्यापी और अतिरेकी स्वरूप की अनिर्वचनीयता का संकेत करती है, जिससे ऐसा प्रतिभासित होता है कि ब्रह्म अनादि, अनन्त और अनिर्वचनीय है। अहंकार बुद्धि का गुण है वह ब्रह्म को जानना चाहती है अतः वह हठ करती है--

'यतो व इमानि भूतानि जायन्ते। येन जानाति जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तत् विजिज्ञासक्त तद् ब्रह्म[1] ।"

जिससे सब भूत उत्पन्न हुये हैं, जिसके द्वारा जीवित हैं, और अन्त में जिसमें विलीन होंगे उसको जानना ही होगा। वही ब्रह्म है।

ब्रह्म का स्वरूप और उसके गुण

अद्यावधि मन, वाणी और बुद्धि ज्ञानमार्ग से चलकर भी उस रहस्यों के परम रहस्य को व्यक्त करने में असमर्थ हैं। बड़े से बड़ा ज्ञानी ब्रह्म की अनुभूति भले ही कर

---

१. तैत्तिरीय उपनिषद ३।१

ले, पर उसके अनिर्वचनीय स्वरूप को वाणी की सीमा में नहीं बाँध सकता। उसकी उपलब्धि का आनन्द ज्ञानी के लिये 'गूँगे केरी सर्करा' है। ज्ञान का अहंकार जब ब्रह्म को नहीं पा सकता या पाकर उसे व्यक्त नहीं कर सकता, तब बुद्धि का 'अहम्' भावना की शरण लेता है। भावना श्रद्धा सहित कहती है—"तस्मिन दृष्टे परावरे"[1]

ब्रह्म के 'पर' और 'अवर' रूप हैं। ब्रह्म के इस निरपेक्ष और सापेक्ष स्वरूप की अनुभूति होते ही विश्व से समस्त चर-अचर, जड़ और चेतना पदार्थ निरपेक्ष ब्रह्म की सापेक्ष सत्ता के प्रतीक बन गये, और वाणी द्वारा ब्रह्म के निरपेक्ष और सापेक्ष रूपों की व्यंजना होने लगी। ज्ञान और विज्ञान की सम्पूर्ण चेतना और साधना की स्वीकृति देते हुये यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि "ईश्वर कपोल कल्पित नहीं है, जिसे किसी चतुर मस्तिष्क की उपज कहा जा सके। वह वास्तविक सत्ता है। यह सत्ता व्यक्तित्व विहीन, संज्ञा-शून्य और चेतना से रहित भी नहीं है। उसका एक व्यक्तित्व है, जो सज्ञान है, जो दूसरों से कह सकता है और उनकी सुन सकता है[2]।" वह पूर्ण आनन्दमय है। उसमें दुख का लवलेश भी नहीं है। वेद की सात व्याहृतियों में से प्रथम तीन महाव्याहृतियाँ-भूः, भुवः, स्वः प्रभु के इसी स्वरूप की व्याख्या करती हैं। वह भूः अर्थात् सत्तावाला है, उसका अस्तित्व है, वह सत्य है। वह भुवः अर्थात् चेतन और ज्ञान वाला है वह हमारी प्रार्थनाओं को सुन सकता है। उसे अपना ज्ञान है और वह अपना सन्देह हम तक पहुँचाता रहता है। उसके ज्ञान का प्रकाश संसार के नियमबद्ध व्यवस्थित एवं सोद्देश्य व्यापारों में भली भाँति प्रकट हो रहा है। वह पूर्ण है, अतः उसमें किसी प्रकार का अभाव नहीं है[3]। वह स्वः अर्थात् आनन्द स्वरूप है। क्लेशों में उसे क्लेशित करने का सामर्थ्य ही नहीं है, वे उसके पास तक नहीं फटक सकते। इस प्रकार ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप है। तीनों महाव्याहृतियाँ उसके इस निरपेक्ष, अन्यों से असम्बद्ध, वास्तविक स्वरूप को प्रकाशित करती हैं। वह सत है, चित है, आनन्द है[4]।

---

१. मुण्डकोपनिषद २।२।८.

२. The Arya Samaj : Lala Diwanchand; Page 54.

३. The perfect being must, in fact, possess the quality of existence, since the non--possession of this quality, would be an obvious imperfection.
Physics and Philosophy—Sir James Jeans; Page 94.

४. भक्ति का विकास--डॉ० मुंशीराम शर्मा ; पृष्ठ ४२-४३।

इस तरह जब निर्गुण, निराकार अनिर्वचनीय ब्रह्म ज्ञान की परिधि से बाहर अपने सगुण, साकार रूप में भावमूला भक्ति के क्षेत्र में प्रविष्ठ हुआ, तब जीवात्मा ने उससे सहजात सम्बन्धों को जोड़ना शुरू किया। अब ब्रह्म जिज्ञासामूलक प्रश्न नहीं रहा, बल्कि अलौकिक होकर भी भक्तों की दृष्टि में उनमे लौकिक सम्बन्धों द्वारा जुड़ गया। वैदिक ऋषियों ने परमेश्वर की प्रार्थना करते हुये कहा—विलक्षण शक्ति से सम्पन्न एक परमेश्वर ही सच्चे राजा हैं। अनेक जीव, जो राजा कहलाते हैं, वे राजक हैं, उमराव हैं, छोटे-छोटे राजा हैं। ईश्वर जिस ऐश्वर्य-सरस्वती को मेघ की भाँति सहस्रों धाराओं में प्रवाहित कर रहे हैं, उसीका एक छोटा सा भाग दान रूप में इन्हें भी प्राप्त हो गया[१]। जो उत्पन्न हो चुका है और जो उत्पन्न होने वाला है, उन सबका अधिष्ठाता वही है[२]। वह समस्त भूतों का अधिपति और समस्त लोकों का आश्रय है[३]। वह न्यायकारी परमेश्वर हमारे लिये कल्याण कारी हो[४]।

परमेश्वर परम दयालु है। वह नंगे को ढँक देता है, भेषज देकर रोगी और व्यक्ति की व्यथा दूर करता है अंधा उसकी कृपा से देखने लगता है और लँगड़ा-लूला चलने की शक्ति पा जाता है[५]। वह परम ऐश्वर्य सम्पन्न, इन्द्रिय रूप विविध लोकों का स्वामी और सारे संसार पर अपने ओज से शासन करता है[६]। वैदिक ऋषियों ने कहा—हे ईश्वर! तुम हमारे हो, और हम तुम्हारे[७]। तुम्हीं हमारे पिता हो, तुम्हीं हमारी माता हो। हे अनन्त ज्ञानी। हम आपसे आनंद-प्राप्ति की कामना करते हैं[८]। तुम जीवात्मा के योग्य सखा हो[९]।

---

१. "चित्र इद्राजा राजका इदन्यके सरस्वती मनु।
पर्जन्य इव ततनद्धि वृष्टया सहस्रमयुता ददत्॥—ऋग्वेद ८।२१।१८

२. "यो भूत्तं च भव्यं च सर्व यश्चाधि तिष्ठति।"—अथर्ववेद २३।४।१

३. "यो भूतानामधिपतिः यस्मिंल्लोका अधिश्रिता:।"—यजुर्वेद २०।३२

४. शन्नो भवतु अर्यमा।"—यजुर्वेद ३६।९

५. "अभ्युर्णोति यन्नग्नं, भिषक्ति विश्वं यतुरम्।
प्रेमन्धः रव्यत्, निः श्रोणो भूत॥"—ऋग्वेद ८।७९।२

६ "इन्द्र मीशानमोजसा अभिस्तोमा अनुषत।"—वही १।११।८

७. "त्वमस्माकं तव स्मसि।"—वही ८।९२।३२

८. "त्वं हि नो पिता वसोत्यं माता शतक्रतो जभूविध। अथाते सुम्नमीमहे।"
ऋग्वेद ८।९८।११

९. "इन्द्रस्य युज्यः सखा।"—ऋग्वेद १।२।७।१२

उक्त सम्पूर्ण सम्बन्धों में जीव प्रभु के अनन्त ऐश्वर्य और शक्ति से प्रभावित प्रतीत होता है और उसमें द्वैत भाव अधिक पाया जाता है। फिर भी जीव और ब्रह्म के इन सम्बन्धों में एक आत्मीयतापूर्ण प्रेम-भाव पाया जाता है, जिससे जीव-ब्रह्म-सम्बन्ध और भी अधिक स्पष्ट और पुष्ट हो गये हैं।

जीव-ब्रह्म सम्बन्ध :

निरपेक्ष रूप से ब्रह्म, जीव और जगत से असम्बद्ध, एकान्त और कूटस्थ कहा जाता है। वह काल्पनिक नहीं, वास्तविक है; जड़ नहीं, चेतन है; निरानन्द नहीं, सानंद है; ससीम नहीं; असीम है—देश और काल दोनों की परिधि से परे है। वह सर्व शक्तिमान, समस्त अवलंम्बनों का अवलम्बन है। वह किसी पर आश्रित नहीं, उसकी इच्छा ही सर्वोपरि है, किन्तु जीव और जगत् की दृष्टि से ईश्वर सापेक्ष स्वरूप है। जीव के लिये वह शासक, नियन्ता, न्यायकारी, कल्याणमय ऐश्वर्य-सम्पन्न, परम दयालु, भक्त-वत्सल पिता, माता, मित्र और सखा है। जीव अपूर्ण है, अणु है, अल्पज्ञ है, तो ब्रह्म पूर्ण है, विभु है, आप्त है। प्रकृति के संपर्क से जीव अपवित्र होता है, तो पवित्र स्वरूप प्रभु के सम्पर्क से वह पुनः पवित्र हो जाता है। वही प्रभु संसार का, रचयिता, पालक और संहारक है। सम्पूर्ण संसार का कण-कण, अंग-प्रत्यंग दुःख, क्लेश और विवशता की ज्वाला से प्रदीप्त है, अतः संसार में उत्पन्न होने वाला प्रत्येक जीव दुखी है। वह आनंद, चाहता है। आनंद का निकेतन ईश्वर है। वही सत् और चित का विश्राम-स्थल है, अतः मन, वचन और कर्म से अपनी समस्त चेष्टाओं, क्रियाओं और कामनाओं को ईश्वर पर केन्द्रित करना और तदनुरूप आचरण करना प्रत्येक आत्म प्रबुद्ध जीव का कर्त्तव्य है। इस दृष्टि से वास्तव में भक्ति ही वह माध्यम है, जो जीव और ब्रह्म को विशिष्ट सम्बन्ध-सूत्र से जोड़ती है।

भक्ति का रूप :

भक्ति का स्वरूप प्रायः सभी धर्मग्रंथों में विवेचित है, किन्तु भारतीय संस्कृत-साहित्य में विशेषकर नारद भक्ति-सूत्र, शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र रूपगोस्वामीकृत उज्जवल नीलमणि तथा भक्ति-रसामृत-सिन्धु (भागवतसन्दर्भ या षड्सन्दर्भ) और श्री मधुसूदन सरस्वतीकृत भक्ति-रसायन, भक्ति को सिद्धान्त पक्ष का तात्विक विवेचन प्रस्तुत करने वाले ग्रंथ हैं। यों तो सामान्यतः वेदों से लेकर पुराणों, उपनिषदों, रामायण, महा-भारत, गीता, श्रीमद्भागवत् आदि सभी ग्रंथों में भक्ति का विवेचन यत्र-तत्र मिल जाता है।

"महाभारत के शांति पर्व के ३४८ वें अध्याय में सात्वत धर्म (पांचरात्र मत) को निष्काम भक्ति का मार्ग बताया गया है। पांचरात्र मत में चतुर्व्यूह कल्पना और

एकांतिक भक्तिमार्ग का प्राधान्य है ।" शंकराचार्य ने (ब्रह्मसूत्र २।२।४२) वासुदेव के चतुर्व्यूह की उपासना की पाँच विधियाँ बताई हैं–(१) अभिगमन अर्थात् मन, वचन और कर्म से अवधान पूर्वक देवमंदिर में गमन, (२) उपादान अर्थात् पूजा-द्रव्यों का अर्जन, (३) इज्या अर्थात् पूजा, (४) स्वाध्याय अर्थात् अष्टाक्षर आदि मंत्रो का जप और (५) योग अर्थात् ध्यान ।.......इन्हीं का परिवर्धित रूप नवधा भक्ति है । पाँच से नव के विकास की एक सीढ़ी का पता मिल जाता है । ज्ञानामृतसार में जो संभवतः शंकर के बाद की–और भागवत् पुराण के पूर्व की रचना है, छः प्रकार की भक्ति बताई गई है–स्मरण, कीर्तन, वंदन, पादसेवन, अर्चन और आत्म-निवेदन ।

भागवत (७५।२३-२४) में तीन और बढ़ गये हैं–श्रवण, दास्य और सख्य[1] ।

इस तरह से नवधा भक्ति का विकास हुआ । 'मीरां का व्यक्तित्व और उनकी भक्ति सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ' निरुपित करते समय हमने मीरा के काव्य में उपलब्ध नवधा भक्ति के सम्पूर्ण सौपानों का परिचय दे दिया है ।

महर्षि नारद ने भक्ति की व्याख्या करते हुये कहा है कि–

"सात्वस्मिन परम प्रेम-रुपा ।। अमृत स्वरुपा च ।। यल्लबध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतोभवति, तृप्तो भवति ।। यत्प्राप्य न किंचिद्वांति न शोचति, न द्वेष्टि, न रमते नोत्साही भवति ।। यज्ज्ञात्वा मत्तोभवति स्तब्धोभवति आत्मारामो भवति ।। सा न कामयमाना निरोध रुपात्वात् ।। निरोधस्तु लोक वेद व्यापारन्यासः ।। तस्मिन्ननन्यता तद्विरोविषूदासीनता च ।। अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता[2] ।।"

अर्थात् भक्ति ईश्वर के प्रति परम प्रेम रुपा है, और अमृत स्वरुपा भी है। उसे पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है, तृप्त हो जाता है । परम प्रेम रुपा भक्ति को पाकर मनुष्य न किसी वस्तु की इच्छा करता है, न शोक करता है, न द्वेष करता है, न किसी वस्तु में आसक्त होता है और न उसे विषय भोगों की प्राप्ति में उत्साह ही होता है । उसे पाकर और जानकर मनुष्य उन्मत्त हो जाता है, स्तब्ध (शान्त) हो जाता है और आत्माराम बन जाता है । यह प्रेमाभक्ति कामनायुक्त नहीं है, क्योंकि वह निरोधस्वरूपा है । लौकिक और वैदिक समस्त कर्मो के त्याग को निरोध कहते हैं । अपने परम प्रियतम भगवान में अनन्यता और उसके प्रतियोग विषय में उदासीनता भी निरोध है । अपने प्रियतम भगवान को छोड़कर दूसरे आश्रयों के त्याग का नाम अनन्यता है ।

---

१. मध्यकालीन धर्म साधना—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ १२४-१२५ ।
२. नारद-भक्ति-सूत्र, सूत्र २,३,४,५,६,७,८,६, १०, ।

मीरां की परम प्रेमरूपा भक्ति यहीं से प्रारम्भ होती है । वे कहतीं हैं कि--

"म्हांरा री गिरधर गोपाळ दूसरा णा कूयां ।
दूसरां णां कोयाँ साधां सकळ ळोक जूयां[1] ।"

बन्धु, बान्धव, सगे-सम्बन्धी और संसार को त्याग मीरां ने अनन्य भाव से कृष्ण की भक्ति की थी । उनकी भक्ति परम प्रेमरूपा थी । उन्होंने अपने अश्रु जल से सींच-सींचकर प्रेम-बेलि बोई थी । दही का मंथन कर घृत काढ़ लिया था और छाछ छोड़ दिया था[2] ।

मुनिवर शांडिल्य ने भी "सा परानुरक्तिरीश्वरे"[3] कहकर ईश्वर के प्रति परम अनुराग को भक्ति माना है । यही भक्ति पराभक्ति है ।

मीरां की प्रेममूला भक्ति और उसके उपकरण

ढाई अक्षर का 'प्रेम' शब्द अत्यन्त गूढ़ और व्यापक है । लौकिक जीवन में मनुष्य के समस्त सम्बन्धसूत्र इसी प्रेम-तंतु से बने हैं । मनुष्य मात्र का सर्वाधिक व्यापक भाव रति, प्रेम की ही अनन्य दशा है । डॉ० दीनदयालु गुप्त का मत है "कि लोक में प्रेम के जितने भिन्न-भिन्न सम्बन्ध हो सकते हैं, उन सबको भक्तों ने लोक से हटाकर ईश्वर के साथ जोड़ा है, यहाँ तक कि ऐन्द्रिय विषयों में अनुरक्त लोगों को संसार--विषय से छुटाने के लिये भक्ति-शास्त्र के आचार्यों ने ईश्वर को ही उनकी विषय-तृप्ति का साधन बताया है । लौकिक भक्ति अथवा व्यक्ति के संसर्ग से जो आनन्द हमारी इन्द्रियाँ तथा मन लेते हैं उसका मूल और सत्य स्रोत परमात्मा में है । कृष्ण-भक्तों की आँखें लोक-रूप को छोड़ साकार भगवान की रूप-माधुरी से, कान लोक विषयक स्वर को छोड़ कृष्ण के मुरलीनाद से, जिह्वा उनके अधरामृत में, त्वचा उनके आनन्दकारी स्पर्श से तथा मन उसके साथ रमण से तृप्ति लाभ करते हैं[4] ।"

इस तरह से प्रेमाभक्ति में लौकिक प्रेम का उदात्तीकरण हो जाता है । वात्सल्य, सख्य, दास्य आदि इतर सम्बन्धों की अपेक्षा प्रेम-भाव का मधुरतम और गूढ़ सम्बन्ध कान्ताभाव या दाम्पत्य रति में पाया जाता है । मीरां की भक्ति-भावना प्रेममूला थी ।

---

१. डाकोर की प्रति, पद १
२. "असवां जड़ सींच-सींच प्रेम बेड़ बूयां ।
दध मथ घृत काढ़ लयां डार दयां छूयां ।"—डाकोर की प्रति, पद १ ।
३. शाण्डिल्य भक्ति सूत्र, प्रथम आह्निक, सूत्र २ ।
४. अष्टछाप और बल्लभ—सम्प्रदाय—डॉ० दीनदयालु गुप्त, पृष्ठ ६२१ ।

मीरा आश्रय थी। उनके 'जन्म-जन्म के भरतार', 'प्रीतम', पिव', 'पिया', 'मोर मुकुट मकराकृत कुण्डल धारी', भगवान कृष्ण थे, जो उनकी भक्ति के आलम्बन थे। मीरां और कृष्ण के बीच जो भावनात्मक सम्बन्ध था, वही मीरां की प्रेमाभक्ति थीं। मीरां के ही शब्दों में उनकी प्रेमाभक्ति का स्वरूप देखिये—

"माई सांवरे रंग रांची।
साज शिगार बांध पग घूंघर, ळोक ळाज तज णाची।
गयां कुमत ळयां साधां शंगत, स्याम प्रति जग शांची।
गायां गायां हरि गुण णिस दिण काळ व्याळ री बाँची।
स्याम बिणा जग खारां लागां जग री बातां कांची।
मीरां सिरी गिरधर नटनागर, भगत रसीळी जांची[1]।"

मीरा ने कृष्ण के अनन्य प्रेम में लोक-लाज का परित्याग कर दिया था। वे श्रृंगार सज, पैरों में घुंघरू बाँध गिरिधर के समक्ष नृत्य करती थीं। उन्होंने दुर्बुद्धि को छोड़, साधु-संतों से सत्संग कर संसार में कृष्ण के प्रेम को ही एक मात्र सत्य माना था, तथा 'निस-दिन' हरि-गुण-गान करते हुये काल-व्याल से अपनी रक्षा की थी। 'स्याम' के बिना उन्हें संसार 'खारा' लगता था, क्योंकि वे संसार की बातों (लौकिक कर्मकाण्ड और सांसारिक सम्बन्ध तथा क्रियाकलापों) को अपरिपक्व मानती थीं। उन्होंने श्री 'गिरधर नटनागर' से रसीली भक्ति प्रदान करने की याचना की थी। इससे पता चलता है मीरा ने अपनी भक्ति के आलम्बन भगवान कृष्ण से 'रसीली भक्ति' अर्थात् 'मधुरा भक्ति' पाने की कामना की थी। प्रेमपरकभक्ति भाव के ही कारण वे दाम्पत्य-भाव से प्रेरित हो केवल कृष्ण-प्रेम के पंथ का ही अनुसरण करती थीं। उन्हीं के शब्दों में—

"प्रेम भगति रो पैंडा म्हारो, और णा जाणाँ रीत[2]।"

एक बार प्रेम के पंथ पर पैर बढ़ाने के बाद प्रेम-पंथानुगामिनी मीरां ने प्रायः सभी सच्चे प्रेम-पथिकों की तरह प्रेम-मार्ग की कठिनाइयों का डटकर मुकाबला किया। अपने प्रेम-पंथ के कटु अनुभव की चर्चा करते हुये उन्होंने कहा—

"पग बाँध घुँघरया णाच्या री।
लोग कह्यां मीरा बावरी, शाशू कह्या कुळ नाशां री।

---

१. काशी की प्रति, पद ८३।
२. डाकोर की प्रति, पद ६।

बिखरो प्यालो राणा भेज्यां, पीवां मीरां हांशां री।
तण मण वार्या हरि चरणा मा दरसण अमरित पाश्यॉं री।
मीरा रे प्रभु गिरधर नागर, थारी शरणं आश्याँ री[१] ।'

लोक-निंदा और पारिवारिक प्रताड़नाओं के होते हुये भी मीरां सत्प्रेमिका की भाँति अपने आराध्य को रिझा उससे अपनी 'प्रीत पुरातन' की याचना करती रही—

"म्हाँ गिरधर आगाँ नाच्याँ री ।
णाच णाच म्हा रसिक रिझावाँ प्रति पुरातन जाँच्याँ री[२] ।"

इस पुरातन प्रेम ने ही मीरां को 'प्रेमबावरी' बना दिया और वे आजीवन अपने 'सांवलिया वर' को पाने के लिये कठिन प्रेम-साधना करती रहीं । "मीरां गिरधर प्रेम बावरी, सांवळया वर पाणा"[३] से मीरा के इसी उदात्त परमात्म-प्रेम-भाव का पता चलता है ।

प्रेमाभक्ति और आसक्तियाँ

"सा त्वस्मिन् परम प्रेम रूपा"[४] घोषित करने वाले महर्षि नारद ने भक्ति की विशद व्याख्या के उपरांत उसके सम्बन्ध में लिखा है कि—

"गुणमाहात्म्यासक्तिरूपासक्ति पूजासक्तिस्मरणासक्तिदास्यासक्तिसख्यासक्ति-कान्तासक्तिवात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदनासक्तितन्मयतासक्तिपरमविरहासक्तिरूपा एक-धाप्येका दशधाभवति[५] ।"

अर्थात् वह प्रेमरूपा भक्ति एक होकर भी—(१) गुणमाहात्म्यासक्ति, (२) रूपासक्ति, (३) पूजासक्ति, (४) स्मरणासक्ति, (५) दास्यासक्ति, (६) सख्यासक्ति, (७) कान्तासक्ति, (८) वात्सल्यासक्ति, (९) आत्मनिवेदनासक्ति, (१०) तन्मयता-सक्ति और परमविरहासक्ति—इस प्रकार से ११ प्रकार की होती है ।

श्री परशुराम जी चतुर्वेदी ने नारद-भक्ति-सूत्र की ग्यारह आसक्तियों और श्रीमद्भागवत की नवधा भक्ति में कोई विशेष अन्तर नहीं माना । उनका मत है कि

---

१. डाकोर की प्रति, पद ४७ ।

२. वही, पद ५९ ।

३. वही, पद ६१ ।

४. नारद-भक्ति-सूत्र, क्रमांक २ ।

५. वही, सूत्र, ८२ ।

"नारद की 'स्मरणासक्ति,' 'दास्यासक्ति' एवं 'सख्यासक्ति' ठीक श्रीमद्भागवत के क्रमशः 'स्मरण,' 'दास्य' एवं 'सख्य' का अनुसरण करती जान पड़ती हैं। इनकी 'पूजासक्ति' के अन्तर्गत उसके 'पाद-सेवन,' 'अर्चन' एवं 'वन्दन' का समावेश किया जा सकता है। यदि इनकी 'गुणमाहात्यम्यासक्ति' के साथ इनकी 'रूपासक्ति का भी सम्बन्ध जोड़ा जा सके तो इसमें उसके 'श्रवण' एवं 'कीर्तन' दोनों को ही अन्तर्भुक्त कर दिया जा सकता है। इसी प्रकार यदि इसकी 'आत्मनिवेदनासक्ति,' 'तन्मयतासक्ति,' 'कांतासक्ति, "वात्सल्यासक्ति' एवं 'परमविरहासक्ति' को भी एक साथ ले लिया जा सके, तो ये भी उसके 'आत्म-निवेदन' के अन्तर्गत समाविष्ट हो जा सकती हैं और इस प्रकार उपर्युक्त दोनों तालिकाओं वाले नामों के मूल में कोई विशिष्ट अंतर नहीं आ सकता[१]।"

प्रेम आसक्ति से शुरू होता है। प्रिय के शील, शक्ति, सौन्दर्य, गुण आदि के प्रति शारीरिक, मानसिक, और आत्मिक विमल सराहनाजन्य आकर्षण ही प्रेम का रूप ले लेता है। मीरां की प्रेममूला भक्ति में प्रेम-सम्बन्धी लगभग सभी आसक्तियाँ (वात्सल्यासक्ति को छोड़कर) इस प्रकार पाई जाती है--

१. गुणमाहात्म्यासक्ति :

मीरां के आराध्य प्रभु अनन्त गुणवान हैं। वे कृपानिधान हैं, शरणागत-रक्षक हैं। उन्होंने अपराधी अजामिल तथा नीच सदना नाई का उद्धार किया था, डूबते हुये गजेन्द्र की रक्षा की थी, और (तोते को शिक्षा देने वाली) गणिका को मोक्ष प्रदान किया था। सुजान संतों ने उनके द्वारा तारे गये अनेक अधमों का बखान किया है। कुब्जा और भीलनी (शबरी) के उद्धार की कथाओं को सारा संसार जानता है। उनकी विरुदा-वली गाते-गाते वेद और पुराण थक गये हैं। वे अनन्त गुणों की राशि हैं, जिनकी गणना संभव नहीं है[२]। उनके श्री चरणों की महिमा अपार है। वे 'सुभगसीतल कंवल कोमल जगत ज्वाला हरण' हैं। उन चरणों के स्पर्श से प्रहलाद को इन्द्र-पदवी प्राप्त हुई थी और ध्रुव को अटल पद प्राप्त हुआ था[३]। उनके नाम के प्रभाव से पानी पर पत्थर तैर गये थे[४]। कौरवों की सभा में आर्त्तक्रंदन को सुनकर मीरां के प्रभु 'गिरधर

---

१. भक्ति-साहित्य में मधुरोपासना—श्री परशुराम चतुर्वेदी, पृष्ठ ३।

२. डाकोर की प्रति, पद ३१।

३. डाकोर की प्रति, पद १४।

४. डाकोर की प्रति पद २५।

नागर' ने द्रोपदी की लज्जा रखी थी[१] । मीरां के हरि संतों को सुख देने वाले, भक्तवत्सल गोपाल हैं[२] । उनके गुण और माहात्म्य अवर्णनीय हैं ।

२. रूपासक्ति

प्रेमाभक्ति का आधार सगुण साकार ब्रह्म ही हो सकता है । जो निराकार है, निर्गुण है, मन, वाणी और इन्द्रियों के सामर्थय से परे है, अगम, अगोचर, अनिर्वचनीय, अनादि, अनंत असीम, अविकल्प, अज्ञातस्वरूप है, उसके प्रति प्रेम कैसे हो सकता है ? जिसे हम देख नहीं सकते, पा नही सकते, उससे हम प्रेम भी नहीं कर सकते । इस दृष्टि से कबीर आदि निर्गुण संतों का प्रेम रुपक मात्र है, आध्यात्मिक जगत की कल्पना भर है, वह अनुभूति गम्य स्वरूपात्मक सत्य नहीं है अपितु रहस्यानुभूति की स्वीकृति का ज्ञापनमात्र है ।

मीरां के उपास्य देव सगुण, साकार कृष्ण थे, जिनकी रूपमाधुरी पर मीरां का मन लुभा गया था । उन्होंने कहा है कि—मैं अपने गृह में खड़ी थी । उसी समय अपने चन्द्रवदन की आभा बिखेरते हुये तथा मन्द-मन्द मुस्काते हुये मोहन मेरे घर के सामने आ निकले । मैंने बड़ी व्याकुलता से ललक-ललकारा उनके रोम-रोम नख-शिख सौन्दर्य को देखा । मेरी लोभी आँखें उनकी मादक रूप-माधुरी में अटक गई और फिर लौटकर नहीं आई अर्थात् मैं निर्निमेष नेत्रों से उन्हें देखती रही—देखती रही । कुटुम्बियों ने मुझे मना किया, बुरे-भले 'बोल' सुनाये पर मेरे चंचल नेत्रों ने किसी का भी कहना नहीं माना । वे पराये हाथों बिक गये । अर्थात् मेरे नेत्र भगवान कृष्ण के रूप-सौंन्दर्य के बेमोल गुलाम हो गये[३] । जिस दिन से मीरां ने कृष्ण को देखा, उसी क्षण से वे उन्हें पल भर भी नहीं भूल सकीं । 'सांवला मोहन' उनके मन में बस गया और उन्हें अपने तन मन की सुधि नहीं रही फलतः मीरां के जीवन में कृष्ण के रूप-सौंन्दर्य-दर्शन की पिपासा कभी भी शांत नहीं हुई । अपने प्रिय की एक झलक के लिये लोक-लाज और कुल-मर्यादा को छोड़ मीरां गली-गली की खाक छानकर थक गई, किन्तु फिर भी कृष्ण की रूप-रस-माधुरी से उनकी तृप्ति नहीं हुई[४] ।

इसी तरह से डाकोर की प्रति के पद क्रमांक ३,४,५ में क्रमशः मोहन, बाँके-बिहारी जी तथा मदनमोहन के प्रति मीरां की रूपासक्ति व्यक्त हुई है । रूपासक्ति का

---

१. डाकोर की प्रति, पद ४२ ।

२. डाकोर की प्रति, पद ४६ ।

३. काशी की प्रति, पद ८७ ।

४. काशी की प्रति, पद ८८ ।

ही यह परिणाम हुआ था कि मीरां के प्राण साँवरे में अटक गये थे । प्रिय के रूप-प्रेरित प्रेम का संकेत करते हुये उन्होंने अपनी 'आली' से कहा

> आळी री म्हारे णेणा बाण पड़ी ।
> चित्त चढ़ी म्हारे माधुरी मूरत हिबड़ा अणी गड़ी ।
> अटक्यां प्राण साँवरों प्यारो, जीवण मूर जड़ी ।
> मीराँ गिरधर हाथ विकाणी, लोग कहाँ बिगड़ी ।[१]

३. पूजासक्ति

पूजासक्ति में अर्चन, सेवन और वन्दन सम्मिलित हैं । मीरां भगवान के श्री चरणों का स्पर्श करती थीं[२] । मंदिर में जाकर प्रभु के दर्शन करतीं, चरणामृत लेतीं, गोविन्द के गुण-गातीं, मंदिर में नृत्य करतीं और प्रभु के गुण गा-गाकर सुख पाती थीं[३] । वे थाल में छप्पन भोग, छत्तीसों व्यंजन और राजभोग तैयार कर 'गिरधर' को अर्पित करती थीं[४], और अपने 'अधम उचारण भव-भय-तारण' हरि की असीम भक्तवत्सल्ता और सहज कृपालुता की कीर्ति-गाथायें गाती थी[५] ।

४. स्मरणासक्ति

मन ही मन ईश्वर का नाम लेना स्मरण है । कंठ और वाणी के संयोग से धीरे-धीरे भगवान नाम लेना जप है, और वाणी द्वारा स्पष्टतः जोर-जोर से गाना भजन या कीर्तन है । स्मरणासक्ति के अन्तर्गत मीरां स्मरण, जप और कीर्तन, तीनों ही करती थीं । उन्होंने स्वीकारा है कि, मेरा मन साँवरे का नाम रटता रहता है । साँवरे का नाम जपने से सांसारिक प्राणियों के कोटि-कोटि पाप नष्ट हो जाते हैं और जन्म-जन्मों के पाप-कर्मो का लेखा मिट जाता है[६] । मीरां अपने मन को भजन करने के लिये प्रबोधती थीं कि हे मन ? अविनाशी प्रभु के चरण कमलों का भजन करो[७] । भगवद्-भक्ति के क्षेत्र में प्रभु के नाम, रूप, गुण और ऐश्वर्य या विभूति, कीर्तन के सामान्य

---

१. डाकोर की प्रति, पद १५ ।
२. डाकोर की प्रति, पद १४ ।
३. काशी की प्रति, पद १०१ ।
४. काशी की प्रति, पद ८२ ।
५. डाकोर की प्रति, पद, ३४ ।
६. डाकोर की प्रति, पद ५८ ।
७. डाकोर की प्रति, पद २ ।

विषय हैं। गुण माहात्म्यासक्ति और रूपासक्ति ही नहीं, मीरां की सभी आसक्तियों के द्योतक पद कीर्तन प्रधान हैं, जिन्हें मीरां ने साधु-सन्तों के समक्ष गाया था।

५. दास्यासक्ति

मीरां की कृष्ण विषयक दास्यासक्ति सेवक-सेव्य भाव की नहीं है। वह उनकी कान्तासक्ति का तो एक अंग है। मीरां ने अनेक स्थलों पर अपना परिचय 'दासी' या 'चेरी' कहकर दिया है। यथा—

"मीराँ दासी गिरधर नागर, चेरी चरण धरी री[१]।"
"मीराँ दाशी जणम जणम री[२] ......"
या "मीराँ हरि रे हाथ बिकाणी, जणम जणम री दाशी[३]।"

जन्म-जन्म की दासी के नाते से मीरां कृष्ण से निवेदन करती हैं कि 'हे गिरिधारी लाला! मुझे चाकर रख लो। मैं चाकर रहकर तुम्हारे लिये बाग लगाऊँगी। नित्य उठकर तुम्हारे दर्शन करूँगी। वृन्दावन की कुंज गलियों में तुम्हारी लीला गाऊँगी। 'चाकरी' में दर्शन और 'खरची' के लिये 'सुमरन' पाऊँगी। मुझे तुम्हारी चाकरी से भक्ति-भाव की जागीर मिलेगी। मैं तुम्हारे लिये कुंज और बारी सजाऊँगी और कुसुम्भी साड़ी पहनकर नित्यप्रति तुम्हारे दर्शन करूँगी[४]।

६. सख्यासक्ति

लौकिक विकारों से रहित मन और शुद्ध आचरण वाला व्यक्ति ही प्रभु के सख्यभाव को प्राप्त करता है। सख्यभाव का वरण करते ही जीवात्मा का अन्तःकरण स्वर्गीय आनन्द से आर्द्र हो जाता है। वह पाप नहीं करता, प्रत्युत पवित्र, त्यागी एवं ज्ञान से प्रदीप्त हो उठता है। अर्जुन कृष्ण के ऐसे सखा थे, किन्तु मीरां की सख्यासक्ति दाम्पत्य भाव समश्रित 'जन्म-जन्म के साथी' के रूप में हैं। वे कहती हैं कि मेरे प्रभु अविनाशी हरि, अपने भक्तों के मित्र हैं[५]। वे मीरां के जन्म-जन्म के सच्चे साथी

---

१. काशी की प्रति, पद ७३।

२. काशी की प्रति, पद ८०।

३. काशी की प्रति, पद ८६।

४. डाकोर की प्रति, पद ३५।

५. डाकोर की प्रति, पद ६।

हैं[१] । मीरां का जीवन और मरण उन्हीं के हाथों में है । वही उनकी पीड़ा को समझते हैं[२] । उन्होंने उस लौकिक पति का वरण नहीं किया, जो जन्म लेकर मर जाता है, वरन अपने जन्म-जन्म के साथी साँवरे कृष्ण को अपने जीवन सखा के-अपने साजन के-रूप में अंगीकृत किया, जिससे उनका चूड़ा (सुहाग) अमर हो सके[३] । इसीलिये मीरां कृष्ण को जीवन-साथी बना स्वयं अमर वधू बन गईं ।

७. कान्तासक्ति

कृष्ण भक्ति-परम्परा में कांतासक्ति अत्यन्त महत्वपूर्ण भक्ति-भावना है। गोपी, राधा और मीरां आदि सभी ने कृष्ण के प्रति इसी आसक्ति का विशेष रूप से परिचय दिया है । प्राचीनतम साहित्य की दृष्टि से ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों में भी कान्तासक्ति के प्रमाण हैं । यथा—

'अच्छा म इन्द्रं मतयः स्वर्विदः सध्रीचीर्विश्वा उषतीरनूषत ।
परिष्वजन्ते जनयो यथा पतिं मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये[४] ॥''

अर्थात् सुख का ज्ञान रखने वाली, एक ही मार्ग में बढ़ने वाली, प्रभु-प्राप्ति की कामना से संयुक्त मेरी समस्त बुद्धियाँ आज प्रभु की सेवा में लगी हुई हैं, और जैसे स्त्रियाँ अपने पति का आलिंगन करती हैं वैसे ही मेरी बुद्धियाँ स्वरक्षा के लिये ऐश्वर्यशाली पवित्र प्रभु का आलिंगन कर रही हैं ।

'सनायुवो नमसा नव्यो अर्कैं वसूयवो मतयो दस्म दद्रुः ।
पतिं न पत्नीरुशती रुशन्तं स्पृशन्ति त्वा शवसावन्मनीषाः[५] ॥''

—हे दर्शनीय देव । सनातनत्व की अभिलाषिणी और तुम्हारे अन्दर बस जाने की कामना करने वाली मेरी बुद्धियाँ नवीन स्तोत्रों और नमन के द्वारा तुम्हारी ओर दौड़ रहीं हैं । हे सर्वशक्ति सम्पन्न प्रभु ! ये बुद्धियाँ तुम्हारा वैसा ही स्पर्श करना चाहती हैं, जैसे कामनाशील पत्नी कामना-युक्त पति का स्पर्श करती हैं ।

सर्व विदित है कि मीरां कृष्ण को अपने पति-रूप में वर चुकीं थीं। स्वप्न में ही दीनानाथ से उनका परिणय हो चुका था । स्वप्न में छप्पन करोड़ बरातियों के

---

१. डाकोर की प्रति, पद ६ ।
२. काशी की प्रति, पद ८१ ।
३. काशी की प्रति, पद ८६ ।
४. ऋग्वेद, १०।४३।१ ।
५. ऋग्वेद, १।६२।११ ।

साथ दूलह के रूप में आकर श्री ब्रजनाथ ने मीरां का हाथ पकड़ा था और उन्हें अचल सुहाग प्रदान किया था। पूर्व जन्म के शुभकर्म और सौभाग्य से मीरां को उनके 'गिरिधर' पति के रूप में मिल गये थे[१]।

मीरां अपने इन्हीं पति से मिलने के लिये विकल थीं। मीरां का सम्पूर्ण-विरह-काव्य कान्तासक्ति की वियोग-दशा का द्योतक और सम्पूर्ण मिलन-काव्य कान्तासक्ति की संयोगात्मक स्थिति का परिचायक है। कान्तासक्ति के विरह-विदग्ध प्राणों की पुकार को वाणी देते हुये मीरां कहती हैं कि मुझसे पिया (प्रियतम कृष्ण) के बिना नहीं रहा जाता। मैंने अपना तन, मन और जीवन अपने प्रियतम पर न्यौछावर कर दिया है। मैं दिन-रात उनकी प्रतीक्षा करती रहती हूँ। मैं कब उनके दर्शन पाऊँगी ? कब मेरे प्रभु आकर मुझे अपने कण्ठ से लगायेंगे ?[२]

बदलों से झड़ी लग गई है। काली-पीली घटायें उमड़ आई हैं और चार घड़ी बरसात भी हो गई है। जिधर देखो उधर पानी ही पानी दिखाई देता है। प्यासी धरती हरी हो गई है, (किन्तु मेरे मन की प्यास नहीं बुझी !) मेरा प्रियतम परदेश में बसा है। मैं उसकी प्रतीक्षा में द्वार पर खड़ी-खड़ी भींग रही हूँ। हे प्रभु ! हे अविनाशी हरि !! तुम मेरी प्रीति को सत्य प्रमाणित करना।[३]

मीरां की यह कान्तासक्ति स्वकिया भाव की है। इसमें परकिया भाव के लिये कोई स्थान नहीं है। तत्वतः मीरां अपने आपको 'जणम जणम री क्वारी'[४] मानती थीं। कृष्ण से उनका परिणय स्वप्न में हुआ था। उनके पति 'ब्रजबनिताओं के कन्त'[५] भी थे, किन्तु मीरां का उनसे जो सम्बन्ध था, उसमें जार भाव, या परकीया भाव कहीं नहीं पाया जाता। कृष्ण से मिलते समय भी मीरां यही कहती है कि––जोशी को लाख-लाख बधाइयाँ, जिसके ज्योतिष की सूचना के अनुसार मेरे कृष्ण मेरे घर आये हैं। मेरा मन आनन्द और उमंग से भरा है। मेरे जीव को सुख प्राप्ति हुई है। पाँच सखी (जीवात्मा की पाँच सहेलियाँ कदाचित पंच-तत्व हैं जिनसे यह शरीर बना है अथवा पंच प्राण) मिलकर प्रियतम को रिझा रही हैं, और सर्वत्र आनन्द ही आनन्द फैला हुआ है। आज मेरे समस्त मनोरथ, सम्पूर्ण कामनाएँ सुफल हो गये। 'पिया'

---

१. डाकोर की प्रति, पद ३६।
२. डाकोर की प्रति, पद १७।
३. डाकोर की प्रति, पद १६।
४. काशी की प्रति, पद १०२।
५. डाकोर की प्रति, पद ३२।

को देखते ही मैं अपने दुख को भूल गई हूँ। मेरे सुखसागर स्वामी श्याम आज मेरे भवन पधारे हैं[1]।

इसी तरह से मीरां के काव्य में अनेक पद कान्तासक्ति के सरस और स्वाभाविक विवरणों से परिपूर्ण हैं।

८. वात्सल्यासक्ति

मीरां की भक्ति-भावना कान्तासक्ति की थी। इसलिये उन्होंने सर्वत्र कृष्ण का स्मरण 'पति' के ही रूप में किया है। यशोदा, नन्द आदि की भगवान कृष्ण के प्रति जो वात्सल्यासक्ति थी, उसका भाव मीरा के काव्य में कहीं नहीं पाया जाता।

९. आत्मनिवेदनासक्ति

सांसारिक क्लेशों और भव-बन्धनों से आबद्ध तथा सन्तप्त आत्मा, आत्म-निवेदन द्वारा ईश्वर से अपने उद्धार के लिये पुकार करती है। भक्त की यह पुकार ही भक्ति-भाव की भव्य भूमिका है। संसार के सभी सन्तों और भक्तों की साधना-पद्धतियों में प्रायः आत्म-निवेदन की भूमिका पाई जाती है। वैष्णव आचार्यों के मत से आत्म-निवेदन या प्रपत्ति (शरणागति) छः भागों में विभाजित है। यथा—

"अनुकूलस्य संकल्पः प्रतिकूलस्यवर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा ॥२८॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ॥२९॥[2]

अर्थात् अनुकूल का संकल्प, प्रतिकूल का त्याग, गोप्तृत्व-वरण, रक्षा का विश्वास, आत्म-निक्षेप और कार्पण्य आत्म-निवेदन के छः अंग हैं।

(क) अनुकूल का संकल्प :—प्रभु की प्राप्ति के लिये जो साधन अनुकूल पड़ते हैं, उन्हें अपनाने का शुभ-संकल्प ही 'अनुकूल का संकल्प' है। मीरां कहती हैं कि मैं सगे-सम्बन्धियों के मना करने पर भी नहीं रह सकती। मुझे साधुओं की संगति में हरि-सुख प्राप्त होता है। इसलिये मैं संसार से दूर रहती हूँ। चाहे मेरा शरीर और धन चला जाये, मेरा सिर उतार लिया जाय तो भी मैं कृष्ण-प्रेम और साधु-समागम को नहीं छोड़ूंगी। मेरा मन 'गिरधारी' से लगा है, अतः मैं संसार के बोल सहती

---

१. डाकोर की प्रति, पद ४४।

२. अहिर्बुध्न्य संहिता, ३७।२८।२९।

हूँ। मीरां ने अपने अविनाशी प्रभु श्री हरि की शरण गही है[1]। कितनी ही विपरीत परिस्थिति क्यों न हो, सच्चा भक्त भगवानानुकूल संकल्प नहीं छोड़ता। मीरां के समस्त जीवन-संघर्ष में 'अनुकूल का संकल्प' है।

(ख) प्रतिकूल का त्याग :--प्रभु-प्राप्ति के बाधक तत्वों का परित्याग ही 'प्रतिकूल का त्याग' है। मीरां अपने 'रसिक प्रियतम' को रिझाने के लिये 'गिरधर' के समक्ष 'स्याम प्रीति' के घुँघरू बाँधकर नृत्य करती थीं। इस नृत्य को करते समय सांसारिक बाधक तत्व 'लोक, लाज, कुल की मर्यादा' को उन्होंने त्याग दिया था[2]। भक्ति मार्ग के अवरोधक भाई, बन्धु और सगे-सम्बन्धियों को छोड़ दिया था[3]। राणा के रुठने पर उन्होंने 'नागरी' (मेवाड़) का भी परित्याग कर दिया था[4]। तथा साँवरिया से प्रीति करने के लिये वे 'औरों' से परांगमुख हो गई थी[5]।

(ग) गौप्तृत्व-वरण :--प्रभु को त्राता मानकर उसका रक्षक के रूप में वरण करना ही 'गोप्तृत्व वरण' है। मीरां ने सुना था कि उनके हरि अधम-उद्धारक, भव-भय-तारण हैं। वे भक्तों के कष्ट-निवारण करते हैं। वे डूबते हुये गजेन्द्र की पुकार सुनकर दौड़े थे। उन्होंने द्रौपदी का चीर बढ़ाकर दुःशासन का गर्व हरा था। प्रह्लाद भक्त की प्रतिज्ञा को रखने के लिये हिरण्यकश्यप का उदर विदीर्ण किया था। अपने बारे में भी मीरां कहती हैं कि-हे प्रभु ? मेरी भी प्रार्थना सुनो। मेरे लिये इतना-विलम्ब क्यों ?[6] हे गोवर्द्धन गिरधारी ? तुम्हारे बिना मेरी कौन खबर लेगा[7] !

(घ) रक्षा का विश्वास :—प्रभु की शरण जाते ही भक्त के मन में 'रक्षा का विश्वास' पैदा होता है, और उसकी यह मान्यता हो जाती है कि सांसारिक प्रताड़नाओं और लौकिक क्लेशों से प्रभु अवश्य उसकी रक्षा करेंगे। रक्षा का यह विश्वास भक्तों की आत्मशक्ति को सबल बनाता है और उसे भक्ति-पथ के अनुसरण में दृढ़ संकल्प करता है। भक्ति-पथगामिनी मीरां जब अपने पैरों में घुँघरु बाँधकर हरि-मंदिर में नृत्य करने लगी, तब लोगों ने उसे 'बावरी' और 'सास ने 'कुलनाशी'

---

१. डाकोर की प्रति, पद ६०।
२. वही, पद ५६।
३. वही, पद १।
४. वही, पद ६१।
५. काशी की प्रति, पद ६१।
६. डाकोर की प्रति, पद ३४।
७. डाकोर की प्रति, पद ४२।

कहा । राणा विक्रमादित्य ने उसके लिए विष का प्याला भेजा और अपने प्रभु 'की रक्षा में विश्वास' होने के कारण मीरा उस हलाहल को हँसते-हँसते पी गई[१] ।

(ङ.) आत्मनिक्षेप:—सर्वात्मना अपने आपको भगवान के हाथों में सौंपना 'आत्म निक्षेप' है । 'म्हारा री गिरधर गोपाल दूसरां णाकूयों[२] कहकर मीरा ने अपने आपको सर्वात्माभावेन कृष्णार्पण कर आत्मनिक्षेप का परिचय दिया था और उन्होंने प्रार्थना की थी कि हे प्रभु । अब तो आपने बाँह गहे की लाज रखो । हे गिरिधारी । तुम अशरण-शरण कहे जाते हो । पतितों का उद्धार करना ही आपका विरुद् है । मैं भवसागर की मँझधार में डूब रही हूँ और तुम्हरे सहारे के विना मेरा बड़ा अनर्थ हो रहा है । तुमने अनेक युगों में अनेकानेक भक्तों के दुखों का निवारण कर उन्हें मोक्ष प्रदान किया है । मैंने तुम्हारे चरणों की शरण गही है । हे महाराज । मेरी लाज रखो[3] ।

इस तरह से मीरा ने कृष्ण के प्रति अपने सर्वात्म भावेन समर्पण और आत्म-निक्षेप को व्यक्त किया है ।

(च) कर्पण्य:—कार्पण्य का अर्थ है भक्त का दैन्य-भाव, जिसे वह विवश और कातर अवस्था में प्रभु के समक्ष प्रकट करता है । कार्पण्य की अभिव्यंजना द्वारा भक्त प्रभु से उसकी कृपा और औदार्य की याचना करता है ताकि वह अपनी वर्तमान दुखद स्थिति से मुक्त हो प्रभु का दर्शन, सान्निध्य और शरण पा जाय । मीरां भी अपनी दैन्यावस्था का वर्णन अपनी सहेली से करते हुए कहती हैं कि-हे माँ । मैं हरि के बिना क्यों और कैसे जी सकती हूँ श्याम के बिना मैं बावली हो गई हूँ । उनके विरह में मैं भीतर ही घुल रही हूँ, जैसे घुन लकड़ी को खा रहा है मैं प्रेम की वेदना से पीड़ित हूँ । मुझपर जड़ी बूटियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता । जिस तरह से जल के बिना मछली तड़प-तड़प कर मर जाती है, वैसे ही श्याम के बिना मैं व्याकुल होकर तड़प रही हूँ । श्याम की मुरली की धुन सुनकर मैं उन्हें वन-वन ढूँढती फिर रही हूँ । हे प्रभु । गिरधर लाल !! मुझसे शीघ्र आकर मिलो[४] । हे श्याम । मेरी बाँह गहो । मैं भवसागर की मँझधार में डूब रही हूँ ।अब तुम्हारी शरण हूँ । मेरे अवगुणों का

१. डाकोर की प्रति, पद ४७ ।

२. वही, पद १ ।

३. वही, पद ६८ ।

४. वही, पद ४० ।

बार-पार नहीं है । तुम्हारे बिना उन्हें और कौन सहेगा ? हे प्रभु । हे अविनाशी !! हे हरि !! अपने विरुद् की लज्जा रखो[1] । 'हे प्रभु ! तुम्हीं मेरे जीवन-प्राण, अधार हो ! तीनों लोकों में तुम्हारे बिना मेरा और कोई नहीं है । मैंने सारे संसार को देख लिया है । मुझे तुम्हारे बिना यह संसार नहीं सुहाता । हे प्रभु । मैं तुम्हारी दासी हूँ । जरा मुझपर भी दया-दृष्टि करो[2] ।

१०. तन्मयता सक्ति :

भक्ति-भाव की प्रौढ़ दशा में जब भक्त उठते-बैठते, सोते-जागते हर क्षण केवल भगवान का ही स्मरण और ध्यान किया करता है और उसका मन भगवान के रूप, गुण, लीला आदि के ध्यान में प्रतिपल तल्लीन रहता है तब तन्मयतासक्ति की दशा होती है । भगवान के ध्यान में तन्मय होते ही भक्त सारे संसार को तो भूल ही जाता है, साथ ही उसे अपना भी ध्यान नहीं रहता । वह आत्मविभोर हो, आत्मविस्मृत हो जाता है । यही तन्मयतासक्ति की पराकाष्ठा है । मीरा कहती हैं कि हे कृष्ण ! मैं तुम्हारे रूप को देखकर लुभा गई हूँ, आश्चर्य-चकित हो स्तंभित सी तुम्हें देख रही हूँ । कुल-कुटुम्ब के सज्जनों ने मुझे बार-बार हटकी, किन्तु मैं मोर मुकुट धारण करने वाले नटनागर को नहीं भूल सकती । मैं हमेशा उसी के ध्यान में मग्न रहती हूँ और लोग कहते हैं कि मैं भटक गई हूँ[3] । 'गिरिधर की साँवरी सूरत मेरे मन में बस गई है । मैं दिन-रात उसी की मोहनी मूर्ति का ध्यान किया करती हूँ[4] । (परम प्रेम के कारण) 'मैं साँवरे के रंग में रंग गई हूँ और अपना श्रृंगार सजाकर, पैरों में घुँघरू बाँध, लोक-लाज त्याग कृष्ण के सामने नाचती हूँ[5] ।

११. परम विरहासक्ति :

परम विरहासक्ति पुनीत प्रेम-साधना की पवित्र आत्मा है और उसका शाश्वत श्रृंगार भी । इसीलिये संसार का समस्त श्रेष्ठ काव्य विरही-प्राणों की दारुण व्यथा और अन्तर्पीड़ा की कचोट से पैदा हुआ है । विरह-विदग्ध प्रेमी के प्रत्येक अश्रु बिन्दु में अमर काव्य के सृजन की शक्ति है, इसीलिये सरस काव्य का प्रत्येक पद आँसुओं से भींगकर कागज पर उतरता है, सिसकियों से सजकर वाणी का श्रृंगार बनता है और

---

१. डाकोर की प्रति पद २२ ।
२. वही, पद १२ ।
३. वही, पद ६३ ।
४. काशी की प्रति, पद ७७ ।
५. वही, पद ८३ ।

आत्मक्रन्दन के रूप में संगीत को मधुरिमा प्रदान करता है । मीरा का काव्य यहीं से प्रारम्भ होता है । उन्होंने अपने जीवन में अश्रु-जल से सींच-सींचकर प्रेम-बेलि बोई थी[१] । साँवरे ने उन्हें अपने प्रेम के वाणों से घायल कर दिया था । फलतः उनके हृदय में प्रेमाग्नि प्रज्वलित हो उठी थी और उनका शरीर व्याकुल हो गया था । प्रेम-पाश-बद्ध उनका चंचल चित्त इधर-उधर चलायमान नहीं होता था । वे बिल्कुल विवश हो गई थीं । उनकी आँखों से अश्रु झरते रहते थे और अपने प्रभु के वियोग में उनके प्राण बड़े अधीर थे ।[२]

अधीर प्राणों की उद्विग्नता से वे अपने प्रभु को ढूँढती और पुकारती थीं—हे प्रभु जी ! तुम प्रीति लगाकर कहाँ चले गये ? हे विश्वासघाती ! तुमने मेरे हृदय में प्रेम की ज्योति जलाकर मुझे क्यों छोड़ दिया ? नेह की नाव में बैठाकर तुम मुझे विरह के समुद्र में क्यों छोड़ गये ? हे प्रभु ! तुम कब मिलोगे ? तुम्हारे बिना मुझसे नहीं रहा जाता ।[३] हे मोहना जी ! आओ ! मैं तुम्हारी बाट जोह रही हूँ । तुम्हारे बिना मुझे खाना-पीना बिल्कुल नहीं सुहाता । (तुम्हारे शुभागमन के लिये मन-मन्दिर के) कपाट (नेत्र) खुले हुए हैं । तुम्हारे आये बिना मुझे सुख नहीं मिल सकता । मेरा मन बहुत 'उचाट' हो गया है । मैं तुम्हारे बिना (तुम्हारे ही प्रेम-प्रदत्त-विरह से) पागल हो गई हूँ । मुझे इस तरह से बेसहारा मत छोड़ो ।[४]

हे प्रभु । तुम्हारे दर्शन के बिना मेरी आँखें दुखी हैं, पीड़ित हैं । तुम्हारे मधुर वचनों की स्मृति से मेरे हृदय में कम्पन पैदा हो रहा है । मैं अपनी विरह-व्यथा किससे कहूँ । जी चाहता है, 'करवत' ले लूँ । मुझे चैन नहीं पड़ती । मैं बड़ी उद्विग्नता से तुम्हारी ही राह देख रही हूँ । हाय ! वियोग की यह रात 'छमासी' हो गई है । हे प्रभु जी ! तुमसे बिछुड़ने के कारण में कलप रही हूँ । मेरा सुख-चैन सब चला गया है । हे दुःखनाशक, सुखदायक प्रभु ! तुम कब मिलोगे ।[५] तुम्हारे दर्शन के बिना मुझे न घर सुहाता है, न नींद आती है । मैं घायल सी घूम रही हूँ । मेरी वेदना को कोई नहीं जानता । तुम्हारे विरह में घुल-घुलकर मैंने अपने प्राण गवाँ दिये हैं और रो-रोकर

---

१. डाकोर की प्रति, पद १ ।

२. वही, पद ६ ।

३. वही, पद ११ ।

४. वही, पद १६ ।

५. वही, पद २० ।

आँखें खो दी हैं ।[१] हे भुवनपति ! घर आओ ! विरह-विदग्ध जीवन और व्यथित प्राणों की ज्वाला को शान्त करो । मैं रो-रोकर सारी रात बिताती हूँ । भूख गई, नींद गई, पर मेरे पापी प्राण नहीं जाते । हाय । मैं बिरह में मर क्यों नहीं जाती ।[२]

हे माई ! हरि मेरी बात तक नहीं पूछते । उनकी उपेक्षा से दुखी मेरे पापी प्राण इस शरीर में से क्यों नहीं निकल जाते ?............सावन आ गया । घनघोर रात छा गई । मेघों की सघन घटाओं के बीच बिजली चमक रही है। (ऐसी भयावनी रात में) स्याम के लिये, 'ललकते-ललकते' मेरा जीवन जा रहा है ।[३]

मीरां का यह विरह उनकी अन्तर्पीड़ा से ओत-प्रोत है पर प्रेमी की आहें व्यर्थ नहीं जाती । उनके अश्रु धूल-धूसरित होने से पूर्व अपने आराध्य के अन्तर को पिघला देते हैं । मीरां के प्रभु भी मीरा की करुण पुकार सुन दयार्द्र हो गये । वे मीरा के आँगन में पधारे, किन्तु हाय रे दुर्भाग्य ! उसी क्षण निगोड़ी नींद आ गई और अभागन मीरां सो गई । प्रभु आये, और आकर चले गये । मीरां की वर्षों की मर्मवेधी साधना, हृदय-द्रावक तपस्या अपनी 'सिद्धि' के क्षणों में भंग हो गई । मधुर मिलन का चिरप्रतीक्षित अवसर हाथ से निकल गया । मीरा दुःख और वेदना से आक्रान्त हो गई । बोली—हाय ! मैंने यह भी नहीं जाना कि प्रभु म मिलने की विधि कैसी है ? प्यारे मेरे आँगन में आये और आकर चले गये । मैंने जाना—मैंने उन्हें खो दिया । जिनकी प्रतीक्षा करते-करते मैंने अनेक दिन और रातें बिताई थीं, वे प्रभु मेरे आँगन में पधारे और मैं सो गई । आह ! विरहानल से मेरा हृदय जला जा रहा है । अब तो रोने पर भी चैन नहीं पड़ती ।[४]

हे श्यामसुन्दर । मैंने तुमपर अपने प्राण न्यौछावर कर दिये हैं । तुम्हारे ही कारण मैंने लोक, लाज, कुल-मर्यादा, सगे-संबंधी और संसार सबको त्याग दिया है । तुम्हें देखे बिना मुझे चैन नहीं पड़ती और मेरी आँखों से निरन्तर आँसू बहा रहे हैं ।[५] हे साँवरे ! मेरी प्रीति को निबाहो । मेरे प्रभु ! तुम गुणों के सागर हो । मेरे अवगुणों को बिसरा दो ।............मैं तुम्हारी जन्म-जन्म की दासी हूँ । मेरे आँगन में आओ ।

---

१. डाकोर की प्रति पद २१ ।

२. वही, पद २३ ।

३. वही, पद २४ ।

४. वही, पद २६ ।

५. वही, पद २७ ।

हे गिरिधर नागर ! मेरा बेड़ा पार लगा दो ।[1] हे हरि । तुम अधमोद्धारक और भव-भय भंजन हारे हो । तुमने गजेन्द्र, द्रौपदी और प्रहलाद को उबारा है । हे स्वामी ! मेरी प्रार्थना सुनो । मेरे लिए ही इतना विलम्ब क्यों ?[2]

किन्तु, मीरां के प्रभु नहीं आये । इसी समय विरहोन्मत मीरां से पपीहा न जाने कब के बैर का बदला लेने के लिये 'पिउ-पिउ' पुकारने लगा । जिस 'पिउ' की स्मृति और विरह-जन्य पीड़ा से मीरां का हृदय छलनी-छलनी हो गया था, पपीहा उसे ही कुरेदने लगा । मीरां ने कहा—हे पपीहे ! तू मुझसे अपना कबका बैर निकाल रहा है ? मैं अपने भवन में सोती (कदाचित् शैया पर बेकली से तड़पती हुई लेटी) थी कि तू 'पिउ-पिउ' पुकारने लगा । हे पपीहे तू क्यों जले पर नमक लगाता है ? कलेजे पर करवत चलाता है ?[3]

इसी समय मीरां की सहेलियाँ आ गई और उन्होंने मीरां को 'सीख' दी, किन्तु संसार के सभी महान प्रेमियों की तरह मीरां पर उन सहेलियों की 'सीख' का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा । परमवियोगी सदा आत्मलीन रहता है, वह अपनी पीड़ा, अपनी करुणा, और अपनी ही कल्पना में खोया रहता है । दुनियाँ से उसे कोई लगाव नहीं । यदि कोई उसे शिक्षा दे, तो वह शिक्षा भी व्यर्थ है । विरही किसी के उपदेश नहीं सुनता, किसी की नहीं मानता । अस्तु, मीरां अपनी सखी से अपनी विरहदशा का वर्णन करते हुए कहती हैं कि हे सखी ! मेरी नींद का नाश हो गया है । प्रियतम का रास्ता देखते-देखते सारी रात बीत गई है । सब सखियों ने मिलकर मुझे 'सीख' दी, किन्तु मन एक नहीं मानता । स्याम को देखे बिना मुझे चैन नहीं पड़ती । हे सखी, तुम मन में 'रोस मत ठानों, क्रोध मत करो । मैं शरीर से क्षीण हो गई हूँ, मुख से 'पिव-पिव' पुकार रही हूँ । मेरी अन्तर्वेदना को, मेरी विरह-बेकली को कोई नहीं जानता । जैसे चातक मेघों की और मछली (पानी से बाहर निकाली हुई) पानी की रट लगाती है, उसी तरह से कृष्ण से बिछुड़ी व्याकुल मीरां अपनी सुध-बुध बिसार बैठी है ।[4] हे सखी । देख तो सही । हरि ने अपना हृदय कठोर कर लिया है । वे मुझसे आने का 'कौल' (करार) कर गये थे, किन्तु आज तक नहीं आये । कहीं वे मुझे 'बिसर' तो

---

१. डाकोर की प्रति पद २८ ।

२. वही, पद ३४ ।

३. वही, पद ३८ ।

४. वही, पद ३९ ।

नहीं गये ? हे सखी ! प्रभु गिरिधर नागर के बिना मेरा हृदय फटा जाता है ।[1] हे गोवर्धन-गिरिधारी । तुम्हारे बिना मेरी खबर कौन लेगा ?[2] हे मेरे जन्म-जन्म के साथी । मैं तुम्हें दिन-रात नहीं भूलती । तुम्हारे दर्शन के अभाव में मुझपर जो बीतती है, उसे मेरा दिल ही जानता है । मैं ऊँची-ऊँची (अटारियों पर) चढ़कर तुम्हारा पंथ निहारती हूँ । कलपते-कलपते मेरी आँखें लाल हो गई हैं ।[3]

ऐसी विरह दशा में डूबते को तिनके का सहारा मिला । जोशी ने मीरां को बतलाया कि उनके 'श्याम' आने वाले हैं । मीरां का मन आनंद और उमंग से भर गया और उनके जीव (प्राण) को सुख प्राप्त हुआ । पंचतत्व समन्वित शरीर में व्याप्त पंचप्राणों ने मिलकर प्रियतम को रिझाया और सर्वत्र आनंद ही आनंद फैल गया । मीरां सोचती है कि 'मैं अपने प्रिय को देखकर अपने सुदीर्घ विरह के दुख को भूल जाउँगी । मिलन का एक क्षण दीर्घ कालीन विरह-वेदना को मिटा देगा । मेरे मनोरथ पूरे हो जायेंगे ।'[4]

मिलन की आशा में मीरा फूली न समाई । उनके अन्तर का उल्लास जड़-चेतन पर बिखर गया । उमंग-भरे मन से वे अपनी सखी से बोलीं—सुना री ! मेरे हरि आज आयेंगे । हे सजनी । चल महल पर चढ़कर देखें, कि 'महाराज' कब आयेंगे ? दादुर, मोर और पपीहा बोल रहे हैं । कोयल मधुर तान (साज) छेड़ रही है । उमड़ते हुये बादल चारों दिशाओं में बरस रहें हैं, और दामिनी लज्जा छोड़कर उनकी गोद में क्रीड़ा कर रही है । 'श्याम' से मिलने के लिये धरती नये-नये रूप धारण कर रही है । हे प्रभु गिरिधर नागर ! आओ, और आकर मुझसे शीघ्र मिलो । हे नन्दलाल (अपनी समस्त रूपमाधुरी सहित) मेरी आँखों में बस जाओ ।[5]

मिलन की उत्कंठा में हर्ष-विभोर मीरां पैरों में घुँघरू बाँधकर नाचने लगी । लोगों ने उसे 'बावली' कहा और सास ने उसे 'कुलनाशी' कहकर तिरस्कृत किया ।[6] राणा उसके कृष्ण-प्रेम को नहीं पहचान सका । उसने मीरां को 'मदण-बावरी' समझकर विष का प्याला भेजा, किन्तु सच्चा प्रेमी प्राणों के मूल्य पर भी अपने प्रेमपंथ से विचलित

---

१. डाकोर की प्रति, पद ४२ ।
२. वही, पद ४२ ।
३. वही, पद ४३ ।
४. वही, पद ४४ ।
५. वही, पद ४६ ।
६. वही, पद ४७ ।

नहीं होता। मीरा हँसते-हँसते हलाहल पी गई।[1] प्रेम की अग्नि-परीक्षा में 'कंचन' दमक उठा। मीरा का प्रेम शुद्धतम हो गया।

फिर बादल घिर आये। काली-पीली घटायें उमड़ने लगीं और चार घड़ी पानी बरसा। सर्वत्र पानी हो गया। प्यासी भूमि हरी हो गई। मीरां के प्रिय 'परदेस' में बसे थे, अतः वे उनकी प्रतीक्षा करती हुई द्वार पर खड़ी-खड़ी भींगती रहीं।[2] उन्होंने बादल से कहा—हे बादल ! तुम जल भरे हुए आना और आकर झर-झर बूँदे बरसाना देखो ! मेरे प्रियतम आने वाले हैं। हे कोयल ! जब मेरे प्रिय आयें तो तू अपनी मधुर तान छेड़ना। हे शीतल, मंद, सुगन्धयुक्त पवन ! तुम गाजे-बाजे से आना अर्थात् तुम जोर-शोर से बहना। हे बादलो ! तुम आकाश में छा जाना। मेरे प्रियतम घर आयेंगे। मैं उनके लिये सेज सँवारुँगी। हे सखियों। तुम मंगल-गान गाना।[3] बरसात में चिरप्रतीक्षित प्रिय से मेरा मिलन होगा।

मीरा के ये उद्वेलित भाव विरह के शृंगार हैं, प्रेम की सम्पत्ति हैं, मधुर रस के अक्षय कोष हैं, प्रेममय नारी-हृदय की समस्त आशा-आकांक्षाओं के, मिलन और समर्पण के ज्वलंत प्रमाण हैं।

मीरां अपने भवन में दरवाजे पर खड़ी-खड़ी अपने परदेसी प्रिय की प्रतीक्षा करती थी, किन्तु वह निर्मोही नहीं आया। वायदा करके भूल गया। इधर प्रिय-वियोग से विकल-विदग्ध प्राणों में विरहानल सुलगाये मीरां तड़प-तड़प कर मरी जाती थी। सगे-सम्बन्धी उसे और भी कष्ट देते थे, अतः मीरां राजमहल के प्राचीरों के घेरे से बाहर प्रिय की खोज में उनके पथ का अनुसरण करती हुई निकल पड़ी और वृन्दावन की कुंज गलियों में अपने 'साँवरिया' को ढूँढने लगी।[4] उनका विश्वास था कि भक्त-जन संसार से विरक्त होकर ही प्रभु का परिचय पाते हैं और प्रभु उनके मनोरथ पूरे करते हैं।[5] अतः मीरा ने अपने भाई-बन्धु, सगे-सम्बन्धी, राजमहल, राणा और राज-परिवार सबको त्याग दिया। वे अपने प्रभु की खोज में वृन्दावन की कुंजों में भटकने लगी। रत्नाभूषणों को छोड़ भगवा वस्त्र धारण कर लिया और फिर अपने प्रियतम को चारों दिशाओं में (चारों देशों में) ढूँढा। इस खोज में भी विरह ने उनका साथ

---

१. डाकोर की प्रति पद ४८।
२. वही, पद ४६।
३. वही, पद ५२।
४. वही, पद ५७।
५. वही, पद ६४।

नहीं छोड़ा । गिरिधर नागर ने फिर भी उनकी पीड़ा को नहीं पहचाना । अन्ततः मीरां यह कहने के लिये विवश हो गई कि 'मछली तड़प-तड़प कर अपने प्राण त्याग देती है, किन्तु पानी उसकी पीड़ा को नहीं जानता । पतंगा जल-जलकर खाक हो जाता है, किन्तु दीपक उसकी पीड़ा को नहीं जानता' ।[1] इसी तरह मीरां के प्रिय भी मीरां की वेदना को नहीं जानते ।

फिर बड़े आर्त्त-स्वर में उन्होंने अपने प्रियतम से कहा—हे मुरारी । अब क्यों तरसाते हो ? तुम्हारे कारण मैंने कुल सम्बन्धी और सारा संसार छोड़ दिया है, अब तुम मुझे क्यों बिसार रहे हो ? हृदय में विरह-व्यथा सुलग रही है । तुम्हारे आये बिना वह नहीं बुझेगी । हे मुरारी ! अब मुझे इस तरह छोड़ देने से कार्य नहीं चल सकता । मैंने तुम्हारी शरण गही है । मैं तुम्हारी बलिहारी जाती हूँ । मैं तुम्हारी जन्म-जन्म की दासी हूँ । अपने भक्तों का विरुद निबाहो ।[2] तुम्हारे बिना मुझे सारी रात नींद नहीं आती । सोचती हूँ—कैसे सबेरा हो ? मैं सपने में भी तुम्हें देखकर चौंक उठती हूँ । मुझसे तुम्हारी याद नहीं भुलाई जाती । तड़पते-तड़पते प्राण निकले जा रहे हैं । दीनानाथ, तुम न जाने कब मिलोगे ?[3]

हे प्यारे ! आकर दर्शन दो । अब तो तुम्हारे बिना नहीं रहा जाता ।····बड़ी व्याकुलता से तड़पते-तड़पते मैं रात बिताती हूँ । विरह मेरे कलेजे को खाये जा रहा है ।····हे अन्तर्यामी ! आओ और आकर मिलो । मैं तुम्हारी जन्म-जन्म की दासी हूँ और केवल तुमसे ही नेह लगाये बैठी हूँ ।[4]

एक दिन बड़ी बेबसी में मीरां ने सुना कि उसके हरि आने वाले हैं, किन्तु वे अपने हरि और उनके वायदे को जानती थीं । उन्होंने कहा कि हरि नहीं आते । वे केवल प्रतीक्षा कराते रहते हैं । उन्हें तो ललचाने की आदत पड़ गई है । क्या करूँ ? आँखें मेरा कहना नहीं मानती । रात-रात भर आँसू बरसाती रहती हैं । मेरा तो कुछ बस नहीं चलता । काश ! मेरे पंख होते ? तो मैं अपने प्रिय के पास उड़कर चली जाती ।[5] हे सखी । सारी दुनियाँ सो रही है । केवल मैं बैठी-बैठी जाग रही हूँ । मैं विरहिन हूँ, रंगमहल में बैठी-बैठी आँसुओं की लड़ियाँ पिरो रही हूँ । तारे गिन-गिनकर

---

१. काशी की प्रति, पद ७८ ।
२. वही, पद ८० ।
३. वही, पद ८१ ।
४. वही, पद ९० ।
५. वही, पद ९२ ।

रात बिता रही हूँ और आने वाली सुख की घड़ी की प्रतीक्षा कर रही हूँ। हे सखी! यह विछोह बड़ा बुरा है। दुनियाँ में किसी का भी मिलन के बाद विछोह न हो।[1] मीरां का वियोग यहाँ वैयक्तिकता से ऊपर उठ सार्वजनीन अनुभूति को वाणी दे गया है। मीरां के काव्य में उनका सनातन विरह नित्य संवर्धनशील रूप में हमारे सामने आया है। अपनी सखी से वे पूछती हैं कि हे सखी। मेरा प्रियतम मुझे कब मिलेगा? कब मैं उसके सुन्दर चेहरे को जी भरकर देखूँगी।

हे गिरिधर नागर! तुम्हारे बिना मैंने बहुत संताप सहे हैं। अब मेरे प्राण अधीर हो गये हैं। शीघ्र ही मेरी पीड़ा हरो।[2] हे साँवरे! मैं तुम्हारे रंग में रँगी गई हूँ। श्याम (के आगमन) का संदेशा मुझे आता हुआ नहीं दिखता। विरह सहते-सहते मेरी जीवन ज्योति बुझी जाती है। मैं दिन-रात महल की अटारी पर चढ़-चढ़कर तुम्हारा पंथ देखती हूँ। किन्तु तुम्हारे आने के कोई लक्षण नहीं दिखते। विरह से मेरी छाती फटी जाती है।[3] मुझे तो गिरधर नागर के श्री चरणों की लगन लगी है। उनके दर्शन के बिना मुझे कुछ नहीं सुहाता। भवसागर का भय, संसार और कुल के बन्धन सभी मैंने श्री हरि के चरणों में डाल दिये हैं और अपने मन में उनकी शरण-प्राप्ति की आशा सँजोई है।[4]

ऐसे अवसर पर होली आ गई। सब तरफ रँग-रेलियों की मस्ती बिखर गई, किन्तु 'पिया' बिन मीरा को होली 'खारी' लगती है। उनके लिये सब तरफ सूना-सूना सा नजर आता है। उन्हें लगता है गाँव सूना है, देश सूना है, सेज और अटारी सब सूने है। 'पीव' अपनी 'पियारी' को छोड़कर चले जो गये हैं। प्रिय के बिना 'दुखमारी' बिरहिन सूनी-सूनी सी डोल रही है। प्रतीक्षा की घड़ियाँ गिनते-गिनते उसकी अँगुलियों की रेखायें घिस गई, किन्तु मुरारी नहीं आये। सब तरफ वसन्तोत्सव मनाया जा रहा है। झाँझ, मृदंग, मुरली और इकतौरे बाज रहे हैं। प्रियतम घर नहीं आये। इसलिये मीरां की वेदना बहुत अधिक बढ़ गई है।[5]

किन्तु मीरां की यह विरह-साधना व्यर्थ नहीं गई। चरमसिद्धि के क्षणों में मीरां का सुदीर्घ विरह अनन्त मिलन में परिणत हो गया। मीरां के कृष्ण आये और

---

१. काशी की प्रति, पद ९६।
२. वही, पद ९७।
३. वही, पद ९८।
४. वही, पद ९९।
५. वही, पद १०२।

आकर उनकी आँखों में बस गये । फिर वे मीरा के हृदयस्थ हो गये और मीरा पल-पल उनके दर्शन पाने लगीं । 'स्याम' से मिलने के लिये उन्होंने अपना श्रृंगार सजाया और चिरन्तन सुख की सेज पर अपने हृदयस्थ कृष्ण को साथ ले वे चिरनिद्राधीन हो गई ।[1] इस तरह से मीरां के काव्य में उनकी विरहासक्ति का सविस्तार वर्णन है ।

मीरां की विरह-साधना :

मीरां की प्रेम-साधना गुण माहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, आत्मनिवेदना सक्ति, तन्मयतासक्ति से आगे परम विरहासक्ति तक व्याप्त है । प्रेम ही उनके विरह का मूल स्रोत है । मीरां का लगभग सम्पूर्ण काव्य इसी विरह-वेदना से परिपूर्ण है । उसमें मीरां के अतीन्द्रिय अलौकिक जगत की विरह-ज्वाल जल रही है, प्रेम में हारे, लुटे, टूटे, मन की अमर गाथा समाई है । प्रिय-दर्शन की तीव्र लालसा, मिलन की प्रबल आकांक्षा, वियोग के दहकते हुए दब का दाह, प्रिय की प्राप्ति में अपने 'निजत्व' को खो देने की अतुल आकांक्षा और अन्ततः विरह में ही अपने आपको खो देने की चाह मीरां की विरह-साधना के ज्वलन्त प्रमाण हैं । उनकी विरह-साधना जन्म-जन्म की बिछुड़ी हुई आत्मा की आराध्य के प्रति प्रगाढ़ अनुरक्ति और दर्द भरी बेकली की विरह-साधना है, जिसमें उनके 'नारीत्व' ने बड़ी सहजता, प्रामाणिकता और तल्लीनता ला दी है । उनकी वेदना में आद्यन्त प्रतीक्षा और विरह की वह आँख-मिचौनी है, जो उन्हें कभी भी चैन नहीं लेने देती । उनकी सम्पूर्ण विरह-साधना में स्वकीया का आत्म-समर्पण और एक परिपक्व एवं विश्वासपूर्ण आत्मदान पाया जाता है । विरह में घुल-मिलकर, प्रतीक्षा में पच-पचकर मरने के बाद भी मीरां में तन्मयता, प्रेम-विह्वलता और प्रेम-चिंतन के अतिरिक्त सुख-भोग की कोई कामना नहीं दिखाई देती । प्रिय को अपने आपको सौंप देना ही उनकी विरह-साधना का लक्ष्य है । उनके विरह के पीछे उपभोग नहीं, त्याग है, अर्जन नहीं, समर्पण है, अतः उनकी उदात्त वेदना में पार्थिव संवेदनों की खोज करना व्यर्थ है । वहाँ तो सब अपार्थिव है, अलौकिक है, दिव्य और भव्य है ।

मीरां की माधुरी-भक्ति :

मीरां की माधुरी भक्ति उनकी कान्तासक्ति पर आधारित है । उन्होंने अपने आराध्य गिरधर नागर को आजीवन पति रूप में स्वीकार किया तथा अपने आपको कृष्ण की जन्म-जन्म की दासी मानकर उन्हें अपना 'भुवनपति', 'स्वामी', 'भो-भो रो भरतार', 'जणम-जणम रो साथी' कहकर स्मरण किया है, अतः मीरां का माधुर्य-भाव स्वकीया-प्रेम का द्योतक है । उसमें परकीया भाव नहीं है । परकीया भाव में जहाँ

---

१. काशी की प्रति, पद १०२ ।

'मान' आदि की संभावना और 'दूती' आदि अन्य साधनों की आवश्यकता होती है, वैसी स्थिति मीरां के प्रेम में नहीं है । सभी जानते हैं कि दीनानाथ से मीरां का परिणय हो चुका था और वे उनकी चिरसंगिनी बन गई थीं । ऐसी स्थिति में मीरां ने सर्वात्म-भावेन एकनिष्ठता से अपने आत्मनिवेदन और आत्मसमर्पण द्वारा कृष्ण के प्रति अपने मधुर सम्बन्ध या दाम्पत्य-सम्बन्ध का, आजीवन निर्वाह किया । इसी माधुरी भक्ति को द्योतित करने के कारण ही मीरां का काव्य मधुर-रस का अक्षय महोदधि है ।

मीरा के काव्य में आत्मा-परमात्मा-सम्बन्ध पत्नी-पति भाव में व्यक्त हुए हैं। इसीलिये उनके काव्य में प्रिय-प्रेयसि के मिलन और विरह का क्षेत्र अत्यन्त आन्तरिक है । वहाँ मिलन के उल्लास की जो किरणें बिखरती हैं, वे अन्तर्जगत से छन-छनकर आती हैं और जो विरह की तड़पन, बेकली और विवशता है, वह आत्मा की सम्पूर्ण वियोग-दशा का रस-निचोड़कर अपने साथ लिये आती है । मीरां के काव्य में इसी माधुर्य-पूर्ण विरह-मिलन की मार्मिक व्यंजना है ।

अष्टछाप के कवि या सखी-सम्प्रदाय के अनुयायियों की सी दिन-रात, आठों पहर एक-सी ही मधुर नारी भावना लेकर प्रिय के पास जमे रहने की कामना मीरां में नहीं है । अन्य मधुरोपासकों की तरह मीरां केवल अपने प्रिय की रूपमाधुरी में ही निरन्तर लीन नहीं रहती और न उनके प्रति मीरा वैधी-भक्ति या मर्यादा-भक्ति के अनुसार यम-नियम, शम-दम आदि की चर्चा करती हैं । वे कृष्ण की कुंजलीलाओं का यशोगान भी नहीं गातीं । वे कृष्ण को न केवल पति रूप में ही देखती हैं और न उन्हें मात्र लीलाविहारी ही मानती हैं, अपितु उन्हें दुष्ट-दलन हारे, भक्त-वत्सल, दीन-हीत-कारी, शरणागत-रक्षक रूप में भी हमारे सामने प्रस्तुत करती हैं ।

तात्विक दृष्टि से वैधी भक्ति शास्त्रोक्त पद्धतियों का अनुसरण करती है, किन्तु धर्म-शास्त्र नारी के लिये वैधी-भक्ति अवैध मानते हैं । मीरां भी वैधी भक्ति के प्रति आकृष्ट नहीं दिखती । यों, उनके जीवन में सदाचार पर अधिक बल दिया गया है । वे वैष्णवों की भाँति मंदिरों में जाती थीं । कृष्ण के समक्ष अपने मधुर आध्यात्म सम्बन्धों को आत्मनिवेदन और विरह-वेदना के रूप में व्यक्त करती थीं । वे संसार की नश्वरता, लौकिक सम्बन्धों की क्षण-भंगुरता, प्रारब्ध का चक्र और कर्मो की गति पर भी आस्था रखतीं थीं । वार्ता-साहित्य से प्राप्त प्रमाणों के अनुसार वे साम्प्रदायिकता से परे सभी साधु-सन्तों और भक्त-जनों का आतिथ्य सत्कार एवं सेवा करती थीं। उन्होंने भक्ति-पथ के पाँच घातक तत्वों पर विजय पा ली थी । काम, क्रोध, मद, लोभ और अहंकार उनके सौजन्य और सद्भाव के समक्ष सदा के लिये नतमस्तक हो गये थे, अतः बल्लभ सम्प्रदाय के रामदासजी कीर्तनियाँ द्वारा अपशब्दों का प्रयोग करने पर

भी वे उनके प्रति उदार रहीं । पुष्टि-मार्ग में प्रविष्ट होने की अपेक्षा वे अपनी माधुरी-भक्ति में ही तल्लीन रहीं । तात्विक दृष्टि से उनकी माधुरी-भक्ति में माधुरी-भक्ति के चारों रूप विद्यमान हैं—

एश्वर्य-माधुरी

मीरा की प्रेमाभक्ति में 'गुण माहात्म्यासक्ति' मीरा की आराध्य-विषयक ऐश्वर्य-माधुरी की दिग्दर्शिका है, जिसमें उन्होंने अपने आराध्य की अलौकिक शक्ति-सम्पन्नता, भक्त-वत्सलता तथा भगवदीय ऐश्वर्य और महान-वैभव की गाथा गाई है ।

क्रीड़ा-माधुरी

बालकृष्ण के उपासक भक्त कवियों की भाँति मीरां ने अपने आराध्य की क्रीड़ा-माधुरी का वर्णन, नहीं किया है, और न भगवान कृष्ण के प्रति गोप-ग्वालों की सी सख्य-भक्ति का ही वर्णन अपने पदों में किया है । केवल काली नाग-नाथन लीला में उन्होंने आंशिक रूप से भगवान कृष्ण की लीला-माधुरी (और प्रमुख रूप से ऐश्वर्य-माधुरी) का परिचय दिया है । मीरां के आराध्य बालकृष्ण नहीं, किशोर और विशेष-कर युवा श्रीकृष्ण थे । वे मीरां के पति थे और कोई भी पत्नी अपने पति की क्रीड़ाओं का वर्णन नहीं करती । इसीलिये मीरां का काव्य क्रीड़ा-माधुरी से प्रायः विहीन है ।

वेणु-माधुरी

मीरां के काव्य में कृष्ण के वंशीवादन के अनेक प्रसंग हैं । उन्हीं के शब्दों में उनके आराध्य मोर-मुकुट मकराकृत कुंडल और पीताम्बरधारी हैं । उनके हाथों में मुरली सुशोभित है । वे यमुना के तट पर बलराम के साथ क्रीड़ायें करते हुए वंशी बजाते हैं । उनकी वंशी-धुन सुन मीरां अपना गृह-व्यवहार भूल गईं और मुरली ने मीरां के मन को हर लिया था । मीरां के पदों में कृष्ण की मुरली और उसका प्रभाव ही 'वेणु-माधुरी' के आधार हैं ।

विग्रह-माधुरी

वृन्दावन के मदनगोपाल, मदनमोहन और बाँकेबिहारी जी तथा द्वारका के रणछोड़ जी के विग्रह-दर्शन मीरा ने किये थे और उन विग्रहों की रूप-माधुरी का वर्णन भी उन्होंने अपने पदों में किया है, जिसका विवरण प्रस्तुत प्रबन्ध के पाँचवें अध्याय में विस्तार सहित दिया गया है ।

इस तरह से मीरां के काव्य में दाम्पत्य भाव की माधुरी के अतिरिक्त कृष्ण की ऐश्वर्य, वेणु और विग्रह-माधुरी की छटा भी पाई जाती है ।

मीरां की भक्ति-साधना और उसके उपकरण

मीरा के काव्य में नवधाभक्ति, प्रेमाभक्ति, माधुरी-भक्ति और उनके समस्त उपकरण उपलब्ध हैं। उनकी भक्ति-साधना में मधुर रस के प्यासे पुरुष भक्तों का-सा आरोपित नारीत्व नहीं, अपितु स्वयं सिद्ध नारीत्व है, जो उनकी अपनी विशिष्ट सम्पत्ति है। इसीलिये माधुरी भक्ति के मूल तत्व दाम्पत्य-रति भाव का जितना सुन्दर चित्रण मीरां के काव्य में हुआ है, उतना अन्य भक्त कवियों के काव्य में मुश्किल से पाया जाता है। यही कारण है कि 'मीरां का काव्य माध्यम का अपवारण कर अपने आराध्य से प्रत्यक्ष सम्बन्ध जोड़ता है और उसमें मीरा का कृष्ण-प्रेम यत्र-तत्र-सर्वत्र पाया है। तत्वतः मीरां के काव्य में 'कवि' की 'काव्य-साधना' की अपेक्षा 'भक्त-आत्मा' की 'भक्ति-साधना' के स्वर अधिक प्रबल हैं।

मीरां की कायिक, वाचिक और मानसी भक्ति और उनके प्रकार

मीरां के जीवन और काव्य तथा तत्सम्बन्धी सम्पूर्ण साहित्य को देखते हुए उनकी भक्ति-साधना में कायिक, वाचिक और मानसी भक्ति के भी अनेक उपकरण प्राप्त हो जाते हैं। मन्दिरों में जाना, देव-प्रतिमाओं के दर्शन करना, धूप-दीप जलाकर देवता की पूजा करना, अर्ध्य देना, प्रतिमा की परिक्रमा करना, नृत्य-प्रणाम आदि क्रियाओं द्वारा आराध्य के प्रति अपनी श्रद्धा-भक्ति प्रदर्शित करना, झाँझ, मृदंग, इकतार, करताल आदि वाद्य बजाना, आरती उतारना, भोग लगाना आदि भक्ति के कायिक उपकरण हैं।

हरि-नाम-जप, कीर्तन, भजन और भगवद्चर्चा करना तथा हरि के रूप, गुण, शील, सौन्दर्य, भक्तों के प्रति वात्सल्य, उदारता, कृपालुता आदि गुणों का वर्णन करना और अपने दैन्य, दुख, पाप, आत्मनिवेदन व प्रभु के प्रति प्रेम-भाव को वाणी द्वारा व्यक्त करना वाचिक भक्ति के उपकरण हैं।

ईश्वर का निरन्तर ध्यान और स्मरण करना, उनकी प्राप्ति के लिये व्याकुल हृदय से उद्विग्न रहना तथा अपने आत्मोद्धार की कामना और प्रभु-कृपा-प्राप्ति का निरन्तर चिन्तन करना मानसी-भक्ति के उपकरण हैं।

इस तरह से मीरां की जीवन-व्यापी भक्ति-साधना में उक्त सभी कायिक, वाचिक, और मानसी उपकरण विद्यमान हैं। उपरोक्त तथ्यों के आधार पर मीरां के समस्त जीवन व्यापी संघर्षों और कार्यकलापों की पृष्ठभूमि में एक महान भक्त आत्मा की दिव्य भक्ति-साधना का मूल्य और महत्व प्रतिपादित होता है।

—:०:—

अध्याय–५

मूल पदों के आधार पर मीरां के काव्य का वस्तुमूलक और भावमूलक अध्ययन

मीरां के मूल पद

'मीरां की प्रामाणिक पदावली' पुस्तक में मीरां की मूल पदावलीके प्रत्येक शब्द का ३७५ वर्षों में होने वाला ऐतिहासिक क्रम-विकास स्वतंत्र रूप से निरूपति किया गया है, जिसके फलस्वरूप भाषावाद और साम्प्रदायिकता के धूमिल कुहासे को तिरोहित कर मीरां के प्रामाणिक व्यक्तित्व के सभी पहलू और उनके अधिकृत वक्तव्य उपलब्ध हो गये हैं। और यह सिद्ध हो गया है कि मीरां के मूल पद, माधुर्य-भावपूर्ण, सगुण कृष्ण-भक्ति-भावना से ओतप्रोत थे। साथ ही यह भी स्पष्ट हो गया है कि मीरां आत्म जागरूक, व्यक्तिनिष्ठ, स्वकीया, साम्प्रदायिकता-मुक्त, माधुर्य-भाव प्रेरित कृष्णोपासिका, वैष्णव सन्त-शिरोमणि थीं। उनकी मूल पदावली प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में ही उनके श्रीमुख से निःसृत हुई थी, उन्होंने न तो ब्रज भाषा में रचना की थी और न गुजराती में। वे मूलतः आरोपित भाषावाद और तथाकथित साम्प्रदायिक तत्वों के प्रभाव से सर्वथा निर्लिप्त थीं।

यह एक दूसरी बात है कि समय और परिस्थितियों के प्रभाव से मीरां के मूल वक्तव्य की अनुपलब्धि के परिणाम स्वरूप मीरां की मूल काव्य-धारा विभिन्न साम्प्रदायिक तत्वों और आंचलिक भाषाओं में रचे गये मीरां नामधारी पदों के सहज संयोजन से अत्यधिक मटमैली और दूषित हो गई है तथा श्रद्धा मूलक मीरां-भाव के आलेपन से मीरां के मूल व्यक्तित्व और वक्तव्य की वस्तु-स्थिति का निदर्शन, निरूपण और रसास्वादन सर्वथा दुर्लभ हो गया है, किन्तु अब मूल पदों की प्राप्ति, उनके स्वरूप-विकास और प्रामाणीकरण से यह समस्या हल हो गई है, और यह प्रमाणित हो गया है कि मीरां परम वैष्णवी थीं। 'गिरधर नागर' ही उनके प्रियतम थे, स्वामी थे, सर्वस्व थे, और वे उनकी जन्म-जन्म की प्रेयसी, दासी और पत्नी थीं। वे अवतारी जीवात्मा थीं, जिनका सम्पूर्ण प्रेम, सुदीर्घ विरह, क्षणिक मिलन, अपूर्व हर्ष, उद्वेलित उल्लास, भावावेग प्रधान उत्कण्ठा, मर्मस्पर्शिनी करुणा, और विनीत आत्म-निवेदन सभी कुछ आध्यात्मिक भाव-भूमि पर अधिष्ठित थे। 'मीरां की प्रामाणिक पदावली' पुस्तक में सम्पादित पदावली के प्रत्येक पद में उनके दिव्य व्यक्तितत्व की भव्य प्रतिच्छवि प्रतिबिम्बित हो रही

है, अतः ऐसी स्थिति में उनके मूल काव्य का वस्तु-मूलक और भाव-मूलक अध्ययन सुगम हो गया है ।

मीरां के काव्य-विषय

हमारे विनम्र मत से काव्य, अनुभूति-सम्पृक्त आत्मा की सहज अभिव्यक्ति है । काव्य कवि के भाव-जगत का मूर्त प्रतीक है, जिसमें कवि के अन्तर्जगत की सूक्ष्माति-सूक्ष्म भावनायें वाणी और वर्णों के साथ निबद्धित होकर स्थूल जगत में मुखर होने के लिये प्रवेश करती हैं । प्रेषणीयता उसका गुण है और कवि के अन्तःकरण को उद्वेलित करने वाली अनुभूतियों को श्रोता या पाठक के अन्तःकरण में पैदा कर उसे स्वानुरूप आन्दोलित करना उसका प्रमुख ध्येय है । स्वान्तः सुखाय की एकांगिता को 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' की व्यापकता में परिणत करना काव्य का एक प्रमुख कार्य है ।

मीरां के काव्य के सम्बन्ध में हमारा उक्त मन्तव्य सर्वथा सत्य है, क्योंकि मीरां के पद मीरां के अन्तर्जगत के प्रतीक हैं, उनमें सन्निविष्ट मीरां का भाव-प्रवाह प्रत्येक श्रोता और वक्ता को अपने साथ बहा ले जाने की अपूर्व क्षमता रखता है । बौद्धिक कलाबाजी के एकान्तिक अभाव के कारण मीरां के हृदयहारी पद अपने वर्ण्य विषय की स्वाभाविकता से पाठकों को रस-सिक्त करने में अत्यधिक सफल-प्रयोजन हैं । इसमें दो मत नहीं हो सकते ।

मीरां के काव्य-विषयों का वर्गीकरण

मीरां के पदों में भाव-जगत् और वर्ण्य विषयों की ऐसी समरसता है कि उन दोनों का पृथक्-पृथक् विवेचन असंभव है । उनके पदों में भाव अपने वर्ण्य विषयों से इतने तदाकार हो गये हैं कि प्रत्येक भाव एक विशिष्ट वर्ण्य विषय का द्योतक है और प्रत्येक वर्ण्य विषय एक विशिष्ट भाव-धारा से अनुप्राणित है । ऐसी स्थिति में मीरां की सम्पूर्ण पदावली में व्याप्त अन्तःस्रोत का क्रमिक विवेचन ही उनके काव्य-विषयों के वर्गीकरण का आधार माना जा सकता है और इसी आधार पर मीरां के काव्य-विषयों को २६ खण्डों में किया जा सकता है ।

१—जीव, जगत और ब्रह्म-विवेचन ।
२—संत और सत्संगति-माहात्म्य-वर्णन ।
३—लौकिक जीवन और सांसारिक क्लेशों के संकेत ।
४—प्रार्थना और विनय ।
५—नाम-माहात्म्य ।
६—जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों के उल्लेख ।
७—प्रियतम की खोज के प्रयास ।
८—वृन्दावन का प्रकृति-चित्रण ।
९—आराध्य का रूप-वर्णन ।
१०—मीरां द्वारा देखी गई मूर्तियों का वर्णन ।
११—आराध्य का गुण-वर्णन ।
१२—लीला-वर्णन ।

१३–अभिलाषा ।	२०–मनोराज्य ।
१४–होली ।	२१–आजन्म विरह ।
१५–वर्षा ।	२२–उपासना-पद्धति का स्वरूप ।
१६–प्रेमालाप ।	२३–विविध-विधान ।
१७–दर्शनानन्द ।	२४–आराध्य के नाम और मीरां का उनसे सम्बन्ध ।
१८–मुरली ।	२५–मीरां की छाप ।
१९–उपालम्भ ।	२६–मीरां-भाव ।

जीव, जगत और ब्रह्म-विवेचन

जीव, जगत और ब्रह्म-विवेचन प्रायः सभी मध्यकालीन सन्तों का प्रिय विषय रहा है, किन्तु आलम्बन, आश्रय और तद्विषयक सम्बन्ध-सूत्रों की विविधता के कारण सभी सन्तों की मान्यताएँ वैविध्य से परिपूर्ण है। तत्वतः जीव आश्रय है, ब्रह्म आलम्बन है और जीव का ब्रह्म से आभ्यन्तरिक भाव-सूत्र ही भक्ति है। दूसरे शब्दो में जीव की परमात्मा के प्रति अनन्य अनुरक्ति ही भक्ति है, किन्तु उपासनागत भेदों के कारण जीव ज्ञान, भक्ति और कर्म के मार्गो से ब्रह्म की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील है। जीव की ब्रह्मविषयक जिज्ञासा ज्ञान-मार्ग का अनुसरण कर बुद्धि-पक्ष-समर्थित 'सोऽहम' की उपलब्धि के लिये साधनारत रहती है, तो सर्वात्मभावेन सर्वस्व-समर्पण की भावना को लेकर चलने वाली हृदय-पक्ष-प्रधान श्रद्धा-मूला भक्ति जीव और ब्रह्म के नित्य सम्बन्ध को आत्मीयता के सूत्रों में बाँध प्रभु-सानिध्य और परमात्मकृपा-प्राप्ति की पोषक होती है। मीरां की भक्ति ज्ञान-मूला न होकर श्रद्धामूला थी, जिसमें उनकी जीवात्मा, परमात्म तत्व-स्वरूप 'गिरधर नागर' को जन्म-जन्म का साथी मानकर दाम्पत्य-भाव से अनुप्राणित थी। 'गिरधर नागर' ही मीरां के आराध्य थे, 'पीव' थे और उनका ही चिर सान्निध्य पाने के लिये मीरां का 'जीव' व्याकुल था। उसी परम प्रियतम को आत्मसात् करने के लिये मन, वचन और कर्म से मीरां की सभी इन्द्रियाँ, आन्तरिक वृत्तियाँ और आध्यात्मिक चेतना, नश्वर जड़ जगत से परांगमुख हो कृष्णा-भिमुख हो गई थीं।

संसार की नश्वरता और भक्ति के कर्मकाण्डी प्रदर्शन से मीरां भली भाँति अवगत थीं। उनकी धारणा थी कि 'धरती और आकाश के सम्पूर्ण दृश्य-उपादान नश्वर हैं। तीर्थ, व्रत, ज्ञान-चर्चा और 'कासी' जाकर करवत लेने से कोई फायदा नहीं है। इस शरीर का गर्व नहीं करना चाहिये, क्योंकि यह मिट्टी में मिल जाता है। यह संसार चिड़ियों का बाजार है, जो सन्ध्या होते ही उठ जाता है। जोगी बनकर यदि

आत्मोद्धार की युक्ति नहीं जानी, तो घर छोड़कर सन्यास लेने से या भगवा वस्त्र धारण करने से कोई फायदा नहीं है, उल्टे पुनर्जन्म की फाँसी गले में पड़ती है (अर्थात बार-बार जीव को विभिन्न योनियों में जन्म लेना पड़ता है) ।[१]

अतः स्वयं प्रबुद्ध आत्मा के नाते मीरां की मान्यता थी कि 'यह संसार कुबुद्धि का भाण्डार है । सांसारिक लोगों को साधुओं की संगति नहीं भाती । वे साधु-सन्तों की निन्दा करते हैं, और दुनिया भर के कुकर्म करते हैं । ऐसे सांसारिक जीव, सन्त-सत्संगति में भूलकर भी नहीं जाते और मुर्खवत् अपना जीवन व्यर्थ गँवाते हैं । मीरां कहती है कि हे प्रभु ! तुम्हारी शरण में आने पर ही जीव परम पद (मोक्ष) पाता है ।[२]

दृश्य जगत की नश्वरता का उद्‌बोधन ही मीरां के आध्यात्मिक उन्नयन का प्रथम सोपान था, इसीलिये मीरां ने 'भव-सागर में सांसारिक बन्धनों और कुल के नाते रिश्तेदारों को असत्य 'मानकर[३] अपने कहे जाने वाले' भाई-बन्धु और सगे सम्बन्धियों को छोड़ दिया'[४] और 'पूर्व जन्म के चिर संचित पुण्यों को जाग्रत करने के लिये अपने स्थायी आवास (कृष्ण के सान्निध्य से उपलब्ध होने वाले परम पद) को पाने के लिये अपना ध्यान कृष्ण की ओर लगाया । झील, डबरे और गंगा-जमुना से उन्हें परितोष नहीं हुआ, इसलिये वे प्रेम और मधुर रस के महासागर की ओर चल दीं ।[५]

वे जीव की मनुष्य योनि को दुर्लभ साधन-धाम समझती थी, जिसमें मनुष्य की आयु पल-पल बढ़ती जाती है और जीवन क्षण-क्षण घटता जाता है, मृत्यु निकट आती जाती है, जीवन के वृक्ष में मनुष्य योनि के रूप में लगने वाला यह नर देही रूपी पत्ता यदि एक बार टूट कर गिर जाता है, तो वह पुनः उसी डाली में नहीं लगता, इसीलिये मीरां ने, तरण तारण गिरधर लाल' से शीघ्र ही भव सागर से पार उतार देने के लिये प्रार्थना की ।[६]

एक विनीता नारी के रूप में मीरां चिर वियोगिनी जीवात्मा थीं, जो दृश्य जगत के समस्त उपदानों को नश्वर समझ 'गिरधर' के ही रंग में रंग गई थी।

---

१. डाकोर की प्रति, पद २६ ।
२. वही, पद ५५ ।
३. वही, पद ४३ ।
४. वही, पद १ ।
५. वही, पद ६४ ।
६. वही, पद ६७ (ख) ।

आजीवन पचरंग चोला (पंच तत्व-समान्वित भौतिक शरीर) पहनकर वे अपने हृदयस्थ प्राणधन के ध्यान में निमग्न रहीं और अन्ततः अपनी महत् साधना की चरम परणति के क्षण में 'तन गाती' खोलकर अपने 'नट नागर' में लीन हो गई।

सन्त और सत्संगति माहात्म्य-वर्णन

धर्म-साधन-क्षेत्र में संत और उनकी सत्संगति आत्म-ज्योति को प्रदीप्त करने वाली स्वर्गीय स्नेह-धारा है। संतों के साहचर्य से ही जीव की उद्‌बुद्ध चेतना सद्-असद्-विवेक पा, माया-जाल से मुक्त हो भक्ति-पथ में दृढ़ आस्था से गतिशील होती है। सांसारिक प्रपंचों में फँसे हुये जीव भले ही 'साधां जण री निंद्या ठाणां, करम रां कुगत कुमांवा। साध शंगत मां भूळणा जावां, मूरिख जणम गुमावां।'[1] किन्तु आध्यात्मिक पथ के पथिक के लिये सन्त, परमात्व-तत्व के प्रदर्शक, भक्ति-रस के सुधा-सिन्धु और आध्यात्मिक शक्ति को प्रज्वलित करने वाले स्वर्गीय देव-दूत होते हैं।

मीरां ने भी सन्तों के माहात्म्य और सत्संगति के प्रभाव को स्वीकारा है। वे कहती हैं कि, 'मना करने पर भी मैं' स्याम' के बिना नहीं रह सकती। साधुओं की संगति में मुझे ईश्वरीय सुख की प्राप्ति होती है। मैं संसार से दूर रहती हूँ। मेरा शरीर और धन जा रहा है, जाने दो। यदि मेरा सिर भी चला जाय तो भी मुझे इसकी कोई चिन्ता नहीं है। मेरा मन 'गिरधारी' से लगा है, इसलिये मैं संसार के बोल सहती हूँ।[2]

मीरां की दृष्टि में सन्त जीवात्मा के उद्धार के लिये आवश्यक साधन थे। 'उनके सत्संग में ईश्वरीय प्रेम का अमृत निरन्तर झरता रहता था, जिससे मीरां की अनादि आध्यात्मिक पिपासा का शमन हो जाता था।[3]

पारिवारिक विरोधों में जीवन के मूल्य पर भी मीरां सन्त और उनकी सत्संगति छोड़ने को तैयार नहीं थीं। अपने सुनिश्चित, सात्विक, ब्रह्मानन्द-परिपूर्ण आध्यात्म-लोक में प्रविष्ट होने के लिये जगत्-बोध के बाद आत्म-प्रबोध करते हुये उन्होंने कहा था कि–

चाळां अगम वा देस काळ देख्यां डरां।
भरां प्रेम राँ होज हंश केळा करां।

---

१. डाकोर की प्रति, पद ५५।

२. वही, पद ६०।

३. वही, पद ३७।

साधा सन्त रो शंग ग्याण जुगताँ कराँ।
धरा सावरो ध्यान चित उजळो करा।[1]

मीरां उस अगम देश में प्रवेश करना चाहती थी, जहाँ काल प्रवेश करने से डरता है, जहाँ (परमात्मा) प्रेम का हौज भरा हुआ है और जहाँ हंस (सद्-असद्-ज्ञाता नीर-क्षीर-विवेकी जीवात्माएँ) केलि किया करती हैं। इसीलिये वे साधु-सन्तों के साथ ज्ञान-चर्चा करती थीं और 'सांवरे' का ध्यान धरकर अपने चित्त को उज्जवल किया करती थीं। यहां विशेष दृष्टव्य तथ्य यह है कि मीरां की 'ज्ञान जुगतां कोऽहम ?-सोऽहम 'वाली ज्ञान-चर्चा नहीं थी, बल्कि यह ज्ञान-चर्चा अपने प्रियतम कृष्ण के नाम, रूप, गुण, शील, लीला और प्रेम की चर्चा थी। संतों की संगति में मीरां का मन स्याम के रंग में डूबता जाता था और बिहारी की तरह वे भी यही सोचती थीं कि—

या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोय।
ज्यों ज्यों बूड़ै स्याम रंग, त्यों त्यों उज्ज्वल होय।

लौकिक जीवन और साँसारिक क्लेशों के संकेत

मीरां के काव्य का उनके जीवन से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है, अतः उनके काव्य में उनके लौकिक जीवन और सांसारिक क्लेशों के अनेक संकेत विद्यमान हैं। मीरां का कृष्ण-प्रेम, लौकिक पति की अपेक्षा अलौकिकपति का वरण, संत-समागम, जग-हाँसी, राणा द्वारा भेजे गये विष के प्याले और काले नाग की कथा, वृन्दावन-यात्रा और द्वारका-गमन आदि अनेक जीवन प्रसंगों के उल्लेख मीरां की मूल पदावली में विद्यमान हैं, जिन सबका विशद विवेचन हम द्वितीय अध्याय में 'मीरां की जीवनी के अन्तरंग साधनों' में कर चुके हैं।

यहाँ केवल इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि मीरां की आत्मा ज्ञान-मार्गियों की तरह परमात्मा की अमित महिमा से आश्चर्य चकित हो उसके अज्ञेय स्वरूप को पहचानने की चिन्ता से भाराक्रांत नहीं थी, बल्कि वे 'कृष्णस्तु भगवान स्वयं' मानकर उनके मधुर सौन्दर्य पर मुग्ध हो आत्म-समर्पण कर चुकी थी, अतः उनका लौकिक जीवन ज्ञानमार्गियों की तरह पिण्ड में ब्रह्माण्ड खोजने में नहीं बीता, बल्कि सगुणोपासक भक्तों की तरह भजन-पूजन, संत-संतसंग, कीर्तन, तीर्थाटन और हरि-गुण-गान करते-करते बीता।

दीनानाथ से उनका परिणय स्वप्न में ही हो चुका था, इसलिये उन्होंने वर णा वर्‌यां बापुरो जणम्या जणम णसाय। वर्‌यां साजण सांवरो, म्हारो चुड़ळो अमर हो

---

१. काशी की प्रति, पद ७१।

जाय[1] कहकर अपने 'अमर वूध' होने की घोषणा कर दी थी। "अपने जन्म-जन्म के साथी गिरधर नागर को ही उन्होंने अपना सगा-सनेही और सर्वस्व माना था, भाई बन्धु और सगे सम्बन्धियों को छोड़कर, साधु-सन्तों में बैठ-बैठ लोक-लाज खो दी थी। भक्तों को देखकर वे प्रसन्न होती थीं, और जगत को देख-देखकर रोती थीं। अश्रु-जल से सींच-सींच उन्होंने प्रेम-बेलि बोई थी, और दधि मथ कर घृत काढ़ लिया था, छाछ छोड़ दिया था।"[2]

आध्यात्म पथ-गामिनी मीरां को विश्व के सभी सच्चे सन्तों की भाँति अपने भगवत्प्रेम की अग्निपरीक्षा देनी पड़ी। उन्हें 'जग हांसी' का शिकार होना पड़ा, लोगों ने उन्हें 'बिगड़ी' तक कहा। राणा विक्रमादित्य ने उन्हें' 'मदण-बावरी' और 'श्याम प्रीत म्हां कांचा' समझकर विष का प्याला भेजा, सर्प-दर्शन करने के प्रयत्न किये'[3] किन्तु मनस्विनी मीरां अपनी अग्नि-परीक्षा में सफल हो गई। उसने राणा द्वारा भेजे गये विष के प्याले को चरणामृत समझकर पी लिया, और काले नाग को 'सालिगराम' के रूप में पहचाना।[4]

ऐसे पदों में मीरां के लौकिक जीवन और सांसारिक क्लेशों के संकेत विद्यमान हैं। मीरां की वृन्दावन और द्वारका-यात्रा भी उनके लौकिक जीवन की घटनाओं पर प्रकाश डालती हैं, जिससे यह पता चलता है, कि मीरां वृन्दावन से द्वारका गई थी और द्वारका में उनके 'गिरधर नागर' ने उनका हाथ पकड़कर उन्हें अपने आप में लीन कर लिया था।

प्रार्थना और विनय

भौतिक शरीर और नश्वर जगत् की क्षण भंगुरता से सचेत मीरां ने अपने अमर प्रियतम से जो नाता जोड़ा था, वह सांसारिक विपदाओं और प्राणान्तक क्लेशों के कुठाराघात से छिन्न-भिन्न नहीं हुआ। भक्त मीरां अपने आराध्य प्रियतम से निरन्तर प्रार्थना करती रहती थीं कि "हे स्याम! मैं भवसागर की मँझधार में डूब रही हूँ। मैं तुम्हारी शरण में हूँ। मुझे बाँह पकड़ कर उबार लो। मेरे अवगुणों का वार-पार नहीं

---

१. काशी की प्रति, पद ८६।

२. डाकोर की प्रति, पद १।

३. वही, पद ४८।

४. वही, पद ६१।

है, उन्हें तुम्हारे बिना और कोई नहीं सह सकता । हे मेरे प्रभु ! हे अविनाशी हरि ! अपने विरद की लज्जा रखो ।"[1]

हे साँवरे ! मेरी प्रीति को निबाहो । तुम गुणों के सागर हो । मेरे अवगुणों पर ध्यान मत दो ।....हे प्रभु गिरिधर नागर ! मेरा बेड़ा पार लगा दो ।"[2] इसके बाद गिरिधर नागर को ही अपना एक मात्र सहारा और उद्धारकर्त्ता मान मीरां ने बड़े विनीत भाव से उनके चरणों में गिरकर प्रार्थना की कि 'हे महाराज ! अब तो बाँह गहे की लाज रखो । हे गिरिधारी ! तुम अशरण हो, पतितों का उद्धार करना तुम्हारा विरुद है । मैं भव सागर की मँझधार में डूब रही हूँ । तुम ही मेरे आधार हो । तुम्हारे बिना बड़ा अनर्थ हो रहा है । तुमने युग-युगों में भक्तों की 'भीर' हरी थी और उन्हें मोक्ष प्रदान किया था । मीरां ने तुम्हारे चरणों की शरण ली है । हे महाराज ! उसकी लज्जा रखो ।"[3]

अस्तु भक्ति-साधना-साहित्य के सम्बन्ध में हमारा मत है कि दैन्य भक्तों का बल है और आत्म-समर्पण आत्मोद्धार का साधन, इसीलिये मीरां ने सर्वस्व समर्पण कर कृष्ण से अपनी भव-भीर हरने के लिये प्रार्थना की थी ।

नाम-माहात्म्य

कलियुग में ईश्वर के नाम की बड़ी महिमा है, इसीलिये सभी निर्गुण और सगुणोपासक भक्तों ने ईश्वर के नाम-माहात्म्य की कीर्ति-गाथा गाई है । तुलसीदास जी ने तो 'कलियुग केवल नाम अधारा' कहकर ईश्वर के नामस्मरण को ही कलिकाल में जीव की मुक्ति का एक मात्र साधन माना है । मीरां भी सगुणोपासक भक्तों की भाँति अपने आराध्य, अपने प्रियतम, अपने स्वामी के नाम पर लुभा गई थी । अपने पदों में उन्होंने अपने उपास्य देव को विविध नामों से स्मरण करते हुये एक जगह स्पष्टतः लिख दिया है कि "हे पिया ! मैं तेरे नाम पर लुभा गई हूँ ।. मैंने तुम्हारे नाम से संसार में पानी पर पत्थरों को तैरते हुए सुना है । तुम्हारे नाम की बड़ी महिमा है । आजीवन कुकर्म और पाप करने वाली गणिका ने कोई सत्कर्म नहीं किया था तो भी केवल तोते को तुम्हारा नाम सिखाते-सिखाते वह बैकुंठ में बस गई । ग्राह द्वारा ग्रस लिये जाने पर गजेन्द्र ने तुम्हें पुकारा । वह तुम्हारा आधा नाम भी उच्चारण नहीं

---

१. डाकोर की प्रति, पद २२ ।

२. वही, पद २८ ।

३. वही, पद ६८ ।

पाया था कि तुम उसकी रक्षा के लिये गरुड़ छोड़कर पैदल दौड़े, उसके दुख की अवधि मिटाई और उसे पशु की योनि से मुक्त कर दिया। अजामिल जैसे पापी का भी तुम्हारे नामोच्चारण मात्र से उद्धार हो गया और वह यम-यातना से बच गया। सारा संसार जानता है कि मरते समय उसने अपने पुत्र 'नारायण' को पुकारा था, किन्तु उस 'नारायण' शब्द को तुमने अपना नाम समझकर पापी अजामिल को उबार लिया। तुमने अपने शरणागतों की प्रीति की प्रतीति को पहचान कर उन्हें वर दिया। हे प्रभु! मीरां तुम्हारी है और तुमने उसे 'अपनी' मानी है।[1]

इसी तरह मीरां ने ध्रुव (पद १४, पंक्ति क्रमांक ४), प्रहलाद (१४:३, ३४:५, ६९:३), अजामिल (२५:४, ३१:२), गणिका (२५:४), गजेन्द्र (२५:५, ३१:३, ३४:३, ६९:४), अहिल्या (३४:६), नळ-नील (२५:१-३), द्रौपदी (३४:४, ४२:३, ६९:२), और सुदामा (३४:६) आदि सतयुग, त्रेता और द्वापर युग के भक्तों का उल्लेख किया है, जो भगवान नाम-स्मरण और अनुग्रह से भाव-त्रास से मुक्त हो गये थे।

मीरां के प्रभु के नाम

मीरां ने अपने पदों में अपने उपास्य देव को 'गिरधर गोपाळ, स्याम, गिरधर नागर, मोहण, कान्हा, बांके बिहारी, मदण मोहण, सांवरा, प्रीतम प्यारो, बलबीर, ठाकुर, मोहणा, हरि, अविणासी, पिया, पिय, पिव, प्रीतम, प्रभु जी, गोविन्द, गिरधर-ळाळ, मुरारी, भुवनपति, प्यारे, स्यामसुन्दर, महाराज, सांवरा गिरधारी, कृपा निधान, कमळ दळ ळोचणां, ब्रज वणतां रो कन्त, गिरधारी ळाला, मोहण मुरलीवालो, दीणा-णाथ, सिरी ब्रजनाथ, शामरो, गोबरधण गिरधारी, जणम जमण रो शाथी, शुख सागर स्वामी, नन्दलाल, सांवरियो, सांवल्या, प्रभु, ओलगियां, सामरिया, गिरधर, ब्रजवाशी, प्रभु अविनाशी, रणछोड़, तरण-तारण, असरण-सरण, णन्दणन्दण, नागर णन्दकुमार, साजण, गिरधर लाल, नटनागर, मोहण, काण्हड़ो, अन्तरजामी, सरताज, गुणागर नागर, व्रजराज, पीव, कन्हैया, शुखराशी, प्राण अधारो कहकर स्मरण किया है।

मीरां के आराध्य के सभी नाम भगवान विष्णु के द्वापर में लिये गये 'कृष्णा-वतार' से सम्बद्ध हैं अतः मीरां की भक्ति के आलम्बन के रूप में 'कृष्ण' ही एक मात्र उपास्य देव हैं और आश्रय के रूप में मीरां उनकी जन्म-जन्म की दासी और पत्नी हैं। इस तथ्य से यह निष्कर्ष निकलता है कि मीरां को माधुर्य-भाव से भक्ति करने वाली परम वैष्णवी कृष्णोपासिका ही मानना चाहिये।

---

१. डाकोर की प्रति, पद २५।

जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों के उल्लेख

डाकोर की प्रति में 'रास पूणो जणमियारी राधका अवतार'[१] बड़ी रहस्य-मय पंक्ति है । सम्पूर्ण प्रामाणिक पदावली में यही एक पंक्ति ऐसी है जो मीरां को द्वापर की 'राधा' का अवतार सिद्ध करती है । राधा और राधा-भाव विवेचन तो हम मीरां के भक्ति-भाव को निरूपित करते समय करेंगे, किन्तु यहाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कृष्ण-भक्ति-परम्परा में मीरां-भाव, राधा-भाव से भी एक सोपान ऊपर का अभियान है । राधा-भाव के उपलब्ध विवरणों में स्वकीया और परकीया का सम्मिलन है, किन्तु मीरां-भाव में विशुद्ध रूप से स्वकीया भाव ही है । मीरां अपने आपको राधिका का अवतार मानती थीं ।[२] वे अपने आपको 'जणम जणम री क्वांरी'[३] मान इस जन्म में भी 'पुरब जणम री प्रीत पुराणी'[४] पहचान गई थीं इसीलिये उन्होंने इस बार जन्म लेने पर 'ऐसे वर को नहीं वरा, जो जन्म लेकर मर जाता है, पर उन्होंने उस सांवरिया साजण को बरा था जिससे उनका चूड़ा अमर हो गया था ।"[५] अपने जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार के प्रति सजग होकर ही उन्होंने अपने अमर प्रियतम से कहा था कि मैं तुम्हारी जन्म-जन्म की दासी हूँ ।"[६] "हे मेरे जन्म-जन्म के साथी ! मैं तुम्हें दिन-रात नहीं भूलती ।"[७]

प्रियतम की खोज के प्रयास

कृष्ण मीरां के जन्म-जन्म के स्वामी थे और मीरां उनकी जन्म-जन्म की दासी थी । संसार से उदासीन कृष्णानुरक्त मीरां की माधुर्य-भाव-पूर्ण मिलन की आकांक्षा, दाम्पत्य-भाव की आध्यात्मिक चरम सीमा थी, जिसे केवल मीरां ही आत्मसात् कर पाई थीं । प्रियतम के विरह से विदग्ध मानस की कचोट उनकी अपनी पीड़ा थी, जो केवल मीरां के लिये ही अनुभूतिगम्य थी । उनके करुण क्रन्दन में उस वेदना को व्यक्त करने की क्षमता नहीं थी क्योंकि अलौकिक वेदना को लौकिक भाषा में व्यक्त करना दुस्साध्य है । वाणी की वहाँ सीमा आ जाती है । मीरां की वेदना को केवल वे या

---

१. डाकोर की प्रति, पद ६७ (ख) ।
२. वही, पद ६७ (ख) ।
३. काशी की प्रति, पद १०२ ।
४. डाकोर की प्रति, पद ३० ।
५. काशी की प्रति, पद ८६ ।
६. डाकोर की प्रति, पद २८ ।
७. वही, पद ४३ ।

उनके प्रिय ही जान सकते थे । वे 'दरद दिवाणी' थी, जिनसे "अपने प्रिय के बिना रहा नहीं जाता था ।"[१]

"राजा के रूठ जाने पर उन्होंने नगरी को त्याग दिया,"[२] रत्नाभरण त्याग जोगन का वेश धारण किया,[३] और अपने प्रियतम की खोज में वन-वन घूमने लगीं ।[४]

अन्तःप्रेरणा से वे प्रिय की लीला-भूमि वृन्दावन गई ।[५] वहाँ जमुना के किनारे अपने प्रियतम को देखा,[६] और फिर उनके ही पद-चिह्नों पर उन्हें खोजती हुई द्वारका तक गईं ।

वृन्दावन का प्रकृति-चित्रण

मीरां की वृन्दावन-यात्रा ऐतिहासिक सत्य है, जिसका प्रमाण मीरां की मूल पदावली में विद्यमान है । मीरां ने अपनी सखी ललिता से कहा कि "हे सखी ! मुझे वृन्दावन अच्छा लगता है । यहाँ घर-घर तुलसी और ठाकुर की पूजा होती है, तथा गोविन्द जी के दर्शन होते हैं । यहाँ यमुना का निर्मल जल प्रवाहित होता रहता है और भोजन के लिये दूध-दही मिलते हैं । गोविन्द जी रत्न-जटित सिंहासन पर विराजमान हैं और उनके सिर पर तुलसी का मुकुट है । यहीं प्रत्येक कुंज में 'सांवरिया' फिरते थे, चलो हम भी इन्हीं कुंजों में फिरें और 'सांवरिया' की मुरली का मृदु रव सुनें ।"[७]

मीरां ने अपने मन को प्रबोध कराते हुये कहा कि "हे मन ! उस यमुना के तट पर चल, जिसका जल निर्मल है, और जिसमें स्नान करने से शरीर शीतल हो जाता है । उस यमुना के किनारे पर बलराम के साथ क्रीड़ा करते हुये 'कान्हा' बन्शी बजाते और गाते हैं । वे मोर मुकुट, पीताम्बर धारण किये हुये हैं, और उनके कुण्डलों में हीरे झलक रहे हैं ।"[८]

---

१. डाकोर की प्रति, पद १७ ।
२. वही, पद ६१ ।
३. काशी की प्रति, पद ७४ ।
४. डाकोर की प्रति, पद ५३ ।
५. वही, पद ८ ।
६. वही, पद ७ ।
७. डाकोर की प्रति, पद ८ ।
८. वही, पद ७।

आराध्य का रूप-वर्णन

'गिरधर नागर' मीरां के प्रियतम थे, आराध्य थे, अतः उन्होंने अनेक पदों में अपने आराध्य का रूप-वर्णन किया है। मीरां कहती हैं कि 'गिरिधर मेरे प्रिय हैं। उन्होंने मथुरा नगरी में जन्म लेकर वृन्दावन में पदार्पण किया था। उन्होंने पूतना को मुक्ति दी और अनेक अधम प्राणियों का उद्धार किया। वे काली कमरी ओढ़ते हैं और यमुना के तट पर गायें चराते हैं। उनका शरीर साँवला है। आँखें कमल-दल की भाँति हैं और वे पीताम्बर धारण करते हैं। उनके सिर पर मोर मुकुट, कानों में मकराकृत कुंडल और हाथ में मुरली शोभायमान हैं। उन्होंने गोवर्धन पर्वत को छत्र की तरह उठाकर (इन्द्र के प्रकोप से) जल में डूबने वाले ब्रजवासियों को बचाया। वही गिरिधर नागर मेरे प्रभु हैं, प्राणों के आधार हैं।"[१]

अपने प्रियतम के इसी रूप पर मीरां बार-बार बलि जाने लगीं। उन्होंने कहा "हे सखी ! जब से मैंने साँवरे नन्दनन्दन को देखा हैं, तभी से मैंने लोक-लाज खो अपनी सुध-बुध बिसरा दी है। उनके सिर पर मोर-चन्द्रिका के किरीट और मुकुट शोभित हैं। उनके ललाट पर केसर का तिलक नेत्रों को सुख देने वाला है। उनके कुंडलों की परछाई कपोलों पर झलकती है, और कुटिल अलकें लहरा रही हैं, मानो मछलियाँ सरोवर को त्याग कर मकर से मिलने के लिये आई हैं। प्रभु ने नटवर भेष धारण किया है। उनका रूप संसार को लुभाने वाला है। ऐसे प्रभु गिरिधर के अंग-अंग पर मैं बलिहारी जाती हूँ।[२]

इसी तरह मीरां ने नटनागर 'गिरधर' का रूप-वर्णन किया है। मीरां के कृष्ण के गले में वैजयन्तीमाला हैं और वे ब्रजलीला करने वाले है।[३] उसी 'कृष्ण की साँवली सूरत मीरां के मन में बस गई हैं।[४] और मीरां उनकी रूप-माधुरी को देख अटक गई हैं।[५]

अपने प्रियतम को अपनी आँखों में बस जाने के लिये निमंत्रित करते हुये मीरां ने कहा 'हे नन्दलाल ! तुम मेरी आँखों में बस जाओ। तुमने मोर मुकुट और मकराकृत कुंडल धारण किये हैं। तुम्हारे भाल पर अरुण तिलक शोभायमान है। तुम्हारी साँवरी

---

१. काशी की प्रति, पद १०० ।
२. वही, पद ८५ ।
३. डाकोर की प्रति, पद ६२ ।
४. काशी की प्रति, पद ७७ ।
५. डाकोर की प्रति, पद ६३ ।

सूरत, मन को मोहने वाली 'मूरत' और बड़े-बड़े विशाल नेत्र हैं । तुम्हारे अधरों पर अमृत के समान रस देने वाली मुरली शोभायमान है और वक्ष-स्थल पर बैजयन्तीमाला है । हे भक्त वत्सल गोपाल ! हे प्रभु !! तुम सन्तों को सुख देने वाले हो ।[1]

मीरां के आराध्य का रूप-वर्णन से उनके सगुणोपासिका कृष्ण-भक्त होने का प्रमाण मिलता है । स्पष्ट है कि मीरां द्वारा किये गये आराध्य के रूप वर्णन में नख-शिख-वर्णन अधिक और अलंकारिकता स्वाभाविक है ।

आराध्य की मूर्तियों के वर्णन

मीरां ने वृन्दावन और द्वारका में अपने आराध्य कृष्ण की जिन मूर्तियों के दर्शन विभिन्न मंदिरों में किये थे, उनका वर्णन भी उनकी मूल पदावली में पाया जाता है । उन्होंने वृन्दावन में गोविन्द जी, बाँके बिहारी जी, और मदन मोहन जी तथा डाकोर और द्वारका में रणछोड़ जी की मूर्तियों के दर्शन किये थे ।

वृन्दावन में देखी गई मूर्तियाँ :

वृन्दावन में मीरां ने तीन मूर्तियों के दर्शन किये थे । यथा—

१. 'आली म्हांणे लागां वृन्दावण णीकां ।
घर घर तुळसी ठाकुर पूजां दरसण गोविन्द जी कां ।'[2]

२. 'म्हारो परनाम बांके बिहारी जी ।
मोर मुगट माथां तिलक बिराज्यां कुंडळ अळकांकारी जी ।
अधर मधुर धर बंसी बजावां, रीझ रिझावां ब्रजनारी जी ।
या छब देख्यां मोह्यां मीरां मोहण गिरवर धारौ जी ।'[3]

३. 'निपट बंकट छब अटके म्हारे नैणा णिपट बंकट छब अटके ।
देख्यां रूप मदण मोहण री, पियत पियूख ण मटके ।
बारिज भवां अळक मंतवारी, नैण रूप रस अटके ।
टेढ्यां कट टेढ़े कर मुरळी, टेढ्या पाग लर लटके ।
मीरां प्रभु रे रूप लुभाणो, गिरधर नागर नट के ।'[4]

---

१. डाकोर की प्रति, पद ४६ ।

२. वही, पद ८ ।

३. वही, पद ४ ।

४. वही, पद ५ ।

उक्त अवतरणों से पता चलता है कि वृन्दावन में मीरां कतिपय सुप्रसिद्ध मंदिरों में भगवत् दर्शनाथ गई थीं और उन्होंने 'श्री गोविन्द जी' 'बाँके बिहारी जी' और 'मदन मोहन जी' की प्रतिमाओं के दर्शन किये थे ।

श्रीकृष्ण की अष्ट मूर्तियों की प्रतिष्ठा–

श्री कृष्ण जी के प्रपौत्र राजा वज्रनाभ ने अपने प्रपितामह श्रीकृष्ण की अष्ट मूर्तियाँ स्थापित की थीं, जो हरदेव जी, बलदेव जी केशवदेवजी, गोविन्ददेव जी श्रीनाथ जी, गोपीनाथ जी, साक्षी गोपाल और मदनगोपाल जी के नाम से अभिहित हुई । इन में से मदनगोपाल जी कालान्तर में मदनमोहन जी के नाम से प्रसिद्ध हुए । मीरां ने गोविन्ददेव जी और मदनगोपाल जी (मदण मोहण जी) की मूर्तियों के दर्शन किये थे ।

श्री गोविन्द जी की मूर्ति

बंगाल में अवतीर्ण चैतन्य महाप्रभु ने अपने मत प्रवर्तन के लिये रूप, सनातन, रघुनाथ आदि जिन छः गोस्वामियों को वृन्दावन के लुप्त तीर्थों के उद्धार के लिये भेजा था, उनमें से रूप गोस्वामी को योग पीठ (गोमाटीला) पर संवत् १५९१ के लगभग श्री गोविंद जी की मूर्ति प्राप्त हुई थी । रूप गोस्वामी जी ने एक मंदिर बनवाकर उसमें श्री गोविन्द जी की मूर्ति स्थापित की, फिर उत्कल नरेश प्रताप रुद्र के पुत्र राजा पुरुषोत्तम द्वारा भेजी गई श्री राधा जी की मूर्ति श्री गोविन्द जी की बगल में स्थापित की गई । इस पुराने मंदिर का जीर्णोद्धार राजा मानसिंह ने संवत् १६४५ में कराया और औरंगजेब के उपद्रवों के समय राजा जयसिंह ने श्री गोविन्द जी की मूर्ति वहाँ से जयपुर के राजमहल में पधराई, तब से यह मूर्ति वहीं विराजमान है ।

श्री बाँके बिहारी जी की मूर्ति

बाँके बिहारी जी की मूर्ति स्वामी हरिदास जी को निधुवन में मिली थी । स्वामी जी का जन्म भाद्र पद कृष्ण ८ संवत् १४४१ को हुआ था, और वे संवत् १४६६ के लगभग गृह-त्यागकर अपने मामा बिट्ठल विपुल जी के शिष्य बन वृन्दावन में रहने लगे थे । हरिदास जी का निधन संवत् १५३७ माना जाता है, जो विवादास्पद है, किन्तु इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि संवत् १५३७ के पूर्व बाँके बिहारी जी का मंदिर बन चुका था और वृन्दावन जाने पर मीरां ने इस मूर्ति के दर्शन किये थे ।

श्री मदन गोपाल जी की मूर्ति

संवत् १५९० के लगभग आदित्य टीला पर श्री सनातन गोस्वामी को श्री मदनगोपाल जी की मूर्ति मिली थी, जिसका उसी वर्ष प्रतिष्ठापन किया गया था ।

उत्कल नरेश प्रतापरुद्र के पुत्र राजा पुरुषोत्तम ने राधिका जी की दो मूर्तियां भेजी थीं, जिन्हें श्री राधिका जी और श्री ललिता जी के भाव से मदनमोहन जी की मूर्ति के दोनों ओर प्रतिष्ठापित किया गया। मदनमोहन जी का मंदिर मुलतान निवासी लाला रामदास कपूर द्वारा, सनातन गोस्वामी के समय में ही बनवाया हुआ बताया जाता है। यह भी कहा जाता है कि लाला रामदास ने मंदिर की पूजा के लिये कुछ गाँव भी चढ़ा दिये थे, अतः मदन गोपाल जी का मंदिर संवत् १५९० में ही बन चुका था।

इन मूर्तियों की स्थापना से इस बात का पता चलता है कि वृन्दावन में रहते समय (संवत् १६०० के आसपास) मीरां ने इन मूर्तियों के दर्शन अवश्य किये थे।

गुजरात में देखी गई मूर्तियाँ :

रणछोड़ जी की मूर्ति

मीरां वृन्दावन से द्वारका गई और वहीं संवत् १६०३ में उनका देहांत हुआ। भक्तों में प्रचलित मान्यता के अनुसार मीरां सशरीर रणछोड़ जी की मूर्ति में समा गई। मीरां ने रणछोड़ जी के दर्शन किये थे, इसका प्रमाण उनके अधोलिखित पद में पाया जाता है :–

म्हारो मण हर लीण्याँ रणछोड़।
मोर मुगट शिर छत्र बिराजाँ, कुंडल री छब ओर।........[1]

मुन्शी देवीप्रसाद जी ने लिखा है कि मीरां 'रणछोड़ जी की मूरति में समा गई, वह मूरति अब डाकोर जी इलाके गुजरात में है, और उनका चीर अब तक भगवत भगतों को रणछोड़ जी के बगल में निकला हुआ दिखाई देता है।[2]

डाकोर जाने पर लेखक को रणछोड़ जी के मंदिर के महन्त जयरणछोड़ भोगीलाल जी सेवक से पता चला कि राजपूत भक्त बोडाणा द्वारा श्री रणछोड़ जी की मूर्ति कार्तिक सुदी पूर्णिमा संवत् १२१२ को द्वारका से डाकोर लाई गई थी। वह मूर्ति पहले रणछोड़ जी के मंदिर के सामने वाले तालाब में और फिर वर्तमान मंदिर के निकट छोटे से मंदिर में रखी गई। यह मूर्ति डाकोर से १।। मील दक्षिण में (डाकोर और उमरेठ के बीच) गाड़ी से उतारी गई थी, जहाँ अब एक मंदिर विद्यमान है और उसके भीतर रणछोड़ जी के संगमर्मर के 'पगला जी' बने हुये हैं। डाकोर का वर्तमान मंदिर, जिसमें बोडाणा भक्त द्वारा लाई गई प्रतिमा की प्रतिष्ठा की गई है,

---

१. डाकोर की प्रति, पद ६५।

२. मीरांबाई का जीवन चरित्र–मुन्शी देवीप्रसाद, पृष्ठ २६।

संवत् १८२८ का बना हुआ है। बम्बई गजेटियर की रिपोर्ट के अनुसार रणछोड़ जी के वर्तमान मंदिर का निर्माण संवत् १८२४ में शुरू हुआ और बुधवार माघ वदी ५, संवत् १८२८ में उसमें रणछोड़ जी की (संवत् १२१२ में लाई गई) प्रतिमा पधराई गई।

बम्बई हाई कोर्ट की क्रॉस अपील नं० ४७ और १०५ (सन् १९०३) की मूल डिक्री[1] में लिखा है कि—

Dakor: The temple: Built by Gopal Naik Tambekar, in which the image of Shri Ranchhod Raiji is placed value about Rs. 3,00,000/—

मंदिर के ऑफिस में रणछोड़ जी की तस्वीर के पीछे छिपे हुये शिलालेख में निम्न विवरण है 'शुभमस्तु श्रीमद्विक्रम राजशेखर शके व स्वक्षिमातग भू संख्याब्दे ह्यभिधानतः शुभकृति श्री सौम्य के चायने ।। वासन्ते च क्रतौतपस्य बहुलेपक्षेदिने शोभने पंचम्यां विधुवासरे प्रविलसतु डंकापुरे शोभने ।।१।। गोमत्याश्च पुरोदिशि प्रवितत प्राकार संराजिते सम्यग्रूल विचित्र रत्न पटली सोपान संशोभिते । शृंगाग्रैपिहितार्कम मार्ग विभवे देवालये संस्थितः श्रीशः शंकृपयात नोतु सुमतेः गोपाल नाम्नः प्रभोः ।२।। स्वस्ति श्री मति शालवाहन शके वन्त घंक षट् चंद्रमास्संख्याब्देखरनाम के मधु ऋतौ सौम्यायने शोभने । तापस्येशुचिपक्ष के शुभ दिने पंचम्य भिख्ये विद्योर्वागेवारिजलोचन-स्सुर पति-र्देवालये शोभत् ।३।। श्रि'[2]

अर्थात् विक्रम संवत् १८२८ के वर्ष में शुभ कृति नाम के संवत्सर में उत्तरायण वसंत ऋतु में माघ मास की शुक्ल पक्ष के सोमवार को अति रम्य डंकापुरी में श्री रणछोड़ जी विराजमान हुये। सवस्ति संवत् शालिवाहन शके १६९३ के खर नाम के संवत्सर में उत्तरायण में वसन्त ऋतु में माघ मास के शुक्ल पक्ष की पंचमी सोमवार को कमल समान श्री लक्ष्मी पति द्वारिकाधीश गोपाल बिराजे। गोमती माता की पूर्व दिशा में सुन्दर रत्नों से जड़े हुये सोपान वाले गुम्बजों की कतारें लगी हैं। ऐसे भव्य मंदिर में डाकोर के ठाकुर बिराजमान हुये। मंदिर के शिखरों के अग्रभाग सूर्य चन्द्र तक पहुँचे हुये दिखाई देते हैं और वे स्वर्ग में जाने का रास्ता दिखलाते हैं।

---

1. Cross appeals Nos. 47 and 105 of 1903 From original Decree Shedule No. 1. List of Immoveable properties belonging to the temple of Shri Ranchhod Raiji at Dakor.
२. डाकोर में रणछोड़ जी के मंदिर के मेनेजर श्री बी० जी० तांबेकर के ऑफिस में प्रच्छन्न शिलालेख।

विजयसिंह बोडाणा का जीवनवृत्त

डाकोर में रणछोड़ जी की प्रतिभा को लाने वाले भक्त विजयसिंह बोडाणा का जन्म चैत्र सुदी पंचमी संवत् ११२२ में पाटण में हुआ था । इनके पिता का नाम वीरसिंह, माता का नाम रतनबाई और पत्नी का नाम गंगाबाई था । ये राय रण-छोड़ जी के अनन्य उपासक थे । कहा जाता है कि भक्त बोड़ाणा प्रतिमाह डाकोर से द्वारका पैदल जाकर रायरणछोड़ जी को तुलसी-पत्र चढ़ाते थे । जब वृद्धावस्था के कारण इनकी साधना भंग होने लगी तो रायरणछोड़ जी कार्तिक सुदी पूर्णिमा संवत् १२१२ में एक ही रात में बोडाणा के साथ बैलगाड़ी में द्वारका से डाकोर पधारे । द्वारका के राजपूतों (गुगली) और पंडों ने भक्त बोडाणा का पीछा किया और अगहन वदी सप्तमी, संवत् १२१२ में भक्त बोडाणा एक गुगली के बाण से बिंधकर मारे गये । डाकोर में ही राधाकुंड के पास उनका दाह-संस्कार किया गया ।

रणछोड़ जी की प्रेरणा से वह मूर्ति द्वारका से आये हुये राजपूत और पंडे वहीं छोड़ गये और उसी मूर्ति के समान राय रणछोड़ जी की दूसरी मूर्ति द्वारका की एक बावड़ी में से निकालकर रणछोड़ जी के मंदिर में रखी गई ।[1] यदि यह सत्य है, तो मुंशी देवीप्रसाद जी की धारणा कि मीरां द्वारा द्वारका में देखी गई रणछोड़ जी की मूर्ति अब डाकोर जी, इलाके गुजरात में है, गलत सिद्ध हो जाती है ।

डाकोर के मंदिर में मीरां की सखी ललिता द्वारा लिखित पदों के संग्रह की उपलब्धि से इतना ही पता चलता है कि मीरां डाकोर गई थी, किन्तु उनकी डाकोर यात्रा का कोई भी ऐतिहासिक विवरण उपलब्ध नहीं है । मंदिर में आने-जाने वाले भक्तों का वहाँ कोई रिकार्ड नहीं रखा जाता, ऐसी स्थिति में मीरां के वहाँ जाने का कोई लिखित प्रमाण मिलना संभव नहीं है, किन्तु यदि मीरां डाकोर से होती हुई द्वारका गई हों तो उन्होंने रायरणछोड़ जी की इस प्रतिमा के भी दर्शन किये होंगे और द्वारका में रणछोड़ जी को दूसरी प्रतिमा के दर्शन किये होंगे । ऐसी स्थिति में मीरां की डाकोर और द्वारका की यात्रा तथा दोनों ही स्थलों के मंदिरों में विद्यमान रणछोड़ जी की मूर्तियों के दर्शन की संभावना अधिक मानी जायगी ।

आराध्य का गुण-वर्णन

मीरां के आराध्य सूर के कृष्ण की तरह लीलावतारी पुरुष नहीं थे, इसीलिये मीरां के पदों में कृष्ण की अनेक लीलाओं के वर्णन नहीं मिलते । मीरां के गिरधर नागर

---

१. डाकोर माहात्म्य—बुलाखीराम रणछोड़ पण्डया, पृष्ठ १ से ८ तक ।

तो भक्त-वत्सल, दीन-हितकारी स्वयं प्रभु विष्णु के अवतार हैं जिनके चरण सुन्दर, शीतल, कमल की भाँति कोमल, और संसार की ज्वाला से उत्पन्न त्रिविध ताप का हरण करने वाले हैं। उन चरणों का स्पर्श परम सौभाग्य की प्राप्ति का कारण है। उनके प्रताप से प्रह्लाद को इन्द्र-पद प्राप्त हुआ और ध्रुव अटल पद पाने के अधिकारी हुये। वे चरण अशरण-शरण हैं। समस्त ब्रह्माण्ड उनकी ही शरण में है। वे नख-शिख श्री-सम्पन्न हैं। उन्हीं चरणों से भगवान कृष्ण ने काली नाग नाथा था और गोपलीलायें की थीं। उन्हीं चरणों पर खड़े रह उन्होंने गोवर्धन धारण कर इन्द्र के गर्व का हरण किया था। मीरां ने अगम्य भवसागर से पार होने के लिये उन्हीं तरण-तारण गिरिधर लाल की चरण-शरण गही थी।[1]

मीरां के प्रभु परम कृपालु, भक्तों की भीर हरने वाले और अधम से भी अधम प्राणी को सहज ही भवसागर से पार करने वाले थे। उन्होंने ध्रुव, प्रह्लाद, अहिल्या, गणिका, द्रौपदी, सुदामा, कुब्जा, गजेन्द्र आदि अनेक भक्तों का उद्धार किया था। अपने भक्तों की पुकार से वे सहज द्रवित हो जाते थे और उन्हें मोक्ष प्रदान करते थे। इन्हीं गुणों से प्रभावित हो मीरां ने उन्हें अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया था। वे अपने प्रभु की रूप-माधुरी पर लुभा गई थीं और उनसे मिलन तथा अपने उद्धार के लिये दिन-रात पुकार किया करती थीं।

लीला-वर्णन

मीरां ने कृष्ण के भक्तोद्धारक रूप में अनेक जन्मों और अवतारों के संकेत तो किये हैं किन्तु कृष्ण की गोचारण-लीला, पनघट-लीला, चीर-हरण-लीला, आदि का स्वतंत्र वर्णन नहीं किया, क्योंकि वे सख्य-भाव से कृष्ण की उपासना नहीं करती थीं और न राधा-भाव से प्रेरित हो पनघट-लीला, दधि-माखन-चोरी, या कुंज-गलियों की छेड़-छाड़ का वर्णन ही करती थीं। वे परम वैष्णवी ही नहीं, परम साध्वी भी थीं और कृष्ण की जन्म-जन्म की दासी थीं। ऐसी स्थिति में सलज्ज कुलवती की भाँति उन्होंने अपने प्रियतम को 'ब्रज वणतांरो कंत' तो माना, किन्तु अनेक ब्रजवनिताओं से उनके वैयक्तिक सम्बन्धों का विवेचन नहीं किया। कृष्ण परम ब्रह्म थे, मीरा के पति थे, किन्तु धर्म-दर्शन की आध्यात्मिक पीठिका पर मीरां ने कृष्ण के अन्य गोपियों के साथ किये गये क्रीड़ा-कलापों का कोई वर्णन नहीं किया। उन्हें तो अपने और अपने प्रियतम के सम्बन्ध का ध्यान था, अपने पति की उपत्नियों से उनका क्या सम्बन्ध था। उनके साथ उन्होंने क्या किया, क्या नहीं किया। मीरां ने इसका लेखा नहीं रखा। द्रौपदी, सुदामा

---

१. डाकोर की प्रति, पद १४।

आदि के जो कृष्ण-लीला-सम्बन्धी आनुषांगिक उल्लेख उनके पदों में मिलते हैं, वे केवल कृष्ण की भक्त-वत्सलता के द्योतक हैं। केवल 'काली नाग-नाथन' लीला का ही एक स्वतंत्र पद मूल मीरां-पदावली में मिलता है, जिसका स्वरूप इस प्रकार है :—

'कमळ दळ ळोचणां थें णाथ्यां काळ भुजंग।
काळिन्दी दह णाग णाथ्यां काळ फण-फण निरत करंत।
कंदा जळ अन्तर णा डार्यां थे एक बाहु अणण्त।
मीरा रे प्रभु गिरधर नागर ब्रज वणतां रो कंत'।[1]

उक्त पद में भी लीला के साथ-साथ कृष्ण की अनन्त शक्ति का समर्थन किया गया है। वास्तव में कृष्ण के दास, सखा और उपासक ही उनकी लीला गाने के लिये पर्याप्त थे। मीरां तो उनकी चिर संगिनी थी, जन्म-जन्म की दासी थी इसीलिये वे उनके वियोग में, उनकी खोज में खुद को खोने जा रही थी। परिणामस्वरूप अपनी आत्म-गाथा को, अपने प्रेम-प्रेषित उद्गारों और विरह-निवेदन को उन्होंने अपने पदों में जितना प्रेषित किया है, उतना प्रिय की रूप-माधुरी और लीलाओं का बखान नहीं किया।

अभिलाषा

मीरां पदावली का अधिकांश भाग एक अतृप्त आत्मा की मूर्तिमती करुण पुकार है, जिसमें चिर वियोगिनी मीरां की अपने जन्म-जन्म के साथी से मिलने की अभिलाषाओं के बड़े स्वाभाविक, सजीव और हृदय-स्पर्शी भाव प्रकट किये गये हैं। लोक-लाज-कुल-मर्यादा को त्याग, जग की हाँसी और लोक-निंदा को सहकर, मीरां ने जिस 'गिरधर नागर' का वरण किया था और हलाहल पीकर भी जिसके प्राणों में अपने 'हरि अविणासी' से मिलने की अभिलाषा समाई हुई थी, उसमें जीवात्मा की परमात्म-प्राप्ति की चिरन्तन चरम आकांक्षा मूर्तिमान हो उठी है।

मीरां अपने प्रिय की नित्य कृपा-दृष्टि पाने की अभिलाषा करती थीं। उन्होंने अपने प्रियतम से निवेदन करते हुये कहा है कि 'हे हरि ! तुम मेरे जीवन-प्राण-आधार हो। तुम्हारे बिना तीनों लोकों में मेरा कोई सहारा नहीं है। तुम्हारे बिना मुझे संसार नहीं सुहाता। मैंने इस संसार को देख परख लिया है। हे प्रभु ! मैं तुम्हारी दासी हूँ। जरा मेरी ओर देखो।"[2]

---

१. डाकोर की प्रति, पद ३२
२. वही, पद १२.

"हे प्यारे ! आकर मुझे दर्शन दो । तुम्हारे विना मुझसे नहीं रहा जाता । जिस तरह जल के बिना कमल और चन्द्रमा के विना रात की स्थिति होती है, वैसे ही तुम्हारे बिना मेरा जीवन जा रहा है । बड़ी व्याकुलता से तड़पते हुये मैं रात बिताती हूँ । विरह मेरा कलेजा खा रहा है । दिन को भूख और रात को नींद नहीं लगती । मैं अपनी दयनीय स्थिति का वर्णन नहीं कर सकती । मैं अपनी हालत कहूँ भी तो किससे ? सुनने वाला ही कौन है ? हे अन्तर्यामी ! मुझे क्यों तरसाते हो । मुझसे आकर मिलो । मेरी अन्तर्ज्वाला शान्त करो । मेरा दुख हरो । मैंने तुमसे नेह लगाया है । मैं जन्म-जन्म की तुम्हारी दासी हूँ ।"[१]

"विरह वेदना की प्रदीप्त ज्वाला से जलते हुये जीवन की व्यथा को शांत करने के लिये उन्होंने अपने भुवनपति को घर बुलाने की प्रार्थना की ।....और आशा की कि उनके भुवनपति आकर उन्हें दर्शन दें, दुखिया को सुखिया करें ।"[२]

इस प्रकार से मीरां की तीन प्रमुख अभिलाषायें उनकी पदावली में पाई जाती हैं—

१. प्रिय दर्शन दें[३] और एक बार मीरां से मिल कर अलग न हों ।[४]
२. वे मीरां के व्याकुल प्राणों की वेदना को हरें ।[५] और
३. अपने विरद की लज्जा रखते हुये मीरां के अपार अवगुणों की उपेक्षा कर

---

१. काशी की प्रति, पद ६० ।
२. डाकोर की प्रति, पद २६ ।
३. "सजणी कब मिळश्या पिवम्हारां ।
   चरण कंवळ गिरधर शुख देश्यां, राख्यां णेणा णेरां ।
   णिरखाम्हारो चाव घणेरो, मुखड़ा देख्यां थारां ।"
   —काशी की प्रति, पद ६७ ।
४. "पिया म्हारे णेणां आगां रहज्यो जी ।
   णेणा आगां रहज्यो म्हाणे भूळणा जाज्यो जी ।
   ....
   मीरां रे प्रभु गिरधर नागर मिळ बिछड़ण मत कीज्यो जी ।"
   —डाकोर की प्रति, पद ६६ ।
५. व्याकुळ प्राण धर्‌यां णा धीरज, वेग हर्‌या म्हा पीरां ।
   मीरां रे प्रभु गिरधर नागर थे बिण तपण घणेरां ।"
   —काशी की प्रति, पद ६७ ।

उसकी बाँह पकड़े और उसे भवसागर की मंझधार में डूबने से बचायें।[1]

होली

मीरां के मन में प्रिय-मिलन की अभिलाषाओं की होली जल रही थी। ऐसे अवसर पर बसन्त आया। होली आई। "झाँझ, मृदंग, मुरलियाँ और इकतारे बजने लगे। सबने होलिकोत्सव मनाया। केवल जन्म-जन्म की कुमारी मीरां ही अपने चिर-वांछित प्रियतम के बिना अकेली थी। उन्हें होली नहीं सुहाती। घर-आँगन नहीं भाता। वे खड़ी-खड़ी अपने परदेसी प्रियतम की प्रतीक्षा करती थीं, किन्तु अपनी अन्तर्पीड़ा किसी से कह नहीं पाती थी। प्रिय के बिना उन्हें, सेज, घर, अटारी, गाँव और देश सब सूने-सूने से लगते थे। विरह की घड़ियों को गिनते-गिनते उनकी अँगुलियों की रेखायें घिस गई थीं। कोई ऐसा परम स्नेही भी नहीं था, जो उनके लिये प्रिय के आगमन की सूचना देता। वे निरन्तर उस क्षण की प्रतीक्षा करती रहती थीं, जब प्रियतम उन्हें कण्ठ से लगाने वाले थे।"[2]

वर्षा

मीरां की प्रतीक्षा अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई। विरह की दशम-दशा की कामना करते हुए वे वर्षा में अपने प्रियतम का स्मरण करने लगीं और उन्होंने अपनी सखी से कहा कि "हे सखी! हरि मेरी बात तक नहीं पूछते। उनके बिना यह पापी प्राण शरीर छोड़कर क्यों नहीं जाता? सारी रात प्रतीक्षा करते-करते बीत गई। उन्होंने न पट खोले, न मुख से कुछ कहा।... सावन आ गया। मैंने हरि के आने की बात सुनी है। घनघोर निशा में बिजली चमक रही है। मेरा जीवन प्रिय से मिलने के लिये ललचा रहा है, व्यग्र है।"[3] श्याम बादलों से घनघोर झड़ी लगी हुई है। काली-पीली घटायें उमड़ रही हैं। सारे दिन खूब बरसात हो रही है। जिधर देखो, उधर

---

१. "अब तो निभायां बांह गह्यां री ळाज।
असरण सरण कह्यां गिरधारी, पतित उधारण पाज।
भो सागर मझधार अधारां थें बिण घणो अकाज।
जुग जुग भीर हरां भगतां री, दीश्यां मोच्छ नेवाज।
मीरां सरण गह्यां चरणां री, लाज रखां महाराज।"

—डाकोर की प्रति, पद ६८।

२. काशी की प्रति, पद ७०, १०२।

३. डाकोर की प्रति, पद २४।

पानी ही पानी नजर आता है। प्यासी धरती तृप्त होकर हरी हो गई है। मेरे प्रियतम 'परदेस' में बसे हैं। मैं उनकी प्रतीक्षा में आँखें बिछाये द्वार पर खड़ी-खड़ी भींग रही हूँ।"[१]

"जल से भरे हुये बादल चले आ रहे हैं। झर-झर बरसात झर रही है। कोयल मधुर स्वर से बोल रही है। मधुर पवन सनसना रहा है। आकाश मेघाच्छादित है। मीरां अपने प्रियतम के लिये सेज सँवारती है और अपनी सखियों से कहती हैं कि हे सखी! वे बड़ी बड़भागिन हैं, जिनके पास मेरे हरि अविनासी हैं। यदि वे यहाँ आयें, तो तुम मंगल गीत गाना।"[२]

इस तरह से मीरां ने होली और वर्षा का अपने मूल पदों में वर्णन किया है। उन्होंने अपने भावों की तीव्रता को होली और वर्षा में प्रदीप्त होते पाया है, जिससे यह पता चलता है कि मीरां का होली और वर्षा-वर्णन भावोद्दीपक मात्र हैं, अतः यहाँ उनका ध्येय स्वतंत्र प्रकृति-चित्रण करना नहीं, विरहोद्दीपक प्रकृति-चित्रण रहा है।

प्रेमालाप

मीरां के प्रियतम ने भक्त-जनों के संकटों को मिटाकर पुण्य की प्रतिष्ठापना की थी अतः मीरां ने उनसे बाँह गहें की लाज रखने के लिये प्रार्थना की और उन्हें अपने घर आने के लिये आमन्त्रिण करते हुये कहा—"हे महाराज! मेरे घर पधारो। मैं तुम्हारे लिये आँखें बिछाऊँगी, हृदय के आसन पर बैठाऊँगी, सिर पर धारण करूँगी। संसार से उद्धार करने के लिये, हे मेरे अतिथि! आओ। और मेरे भाग्य का शृंगार करो।"[३]

मीरां के प्रिय ने अन्ततः मीरां की पुकार सुन ली। 'वे मीरां के घर आये। युग-युगों से प्रतीक्षा करने वाली बिरहिणी मीरां ने अपने प्रियतम को पाया। उन्होंने मीरां के पास अपना सन्देश भेजा और स्वयं पधारे। मीरां अपने प्रिय के शुभागमन से पुलकित हो उठी।[४]

मीरां का अपने प्रियतम से साक्षात्कार हुआ। यह एक विशिष्ट भाव-दशा थी, जिसमें मीरां ने अपने प्रियतम के दर्शन किये थे। मीरां द्वारा कृष्ण का यह दर्शन एक सर्वथा गोपनीय रहस्यमय आध्यात्मिक भागवत मधुर मिलन है जो स्थूल जगत से परे भाव जगत की अपूर्व उपलब्धि है। 'साक्षात्कार की जड़ भौतिक मीमांसा के वितण्डवाद

१. डाकोर की प्रति, पद ४९।
२. वही, पद ५२।
३. वही, पद २६।
४. काशी की प्रति, पद ७६।

में न पड़ते हुये आजकल के बुद्धिवादियों से मेरा अनुरोध है कि वे 'साक्षात्कार' को 'आत्म-साक्षात्कार' के रूप में मान लें। इसके सम्बन्ध में मेरा तो यह मत है कि साधना के क्षेत्र में, साधक के मन में जब आराध्य के प्रति भावना और चिन्तन अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाते हैं, तब हृदय की उस तल्लीन अवस्था में, जिस साधना-पद्धति में 'समाधि-दशा' कहा गया है, साधक को अन्तर्पट पर अपने साध्य का स्वरूप सजीव दृष्टिगोचार होता है और आराध्य-सम्बन्धी भाव, विचार और कल्पना मूर्त प्रतीत होते हैं। आत्मोल्लास की परम दशा में आराध्य का यह मूर्त आभास ही 'आत्मा-साक्षात्कार' है। यह साक्षात्कार केवल अनुभूति का ही विषय है, अभिव्यक्ति का नहीं। कदाचित् इसी प्रकार सगुणोपासक भक्तों और सन्त-महात्माओं ने अपने आराध्य देवों का दर्शन किया होगा।[१]

'मीरां के लोभी नेत्र प्रियतम के रूप-सौन्दर्य को देखकर वहीं अटक गये। बड़ी भावुकता से व्याकुल होकर वे अपने प्रिय के नख-शिख स्वरूप को देखने लगीं।[२] वे प्रेमावेश में अपने प्रियतम से कुछ भी नहीं कह सकीं। केवल यही कहा—

> 'थाणे काई काई बोळ शुणावां, म्हारां साँवरा गिरधारी।
> पुरब जणम री प्रीत पुराणी, जावा णा णिखारी।
> शुन्दर बदण जोवतां शाजण, थारी छबि बळहारी।[3]
> मीरां अपने प्रियतम के रूप-सौन्दर्य पर बलिहारी जाने लगी।

दर्शनानन्द

स्याम मीरां के घर पधारे। मीरां ने भविष्यवक्ता जोशी को बधाई दी और कहा—'हे जोशी। तुम्हें लाख-लाख बधाई। मेरे स्याम आ रहे हैं। मेरा हृदय आनन्द और उमँगों से सराबोर है। मेरे प्राणों को परम सुख की अनुभूति मिल रही है। पाँच सखियाँ (छिति-जल-पावक-गगन समीरा-तुलसी) अर्थात् पंचतत्व समन्वित मेरा शरीर प्रियतम को रिझा रहा है। सर्वत्र आनन्द ही आनन्द फैल रहा है। प्रियतम को देखते ही में अपने सब दुखों को भूल गई। मेरे मनोरथ सुफल हो गये। मेरे सुख-सागर स्वामी 'स्याम' आज मेरे भवन पधारे हैं।[४] घर पधारे हुए स्वामी से मीरां ने अपनी आँखों में बस जाने की प्रार्थना की—

---

१. देखिये लेखक का ग्रंथ 'श्री समर्थ रामदासः जीवनी और तत्वज्ञान, पृष्ठ ६।
२. काशी की प्रति, पद ८७।
३. डाकोर की प्रति, पद ३०।
४. वही पद ४४।

'बस्यां म्हारे णेणण मां नण्दलाळ ।
मोर मुगट मकराक्रत कुंडळ अरुण तिळक शोहां भाळ ।
मोहणमूरत, सांवरां शूरत, नैणां बण्या बिशाळ ।
अधर सुधांरश मुरळी राजां, उर बैजण्ता माळ ।
मीरां प्रभु संतां शुख दायां भगत बछळ गोपाल ।[१]

इस तरह से मीरां ने प्रिय के दर्शन का आनन्द पाया ।

मुरली

मीरां के कृष्ण सुदर्शन चक्रधारी महाभारत के कर्मयोगी संचालक नहीं थे, ब्रज के नटनागर थे । वे मोर मुकुट मकराकृत कुंडल धारण किये हुये थे । उनके ललाट पर अरुण तिलक शोभायमान था । उनकी मूर्ति मन को मोहने वाली थी । वे श्याम वर्ण थे और उनके नेत्र बड़े विशाल थे । उनके अधरों पर सुधारस-दात्री मुरली विराज रही थी और गले में बैजन्तीमाला । वे सन्तों को सुख देने वाले भक्त-वत्सल गोपाल थे, मुरलीधर थे । उनकी मुरली परमातम नाद की द्योतक थी । यमुना के तट पर शान्त, स्निग्ध फेनोज्जवल चन्द्रिका के वितान तले सुदूर वन राजि के बीच निनादित उनकी मुरली का मृदुरव जड़-चेतन में सरसता का संचार करता था । गोपियाँ लोकलाज, भय-संकोच, कुल-मर्यादा और आत्मजनों को त्याग कृष्ण से मिलने के लिये दौड़ पड़ती थीं। श्रीमद्भागवत में लिखा है कि–

"गोप्य किमाचारदयं स्य वेणु–
–र्दामोदराधर सुधामपि गोपिकानाम् ।
भुंग्क्ते स्वयं यदवशिष्ट रसं ह्रदिन्यो
हृष्यत्वचां ऽश्रु मुमुचुस्तखो यथा ऽऽ र्याः ।"[२]

गोपियाँ बतराते हुये अपनी सखी से कहती हैं कि 'हे सखी ! कौन जाने इस वंशी ने कौन से पुण्य किये थे, जिनके परिणाम स्वरूप इसे गोपियों के भोक्ता कृष्ण के अधरामृत का स्वच्छन्दता पूर्वक पान करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है । यही सम्पूर्ण रस का पान कर जाती है, किसी के लिये शेष नहीं छोड़ती ।

गोपियाँ ही नहीं, देवांगनायें भी कृष्ण के-मुरली-वादन के प्रभाव से अछूती नहीं रहीं । यथा—

१, डाकोर की प्रति, पद ४६ ।

२. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १०, २१, श्लोक ९ ।

"कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सव रूप शीलं
श्रुत्वाच तत्क्वणित वेणु विचित्र गीतम् ।
देव्यो विमान गतय: स्मरनुन्नसारा
भ्रश्यत्प्रसून कबरा मुमुहुर्विनीव्य: ॥"[1]

कृष्ण की मुरली के प्रभाव से देवांगनायें आत्म विस्मृत हो जाती थीं । उनके वेणी गुंफित पुष्प गिर जाते थे तथा वे अपने शरीर और वस्त्रों की सुध-बुध खो देती थीं ।

प्रकृति के समस्त कार्य व्यापार में व्याप्त संगीत के प्रतीक कृष्ण के वंशीनाद के प्रभाव से मीरां भी प्रभावित हुये बिना नहीं रही । उन्होंने इस बात को स्वीकारा कि–

"नागर णंदकुमार, लाग्यो थारो णेह ।
मुरळी धुण-सुण बीसरां म्हारो कुणबो गेह ।"[2]

'कुनबा' और 'गेह' को बिसराकर मीरां उस यमुना के तट पर पहुँची, जहाँ से उन्हें मुरली की ध्वनि सुनाई दे रही थी । उन्होंने मुरली-ध्वनि की मनोहारिता का उल्लेख करते हुये कहा–

"मुरळिया बाजां जमणा तीर ।
मुरळी म्हारो मण हर लीन्हो चित्त धरां णा धीर ।
श्याम कण्हैया स्याम कमरयाँ स्याम जमण रो नीर ।
धुण मुरळी शुण शुध बुध बिशराँ.... ....।"[3]

"यमुना के तट पर मुरली बज रही है । उस मुरली ने मेरे मन को हर लिया है । मेरा हृदय उस मुरलीवाले से मिलने के लिये अधीर हो रहा है । कन्हैया श्यामवर्ण हैं, उनकी 'कमरिया' श्याम वर्ण की है और यमुना का जल भी श्याम वर्ण का है ।" मुरली की ध्वनि को सुनकर मीरां को भी अपनी सुध-बुध नहीं रही ।"

भाव-जगत में सगुण कृष्ण के रूप-गुण को देख और उनकी मुरली की ध्वनि को सुनकर चेतन अवस्था में मीरां का मन उन्हें यमुना के तट पर जाने के लिये प्रेरित करने लगा । उन्होंने अपने मन को प्रबोधते हुए कहा–'हे मन । उस यमुना के तट पर

---

१. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १०, अध्याय २१, श्लोक १२ ।

२. काशी प्रति, पद ७८ ।

३. वही, पद ६४ ।

चल जिस का जल निर्मल है और जिसमें अवगाहन करने से शरीर शीतल हो जाता है। वहाँ कृष्ण बलराम को साथ लेकर बंशी बजाते हैं और गाते हैं ।[१]

उपालम्भ

वस्तु जगत में मीरां के प्रियतम मीरां से मिलने के लिये स्वयं नहीं आये। केवल मीरां के अन्तर्मन में, उनके भाव-जगत में अपनी भुवन-मोहिनी छवि दिखाकर छुप गये । अपनी रूप-माधुरी की झलक दिखाकर लोप हो गये और अपने साथ-साथ मीरां का हृदय ले गये ।

यमुना तट से वंशी बजाकर उन्होंने मीरां को बुलाया और मीरां भी लोक-लाज-त्याग, गृह-परिवार छोड़, अपने प्रियतम से मिलने के लिये यमुना तट पर पहुँच गई । यहाँ तक मीरां का प्रेम गोपीभाव के अनुकूल है, राधाभाव के अनुरूप है और नाभा जी की उस पंक्ति के अनुरूप है, जिसमें उन्होंने लिखा था कि 'सदरिस गोपिका प्रगट प्रेम कलियुगहिं दिखायो ।

राधा की भाँति मीरां ने अपने प्रिय को देखा और उन्हें उपालम्भ देते हुए कहा–'हे मोहन । मैं तुम्हारी प्रीति को जानती हूँ । प्रेम-भक्ति का मार्ग ही मेरा मार्ग है, मैं और कोई दूसरी रीति नहीं जानती। तुमने मुझे अमृत पिलाया है । अब विष क्यों देते हो ? यह कौन गाँव की रीति है ? हे प्रभु ! हे अविनाशी ? तुम तो अपने 'जन' के 'मीत' हो" ।[२]

किन्तु तुम बड़े कठोर हो । 'तुम्हारी मुरली-ध्वनि को सुनकर मैं अपने परिवार और गृह को भूल गई हूँ, आत्मविस्मृत हो गई हूँ, लेकिन तुम्हें इसमें क्या ? पानी के बिना मछली तड़फ तड़फकर अपने प्राण दे देती है, किन्तु पानी उसकी पीड़ा को नहीं जानता । दीपक की लौ पर पतंगा मर-मिटकर खाक हो जाता है किन्तु दीपक उसकी अन्तर्वेदना को नहीं जानता ।"[३] इसी तरह तुम भी मेरी अन्तर्पीड़ा को नहीं समझते । मैं तुम्हारे विरह में तिल-तिल जल रही हूँ । हे प्रियतम ! मुझे दर्शन दो । मुझे अपनी शरण में ले लो ।

मनोराज्य

मीरां अपने मनोराज्य में विचरण करने लगी । प्रियतम की सेवा और सान्निध्य की कामना को व्यक्त करते हुये उन्होंने कहा–"हे गिरिधारी लाल ! तुम मुझे 'चाकर'

---

१. डाकोर की प्रति, पद ७ ।

२. वही, पद ९ ।

३. काशी की प्रति, पद ७८ ।

रख लो। मैं तुम्हारी 'चाकरी' करूँगी। 'चाकर' रहते हुये मैं तुम्हारे लिये बाग लगाऊँगी और नित्य उठकर तुम्हारे दर्शन पाऊँगी। वृन्दावन की कुंज गलियों में तुम्हारी लीला गाऊँगी। मुझे चाकरी में दर्शन और 'खरची' में नाम-स्मरण मिलेंगे। मैं जन्म-जन्म से जिसकी उपलब्धि के लिये तरस रही हूँ, उसी भक्ति-भाव की जागीरी पाऊँगी। मेरा प्रियतम मोर-मुकुट-पीताम्बरधारी है और उसके गले में वैजयन्तीमाला है। वह मुरलीवाला मोहन वृन्दावन में धेनु चराता है। मैं वहीं हरे-हरे नव निकुंजों का निर्माण करूँगी और बीच-बीच में छोटी-छोटी क्यारियाँ बनाऊँगी। कुसुम्भी साड़ी पहनकर मैं साँवलिया के दर्शन पाऊँगी। हे प्रभु! तुमसे मिलने के लिये मेरा हृदय बहुत अधीर है। तुम अर्ध रात्रि के समय मुझे यमुना जी के तट पर दर्शन देना।"[१]

अपने प्रियतम से मिल मीरां जिस स्वप्न को साकार करना चाहती थीं, वह साकार नहीं हुआ। उन्होंने अपने दुर्भाग्य का वर्णन करते हुये कहा कि—मैंने यह नहीं जाना कि प्रिय से मिलने की विधि क्या होती है? प्रिय मेरे आँगन तक आये और लौट गये। मैंने उन्हें खो दिया। जिनकी प्रतीक्षा करते-करते, रास्ता देखते-देखते दिन-रात बिताये, वे हरि आँगन में पधारे और उसी क्षण में अभागन सो गई। हाय। विरहानल से प्रज्वलित अन्तर बहुत व्याकुल है। रोने पर भी चैन नहीं पड़ती।"[२]

प्रियतम बिछुड़ गये। मीरां ने उनकी खोज शुरु की। अपनी सखी से उन्होंने कहा—हे सखी! मैं अपने साँवरिया को देखती रहूँगी। उन्हीं का ध्यान, चिन्तन और स्मरण करूँगी। उन्होने जहाँ-जहाँ धरती पर चरण रखे हैं, मैं वहीं-वहीं उनके चरण-चिन्हों पर नृत्य करती हुई उनका अनुगमन करूँगी, कुंज-गलियों में भटकूँगी।"[३] "मेरा प्रिय परदेश में बसा है। एक बार मिलकर बिछुड़ने के बाद वह दुबारा नहीं मिला, और न उसने एक सन्देश ही भेजा। मैंने उसे पाने के लिये रत्नाभरण और आभूषणों का परित्याग कर दिया है। केशों से जटायें बना ली हैं। उनके कारण मैंने भगवा वेश धारण कर लिया है और उन्हें चारों देशों में ढूंढ़ती फिरती हूँ।"[४]

मीरां का मनोराज्य प्रिय-मिलन की क्षणिक स्मृति और चिर विरह के भीषण आघातों में तिरोहित हो गया। केवल आजन्म विरह-समन्वित करुण क्रन्दन और पुकार शेष रहे।

---

१. डाकोर की प्रति, पद ३५।

२. वही, पद ८।

१. डाकोर की प्रति, पद ५७।

४. काशी की प्रति, पद ७४।

आजन्म विरह

विरह अमर काव्य का प्राण है । मीरां की भक्ति-साधना का वृहद् भाग उसकी आन्तरिक विरह-दशा से अनुप्राणित है । उसमें एक विरहिन आत्मा की करुणा बोल उठी है । इसीलिए मीरां की प्रेमलक्षणा भक्ति में विरह विगलित करुणा मूर्तिमान हो गई हैं । करुणा के माहात्म्य को विश्व के सभी समुन्नत कवियों ने स्वीकारा है । भवभूति ने उत्तर रामचरित में 'एको रसो करुण एव' कहकर करुणरस मूल्यांकन किया है तो पाश्चात्य आंग्ल कवि कीट्स ने "Our sweetest song are those, that tell of the saddest thought" लिखकर गीति काव्य के माधुर्य को वेदना-प्रसूत करुणा पर आधारित माना है ।

आधुनिक कवि पन्त भी;

"वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजा होगा गान ।
उमड़कर आँखों से चुपचाप,
बही होगी कविता अनजान ।"

मानते हैं । कहने का तात्पर्य यह है मनुष्य की संवेदना, पीड़ और करुणा से काव्य का अनन्य सम्बन्ध है, और मीरां के जीवन्त काव्य के प्राण में यही करुणा, यही पीड़ा, यही संवेदना समाई है ।

मीरां का काव्य प्रेम-प्रणीत है और यह प्रेम-तत्व लौकिक प्रेम-तत्व न होकर अलौकिक प्रेम-तत्व है । यह जितना सरस है, उतना ही रहस्यपूर्ण भी । भाव का यह महाभाव है, अतः मीरां का सम्पूर्ण काव्य महाभाव प्रेषक है, जहाँ सात्विकों की परम उद्दीप्त स्थिति हो गई है । विरह की प्रचुरता के कारण मीरां के काव्य में विप्रलंभ शृंगार की प्रत्येक दशा बड़ी मर्मस्पर्शी और पीड़ा-प्रेषक बन गई है । यही कारण है कि स्वप्न में परिणीता मीरां की विरह-दशा उसकी असीम करुणा को चेतना प्रदान करने वाली थी । प्रिय के वियोग में उसकी जो दशायें हुई हैं, उनमें पूर्व-राग और विरह की सभी स्थितियाँ पाई जाती हैं ।

मीरां को पूर्व राग का परिचय प्रियतम द्वारा स्वप्न में किये गये परिणय से मिलता है ।"माई म्हाणो शुपणा मां परण्यां दीणानाथ" से उन्होंने इसी तथ्य का संकेत किया है किन्तु जब वे उन्हें "जणम जणम रो शाथी" कहती हैं, तब उनका पूर्वानुराग इसी जन्म का नहीं, जन्म-जन्मान्तर की चिर संचित साधना और अनुभूति का विषय बन जाता है । ऐसी स्थिति में हमें मीरां का पूर्वराग पूर्व जन्मों से सम्बद्ध मानने के

लिये बाध्य होना पड़ता है । मीरां ने अपने प्रिय के दरश-परस का सौभाग्य पाया था । साधु-सन्तों से उनके गुण-कीर्ति आदि के वर्णन श्रवण किये थे, स्वप्न में उनके दर्शन पाये थे और वे उनके हृदय में भी विराजमान थे । इस तरह मीरां का पूर्व राग प्रियतम के दर्शन, गुण-श्रवण, स्वप्न-मिलन और उनकी नित्य स्मृति से समर्थित है और यही उनकी आध्यात्मिक प्रणय पिपासा का आधार है ।

शास्त्रीय दृष्टि से 'पूर्वराग' प्रौढ़ समंजस और साधारण श्रेणियों में विभक्त किया गया है । मीरां का कृष्ण के प्रति पूर्वराग, प्रौढ़ राग माना जा सकता है, क्योंकि प्रौढ़ पूर्वराग की दशों दशायें मीरां के काव्य में पायी जाती हैं ।

प्रौढ़ पूर्व राग की दस दशायें :—लालसा, उद्वेग, जागरण, तानव (दुर्बलता), जड़िमा (शरीर का क्रिया शून्य निश्चेष्ट होना) वैवग्र्य (व्यग्रता), व्याधि (शरीर का पीला पड़ जाना), उल्लास, मोह (मूर्च्छा) और मृत्यु प्रौढ़ पूर्व राग की दस दशायें हैं। मीरां की मूल पदावली में इनके दृष्टान्त इस प्रकार हैं :—

१—लालसा :

(अ) "पीया बिण रह्यां न जावां ।
तण मण जीवण प्रीतम वार्‌यां ।
निस दिण जोवां बाट कब रूप लुभावां ।
मीरां रे प्रभु आशा थारी, दासी कंठ आवां ।"[1]
मीरां रे प्रभु आशा थारी, दासी कंठ आवां ।
मीरां रे प्रभु कबरे मिलोगां थे विण रह्यां णा जाय ।"[2]

(ब) "मीरां रे प्रभु कबरे मिलोगां थे विण रह्यां णा जाय ।"[2]

(स) "वां विरियां कब होशी म्हारो हंस पिय कंण्ठ ळगावां ।"[3]

इस प्रकार मीरां के मन में प्रियतम के दर्शन और मिलन की अदम्य लालसा थी, जो भावना-वश उद्वेग में परिणत हो गई थी ।

२—उद्वेग :

"सजणीं कब मिलश्या पिव म्हारां ।
चरण कंवळ गिरधर शुख देश्याँ, राख्याँ णैंणा णेरां ।
णिरखाँ म्हारो चाव घणेरो, मुखड़ा देख्याँ थारां ।
व्याकुल प्राण धर्‌याँ णा धीरज, बेग हर्‌याँ म्हा पीराँ ।"[4]

---

१. डाकोर की प्रति, पद १७ ।

२. वही, पद ११ ।

३. काशी की प्रति, पद ७० ।

४. वही, पद ६० ।

डाकोर की प्रति में भी मीरां के अधीर प्राणों की यह व्याकुलता—यह उद्वेग मुखरित है। अपने उद्वेग पूर्ण मनोभावों को व्यक्त करते हुये उन्होंने लिखा है कि—

"आवां मोहणा जी जोवां थारी बाट।
खाण पाण म्हारे णक णा भावां नेणा खुळां कपाट।
थे आयाँ विण शुख णा म्हारो हिबड़ो घणो उचाट।"[1]

उद्वेग के कारण मीरां का केवल खाना-पीना ही नहीं छूटा, किन्तु उनकी नींद का भी नाश हो गया।

३-जागरण :

उद्वेग के कारण मीरां को घड़ी भर भी चैन नहीं पड़ती थी। न घर अच्छा लगता था, न नींद आती थी। यथा—

"घड़ी चेण णा आवड़ाँ थे दरसण बिण (१)।
घाम णा भावाँ नींद णा आवाँ विरह सतावाँ (?)।[2]

मूल प्रति के पृष्ठों की दुर्दशा के कारण कोष्टक के शब्द अनुपलब्ध हैं। संभवतः वहां 'मोय' शब्द रहा होगा। विरह की तीव्रता के कारण मीरां की नींद के चले जाने के और भी कई उल्लेख मूल पदों में पाये जाते हैं। यथा—

"रोवतां रोवतां डोळताँ सब रेण बिहावाँ जी।"[3]
"मा हिरदाँ बस्या साँवरो म्हारे णींद णा आवाँ।"[4]
"सखी म्हारीं णीद णशाणी हो।
पिय रो पंथ निहारताँ शब रैण विहाणी हो।"[5]
"नींदड़ी आवाँ णा शाराँ रात, कुण बिध होय प्रभात।"[6]
"निश दिण पंथ णिहारा पिव रो पळक णा पळ भर ळागी।"[7]

---

१. डाकोर की प्रति, पद १६।
२. वही, पद २१।
३. वही, पद २३।
४. वही, पद ३७।
५. वही, पद ३६।
६. काशी की प्रति, पद ८१।
७. वही, पद ६३।

"रीम्हा बैठ्याँ जागाँ जगत शब शोवाँ।
बिरहण बेठ्या रंग महळ मा णेणा लड़याँ पोवाँ।
तारा गणता रेण बिहावाँ शुख घड़या री जोवाँ।"[1]

४–तानव :

निरन्तर जागरण, विरह-वेदना और प्रतीक्षा के कारण मीरां का शरीर कृश हो गया था। शरीर की दुर्बलता नित्य संवर्धनशील विरह के साथ-साथ बढ़ती ही जाती थी। भाव-जगत की शरीर पर होने वाली प्रतिक्रिया का परिणाम यह हुआ कि मीरां सोचने लगीं—

"भूख गयां निंदरां गयां पापी जीव णा जावां री।"[2]
"अंग खीण व्याकुळ भयां मुख पिव-पिव बाणी हो।"[3]

मीरा का शरी क्षीण हो गया। वे प्रिय-प्रिय रटती रहीं।

५–जड़िमा :

शरीर क्षीण होते-होते मीरां किंकर्तव्यविमूढ़ हो गई। उनकी चेतना जड़ता से आक्रान्त हो गई क्योंकि 'स्याम' ने उन्हें 'डश' लिया था और उसका प्रभाव उनके रोम-रोम पर पड़ रहा था। जड़ता के कारण उन्हें कुछ नहीं सूझता था। अतः उन्होंने अपनी सखी से कहा—"कहा करां कित जावां सजणी, म्हा तो स्याम डशी।"[4]
यह कर्त्तव्याकर्त्तव्य की स्थिति क्षीण, विरह-व्याप्त शरीर की जड़ता से उद्भूत है, बुद्धि-संभ्रम से नहीं।

६–वैवग्रय (व्यग्रता)

मीरां की व्यग्रता उनकी विवशता थी। उनके चंचल नेत्र पराये हाथों बिक गये थे। लोग उन्हें भली बुरी कहते थे, पर अपने प्रेम के लिये उन्होंने सभी कुछ शिरोधार्य कर लिया—

"शकळ कुटम्बां बरजतां बोळया बोळ बणाय।
णेणा चंचळ अटकणा भाण्यां, पर हथ गयां बिकाय।
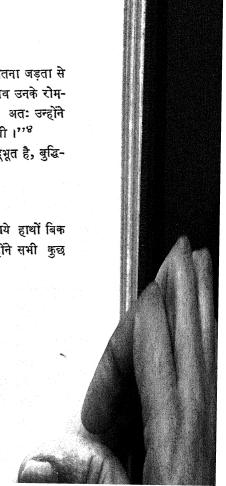
१. काशी की प्रति पद ६६।
२. डाकोर की प्रति, पद २३।
३. वही, पद ३६।
४. काशी की प्रति, पद ७७।

भलो कहां काई कहां बुरो री, शब लयां सीश चढ़ाय ।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर बिणा पळ रहां णा जाय ।"[१]

मीरां की यही व्यग्रता निम्नलिखित पंक्तियों में भी बड़ी सजीवता से व्यक्त हुई है—

"कळ णा पड़तां हरिमग जोवां, भया छमाशी रेण ।
थें बिछड़यां म्हां कळपां प्रभु जी, म्हारो गया शब चेण ।
मीरां रे प्रभु कब रे मिलोगां दुख मेटण शुख देण ।"[२]

७–व्याधि :

व्यग्रता से व्याधि का विकास होता है । व्याधि के प्रभाव से मीरां का शरीर जर्जर हो गया । "प्रियतम के दर्शन के बिना उनके नेत्र दुखी थे ।"[३] अतः उन्होंने "प्राण गुमायां झूरतां रे, रोण गुमायां रोय ।"[४] उनका हृदय विदीर्ण हो रहा था, अतः वे पीली पड़ गई थीं । यथा–

"पाणाज्यूं पीळी पड़ी री लोग कहां पिंड बाय ।
बाबळा बेद बुळाइया री, म्हांरी बांह दिखाय ।
बेदा मरम णा जाणा री, म्हारो हिबड़ो करकां जाय ।"[५]

मीरां की ब्याधि भौतिक व्याधि नहीं थी, वह अन्तर्पीड़ा थी, जिसका केवल एक ही उपाय था–"मीरां री प्रभु पीर मिटांगां जद बैद सांवरो होय ।"[६]

८–उल्लास :

आत्म-चिन्तन और प्रिय का नित्य स्मरण करते रहने के कारण मीरां का अपने प्रियतम से जो साक्षात्कार हुआ था, उसका विवेचन हम पहले ही कर चुके हैं । मूल पदावली के अनुसार मीरां की व्याधि का मूल कारण था–

"हरि बिण क्यूं जिवां री माय।
श्याम बिणा बौरां भया मण काठज्यूं घुण खाय ।
मूळ ओखद णा ळग्यां म्हाणे प्रेम पीड़ा खाय ।"[७]

---

१. वही, पद ८७ ।
२. डाकोर की प्रति, पद २० ।
३. वही, पद २० ।
४. वही, पद २१ ।
५. काशी की प्रति, पद ७६ ।
६. डाकोर की प्रति, पद १६ ।
७. डाकोर की प्रति, पद ४० ।

इस आन्तरिक व्याधि का भाव-जगत पर यह प्रभाव पड़ा कि मीरां को अपने प्रिय के दर्शन हुये । जीवात्मा को सुख प्राप्त हुआ । मनोरथ 'सुफल' हुये ।–

"जोशीड़ा णे लाख बधायां रे आश्यां म्हारो स्याम ।
म्हारे आणंद उमंग भरयां री, जीव लह्यां शुख धाम ।
पांच शख्यां मिळ पीव रिझावां आणंद ठामा ठाम ।
बिशर जावां दुख निरख पिया री सुफळ मणोरथ काम ।"[२]

मनोरथ सफल होते ही हर्षोल्लास से मीरां गाने लगी–

"पग बांध घुंघरयां णाच्यां री ।
ळोग कह्यां मीराँ बावरी शाशू कह्याँ कुळनाशां री ।
बिखरो प्याळो राणा भेज्याँ पीवाँ मीराँ हाँशा री ।
तण मण वार्‍याँ हरि चरणाँ माँ दरसण अमरित पाश्याँ री ।"[३]

"म्हाँ गिरधर आगाँ नाच्याँ री ।
णाच णाच पिव रसिक रिझावाँ प्रीत पुरातन जाँच्या री ।
स्याम प्रीत री बाँध घुंघर्‍याँ मोहण म्हारो साँच्याँ री ।
ळोक ळाज कुळ राँ मरज्यादाँ जग माँ णेक णा राख्याँ री ।
प्रीतम पळ छण णा बिसरावाँ, मीराँ हरि रंग राच्यां री ।"[४]

मीरां का यह उल्लास, आत्मिक उल्लास था, किन्तु प्रिय का यह मिलन यह दर्शन, स्वप्न में होने वाले परिणय की ही भाँति स्वप्नवत् था । जागृति में उन्हें फिर प्रिय का विरह पहले से भी अधिक भासमान होने लगा और मीरां ने अपनी सुध-बुध खो दी ।

९–मोह (मूर्च्छा) :

मीरां की स्थिति इस प्रकार थी–

"अंग खीण व्याकुळ भयाँ, मुख पिव-पिव बाणी हो ।

---

१. डाकोर की प्रति, पद ४४ ।
२. वही, पद ४७ ।
३. वही, पद ५६ ।

अण्तर वेदण बिरह री, म्हारी पीड़ णा जाणी हो ।
ज्यूं चातक घण कूं रटां मछरी ज्यूं पाणी हो ।
मीरा व्याकुळ बिरहणी, सुध-बुध बिसराणी हो ।"[1]

मीरां की यह मूर्च्छा सूफियों के 'हाल' से मिलती जुलती है, जैसा कि मीरां के ही पद से स्पष्ट हो जाता है–

"विरह भुवंगम डस्यांकळेज्यां ळहर हळाहळ जागी ।
मीरां व्याकुळ अत अकुळाणी, स्याम उमंगा ळांगी ।"[2]

१०–मृत्यु :

विरह की दशम दशा मृत्यु है । प्राणांतक पीड़ा का अंत प्राणों का प्रयाण है । कृष्ण के वियोग में मीरां के प्राण दुखी थे, इसलिये उन्होंने कहा था–

"रावड़ो विड़द म्हाणे णूढ़ो ळांगा पीड़त म्हारो प्राण ।"[3]

प्राण-पीड़ा के कारण वे संदेह होते हुये भी विदेह दशा में रहा करती थीं ।

मीरां रे प्रभु सांबरो थे बिण देह अदेह ।"[4]

दर्द-दिवानी मीरां प्रिय की खोज करते-करते, प्रिय-पथ पर चलते-चलते, उस स्थिति पर पहुँच गईं, जहाँ उनकी आत्मा ने अपने प्रिय के दर्शन कर लिये और उनके प्रियतम उनकी आँखों में आकर बस गये–

"णेणा वणज बसाँवा री म्हारा साँवरा आवाँ ।
णेणा म्हारा सांवरा राज्याँ डरताँ पळ णा ळावाँ ।
म्हारा हिरदां बस्याँ मुरारी पळ पळ दरशण पावाँ ।
स्याम मिलण सिंगार शजावाँ शुख री सेज बिछावाँ ।
मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर बार बार बळ जावाँ ।"[5]

हृदयस्थ मुरारी से मीरां का यही महामिलन था, जहाँ चरम सुख की शैय्या पर 'स्याम' से मीरां का मधुर मिलन हुआ । मीरां की आँखों में साँवरे आकर बस गये और वे आँखें खुली की खुली रह गईं ।

---

१. डाकोर की प्रति, पद ३६ ।
२. काशी की प्रति, पद ६३ ।
३. डाकोर की प्रति, पद ३३ ।
४. काशी की प्रति, पद ७८ ।
५. वही, पद १०३ ।

इस तरह से मीरां के काव्य में उनके कृष्णविषयक आजन्म-विरह की दसों दशाओं का क्रम-विकास लक्षित होता है । मीरां के प्रौढ़ पूर्व राग की दशों दशाओं के समानान्तर ही उनके काव्य में उनके सामंजस पूर्व राग की दस दशायें भी पाई जाती हैं :—

सामंजस पूर्व राग की दस दशायें : सामंजस पूर्व राग की दस दशायें इस प्रकार हैं—(१) अभिलाष, (२) चिन्ता (३) स्मृति, (४)गुण-कीर्तन (५) उद्वेग (६) विलाप, (७) उन्माद, (८) व्याधि, (९) जड़ता, (१०) मृत्यु ।

मीरां पदावली में सामंजस पूर्व राग की दस दशाओं का विवरण

पूर्व विवरण के अनुसार ही मीरां की पदावली में ये दसों दशायें क्रम से पाई जाती हैं । मीरां कृष्ण की जन्म-जन्म की दासी थी और वे इस जन्म में भी अपने प्रियतम से मिलने की अभिलाषा करती थीं । दिन रात वे अपने प्रियतम से मिलने की चिन्ता में व्यग्र रहती थीं और अपने प्रियतम के रूप-गुण-औदार्य, विरुद की स्मृति करती रहती थीं । साधु-सन्तों की संगति में अथवा परम एकान्त में भी वे अपने 'गिरधर' का गुण-कीर्तन करती थीं और प्रायः उनके वियोग में उद्वेग-वश विलाप करती थीं । भावुकता में उनकी विरहदशा उन्माद का रूप ले लेती थी और वे लोक-लाज-कुल मर्यादा को त्याग कृष्ण की प्रतिमा के समक्ष पैरों में घुंघरू बाँधकर नृत्य करती थीं । दिन-रात आध्यात्मिक-विरह के संताप के कारण वे व्याधि-ग्रस्त हो गई थीं । उनका शरीर क्षीण हो गया था और यह व्याधि भी अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई थीं—

'गणतां गणतां घिश गयां रेखां आंगरिया री शारी ।''[1]

प्रियतम की प्रतीक्षा में दिनों को गिनते-गिनते अँगुलियों की रेखाओं का घिस जाना निस्सन्देह व्याधि की चरम सीमा का द्योतक संकेत है । श्याम के बिना मीरां के लिये संसार शून्य था । उन्हें समझ में नहीं आता था कि क्या करें ? कहाँ जायें ? यही उनकी जड़ता थी । अन्ततः अपने प्रिय की खोज में ही उन्होंने अपने को खो दिया । वे वृन्दावन से द्वारका गईं और वहीं कृष्णमय हो गई । भावदशा के अनुरूप यही भौतिक मीरां की मृत्यु थी और आध्यात्मिक मीरां के महामिलन का प्रथम सोपान भी ।

साधारण पूर्व राग और उसकी दशायें

साधारण पूर्व राग की प्रथम छः दशायें सामंजस पूर्व राग की प्रथम छः दशाओं के ही अनुसार अभिलाष से प्रारम्भ होकर विलाप पर समाप्त हो जाती हैं । इसके बाद

---

१. काशी की प्रति, पद १०२

मान, प्रेम वैचित्र्य, प्रवास होता है। मीरां के काव्य में मान और प्रेम वैचित्र्य के भाव नहीं हैं, किन्तु उनका विरह प्रवास जन्य क्लेश से प्रेरित है। मीरां के भाव-जगत में प्रिय-प्रवास के चिन्ह अंकित हैं–

> "सांवळिया म्हारो छाय रहा परदेस।
> म्हारा बिछड़या फेर न मिळया, भेज्या णा एक शन्नेस।"[1]

स्पष्ट है कि मीरां के प्रियतम उनसे मिलकर विछुड़े थे और उन्होंने फिर एक सन्देश भी नहीं भेजा था। वे परदेश में ही रहते थे। इसीलिये मीरां ने उनकी खोज की थी।

अतः मीरा का आजन्म विरह-भाव, प्रिय-प्रवास-जन्य मानसिक क्षोभ से सराबोर है।

प्रवास-जन्य-क्लेश की दस दशायें

(१) चिन्ता, (२) जागरण, (३) उद्वेग, (४) तानव, (५) मलिनांगता, (६) प्रलाप, (७) व्याधि, (८) उन्माद (९) मोह, (१०) मृत्यु।

ये सभी दशायें मीरां के काव्य में चित्रित हैं, जिनके प्रमाण हम प्रौढ़ पूर्वराग और सामंजस पूर्व राग का विवेचन करते समय दे चुके हैं।

पूर्व राग के तीनों प्रकारान्तर और उनके विवेचन से मीरां के आजन्म विरह के कारण और स्वरूप सुस्पष्ट हो गये हैं, साथ ही इस विवेचन से मीरां के भाव-जगत का सुस्पष्ट विश्लेषण भी हो गया है। यथासमय रसविवेचन के सन्दर्भ में इस विषय का और भी अधिक स्पष्टीकरण किया जायगा।

मीरां की उपासना-पद्धति का स्वरूप

मीरां की उपासना-पद्धति नवधा भक्ति के अन्तर्गत आती है, जिसका विशद विवेचन "मीरां का व्यक्तित्व और उनकी भक्ति सम्बन्धी अभिरुचियाँ" अध्याय के अन्तर्गत विस्तार पूर्वक किया जा चुका है, किन्तु मीरां की मूल पदावली के वर्ण्य-विषय के नाते से इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि मीरां के मूल पदों में उनकी उपासना-पद्धति के स्वरूप के प्रमाण भी हैं। मीरां की उपासना माधुर्य भाव से परिपूर्ण थी। वे संसार से विरक्त थीं। "उन्होंने रत्न और आभूषणों का परित्याग कर दिया था और सिर पर जटायें बढ़ा ली थीं। प्रियतम की खोज के लिये उन्होंने भगवा वस्त्र धारण किये थे और वे उन्हें चारों दिशाओं में ढूँढ़ती फिरती थीं।[2] वे अगम्य देश में

---

१. काशी की प्रति, पद ७४

प्रवेश पाने के लिये साधु-सन्तों से सत्संग और ज्ञान-चर्चा करती थीं। साँवरिया का ध्यान धर कर हृदय को उज्जवल करती थीं, शील के घुँघरू बाँधकर वे सन्तोष से नृत्य करती थीं। गिरधर से ही उनकी प्रीति थी। सांसारिक जीवों से वे सर्वथा विमुख थीं।[1] उनका मन निरन्तर श्याम-नाम रटा करता था।[2] वे संसार को बीड़ का काँटा मानती थीं और उसे प्रभु-प्रेम के मार्ग का व्यवधान समझती थीं। इसलिये वे भवसागर से पार होने के लिये श्याम-नाम का जहाज चलाती थीं, गोविन्द के गुण गाती थीं, नित्य प्रातःकाल उठकर गिरधर के मंदिर में जाती थीं, प्रिय के दर्शन करती थीं, चरणामृत लेती थीं, और हरि के मंदिर में नृत्य करती थीं।[3] वे गिरधर के सम्मुख 'राजभोग' का थाल प्रस्तुत करती थीं और उन्हें "छप्पण भोग छतीशां बिंजण" अर्पण करती थीं।[4]

विधि-विधान

मीरां ने अपनी पदावली में दो स्थलों पर विधि-विधान का उल्लेख किया है। ये दोनों पद बड़ी गम्भीर सांकेतिकता से परिपूर्ण हैं। उन्होंने कहा कि "विधि का विधान ही न्यारा है। उसने मृग को बड़े-बड़े नेत्र दिये हैं पर वे वन-वन मारे-मारे फिरते हैं। (मछली को मारकर खाने वाले कपटी) बगुलों का वर्ण शुभ्र होता है और (मधुर स्वर से गाने वाली) कोयल का रंग काला है। नदियों में निर्मल जल की धारा प्रवाहित है, किन्तु (रत्नाकर) समुद्र का जल खारा है। मूर्ख लोग सिंहासन पर बिराजते हैं और पंडित (ज्ञानी) दर-दर मारे-मारे फिरते हैं।[5]

"भाग्य की गति टालने से नहीं टलती। सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र को डोम के घर पानी भरना पड़ा। पाँचों पाण्डव और उनकी रानी द्रोपदी के हाड़ हिमालय पर्वत पर गले। राजा वलि ने इन्द्रासन पाने के लिये यज्ञ किया, किन्तु उसे पाताल में जाकर रहना पड़ा। (मेरे परिवार वालों ने–राणा-विक्रमाजीत ने–) मुझे विष दिया, किन्तु गिरधर नागर ने उस विष को भी अमृत कर दिया।[6]

पहले पद में 'मूरख जण सिंघासन राजा' द्वारा विक्रमादित्य का संकेत किया

---

१. काशी की प्रति, पद ७१
२. डाकोर की प्रति, पद ५८
३. काशी की प्रति, पद १०१
४. वही, पद ८२
५. डाकोर की प्रति, पद ५१
६. डाकोर की प्रति, पद ५४

मान, प्रेम वैचित्र्य, प्रवास होता है । मीरां के काव्य में मान और प्रेम वैचित्र्य के भाव नहीं हैं, किन्तु उनका विरह प्रवास जन्य क्लेश से प्रेरित है । मीरां के भाव-जगत में प्रिय-प्रवास के चिन्ह अंकित हैं–

> "सांवळिया म्हारो छाय रहा परदेस ।
> म्हारा बिछड़या फेर न मिळया, भेज्या णा एक शन्नेस ।"[1]

स्पष्ट है कि मीरां के प्रियतम उनसे मिलकर बिछुड़े थे और उन्होंने फिर एक सन्देश भी नहीं भेजा था । वे परदेश में ही रहते थे । इसीलिये मीरां ने उनकी खोज की थी ।

अतः मीरा का आजन्म विरह-भाव, प्रिय-प्रवास-जन्य मानसिक क्षोभ से सराबोर है ।

प्रवास-जन्य-क्लेश की दस दशायें

(१) चिन्ता, (२) जागरण, (३) उद्वेग, (४) तानव, (५) मलिनांगता, (६) प्रलाप, (७) व्याधि, (८) उन्माद (९) मोह, (१०) मृत्यु ।

ये सभी दशायें मीरां के काव्य में चित्रित हैं, जिनके प्रमाण हम प्रौढ़ पूर्वराग और सामंजस पूर्व राग का विवेचन करते समय दे चुके हैं ।

पूर्व राग के तीनों प्रकारान्तर और उनके विवेचन से मीरां के आजन्म विरह के कारण और स्वरूप सुस्पष्ट हो गये हैं, साथ ही इस विवेचन से मीरां के भाव-जगत का सुस्पष्ट विश्लेषण भी हो गया है । यथासमय रसविवेचन के सन्दर्भ में इस विषय का और भी अधिक स्पष्टीकरण किया जायगा ।

मीरां की उपासना-पद्धति का स्वरूप

मीरां की उपासना-पद्धति नवधा भक्ति के अन्तर्गत आती है, जिसका विशद विवेचन "मीरां का व्यक्तित्व और उनकी भक्ति सम्बन्धी अभिरुचियाँ" अध्याय के अन्तर्गत विस्तार पूर्वक किया जा चुका है, किन्तु मीरां की मूल पदावली के वर्ण्य-विषय के नाते से इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि मीरां के मूल पदों में उनकी उपासना-पद्धति के स्वरूप के प्रमाण भी हैं । मीरां की उपासना माधुर्य भाव से परिपूर्ण थी । वे संसार से विरक्त थीं । "उन्होंने रत्न और आभूषणों का परित्याग कर दिया था और सिर पर जटायें बढ़ा ली थीं । प्रियतम की खोज के लिये उन्होंने भगवा वस्त्र धारण किये थे और वे उन्हें चारों दिशाओं में ढूँढ़ती फिरती थीं ।[2] वे अगम्य देश में

---

१. काशी की प्रति, पद ७४

प्रवेश पाने के लिये साधु-सन्तों से सत्संग और ज्ञान-चर्चा करती थीं। साँवरिया का ध्यान धर कर हृदय को उज्जवल करती थीं, शील के घुँघरू बाँधकर वे सन्तोष से नृत्य करती थीं। गिरधर से ही उनकी प्रीति थी। सांसारिक जीवों से वे सर्वथा विमुख थीं।[१] उनका मन निरन्तर श्याम-नाम रटा करता था।[२] वे संसार को बीड़ का काँटा मानती थीं और उसे प्रभु-प्रेम के मार्ग का व्यवधान समझती थीं। इसलिये वे भवसागर से पार होने के लिये श्याम-नाम का जहाज चलाती थीं, गोविन्द के गुण गाती थीं, नित्य प्रातःकाल उठकर गिरधर के मंदिर में जाती थीं, प्रिय के दर्शन करती थीं, चरणामृत लेती थीं, और हरि के मंदिर में नृत्य करती थीं।[३] वे गिरधर के सम्मुख 'राजभोग' का थाल प्रस्तुत करती थीं और उन्हें "छप्पण भोग छतीशां बिंजरा" अर्पण करती थीं।[४]

विधि-विधान

मीरां ने अपनी पदावली में दो स्थलों पर विधि-विधान का उल्लेख किया है। ये दोनों पद बड़ी गम्भीर सांकेतिकता से परिपूर्ण हैं। उन्होंने कहा कि "विधि का विधान ही न्यारा है। उसने मृग को बड़े-बड़े नेत्र दिये हैं पर वे वन-वन मारे-मारे फिरते हैं। (मछली को मारकर खाने वाले कपटी) बगुलों का वर्ण शुभ्र होता है और (मधुर स्वर से गाने वाली) कोयल का रंग काला है। नदियों में निर्मल जल की धारा प्रवाहित है, किन्तु (रत्नाकर) समुद्र का जल खारा है। मूर्ख लोग सिंहासन पर बिराजते हैं और पंडित (ज्ञानी) दर-दर मारे-मारे फिरते हैं।[५]

"भाग्य की गति टालने से नहीं टलती। सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र को डोम के घर पानी भरना पड़ा। पाँचों पाण्डव और उनकी रानी द्रोपदी के हाड़ हिमालय पर्वत पर गले। राजा बलि ने इन्द्रासन पाने के लिये यज्ञ किया, किन्तु उसे पाताल में जाकर रहना पड़ा। (मेरे परिवार वालों ने–राणा-विक्रमाजीत ने–) मुझे विष दिया, किन्तु गिरधर नागर ने उस विष को भी अमृत कर दिया।[६]

पहले पद में 'मूरख जण सिंघासन राजा' द्वारा विक्रमादित्य का संकेत किया

---

१. काशी की प्रति, पद ७१
२. डाकोर की प्रति, पद ५८
३. काशी की प्रति, पद १०१
४. वही, पद ८२
५. डाकोर की प्रति, पद ५१
६. डाकोर की प्रति, पद ५४

गया है और दूसरे पद में उसके द्वारा दिये गये विष का अमृत में रूपान्तरण हो जाना बतलाया गया है, जिससे मीरां पर भगवदीय-कृपा का प्रमाण मिलता है ।

आराध्य के नाम और मीरां का उनसे सम्बन्ध :

मीरां ने अपने प्रिय को विविध शब्दों से सम्बोधित किया है, अनेक नामों के द्वारा उनका स्मरण किया है । मूल पदावली का सूक्ष्म विश्लेषण करने पर यह पता चलता है कि मीरां ने एक विशिष्ट मनोदशामें अपने और प्रिय के विशिष्ट सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिये अपने आराध्य गिरधर नागर को एक विशिष्ट शब्द से सम्बोधित किया है, अतः उनके सभी सम्बोधन सप्रयोजन हैं । भाव-द्योतक होने के कारण सम्बोधनों का यही विश्लेषण किया जाता है ।

विनीता :—मीरां के प्रभु गिरधर नागर उनके जन्म-जन्म के साथी थे, उनसे ही विनती कर मीरां भव-बन्धन से मुक्त होना चाहती थी, अतः विनीता के रूप में उन्होंने अपने प्रभु को 'गिरधर' नागर स्याम (२),[1] ठाकुर (८), प्रभु जी (११), गिरधर ळाळ (१४), महाराज (२६), कृपानिधाण (३१), गिरधारी ळाळा (३५) प्रभु (५३), दीणाणाथ (३६), शामरो (३७), गोवरधण गिरधारी (४२), तरण-तारण (६७क), असरण सरण (६८), अन्तरजामी (९०), सरताज (९१) शुखरासी (९५), प्राण अधारो (१००), कहकर पुकारा है ।

गुण-लीला गायिका—प्रभु के गुण और उनकी लीला का गायन करते समय उन्होंने उन्हें बलबीर (७), कान्हा (७), मुरारी (१८), कमळ दळ ळोचणा (३२), गोपाळ (४६), व्रजबाशी (६२), नटनागर (८३), गुणागर नागर और व्रजराज (९१) कहा है ।

दर्शनार्थी—दर्शनानन्द लेते समय मीरां ने अपने प्रिय को कान्हा (३), बांके विहारी (४), मदण मोहण (५), सांवरा गिरधारी (३०), शुखसागर स्वामी (४४), नण्दलाळ (४६), सामरिया (५७), रणछोड़ (६५), णण्दणण्दण (७२), श्याम कन्हैया (९५) कहकर स्मरण किया है ।

आराधिका—आराधिका और साधिका के नाते से मीरां ने कृष्ण को गिरधर गोपाळ (१), हरि अविणासी (६), व्रजवणतां रो कंत (३२), मोहण मुरळी वाळो (३५), ओळगिया (५६), प्रभु अविनाशी (६२), गिरधर लाळ (८३), और धरणीधर (५७) शब्दों से सम्बोधित किया है ।

---

१. कोष्टक में दिये गये अंक मीरां की मूल पदावली के पद-क्रमांक हैं ।—लेखक

विरहिन प्रेयसि--चिरवियोगिनी के रूप में मीरां ने अपने प्रियतम को मोहण (३), सांवरा (८), प्रीतम प्यारो (६), मोहणा (६), पिया (१०), प्रीतम (१८), भुवनपति (२३), प्यारे (२६), स्याम सुन्दर (२७), सिरी व्रजनाथ (३६) पिव, पिय, गोविन्द (३६), जणम जणम रो शाथी (४३), सांवरियो (४८), गिरधर (५६), सांवळिया (६१), नागर णण्दकुमार (७८), साजण (७६), मोहण (८७), काण्हड़ो (८६), पीव (८६) कहकर उनके प्रति अपनी अन्तर्व्यथा और पीड़ा व्यक्त की है।

मीरां की छाप

मध्यकालीन भक्ति-पदावली के गायक अन्यान्य भक्त कवियों की भाँति मीरां ने भी अपने नाम की छाप अपने पदों में रखी है। मूल पदावली में यह छाप निम्नलिखित रूपों में पायी जाती है–

१. मीरां (केवल नाम)--पद क्रमांक १, ३, ४, ५, ६, १३, १५, १६, १६, २३, ३०, ३१, ३६, ३७, ३६, ४६, ५६, ५६, ६१, ६३, ६८, ७०, ७६, ८१, ८३, ८५, ८६, ८८, ६३।

२. मीरां रे प्रभु गिरधर नागर–पद क्रमांक २, ७, ८, १०, २८, २६, ३२, ३५, ३८, ४१, ४२, ४३, ४५, ४७, ४८, ५०, ५१, ५७, ६२, ६४, ६५, ६६, ७२, ८४, ८७, ६२, ६४, ६६, ६७, ६६, १००, १०१, १०३।

३. मीरां रे प्रभु हरि अबिणाशी–पद क्रमांक ६, ४६, ५२, ५८, ६०, ७५, ८६, ६५।

४. मीरां रे प्रभु–पद क्रमांक ६, ११, १२, १७, २०, २१, २२, २७, ३४, ४०, ५३, ५४, ५५, ७४, ७७, ७८, ६१, ६८, १०२।

५. दासि मीरां ळाळ गिरधर–पद क्रमांक १४, २६, ६७ (ख), ६६,।

६. मीरां रे हरि–पद क्रमांक १८।

७. मीरां दासी–पद क्रमांक २४, २५, ३३, ७३, ८०, ८२, ६०।

८. मीरां रे शुख सागर स्वामी–पद क्रमांक ४४।

६. मीरां रे शुख सागरां–पद क्रमांक ७६।

१०. छाप हीन पद–पांडुलिपियों में पद क्रमांक ६७ क और पद क्रमांक ७१ अधूरे ही उपलब्ध हुये है, उनकी अंतिम पंक्ति न मिलने के कारण उनमें मीरां की जो छाप रही होगी, उसका पता नहीं है।

मीरां की इन्हीं छापों को मीरां भावधारी साधु-सन्तों, गायकों ने समय-समय पर उलट फेर के साथ गेय परम्परा में प्रयुक्त कर मीरां के नाम पर स्वरचित पदों को खूब प्रचारित किया है।

मीरां-भाव

भावना की दृष्टि से मीरां की सम्पूर्ण पदावली प्रेममूला भक्ति-भाव पर आधारित है। प्रेममूला भक्ति निर्गुणिया सन्तों और सगुणोपासक भक्तों में समान रूप से पाई जाती है। निर्गुणियों में ब्रह्म-जीव सम्बन्ध पर पति-पत्नी भाव आरोपित कर कबीर ने 'राम मोर पिउ मैं राम की बहुरिया'' कहा है। पर तत्वतः है यह एक आध्यात्मिक रूपक ही, जो प्रतीक के रूप में अभिव्यक्त हुआ है और कबीर ने उसे अपने ऊपर आरोपित कर लिया था। प्रेम मार्गी सूफियों में भी प्रेम मूलाभक्ति सूफियाना ढंग से पाई जाती है। जहाँ जीव (रूह) और ब्रह्म (खुदा) के आध्यात्मिक सम्बन्ध क्रमशः प्रिय प्रेयसि के रूप में पाये जाते हैं, जो भारतीय धर्म-दर्शन की मान्यता के सर्वथा प्रतिकूल हैं। सूफी सन्तों में यह भाव वैयक्तिक न होकर तटस्थ रूप से व्यक्त हुआ है। अर्थात् निर्गुणिया सन्तों ने उसे अपने ऊपर आरोपित किया है और सूफियों ने अपने कथानकों के पात्रों के माध्यम से जीव-ब्रह्म-सम्बन्ध या रूह-खुदा के इश्क का विवेचन किया है। सूफी तटस्थ कथाकार थे, उन्होंने आत्मकथा न कहकर अन्य पात्रों की प्रतीकात्मक कथायें कहीं हैं। वे जीव-ब्रह्म-सम्बन्ध के इस्लामी कथाकार थे। इसके दूसरी ओर सगुणोपासक भक्तों की परम्परा है, जो राम-भक्ति-शाखा और कृष्ण-भक्ति-शाखा के रूप में स्वतंत्र रूप से विकसित हुई है। राम चराचर के स्वामी, शील, शक्ति, सौन्दर्य-सम्पन्न सच्चिदानन्द सन्दोह विष्णु के अवतार थे, उनके प्रभुत्व के आगे उनके दास और सेवक ही ठहर सके हैं, इसीलिये बाल्मीकि ने राम को धीरोदात्त आदर्श नृपति मान उनकी यश गाथा गाई है और कविश्रेष्ठ तुलसी ने स्वयं दास्य-भाव से प्रेरित हो भगवान श्रीराम को स्वामी माना है। हृदय की कोमलतम मधुरवृत्ति केवल कृष्ण से ही जुड़ी है। श्रीमद्भागवत से उनका जो ब्रह्म रूप प्रतिष्ठित हुआ है, उसे लेकर जीवात्मा पर गोपी भाव आरोपित किया गया है। रामभक्ति के रसिक सम्प्रदाय में भक्तों का नारीत्व आरोपित है। इसे कहने की आवश्यकता नहीं है।

गोपीभाव के चार सोपान हैं। दक्षिण की सुप्रसिद्ध देवदासी अन्दाल, महाराष्ट्र की सखुबाई और गुजरात की कान्होपात्रा इस गोपी-भाव की प्रथम परिचायिका हैं। उनका लौकिक विवाह आराध्य की मूर्तियों के साथ हुआ था, किन्तु मीरां का विवाह स्वप्न में हुआ था और वह भी उनका जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध था। इस दृष्टि से स्थूल जगत से ऊपर उठी हुई मीरां का दाम्पत्य भाव अवश्य उच्च श्रेणी का था। मीरां का कृष्ण से आन्तरिक प्रणय-सम्बन्ध था, जो स्थूल जगत में कभी मूर्त नहीं हुआ।

गोपीभाव का दूसरा रूप महाप्रभु चैतन्य के भाव जगत में था, वहाँ राधा रानी

और कृष्ण की लीलाओं का गुणगान किया जाता था। राधा-भाव पुरुष भक्तों पर आरोपित था और पुरुष भक्त अपनी भावनाओं को राधा या गोपी के माध्यम से व्यक्त करते थे। राधा ब्रह्म-स्वरूप कृष्ण की आल्हादिनी शक्ति थी, एक काल्पनिक व्यक्तित्व था जिसका ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है किन्तु मीरा स्वयं प्रमाण थी, मूर्तिमंत भाव था। मीरां-भाव में नारी की आत्मा थी, चिरन्तन जीवात्मा का नैसर्गिक नारीत्व था, एक स्वानुभूत स्वयं प्रमाण विशिष्ट भाव था। जो गोपी-भाव के राधा भाव से अधिक मौलिक, अधिक स्वाभाविक, अधिक जीवन्त था। मीरां-भाव में आरोपित अनुभूतियों का अभिव्यंजन नहीं, स्वानूभूत सत्य की प्रतिष्ठा हुई है। राधा वृन्दावन में ही रो रोकर कुढ़ती रही, लता-वल्लरियों से अपना दुखड़ा रोती रही, उद्धव के आने पर भी व्रज से मथुरा तक नहीं जा सकी। इस तरह से राधा भावुक थी पर मीरां कर्मनिष्ठ। वह विरह-विदग्ध हो रोती अवश्य थी, किन्तु प्रियतम की खोज में वह उन्हें गृह-वन में पुकारते हुये राजस्थान से व्रज और व्रज से द्वारका तक गई। राधा का अरण्य-रोदन वृन्दावन के निकुंजों में विलीन हो गया, किन्तु मीरां का करुण क्रन्दन अधिक व्यापक बन गया। राधा-भाव धीरे-धीरे रीतिकालीन कविता तक आते-आते दूषित हो गया किन्तु मीरां-भाव पनपा, फूला और फला। गुजरात से बंगाल तक और पंजाब तथ, ब्रजमण्डल से लेकर सुदूर दक्षिण पूर्व के उड़ीसा और दक्षिण में महाराष्ट्र तक-युग युग तक-मीरां भाव समय की साँसों पर छाया रहा। आज भी इन्दिरा देवी की कवितायें मीरां-भाव से अनुप्राणित हैं। साधु-सन्तों और भक्त-गायकों में विशेषकर रैदासी सम्प्रदाय, नाथ-सम्प्रदाय, निर्गुणिये संत और योगी गायकों पर मीरां-भाव के प्रभाव का ही यह परिणाम हुआ कि मीरां के नाम पर सैकड़ों पदों की निरन्तर सृष्टि होती रही और मीरां की मूल पदावलो प्रक्षेपों से लद गई, पर सन्तोष का विषय है कि मीरां-भाव आज भी सात्विक दाम्पत्य-प्रेम का परिचय दे रहा है। वह नारी हृदय की पावन धरोहर है, जो भारतीय भक्ति पद्धति के सर्वथा अनुरूप है। वह आरोपित नारीत्व का आध्यात्म निवेदन नहीं, 'प्रथम पुरुष' में व्यक्त आत्मा की सीधी, सच्ची पुकार है। "मैं", "आतमा" और "मीरां" तीनों मिलकर स्वकीया प्रेम परक आध्यात्मिक मीरां-भाव बना है, जो दाम्पत्य प्रेम-द्योतक कर्म निष्ठावान आध्यात्मिक प्रेममूला मधुर भक्ति की चरम सीमा है। वह दासी-भाव, गोपीभाव और राधा-भाव से भी एक श्रेणी ऊपर की अनुभूति है, सर्वथा वैयक्तिक अनुभूति, जिसमें आध्यात्मिक क्षेत्र में निरन्तर प्रभु-दर्शन व मिलन की मधुर लालसा, आशा व उत्कंठा उत्तरोत्तर वृद्धिगंत होती जाती है और भक्त की भावना "तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति। तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति" से सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्वों में स्वैर संचार करती हुई बिन्दु-सिन्धुवत् अपने मधुरतम आनन्द स्वरूप प्रियतम से तद्रूपता पाकर ही शेष रहती है। संक्षेप में आल्हा-

दिनी शक्ति रूपा राधा की अनुभूति के बाद आत्मा जब प्रिय-मिलन के लिये प्रिय-पथ गामिनी चेष्टारत मनस्विनी स्वकीया बन जाती है, वहीं से मीरां-भाव का प्रादुर्भाव होता है । इसीलिये राधा-भाव की अपूर्णता (राधा के पुनर्जन्म द्वारा मीरां के रूप में) मीरां-भाव द्वारा अपनी अन्तिम सीमा को छू गई है । इसीलिये मीरां भाव, राधा भाव से श्रेष्ठ भगवद्रति विषयक आध्यात्मिक प्रेमतत्व का व्यक्तिनिष्ठ रूप है, जो मीरां के पदों का प्रमुखतम भाव है ।

किन्तु आध्यात्मिक, दार्शनिक और तात्विक धरातल पर मीरां और राधा की तुलना नहीं की जा सकती, क्योंकि राधा का व्यक्तित्व सर्वथा अलौकिक है । वह ब्रह्म-रूप कृष्ण की आल्हादिनी शक्ति है । कृष्ण की प्रेयसि है । उसका प्रेम, मान और लीला-रहस्य सभी शुद्ध सात्विक पारलौकिक तत्व हैं । वह कृष्ण का अंश है, कृष्णमय है । राधा और कृष्ण दोनों एक है । किन्तु मीरां जीवात्मा थी, सांसारिक नारी थीं । वह कृष्ण की प्रेमिका और सहचरी नहीं, उपासिका थी । मीरां-मीरां थीं, राधा-राधा अतः दोनों के व्यक्तित्व की तुलना नहीं हो सकती ।

फिर भी संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मीरां के मूल पद वैष्णव धर्म-भावना से अनुप्राणित हैं, जिनमें समर्पण-द्योतक, विनय और निर्वेदाभिव्यक्ति का प्राधान्य है । उनके विप्रलम्भ शृंगार के पद आध्यात्मिक भाव-भूमि को प्रतिष्ठा के परिचायक हैं और पौराणिक तथा ऐतिहासिक भक्तों के उल्लेख वाले पद परम ब्रह्म विष्णु के विभिन्न अवतारों के समर्थक हैं । पदावली की पृष्ठभूमि में विद्यमान मीरां की वैयक्तिकता के कारण उनके अधिकांश पद जीवनवृत्त के अन्तःसाक्ष्य के प्रमाण हैं और उन सभी में स्पन्दित है—मीरां का भव्य व्यक्तित्व, दिव्य भक्ति-भाव-मीरां-भाव ।

अध्याय ६

मीरां-पदावली के कला-पक्ष का विवेचन

मीरा-पदावली की भाषा का स्वरूप

मीरां-पदावली का भाषा की स्वरूप बहुत विवादास्पद है। हस्तलिखित मूल प्रतियों के अभाव में गेय परम्परा से प्राप्त पदों के भाषा वैविध्य को देखते हुये मीरां पदावली के संकलनकर्त्ता, सम्पादकों, समीक्षकों और शोध-कर्त्ताओं ने प्रसिद्ध को ही सिद्ध मानकर मीरां को अनेक भाषाओं की कवयित्री स्वीकार किया है, साथ ही इस स्वीकारोक्ति के अन्तराल में एक अनिश्चितता, एक संशयात्मक स्थिति, एक भ्रामक धारणा भी सुगबुगाती रही है, फलतः राग कल्पद्रुम से लगाकर संत समाज भजनावली के प्रकाशन तक मीरां-पदावली के सभी सम्पादक मीरां की भाषा के सम्बन्ध में किसी एक सुनिश्चित निष्कर्ष तक नहीं पहुँचे और मीरां-पदावली की भाषा विषयक दुविधात्मक स्थिति यथावत् बनी रही, अतः मीरां-पदावली की भाषा का स्वरूप निर्धारित करने के पूर्व, इस क्षेत्र में कार्य करने वाले विद्वानों के मतों पर एक नजर डाल देना नितान्त अनिवार्य है।

प्रायः सभी मीरां-पदावलियों के पद मौखिक परम्परा और संदिग्ध तथा अशुद्ध हस्तलिखित गुटकों से लिये गये हैं, जिससे उनमें भाषा, भाव, संगीतात्मकता, भक्ति विषयक धारणा और स्वरूपात्मक परिवर्तन होते गये हैं। राग कल्पद्रुम के पद मौखिक परम्परा पर आधारित हैं, अतः उनमें व्रज और ब्रज-मिश्रित राजस्थानी का प्राधान्य है। मीरांबाई के भजन भी इसी प्रकार प्रकाशित हुये हैं। मीराबाई की शब्दावली संकलन ग्रंथ है, जिसमें संत मत प्रभावान्वित पदों की भरमार है और खड़ी बोली के पद भी मीरां की रचना मान लिये गये हैं। सम्पादक जी ने ब्रज भाषा और पूर्वीबोली के शब्दों से संयुक्त पदों को भी मीरां की ही रचना मानने का आग्रह किया है उन्होंने लिखा है कि "हम पूरे विश्वास से नहीं कह सकते कि जो कुछ हम चुनकर छाप रहे हैं, वह स्वच्छ बानी मीराबाई की है। मीराबाई संस्कृत भी जानती थी और देश-देशान्तर के साधुओं के समागम से ब्रजभाषा और पूरबी बोली भी अच्छी तरह समझती

और लिख-पढ़ सकती थीं, इसलिये उनके कोई कोई शब्द, जो उन बोलियों में हैं, उन्हें केवल इसी कारण से क्षेपक न मान लेना चाहिये ।"[१]

यहाँ 'शब्द' शब्द विचारणीय है । मीराबाई की शब्दावली, संतबानी पुस्तक-माला का प्रकाशन है, जिसमें 'सन्तों' की बानी का ही प्रकाशन होता रहा है । क़बीर आदि निर्गुण-परम्परावादी-सन्तों की ही भाँति इस ग्रंथ के सम्पादक ने मीरा के पदों को 'शब्द' कहा है और उनका वर्गीकरण भी 'उपदेश का अंग' 'बिरह का अंग' आदि अंगों में किया है ।

शब्दावली के पदों की भाषा मीरां की भाषा नहीं, सन्तों में प्रचलित मीरां-पदावली के विभिन्न गेय पद रूपों की भाषा है, जिसके प्रमाण, मीरां की प्रामाणिक पदावली पुस्तक के चौथे अध्याय में विद्यमान है । डाकोर की मूल प्रति के पद क्रमांक ३६, ३७, ३८, ३६, ४०, १, २, ६, १०, ११, १३, १४, १५, १६, २०, २१, २४, २५, ३१, ३२, ३३, ३५, ४१, ४३, ४५, ४६, ४७, ४८, ४६, ५०, ५४, ५८, ५६, ६०, ६४, ६६, ६८, ६६, और काशी की प्रति के पद क्रमांक ७०, ७१, ७२, ७३, ७६, ७७, ७६, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८७, ८८, ६०, ६१, ६६, ६७, ६८, १०१, १०२, और १०३ के गेय रूप मीराबाई की शब्दावली में प्रकाशित हुये हैं, उनमें मीरां की मूल भाषा षर सन्त शब्दावली और लोकप्रचलित पदों की भाषाओं के रूप विद्यमान हैं, अतः शब्दावली के पदों की भाषा सन्तों की भाषा है, मीरां की नहीं । ऐसी स्थिति में शब्दावली के पद मीरां के मूल पदों के भाषानुवाद, भावानुवाद के नाते प्रक्षिप्त लोक प्रचलित पद माने जाने चाहिये ।

श्री नरोत्तमदास जी स्वामी ने भी मीराबाई की कविता की भाषा राजस्थानी मानी है । उनका मत है कि "मीराबाई की कविता की भाषा राजस्थानी है, जो पश्चिमी हिन्दी का एक प्रधान विभाग है । राजस्थानी की उत्पत्ति अपभ्रंश से हुई है और वह अपभ्रंश की सबसे जेठी बेटी है । राजस्थानी, ब्रज और गुजराती का उद्गम स्थान एक ही है और तीनों में बहुत समानता पाई जाती है । प्राकृत और अपभ्रंश की अनेक विशेषतायें इसमें संरक्षित है । ब्रजभाषा और गुजराती का पृथक् विकास विक्रम की चौदहवीं शताब्दियों में हुआ । कालान्तर में राजस्थानी के दो रूप हो गये । एक में अपभ्रंश बहुत कुछ मिली रही । इसको चारण भाटों ने अपनाया और आगे चलकर यह रूप डिंगल कहलाने लगा । राजस्थानी का यह साहित्यिक रूप कुछ दिनों में स्थिर (stereotyped) हो गया । और मृत भाषा बन गया । चारण-भाट अभी तक इस

---

१. मीराबाई की शब्दावली-बेलवेडियर प्रेस प्रयाग, मीराबाई का जीवन-चरित्र, पृष्ठ ७

रूप में कविता किया करते हैं । पृथ्वीराज रासो डिंगल का एक प्रसिद्ध उदाहरण है । राजस्थानी का दूसरा रूप जन-साधारण की प्रचलित बोली थी । उसमें भी साहित्य का अभाव नहीं था । बाद में मीरा आदि भक्त कवियों ने इस रूप को अपनाया और इसी में कविता की । जन-साधारण के बोधगम्य होने के कारण इसमें लिखी हुई रचनाओं का खूब प्रचार हुआ ।

मीराबाई की भाषा में मिश्रण बहुत है । गुजराती की विशेषतायें भी अनेक स्थानों पर पाई जाती हैं । पंजाबी, खड़ी बोली, पूरबी आदि का आभास भी कई स्थानों पर मिलता है । उनके अनेक पद शुद्ध गुजराती में भी पाये जाते हैं, पर इसमें सन्देह है, कि वे उनके ही बनाये हुये हैं ।[1]

मीराबाई के पद जिस रूप में पाये जाते हैं, ठीक उसी रूप में वे लिखे गये थे, यह कहना कठिन है ।....इस संग्रह में मीरा के पद एक हस्तलिखित प्रति से लिये गये हैं, जिसका पाठ हमें अधिक शुद्ध और प्राचीन मालूम हुआ है ।'[2]

मीरा-मन्दाकिनी में नरोत्तमदास जी ने जिस 'हस्तलिखित प्रति' से पदों का संकलन किया है, उसका स्रोत, स्वरूप और इतिहास आदि का कहीं उल्लेख नहीं किया । मीरा-मंदाकिनी के सभी पद गेय परम्परा पर आश्रित हैं । डाकोर की प्रति के पद क्रमांक १, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ६, १०, १२, १३, १६, १७, १६, २२, २३, २६, २७, २६, ३०, ३४, ४४, ४५, ४७, ५२, ५३, ५६, ६७, (क, ख) और काशी की प्रति के पद क्रमांक ७१, ७५, ७८, ७६, ६१, ६२, ६३, ६६ के जो रूप मीरा-मन्दाकिनी में दिये गये हैं उनका भाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि मीरा-मन्दाकिनी के पदों की भाषा में भी ब्रज और राजस्थानी में प्रचलित मीरां के पदों के रूप ही अधिकतर पाये जाते हैं और यह भाषा, वह राजस्थानी भाषा नहीं है, जिसमें मीरां ने मूल पदों को वाणी दी थी ।

श्री महावीरसिंह जी गहलोत की मान्यता है कि 'मीरां के पदों के रचनाकाल भी भिन्न-भिन्न है और देश भी । देश परिवर्तन के साथ-साथ भाषा भी रूप बदलती रहती है । यह सिद्धान्त परिवर्तनशील भी है । जैसे किसी कारण आवेश आ जाय तो कवि अपनी भाषा में ही रचना करेगा । भाषा फेर के अन्य कारणों में से लिपि और लहिया भी हैं । अन्य लिपियों में जाकर शब्द कुछ रंग बदल देते हैं तो कुछ शब्द लहिया

---

१. देखिये-वृहत्काव्य दोहन-ग्रंथ ७ मा०, पृष्ठ ७०१, टिप्पणी

२. मीरा-मन्दाकिनी-नरोत्तमदास स्वामी, मीराबाई की कविता की भाषा, प्रस्तावना, पृष्ठ १५-१७

(लेखक या प्रतिलिपिकार) की कृपा से अपना रूप ही बदल लेते हैं । गेय पदों (मुक्तक छन्दों) की भाषा पर कुठाराघात संगीत के खिलाड़ी भी कर देते हैं । मूल पद किस राग में था, इसका पता न होने पर जब पद को भिन्न राग में गाने की चेष्टा की जाती है, तब ताल के अनुसार मात्राओं को बिठाने में शब्दों को तोड़ा मरोड़ा जाता है और इस प्रकार पद की भाषा बदल जाती है । अंतिम प्रहार कभी-कभी पद के सम्पादकों द्वारा भी हो जाता है । संपादकों ने ऐसा भी किया है ।...मीरां के ब्रज में रचे पद जब ब्रज-लीला को अपना विषय बनाते है, तब शुद्ध ब्रज भाषा के होते हैं ।....हम मीरां की भाषा पर केवल इतना ही लिखना चाहेंगे कि वह 'पिंगल' है । पिंगल से हमारा तात्पर्य ब्रज-भाषा के उस रूप से है, जो मध्यकाल में राजस्थान की काव्य-भाषा (विशेषकर भक्ति सम्बन्धी पदों) का रहा है ।"[१]

गहलोत जी की मान्यता के अनुसार मीरां के पदों का रचनाकाल भी भिन्न-भिन्न है और देश भी । इसमें कोई सन्देह नहीं है कि मीरां ने मेड़ता, मेवाड़, वृन्दावन और द्वारका में विविध अवसरों पर पद-रचना की थी, किन्तु मीरां ने देश-परिवर्तन के साथ-साथ अपनी भाषा भी बदली थी-यह धारणा गलत है । मीरां द्वारा ब्रजभूमि में ब्रज भाषा में पद नहीं रचे गये और द्वारका जाने पर मीरां ने गुजराती में पद रचना नहीं की । डाकोर की प्रति के ३,४,५,७,८ आदि पदो में वृन्दावन और उससे सम्बन्धित नैसर्गिक सौन्दर्य और कृष्ण की विविध प्रतिमाओं के वर्णन हैं, किन्तु मूल रूप में पदों की भाषा ब्रजभाषा नहीं है । इसी प्रकार डाकोर की प्रति के पद क्रमांक ६५ में रण-छोड़ जी का जो वर्णन है, वह भी मूल पद में गुजराती भाषा में नहीं है । वृन्दावन सम्बन्धी पदों का ब्रजभाषान्तरण और रणछोड़ सम्बन्धी पद का गुजरातीकरण बाद की रचनायें हैं । उक्त पदों के पाठानुशीलन से हमारे मत का समर्थन हो जाता है, अतः गहलोत जी की यह मान्यता कि स्थल- भेद के अनुसार मीरां ने अपनी भाषा बदली होगी, निराधार और भ्रांत है ।

गहलोत जी की यह धारणा भी कि 'किसी कारण आवेश आ जाय, तो कवि अपनी भाषा में ही रचना करेगा' विचारणीय है । मीरां का सम्पूर्ण काव्य भक्ति-भावावेश की सहज अभिव्यक्ति है, अतः उसका 'मीरा की अपनी भाषा' में रचा जाना स्वाभाविक है, किन्तु मीरां की अपनी भाषा प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी थी, उसे ब्रजभाषा का राजस्थानी रूप नहीं कहा जा सकता । डाकोर और काशी की प्रतियों के पदों में मीरां की अपनी भाषा ही विद्यमान है, क्योंकि मीरां का देश मारवाड़ था और प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मीरां की बोली । ब्रजभाषा समन्वित न तो मेड़तां

---

१. मीराँ: जीवनी और काव्य-महावीरसिंह गहलोत, पृष्ठ ५५-५६

के राजकुलों की भाषा थी, न मेवाड़ की,अतः प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी को ही मीरां की भाषा मानना चाहिये ।

मीरां -पदावली की भाषा के परिवर्तन के कारण और स्वरूप

मीरां की भाषा में जो परिवर्तन हुये हैं, उनके प्रमुख कारण इस प्रकार हैं:–

लिपि-भेद से भाषा-भेद :

लिपि-परिवर्तन से भाषा में पर्याप्त परिवर्तन हो जाता है । साथ ही शब्द ध्वनि, अर्थ और प्रयोजन में भी परिवर्तन होता है ।

मीरां का मूल पद

जाणां रे मोहणा जाणां थारी प्रीत ।
प्रेम भगति रो पैडोम्हारो, और णा जाणां रीत ।
इमरित पाइ बिषां क्यं दीज्यां कूण गाँव री रीत ।
मीरां रे प्रभु हरि अबिणासी, अपणों जण रोमीत ।[1]

राजस्थानी में लिपि-भेद

जावो नर मौहीया जी, झीणी नेरी प्रीतडी ॥ टेक ॥
लगन लगी जब और प्रीति छी, अब कछुअवली रीतड़ी ॥१॥
ईम्रत पाई विषै क्यूं पीजिये, कौण गाँव की रीतड़ी ॥२॥[2]
मीरां के प्रभु हरि अविनासी, जौ गायो किसकी मीतड़ी ॥३॥

डाकोर की प्रति में प्राप्त मूल पद के लिपि-भेद के अनुसार[3] जो विभिन्न भाषा भेद और पाठान्तर पाये जाते हैं, उन्हें मीरा की प्रामाणिक पदावली पुस्तक के चतुर्थ अध्याय में देखा जा सकता है । राजस्थानी की ही तरह गुजराती में भी लिपि-भेद के अनुसार भाषाभेद पाया जाता है ।

मूल पद

थारो रूप देख्यां अटकी ।
कुळ-कुटम्ब सजण सकळ, बार-बार हटकी ।
विशरयां णा ळगन लगा. मोर मुगट णटकी ।

---

१. डाकोर की प्रति, पद ९
२. राजस्थानी में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज (भाग ३)-उदयसिंह भटनागर, पृष्ठ २२०, पद ३
३. मीरां- का प्रामाणीक, पदावली अध्याय-४ मूल, पद ६

म्हारो मण मगण स्याम, ळोक कह्यां भटकी ।
मीरां प्रभु सरण गह्या जाण्यां घट घट की ।[1]

लिप्यान्तरित गुजराती रूप

तेरो रूप देखी लटकी ।
देहथि विदेह भई, गिरी परी शिरे मटकी ॥१॥
तात मात सजन बन्धु, जननो मिलि हटकी ।
सदि थि मोहों टरत (न) नाहीं छबी (वि) नागर नटकी ।
अब तो मन वासु मांन्यो, लोग कहत भटकी ।
मीरां प्रभु गिरिधर बिना को जांणे आ घटकी ॥२॥[2]

लहिया और भाषा-भेद :

डाकोर की मूल प्रति के उक्त दोनों राजस्थानी और गुजराती रूप दो अलग-अलग भाषाओं के लिपिकों की कृपा के फल हैं। उक्त दो पदों में ही यह स्थिति हुई है, सो बात नहीं है। राजस्थानी और गुज राती के सम्पूर्ण पद इसी प्रकार भाषान्तरित, भाव-परिष्कृत, परवर्ती और प्रक्षिप्त पद हैं। इन सभी प्रक्षिप्त पदों पर 'मीराकी प्रामाणिक पदावली पुस्तक' के चौथे अध्याय में विस्तार पूर्वक सप्रमाण विवेचन किया गया है।

संगीतकारों द्वारा गेय पदों में भाषा-परिवर्तन

मूल पद

प्रभु जी थे कठयां गया नेहड़ा लगाय ।
छोड़या म्हा बिसवास संगीता, प्रीत री वाती जळाय ।
विरह समंदमा छोड़ गया छो नेहरी पाव चढ़ाय ।
मीरां रे प्रभु कबरे मिलोगां, थें बिण रह्या णा जाय ।[3]

मूल पद राग दरबारी में गाया जाता था, किन्तु अब उसे राग सोरठ में गाया गया, तो पूरे पद की भाषा और टेक तथा अन्तरे, सभी के शब्द-विन्यास में ताल, लय और गति के अनुसार परिवर्तन हो गया। मूल पद को राग सोरठ में गाने पर उसका रूप इस प्रकार बना—

---

१. डाकोर की प्रति पद ६३
२. गुजरात हाथ प्रतोनी संकलित यादी, गु०व०सो० अहमदाबाद पृष्ठ ६, हस्त प्रति नं०-द ४७७ क
३. डाकोर की प्रति, पद ११

हो जी हरि कित गये नेह लगाय ।
नेह लगाय मेरो मन हर लीयो, रस भरी टेर सुनाय ।
मेरे मन में ऐसी आवै, मरूँ जहर विष खाय ।
छाड़ि गयो बिसवास घात करि, नेह केरी नाव चढ़ाय ।
मीराँ के प्रभु कबरे मिलोगे, रहे मधुपूरी छाय ।[1]

सम्पादकीय प्रहार से भाषा-परिवर्तन:–

प्राचीन कवियों की रचनाओं को सम्पादित करते समय सम्पादकीय प्रतिभा भी बड़े महत्वपूर्ण परिवर्तन करती है । मीरां की मूल पदावली के १०३ पदों के २९५ परवर्ती गेय रूपान्तर गायकों और साधु-सन्तों की देन है, तथा लगभग ४००० शाब्दिक पाठान्तर भी गायकों और सम्पादकों की प्रतिभा से अनुप्राणित हैं । सम्पादक गण किस प्रकार कवि की मूल भाषा को लोक भाषानुरूप परिवर्तित करते है ।, इसके मीरां-पदावली में अनेक दृष्टान्त है । यहाँ केवल दो उदाहरण पर्याप्त होंगे ।

मूल पद

मुरळिया बाजां जमणा तीर ।
मुरळी म्हारो मण हर ळीन्हो, चित धरां णां धीर ।
श्याम कन्हैया, स्याम कमरयां, स्याम जमण रो नीर ।
धुण मुरळी शुण शुध बुध बिशरां जर जर म्हारो शरीर ।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर, बेग हरयां म्हा पीर ।[2]

मीराँ-वृहत्-पद-संग्रह में मूल पद का गेय रूप

मुरलिया बाजै जमुना तीर ।
मुरलि सुनत मेरो मन हरि लीन्हों, चीत परत नहिं धीर ।
कारो कन्हैया कारी कमरिया, कारो जमुना को नीर ।
मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर, चरण कमल पै सीर ।[3]

---

१. मीरांबाई की पदावली-परशुराम चतुर्वेदी, पृष्ठ १५५, पद १८०
२. काशी की प्रति, पद ६४
३. मीराँ-वृहत्-पद-संग्रह, पद्मावती शबनम, पृष्ठ २८६, पद ७

मीराँ-माधुरी में उक्त पद का सम्पादित रूप

मुरलिया बाजै जमुना तीर ।
मुरली म्हारो मन हर लीन्हों, चीत धरत नहिं धीर ॥
कारौ कन्हैया, कारी कमरिया, कारौ जमुन कौ नीर ।
धुन मुरली सुनि सुध बुध बिसरी, जर जर म्हारो सरीर ।[१]
'मीराँ' के प्रभु गिरधर नागर, चरन कँवल पै सीर ॥[२]

मीराँ-माधुरी में दिये गये पद में तीसरी पंक्ति के पाँचवे शब्द 'कारौ' पर १, चौथी पंक्ति के अंत में २, और पाँचवीं पंक्ति के उत्तरार्ध पर ३ पाठान्तर सूचक अंक दिये गये हैं, और सम्पादक श्री ब्रजरत्नदास जी ने पाठान्तर में लिखा है कि १. काशी की प्रति में कारो, कारी के स्थान पर स्याम है । २. यह पंक्ति काशी की प्रति से ली गई है ।३. पाठा०-बेग हरयां मा पीर ।४. स्पष्ट है कि ये पाठान्तर मूल प्रति के हैं, किन्तु सम्पादक जी ने गेय परम्परा से प्राप्त पद को जब सम्पादित किया तो गेय पद में मूल प्रति की अप्राप्य पंक्ति को स्वयं अनुवादित कर गेय पद रूप को मूल पद के भावानुरूप, प्रचलित भाषा में पूरा कर दिया और भाषान्तरित एक पंक्ति अपनी ओर से जोड़ दी ।

श्री ब्रजरत्नदास जी अपनी 'मीराँ-माधुरी' के द्वितीय संस्करण की भूमिका में लिखा है कि "मीराँ-माधुरी" के प्रथम संस्करण में चार सौ उनहत्तर पद संग्रहीत हुये थे, इस द्वितीय संस्करण में सैंतीस पद नये बढ़ाये गये हैं । दस पद डाकोर की, तथा चौदह पद काशी की उन हस्तलिखित प्रतियों के हैं, जो मीरा स्मृति ग्रंथ में प्रकाशित पदावली में दिये हैं और चार उसी ग्रंथ के पृष्ठ १४१-५२ पर श्री जगदीश प्रसाद गुप्त द्वारा संवत् १६६५ की हस्तलिखित प्रति से उद्धृत हैं । इसके शिवा नौ पद राजस्थान में श्री रंकण शर्मा द्वारा उद्धृत किये हैं ।[३]

ब्रजरत्नदास जी ने डाकोर और काशी की प्रतियों के पदों का सम्पादित करते समय मूल पदों को यथा रूप न लेकर उनका ब्रजभाषा में रूपान्तर कर दिया है । प्रचीन काव्य का जो रूप-सौष्ठव और भाव-वैभव है, वह उनकी प्राचीनता के संरक्षण में ही है । सम्पादकों को प्राचीन कवियों के पद, यदि हस्तलिखित प्रति में मिलें तो उन्हें जैसे का तैसा ही सम्पादित करना चाहिये । सम्पादक का संस्कारक बनकर मूल पदों

---

१. मीराँ-माधुरी, ब्रजरत्नदास, पृष्ठ १२, पद ३३
२. वही-पृष्ठ १२, फुटनोट
३. मीराँ-माधुरी, ब्रजरत्नदास, द्वितीय आवृत्ति पर दो शब्द, पृष्ठ ७

की भाषा में हेर-फेर करना समीचीन नहीं है । ब्रजरत्नदास जी ने मूलपदों में जो भाषा-गत परिवर्तन किया है, वह 'मीरा की प्रामाणिक पदावली' पुस्तक के चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत डाकोर की प्रति पद क्रमांक ५७, और काशी की प्रति के पद क्रमांक ७८,८६, ८६,६६, ६७,६८ आदि में देखा जा सकता है । डाकोर की प्रति के ५७ वें पद के दो रूप भी मीराँ-माधुरी में मिलते हैं, जो भाषागत परिवर्तन के अच्छे प्रमाण हैं ।

साधु-सन्तों द्वारा भाषा-परिवर्तन

भ्रमणार्थी साधु सन्तों द्वारा भी मीराँ-पदावली की भाषा में बड़े विशद परिवर्तन किये गये हैं और उन्होंने राजस्थानी, ब्रज, गुजराती, पंजाबी, बिहारी, खड़ी बोली तथा अनेक मिश्रित भाषाओं के पद मीरां के नाम पर रचकर उन्हें भी जन समाज में प्रसारित कर दिया है । इस तरह से हस्तलिखित प्रति के अभाव में गेय परम्परा द्वारा विविध भाषाओं में मीरां के नाम पर पद चल पड़े । इस प्रकार से प्राप्त सभी प्रक्षेपों पर आगे विचार किया जायगा ।

श्रीमती विष्णुकुमारी मंजु का मत है कि यदि ध्यान पूर्वक देखा जाय तो मीरां के पदों में कई प्रकार की भाषाओं के शब्द मिलेंगे । इसका मुख्य कारण है उनका तीर्थाटन और साधु-सत्संग । भगवत्प्रेमी सन्त समुदाय मीरा के दर्शनार्थ आया करता था, जिससे उनके शब्द मीरां के पदों में आ गये । इसके अतिरिक्त मीरां का सम्बन्ध चार विभिन्न प्रदेशों से रहा है, मारवाड़, मेवाड़, गुजरात और व्रज । यद्यपि इनकी भाषा राजस्थानी है, तथापि उसमें व्रजभाषा के शब्द अधिक प्रयुक्त हुये हैं । गुजराती, पंजाबी, फारसी आदि के शब्द भी कहीं-कहीं प्रयुक्त हुये हैं । पूर्वी (बिहारी-आदि की) भाषा का भी कहीं-कहीं रूप मिलता है ।...फिर भी यह कहना पड़ेगा कि मीरां की कविता में बहुत सी भाषाओं का सम्मिश्रण पाये जाने पर भी उनकी कविता की भाषा, राजस्थानी है, जो पश्चिमी हिन्दी की एक प्रधान शाखा है ।[1]

मीरा-पदावली की इस दुविधात्मक स्थिति को सभी विद्वानों ने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से स्वीकारा है ।[2] तथा सभी प्रकाशित पद-संग्रहों में मीरां के पद विविध

---

१. मीरा-पदावली, विष्णुकुमारी मंजु, पृष्ठ ण-त ।

२. मीरां और उनकी प्रेमवाणी-ज्ञानचंद जैन, पृष्ठ ४५ ।
मीराँबाई जीवनी और काव्य-डॉ० श्रीकृष्णलाल, पृष्ठ १६८ ।
मीरां-दर्शन-प्रो० मुरलीधर श्रीवास्तव, पृष्ठ ५६ ।
जनम जोगिण मीरा-प्रो० शंभुप्रसाद बहुगुणा, मीरा स्मृति ग्रंथ, पृष्ठ ५०-५१
मीराँबाई की पदावली-परशुराम चतुर्वेदी, पृष्ठ ५६ ।
मीराँ-माधुरी ब्रजरत्नदास, पृष्ठ १७७ ।

भाषाओं में पाये जाते हैं, किन्तु वस्तु स्थिति ऐसी नहीं है।

कुछ गुजराती समीक्षकों की मान्यतायें

डॉ० निर्मला लालभाई झावेरी का मत है कि "मीरांनु बालपण मारवाडमां वीत्युं, लग्ने अे मेवाड़ी बनी, वृंदावन मां बसी, ब्रजवासी थइ, अने शेष जीवन अेने द्वारका मां पूरूं कर्युं, आ थी मारवाड़, मेवाड़, ब्रज अने गुजरात मां जुदे-जुदे स्थले अे रही होवा थी पदो मां जुदी-जुदी छांट देखाय छे। येना पदोनी मूल भाषा मारवाड़ी राजस्थानी कही छे, ते छे या जूनी पश्चिम राजस्थानी डॉ० टेसीटरी ने मते गुजराती तथा मारवाड़ीनी जननी छे।"[१]

श्रीमती झावेरी यह भी स्वीकार करती हैं कि "मीरां नो समय ईसुनी पंदरमी सोलमी सदी नो अपभ्रंश साहित्य नो युग छे। ये समय नी भारत नी जुदा-जुदा भागमां वपराती भाषानां अपभ्रंश स्वरूप मां घणु साम्य छे। अेज समय मां रचाअेला प्राचीन साहित्य मां हालनी भाषा अेना अपभ्रंश स्वरूप मां जोवा मळे छे, दा० त० भालणना 'नळाख्यान' अने पद्मनोल संवत् १५१२ मां रचेला 'कान्हड़दे प्रबन्ध' में अेना उदाहरणो मळे छे मीरांनो पण अेजकाल होवा छतां अेना समकालीन साहित्य नी भाषा अने अेना पदोनी भाषा मां घणो तकावत छे, अेनु कारण अे छे के अेना स्वरचित पदोनीप्रत उपलब्ध नथी।"[२]

मीरां के युग की भाषा को डॉ० निर्मला झावेरी भी मारवाड़ी राजस्थानी मानती हैं, और वे उसे प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का अपभ्रंश स्वरूप भी बतलाती हैं।

श्री के० एम० मुंशी,[३] श्री केशवराम काशीराम शास्त्री,[४] श्री सूर्यकरण पारीख[५] आदि सभी विद्वानों के मत भी श्रीमती झावेरी के मत से मिलते जुलते हैं।

इस प्रकार मूलतः हिन्दी और गुजराती के सभी विद्वान मीरां और उनके युग की भाषा को सोलहवीं शताब्दी की पश्चिमी राजस्थानी मानते हैं और गुजराती विद्वान उसे तद्‌युगीन पश्चिमी राजस्थानी का अपभ्रंश रूप मानने के पक्ष में हैं। डाकोर और

---

१. मीरां : जीवन अने कवन, डॉ० निर्मला लालभाई झावेरी, पृष्ठ २५३।
२. वही, पृष्ठ २५३।२५४।
३. गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर, श्री के० एम० मुंशी, पृष्ठ १३३।१३४।
४. कविचरित, भाग १, श्री के० का० शास्त्री, पृष्ठ १८८।
५. राजस्थानी हिन्दी और कबीर, श्री सूर्यकरण पारीख, ना० प्रा० पत्रिका संवत् १९९१ भाग १६, अंक १, पृष्ठ २३४।

काशी की प्रतियों की भाषा ऐसी ही है, अतः ऐतिहासिक दृष्टि से डाकोर और काशी की प्रतियों के पदों की भाषा को मीरां की प्रामाणिक भाषा मानना चाहिये ।

मूल पदावली सम्बन्धी महत्वपूर्ण तथ्य

१. मीरां, मीरां के युग और उनके राज-परिवार की मूल भाषा प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी थी, जो पश्चिमी राजस्थानी का अपभ्रंश रूप थी, इसका तद्युगीन गुजराती से साम्य था । डाकोर और काशी की प्रतियों की भाषा, (सामान्य लिपि भेद को छोड़कर) यही है, अतः मीरां ने ब्रज, गुजराती, आधुनिक राजस्थानी, बिहारी, पंजाबी आदि अन्य भाषाओं में पद-रचना नहीं की ।

२. आधुनिक राजस्थानी के पद मीरां के पद नहीं है । ब्रजभाषा में मीरां ने पद नहीं रचे, अतः आधुनिक गुजराती तथा अन्य भाषाओं में प्राप्त मीरां के तथाकथित सभी पद प्रक्षिप्त हैं । वे मीरां-भाव से प्रभावित साधु-सन्तों और गायकों की रचनायें हैं, मीरां की नहीं ।

३. अद्यावधि प्राप्त प्रमाण के अनुसार मीरां ने केवल १०३ पद प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में ही गाये थे, अतः वे ही मीरां के प्रामाणिक पद हैं । हस्तलिखित प्रतियों की प्राचीनता भी इसका एक प्रमाण है ।

४. मीरा के इन मूल पदों की भाषा का ब्रजभाषा और गुजराती में पद्यानुवाद हुआ है, और इसी ढंग से अनेक पद मीरां के नाम पर सभी भाषाओं में चल पड़े हैं ।

५. मूल पदावली की भाषा और भाव-धारा के अनुसार मीरां सम्प्रदाय-मुक्त वैष्णवी थीं, नाथपंथ, रैदासी सम्प्रदाय निर्गुण सम्प्रदाय, सूफी सम्प्रदाय, रामानन्दी सम्प्रदाय आदि की साम्प्रदायिक शब्दावली मीरां के मूल पदों के गेय रूपों में बाद में जुड़ी है ।

६. भाषा-शास्त्र और उसके इतिहास से भी इस पदावली की प्रामाणिकता समर्थित है । इसके सभी पदों के परवर्ती रूप अन्य पद-संग्रहों में मिलते हैं ।

७. ब्रज और गुजराती भाषाओं के जो पद अन्य गुटकों में मिलते हैं, वे अशुद्ध हैं, और मूल पदों की भाषा की तुलना में अन्य लेखकों के द्वारा लिखे गये जान पड़ते हैं, अतः उन्हें प्रामाणिक नहीं माना जा सकता । इतना तो स्पष्ट है कि मीरां ब्रज और गुजराती की कवयित्री नहीं थीं ।

प्रामाणिक पदावली की भाषागत विशिष्टतायें

१. डाकोर की प्रति में पार्श्विक अल्प प्राण सघोष वर्त्स्य 'ल' के स्थान पर अल्प प्राण सघोष मूर्धन्य उत्क्षिप्त ध्वनि **'ळ'** लिखित रूप में पायी जाती है । जिसका

प्राचीन राजस्थानी में पार्श्विक अल्प प्राण मूर्धन्य व्यंजन 'ळ' के अनुरूप उच्चारण होता था । आधुनिक राजस्थानी में भी यह ध्वनि विद्यमान है, किन्तु प्रायः इसे 'ल' ही लिखा जाता है ।

डाकोर की प्रति में ळोक, जळ, बेळ प्याळा, फेळ, मिळ, अबळा, कंवळ, दळ, तिळक, कुंडळ, अळकां, मुरळी, अनळ, व्याकुळ, चाळां, निरमळ, सीतळ, मिळया, मोळ, ढोळ, तोळ, कोळ, ळीळा, ळुभावां, डोळयां, कळ, ळागां, अबोडणां, ळळक, अजामेळ, ळाळ, ळाज, मंगळ, शकळ, गळ आदि शब्दों में यह प्रवृत्ति पाई जाती है ।

गेय परम्परा में ऐसे सभी शब्दों के 'ळ' का 'ल' में परिवर्तन हो गया है ।

२. काशी की प्रति में 'ल' के स्थान पर 'ल' और 'ळ' दोनों का प्रयोग पाया जाता है । यथा-काशी की प्रति में केळा, उजळो, बादळां; ळरजां, कोयळ, ळाळ आदि शब्दों में 'ळ' का प्रयोग हुआ है, तो सील, चल्यां, लाळ' लोग, आदि शब्दों में में 'ल' के प्रयोग की प्रवृति भी पायी जाती है । इससे पता चलता है कि संवत् १६४२ से संवत् १८०५ तक राजस्थानी के 'ळ' को 'ल' के रूप में लिखने की परम्परा शुरू हो गई थी ओर उच्चारण की दृष्टि से 'ल' का उच्चारण पार्श्विक अल्प प्राण मूर्धन्य व्यंजन के रूप में था ।

३. डाकोर और काशी की प्रतियों में अल्प प्राण सघोष वर्त्स्य अनुसासिक 'न' और अल्प प्राण सघोष मूर्धन्य अनुनासिक व्यंजन 'ण' दोनों का प्रयोग पाया जाता है । यथा णा, मगण, होणां, अबणासी, संण्यासी, करणा, जाणा, जमणा किणारे, धेणु, तण, मण, धण, मोहण, ण, पाणी तथा नागर नट, नीर, निरमळ, वृन्दाबण, नर, ना, नेहरी नाव, जीवन, प्रान, नेणा, न, निहारां आदि ।

मूल पदों को भाषान्तरित करते समय प्रायः अधिकांश 'ण' 'न' में बदल गये हैं, किन्तु कुछ सम्पादकों ने 'ण' को राजस्थानी ध्वनि के रूप में यथावत् रहने भी दिया है । ल, ळ ओर न, ण के लिखित लिपि भेद प्रायः 'लहिया' के कारण हैं ।

४. ह्रस्व इकार और उकार का मूल प्रति में लोप पाया जाता है । ब्रजभाषा और अवधी की कोमल कान्त पदावली में स्वर-माधुर्य के लिये इकारान्त और उकारान्त शब्दों का प्रयोग सामान्यतः पाया जाता है, किन्तु प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में इकारान्त और उकारान्त शब्दों का अभाव पाया जाता है, यथा-दधि के लिये दूध, बेलि के लिये बेळ या बिछुड़ा के लिये बिछड़ा, जमुना के लिये जमणा, मुकुट के लिये मुगट आदि ।

५. ऐकार के लिये एकार का प्रयोग भी दर्शनीय है, इसीलिये बैठ-बैठ के लिये

'बेठ-बेठ; फैल के लिये 'फेळ', 'ओर' के लिये 'और,' कौळ के लिये 'कोल' आदि शब्द मिलते हैं ।

६. वर्त्स्य संघर्षी ध्वनि 'स' के स्थान पर अघोष संघर्षी तालव्य ध्वनि 'श' का प्रयोग भी मूल पदावली की भाषा में कई जगह पाया जाता है । यथा-सब के लिये शब सुख के लिये शुख, सुखियां के लिये शुखियां आदि ।

७. साथ ही 'श' के स्थान पर 'स' का भी प्रयोग सबद (शब्द), स्याम (श्याम), दरसण (दर्शन) आदि शब्दों में पाया जाता है ।

८. प्रायः सभी पदों में क्रियारूप गुजराती भाषा से मिलते जुलते हैं । साथ ही दरद, दर-दर, अरजी, अरजा, जागीरां कोळ आदि उर्दू के राजस्थानी के अनुरूप तद्-भव शब्द भी इस पदावली में पाये जाते हैं ।

मूल मीरा-पदावली के कुछ शब्द और उनके रूप

मीरां के युग की गुजराती और मारवाड़ी या पश्चिमी राजस्थानी में जो भाषा-गत साम्य था, उसका विवेचन तो हम आगे करेंगे ही, किन्तु मीरां की मूल पदावली के सम्बन्ध में इतना कह देना आवश्यक होगा कि डाकोर और काशी की प्रतियों के पद सर्वथा प्रामाणिक, प्राचीन और विश्वसनीय हैं, तथा उनमें प्राप्त तद्युगीन भाषा के सम्बन्ध में विरोध के लिये कोई गुंजाइश नहीं है ।

'मेवाड़ कोकिल मीराबाई' लेख में डॉ० सुरेन्द्रनाथ सेन ने मीरां की जीवनी और काव्य-धारा के वैज्ञानिक अनुसन्धान पर जोर देते हुये लिखा था कि "इसके बाद भी एक समस्या अपने हल की अपेक्षा करती है कि उस समय के चारणों की परम प्रिय डिंगल को छोड़कर मीरां ने हिन्दी में ही अपने भजन क्यों गाये ?"[1]

मीरां पदावली के प्रामाणीकरण से डॉ० सुरेन्द्रनाथ सेन द्वारा प्रस्थापित समस्या का हल इस प्रबंध में निकाला जा चुका है और यह भी प्रमाणित किया गया है कि मीरां ने हिन्दी, ब्रज, आधुनिक राजस्थानी या गुजराती में पद रचना नहीं की थी । ये भाषान्तरण परवर्ती प्रक्षेप हैं ।

डिंगल भाषा

आर्यों के प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद की भाषा 'वैदिक संस्कृत' के नाम से अभिहित होती थी । कालान्तर में विद्वज्जनों द्वारा व्याकरण के नियमों से आबद्ध हो यही भाषा 'संस्कृत' कहलाई, जो तद्युगीन साहित्य-लेखन की प्रमुख भाषा थी । साहित्यिक भाषा

---

१. मीरा स्मृति ग्रंथ, पृष्ठ ७३ ।

और बोल-चाल की भाषा में व्याप्त अन्तर के कारण उस काल की बोलचाल की भाषा को वैयाकरणों ने 'पहली प्राकृत' कहा है । व्याकरण के जटिल नियमों में जकड़ी हुई संस्कृत देवभाषा बन मृतभाषा हो गई और 'पहली प्राकृत' में भी साहित्य-सृजन शुरु हुआ । उस युग की लोकभाषा या बोल चाल की सामान्य भाषा को वैयाकरणों और भाषा के इतिहास लेखकों ने 'दूसरी प्राकृत' कहा, जिसका साहित्यिक रूप 'पाली भाषा' में मिलता है । पाली बौद्धकालीन भाषा थी और उसका अशोक के राज्यकाल तक बड़ा प्रचार-प्रसार था । पाली के साहित्यिक सिंहासनासीन होने पर तात्कालिक लोकभाषा को 'तीसरी प्राकृत' कहा गया । पाली भी व्याकरण के कठघरे में घिरकर जटिल और क्लिष्ट हो गई, फलतः तीसरी प्राकृत साहित्यिक भाषा बन बैठी । इसी के साहित्यिक रूप को 'अपभ्रंश' कहते हैं । नाथ पंथियों का अधिकांश प्राचीन साहित्य इसी अपभ्रंश में पाया जाता है । क्षेत्रीय विभाजन के कारण अपभ्रंश के पाँच रूप हुये, १. मागधी २. अर्धमागधी ३. शौरसेनी, ४. महाराष्ट्री और ५. पांचाली । इन पाँच प्राकृतों से फर नागर, उपनागर और ब्राचड़ नामक प्राकृतों का विकास हुआ । इन प्राकृतों में भी साहित्य रचना हुई । नागर अपभ्रंश के बोलचाल के रूप अर्थात् प्राकृत नागर से राज-स्थानी भाषा का जन्म हुआ । इसके बाद नागर अपभ्रंश या प्राकृत नागर के साहित्यिक रूप को 'डिंगल' कहा गया ।

राजस्थानी काव्य-परम्परा की भाषा

राजस्थान का अधिकांश चारण काव्य डिंगल भाषा में ही लिखा गया है । मीरां के जीवन काल में और उनकी मृत्यु के, बाद तक डिंगल में काव्य रचना हुई है । बीकानेर राज्य के संस्थापक इतिहास प्रसिद्ध राव बीकाजी के वंशज, राव जैतसी के प्रपौत्र और कल्याणमल के पुत्र पृथ्वीराज द्वारा (जन्म संवत् १६०६, मृत्यु संवत् १६५७) डिंगल में ही 'वेलि क्रिसन रूक्मिनी री' ग्रंथ लिखा गया है । डिंगल में कवि राजा सूर्यमल के जीवनकाल (संवत् १८७२ से संवत् १९२०) तक साहित्य सृजन की अबाध परम्परा विद्यमान है ।

मीरां की मूल पदावली में भी डिंगल के अनेक शब्द पाये जाते हैं । 'वेलिक्रिसन रुक्मिनी री' में तथा डाकोर और काशी की प्रतियों में प्राप्त कुछ डिंगल भाषा के शब्दों पर यहाँ विचार किया जाता है ।

मूल मीराँ-पदावली में डिंगल के शब्द और उनके रूप

हूँ (डिंगल)—सं० अहम्	जोई (डिं०)—सं० यस्य, जो
नव नव—सं० नवीन	सांवरा (डिं०)—सं० श्यामल
वचण (डिं०)—प्रा० वयण सं० वचन	घुरै, घुरास्यां (डिं०)—सं० घुर

कुण (डिं०)--सं०-क:
करि (डिं०)--सं०-कर (सप्तमी विभक्त्यन्त)
सरै (डिं०)--सरना
जिवड़ा, जिवड़ौ (डिं०)--सं० जीव
विसेख (डिं)--सं० विशेष
वेस (डिं०)--सं० वयस
जोवण (डिं०)--प्रा०-जोव्वण--सं० यौवन
होइसै (डिं०)--प्रा०-होइस्सह, होइस्सीद --सं० भविष्यत्
बिछड़यां, बीछड़ती (डिं०)--सं०-विच्छेद
सघाती (डिं०)--संघ, संघात+ई
काज (डिं०) --सं०-कार्य
गिणी (डिं०)--सं०-गणन
खीण (डिं०)--सं० क्षीण
घणी, घणो (डिं०)--सं० घनत्व
बिसवास, बिसासौ (डिं०)--सं०-विश्वास

दीठि (डिं०)--सं० दृष्टि
परणौ, पराण, परण (डिं०)--सं० परिणय
ऊधरी (डिं०)--सं० उद्धरण
किण (डिं०)--किसने
ऊभी, ऊभा (डिं०)--सं० उत्+भू
परसण (डिं०)--सं० स्पर्शनम्
दरसण (डिं०)--सं० दर्शनम्
धरिया (डिं०)--सं० धारिता
सिणगार (डिं०)--सं० शृंगार
बीसरियां (डिं०)--सं०+विस्मरण
बछल (डिं०)--सं० वत्सल
दाधा (डिं०)--प्रा० दाधा सं०-दग्ध
लूण (डिं०)--नमक, नौन
जासी (डिं०)--जायगी
जौवै (डिं०)--जोतना, देखना

इसी प्रकार मीरां की मूल पदावली में डिंगल भाषा के अनेक शब्द विद्यमान हैं । यदि मीरां पदावली का शब्द कोष तैयार किया जाय तो निश्चित रूप से यह प्रमाणित हो सकता है कि मीरां ने तद्युगीन राजस्थानी काव्य-भाषा डिंगल में ही रचना की थी । किन्तु यह डिंगल सोलहवीं शताब्दी की पश्चिमी राजस्थानी का ही रूप है । यही मीरां की मूल भाषा थी ।

राजस्थानी व्याकरण और मीरां-पदावली

मीरां राजस्थान की गौरवास्पदा कृष्ण प्रेमिका थीं और उनके पद प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में ही मूलतः गाये गये थे, अतः मीरां पदावली की भाषा का राजस्थानी व्याकरण के नियमानुसार निरीक्षण-परीक्षण आवश्यक हो गया है ।

राजस्थानी भाषा की उच्चारण सम्बन्धी विशेषताएँ

१. राजस्थानी में वैदिकी, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं की भाँति पार्श्विक अल्प प्राण मूर्धन्य ळकार भी होता है, जो ल, या ळ भी लिखा जाता है ।

२. अघोष संघर्षी मूर्धन्य ष, तथा महाप्राण अघोष स्पर्श व्यंजन 'ख' का उच्चारण सदा 'ख' अघोष संघर्षी तालव्य 'श' और वर्त्स्य संघर्षी घोष 'स' का उच्चा-

रण प्राय: 'स' और तालव्य सघोष अर्धस्वर 'य' व अल्प प्राण सघोष स्पर्श संघर्षी 'ज' का उच्चारण अधिकतर 'ज' के रूप में हुआ करता है ।

३. महाप्राण अघोष स्पर्श व्यंजन 'छ' का उच्चारण, वर्त्स्य संघर्षी अघोष 'स' से मिलता जुलता होता है ।

४. डिंगल भाषा का बहुप्रचलित अल्पप्राण सघोष स्पर्श मूर्धन्य व्यंजन 'ड़' स्वार्थिक प्रत्यय की भाँति राजस्थानी संज्ञाओं में लग जाता है । यथा-म्हारे हीयड़े ।

५. अनुस्वार और अनुनासिक सदैव अनुस्वार ही लिखे जाते हैं किन्तु कभी-कभी 'न्' और 'ण्' क्रमश :—'ᳲ' और 'ᳳ' के रूप में भी प्रयुक्त होते हैं ।

६. ब्रज, अवधी और हिन्दी का अल्पप्राण सघोष वर्त्स्य अनुनासिक न, प्राय: राजस्थानी में अल्प प्राण सघोष मूर्धन्य अनुनासिक व्यंजन 'ण' हो जाता है ।

लिंग और वचन

१. हिन्दी के आकारान्त शब्द सामान्यत: राजस्थानी में ओकारान्त हो जाते हैं और उनका बहुवचन हिन्दी की भाँति एकारान्त न होकर आकारान्त होता है । यथा -

एक वचन	बहुवचन	एक वचन	बहुवचन
प्यारो	प्यारा	आसिरो	आसरा
दूसरो	दूसरा	रूठ्यो	रूठ्या
म्हाँरो	म्हांरा	गयो	गया
नेहरो	नेहरा	मुखड़ो	मुखड़ा

२. आकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों का बहुवचन बनाने के लिये 'आं' या 'आवां' प्रत्यय लगाये जाते हैं, जैसे माला-मालां-मालावां ।

३. इकारान्त और ईकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों के बहुवचन 'यां' अथवां 'इयां' प्रत्यय के मेल से बनते हैं, जैसे सहेली-सहेल्यां, लड़ी-लड़यां ।

४. स्त्रीलिंग शब्दों का बहुवचन बनाने के लिये वां या उवां प्रत्यय लगाते हैं । ळाळच-ळळचावां, लखा-लखावां ।

५. अकारांत शब्दों के बहुवचन बनाते समय 'आं' प्रत्यय जोड़ा जाता है जैसे नैण-नैणां, साध-साधां ।

कारक तथा विभक्तियाँ

१. राजस्थानी में कर्म व सम्प्रदान कारक में सामान्त: नूँ, नुं, ने, कूँ, कौ, रूं,

को व हि विभक्तियों का प्रयोग होता है, जैसे सांवर याने, त्यांकूं, सामरिया णे, पुरब जणम को, बिखरूँ ।

२. करण व अपादान कारक में अधिकतर विकारी रूपों के आगे सूँ, से, सें, तें, व तैं विभिक्ति-चिन्ह लगाये जाते हैं, जैसे म्हांसू, मांसू, क्यासूं, क्याशूं, सांवळया शूं, राग शूं ।

३. अधिकरण कारक में विकारी रूपों के आगे मैं, में, मां, इ, ए, अथवा पै, पर, परि, विच, माँह, माँहिने, मही, मँझार आदि विभक्तियाँ प्रयोग में लाई जाती हैं। जैसे गगण मां, माटीमा, गिरधर पर, झरमटमाँ, गैळमां, चाकरी मा, चरणां मां, जगमां, मन्दिरमा ।

४. सम्बन्ध कारक में विकारी रूपों के आगे पुल्लिंग में रो, रे, को, रा, नां, कां, व स्त्रीलिगं में री, की, नी, दी विभक्ति-चिन्हों के प्रयोग होते हैं। यथा-विषरो, प्याळा, चहररां बाजी, मीरां रे प्रभु, मोहण, रो, प्रभुते, म्हारो, जमणांका हरिरे चरण, म्हारो हिबड़ो, म्हारे घर, पुन्न रा पाज, ब्रजवणतारो कन्त, मीरां री लगण, गांव री रीत, प्रीतरी बाती, दरद री मार्‌यां, कुळरां ण्यांती, जगरी बातां।

५. कवितओ में विभक्तियों का लोप भी हो जाता है। जैसे-कर्म कारक की विभक्ति का लोप-म्हां ळियां गोविन्दां मोळ (डाकोर की प्रति, पद० १३)

म्हारे णेणा बाण पड़ी (डाकोर की प्रति, पद १५)
करण कारक-सबदा सुणतां छतियां कांपां (डाकोर की प्रति, पद २०)
अपादान कारक—नैण झर्‌यां दो नीर (डाकोर की प्रति, पद ६)
सम्बन्ध कारक—विरह अनल लागां उर अंतर (डाकोर की प्रति, पद ६)
अधिकरण कारक—बाँका चितवण नैणा समाणी (डाकोर की प्रति, पद ३),
म्हारे सीश बिराजां हो (काशी की प्रति, पद क्रमांक ७६)

सर्वनाम और उनके रूप

१. उत्तम पुरूष-उत्तम पुरूष 'हूँ' है, जो कर्ताकारक में म्हें, म्हां, करण व अपादान कारक में मोसूँ, म्हांसू, कर्म व सम्प्रदान कारक में मने, म्हांने, मोकूँ, अधिकरण कारण में मोपरि सम्बन्ध कारक में मो, म्हांरो, म्हारा, म्हारी आदि रूपो में प्रयुक्त होता है ।

२. मध्यम पुरुष मध्यमपुरुष 'थे' या 'थें हैं, जो कर्ताकारक में थे, तुम, करण व अपादान कारक में तोसूं, तोसे कर्म व सम्प्रदान कारक में थांने, तोड़ तथा सम्बन्ध कारक में थारो, थांरो, थांको, रावरो, रावरी आदि रूपों में विद्यमान है।

३. अन्य पुरूष में वो, यो, कुण, जो निम्नलिखित रूपों में पाये जाते हैं-

वो–वह, वो, सो ऊं,ओहि, उण ।
यो–यह, यो, ये, ए, इन, इण ।
कुण-कौन, कुण, कूण, किस, किण ।
जो, जौन-जो, जे, जा, जिस, जिण ।

क्रियाएँ और तत्सम्बन्धी सामान्य नियम

१. क्रिया के साधारण रूप के अन्त में 'णो' होता है, जैसे करणो, बोलणो, सोवणो, बाँचणो, भरणो आदि ।

२. यदि क्रिया के अन्त में मूर्धन्य अक्षर हो तो धातु के अन्त में णो की जगह 'नो' हो जाता है, जैसे-पढ़नो, मिळनो, जाणनो आदि ।

३. सकर्मक क्रियाओं के रूपों में लिंग व वचन के भेद कर्म के अनुसार होते हैं और कर्म प्रायः विकारी रूप में ही आता है । यथा-जग मां जीवणा थोड़ा, कुण लयो भव भार । स्याम म्हां बाँहड़िया जी गह्यां ।

४. वर्तमान, विधि एवम् भविष्यत कालों में लिंग-भेद का विचार नहीं किया जाता, वचन व पुरुष के ही भेद हुआ करते हैं ।

५. भविष्यत् काल के रूप प्राकृत का अनुसरण किया जाता है, अथवा क्रिया के अंत में 'गा' या 'ला' लगाकर बनाये जाते है । यथा-गास्यां, आवांगा, करोला ।

६.सामान्य भूत, पूर्ण भूत, आसन्न भूत और हेतुहेतुमदभूत काल में भी लिंग और वचन का भेद होता है, पर पुरुष भेद नहीं होता ।

पदावली में प्रयुक्त क्रियाओं के रूप

१. वर्तमान व विधि

वचन	उत्तम पुरुष	मध्यम पुरुष	अन्य पुरुष
एक वचन	जोऊँ, जाऊँ, जाणाँ, जाती	जाज्यो, राखज्यो,	सतावै [illegible], बजायो
बहुवचन	चालाँ,कराँ, धराँ, भेज़्या	पावाँ, आवो,	जाणाँ, जोणत

२. भविष्यत्

वचन	उत्तम पुरुष	मध्यम पुरुष	अन्य पुरुष
एक वचन	देश्यूं, रहश्यूं, पासूं, गाँसूं	डाराँ	पावेली, करसी, जासी
बहुवचन	धमकास्याँ, फिर्याँ	करोला	ह्वै है, दीश्याँ

३. हेतुहेतुमदभूत–एकवचन–जाणती

४. सामान्य भूत-एक वचन-डरी (स्त्रीलिंग-उत्तम पुरूष), विकाणी विलमाणी, मोह्यां, जाणां (स्त्रीलिंग, उत्तम पुरूष) बहुवचन-मिल्या (पुल्लिंग अन्य पु०)

५. सामान्य भूत–(सकर्मक क्रिया) एक वचन-गमाइयो, क्रीड्यां, गुमावां जूयां, छौंड़यां, बूयां, दयां, छोड़या बहुवचन-गमाया, धरिया,

व्याकरण की दृष्टि से मीरां पदावली का यह परिचय सामान्य है । इस दिशा में स्वतंत्र, शास्त्रीय अध्ययन अपेक्षित है । मीरां-पदावली के शब्द-कोष, व्याकरण, छन्द-विधान, संगीतात्मकता आदि इतर स्वरूपों पर स्वतंत्र रूप से शोध होना चाहिये । ये विषय अत्यंत गंभीर, व्यापक और शास्त्रीय हैं । प्रस्तुत प्रबन्ध की सीमा रेखाओं से परे होने के कारण विषयान्तर और अनावश्यक विस्तार भय से अभी मीरां की भाषा के सम्बन्ध में केवल इतना ही अत्यंत अल्प विवेचन पर्याप्त होगा । कालान्तर में इसपर हम स्वतंत्र रूप से पूरा विचार करेंगे ।

मीराँ-पदावली की छन्द-योजना

मीरां की पदावली भाव-विदग्ध मानस की सहज अभिव्यक्ति है, उसमें यत्न-साध्य -छन्द विधा नया डिंगल-रीति-ग्रंथों द्वारा समर्थित छन्दों का रूप नहीं पाया जाता । डिंगल प्रबन्ध-काव्यों में यों तो मंदाक्रान्ता, भुजंग प्रयात् आदि अनेक संस्कृत छन्दों का प्रयोग हुआ है, किन्तु डिंगल भाषा की प्रकृति छप्पय और दोहा छन्दों के लिये विशेष रूप से अनुकूल है । डिंगल काव्य में वीरत्व की भावना को प्रकट करने वाला सबसे अधिक सामर्थ्यवान छन्द छप्पय है, और दूहो (दोहा) छन्द वीर रस व शृंगार रस की संक्षिप्त किन्तु मर्मस्पर्शी व्यंजना के लिये कवियों का सबसे प्रिय छन्द रहा है । हिन्दी में दोहा छन्द केवल 'दोहा' और दोनों पंक्तियों में चरणों की मात्राओं के क्रम को उलट देने पर सोरठा के रूप में ही प्रयुक्त होता है, किन्तु राजस्थानी में, विशेषकर डिंगल भाषा में दोहा छंद के चार रूप यथा–दूहो, सोरठियो दूहो, बड़ो दूहो और तूंवेरी दूहो पाये जाते हैं । मीरा पदा-वली में 'छप्पय' और 'दूहो' छन्द नहीं हैं । वे पद हैं, गीत हैं ।

डिंगल साहित्य के रीति ग्रंथों में ८५ प्रकार के गीतों के लक्षण सोदाहरण दिये गये हैं, किन्तु उनमें भी त्रबकड़ो, पालवाणी, भाषड़ी, सावभढो, चीटी वन्ध, सुपंखड़ी त्रकुट गंध और और छोटो पाणोर प्रमुख गीत-प्रकार माने गये हैं ।

मीरां ने डिंगल की काव्य शैली के अनुरूप गीत लिखे हैं, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनकी सम्पूर्ण काव्य धारा तदयुगीन भक्ति आन्दोलन के अनुरूप पदा-वली में, (जिसे भक्ति-साधना क्षेत्र में भजन कहा जाता है) व्यक्त हुई है ।

मीरां की पदावली इस बात का तो प्रमाण अवश्य देती है कि वे संगीत विशेषज्ञा थीं, किन्तु उन्होंने छन्दशास्त्र, रीति ग्रंथों या काव्यशास्त्र के आचार्यों की हैसियत से पद रचना की है, यह कहना बड़े साहस का काम है, क्योंकि मीरां के मूल पदों में ध्वनि, वक्रोक्ति, व्यंजना, रीति, उक्ति-वैचित्र्य, उद्‌भट काव्य-कौशल, प्रचण्ड पांडित्य, छन्द वैविध्य, गुण और अलंकृत शब्द-विन्यास के बुद्धिवादी शास्त्रीय प्रयासों की बहुलता नहीं पाई जाती। मीरां के पद आन्तरिकता से परिपूर्ण हैं अतः उनका भाव-पक्ष प्रबल है, अनुभूति प्रधान है और इसीलिए उनका स्वरूपगत अभिव्यंजन कलात्मक पच्चीकारी से सर्वथा अप्रभावित है। वस्तुतः मीरां की पद-योजना में शब्दों की अभिधा शक्ति अपनी चरम सिद्धि पर पहुँची हुई दिखाई देती है।

मीरां की मूल पदावली में लिखित पदों के साथ न तो उनका छन्द प्रकार ही दिया गया है, न उनकी राग रागिनियो का उल्लेख ही। इसका एक मात्र प्रधान कारण यह है कि मीरां के पद भाव प्रवण हैं, और ये सम्पूर्ण पद सहजप्रणीत हैं। भावातिरेक से आत्म विभोर जीवन के क्षणों में मीरां ने अपने आराध्य के प्रति जो कुछ आत्म-निवेदन किया और वह जिस किसी भी रूप में मुखर हो गया वह उसी रूप में मूर्त होकर रह गया। मीरां का काव्य नैसर्गिक काव्य है, जो ब्रह्मानंद से, आत्मानंद का स्त्रोत बनफूट पड़ा है, अतः उस नैसर्गिक काव्य-मंदाकिनी को रीति-ग्रंथों के बन्धनों में नहीं बाँधा जा सकता, वह सर्वथा उन्मुक्त, प्रवहमान, अम्लानभाव-धारा है, जिसमें छन्दों के तट-बन्धन बार-बार टूट गये हैं।

श्री परशुराम जी चतुर्वेदी ने 'मीराँबाई की पदावली' में मीरां के नाम से प्रचलित पदों में सार छन्द, सरसी छन्द, विष्णुपद, दोहा छन्द, उपमान छन्द, समान सवैया, शोभन छन्द, ताटंक छन्द, कुण्डल छन्द और चन्द्रायण छन्द प्रमुख छन्दों के रुप में मान लिये हैं,[1] किन्तु ये सभी छन्द अपवादों सहित पाये जाते हैं। चतुर्वेदी जी ने ही इसे स्वीकारा है कि 'पदावली के अन्तर्गत आये हुए पदों को ध्यान पूर्वक देखने से पता चलता है, कि मानो उनकी रचना पिगंल के नियमादि को दृष्टि में रखकर नहीं की गई थी, अथवा उनके विशेष रूप से गाने योग्य होने के कारण पीछे से उनमें संगीत की सुविधाओं के अनुसार परिवर्तन कर दिये गये हैं। पिगंल की दृष्टि से नाप जोख करने पर पदावली का कदाचित कोई भी पद नियमानुसार बना हुआ प्रतीत नहीं होता। किसी में मात्रायें बढ़ती हैं, तो किसी में घट जाती हैं, और कहीं-कहीं पर नियमादि

---

१. मीराँबाई की पदावली-परशुराम चतुर्वेदी, भूमिका, पृष्ठ ५२।५५।

की उपेक्षा के कारण यह कहना कठिन हो जाता है कि किसी पंक्ति वा किन्हीं पंक्तियों की किन लक्षणों को दृष्टि में रखकर परीक्षा की जाय ।'[१]

ऐसी स्थिति में मीरां के मूल पदों को छान्दिक नियमों में बाँधना न्याय-संगत नहीं है । मीरां-पदावली को छन्दों में वर्गीकृत करना एक बौद्धिक पैठ तो मानी जा सकती है, किन्तु उस पर आधारित मान्यतायें अपवादात्मक अथवा विवादास्पद होगी । यदि चौकोर को वृत में या वृत को चौकोर में बैठाने का प्रयास भी किया गया तो उनमें अनुरूपता नहीं होगी, रिक्त स्थान रह ही जायगा । अतः मीरां-पदावली की छन्द-योजना आरोपित होगी, साथ-साथ दोषपूर्ण भी । इसीलिये हम मीरां-पदावली को छन्द योजनानुरूप वर्गीकृत करना समीचीन नहीं समझते ।

संगीत

ईश्वर, धर्म, काव्य, भक्ति आदि वस्तुयें जितनी ही व्यापक और महत् हैं, उतनी ही सूक्ष्म और अव्यक्त भी, इसीलिये वे अभी तक वाणी की पकड़ में नहीं आई, फलतः इनके सम्बन्ध में प्रामाणिक मत या परिभाषा देना दुष्कर है । काव्य ब्रह्म, धर्म आदि की ही भाँति मूर्त होकर भी अमूर्त है, व्यक्त होकर भी अव्यक्त है, अनुभूत होकर भी अभिव्यंजना की दृष्टि से पूर्ण परिभाषा के रूप में अप्राप्य है । काव्य के बारे में हमारा केवल यही निवेदन है कि रस काव्य की आत्मा है, भाषा या शब्द-विधान शरीर है, संगीत काव्य की धमनियों में प्रवहमान रक्त है, जो उसकी जिवनी शक्ति और सामर्थ्य का द्योतक है, छन्द योजना रूप-विधान है, भाव-सौन्दर्य लावण्य हैं और अलंकार, सौन्दर्य-प्रसाधन ।

यद्यपि काव्य-रूप सम्बन्धी हमारी यह मान्यता भी प्रतीकात्मक है, परिभाषा नहीं किन्तु फिर भी वह काव्य और उसके अंग उपअंगों के अन्योन्याश्रित सम्बन्धों का उद्घाटन अवश्य कर देती है ! मीरां-पदावली का संगीत-तत्व ही उसकी जीवनी शक्ति और सामर्थ्य का परिचायक है । मूल पदावली के विस्मृति के गर्भ में लोप हो जाने पर भी संगीत-तत्व की प्रभावशाली, हृदयहारी सरसता के कारण मीरां के पद अनेक भक्तों, गायकों, साधु-सन्तों के द्वारा अनेक रूपों में परिवर्तित होते गये और आज भी उनके सृजन की परम्परा श्रीमती इन्दिरा देवी द्वारा अक्षुण्ण विद्यमान है ।

मीरां के युग में संगीत और उसकी परम्परा

ऋग्वेद की प्राचीनतम ऋचाओं से संगीत का सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है क्योंकि काव्य रूप के नाते वे सब गेय हैं । उनमें संगीत-तत्व, जो काव्य का एक आव-

---

१. मीरांबाई की पदावली परिणाम चतुर्थी भूमिका-पृष्ठ ५२

श्यक अंग है, पाया जाता था । छन्द-विधान, अन्त्यानुप्रास, संगीत, गति, लय, ताल अलंकार, ध्वनि, व्यंजना, भाव-गांभीर्य, उक्ति-चमत्कार, अनुभूति की गहनता, आनन्द की सृष्टि, हृदयस्पर्शी प्रभाव या रसानुभूति आदि काव्य की परख के आधार माने जाते हैं, । सामान्यतः शब्द–चित्र और संगीत के सम्यक् सन्तुलित विधान से काव्य-कृति प्रादुर्भूत होती है । कवि बुद्धि और कल्पना द्वारा वर्ण्य विषय का वाणी-बन्धन कर वर्ण्य वस्तु का शब्द-चित्र काव्य के रूप में प्रस्तुत करता हैं, जो अध्ययन या श्रवण द्वारा पाठक या श्रोता के मन को तद्रूप भावों से उद्वेलित करता है और उनमें रस का संचरण करता है । इस दृष्टि से काव्य अपने मूल रूप में कवि के भाव-जगत का अन्तर्बिम्ब है, जो लेखन या श्रवण के माध्यम से पाठक या श्रोता के हृदय में अपना प्रतिबिम्ब झलकाता है और पाठक या श्रोता को कवि के भाव-जगत की अनुभूति का रसास्वादन कराता है । रस सिद्धान्त के अनुसार यही साधारणीकरण है !

संगीत इस 'साधारणीकरण' का अद्वितीय माध्यम है । कवि अपने काव्य में बुद्धि-कल्पना द्वारा वर्ण्य विषय का चित्र निर्माण कर भावना द्वारा उसमें संगीत की सृष्टि करता है । जैसे महाकाव्य या खण्ड काव्य के लिये चित्र-कल्पना अनिवार्य है, ठीक उसी प्रकार गीति काव्य के लिये भाव-बिम्ब और संगीत की सृष्टि अनिवार्य हुआ करती है ।

जयदेव, विद्यापति, कबीर, सूर, मीरां का युग गीतिकाव्यों का युग है, जिसमें संगीत तत्व अत्यधिक प्रचुर मात्रा में परिष्कृत रूप में पाया जाता है । डॉ० श्रीकृष्णलाल का मत है कि "ऐसा जान पड़ता है कि देश में जब चित्रकला का विकास होता है, तब साहित्य में भी चित्र कल्पना प्रधान हो उठती है और जब देश में संगीत की उन्नति होने लगती है, तब साहित्य में भी गीति काव्यों की प्रधानता दिखाई पड़ती है । भारतीय चित्रकला के इतिहास में ईसा की सातवीं और आठवीं शताब्दी में सर्वोत्कृष्ट चित्रों की सृष्टि हुई थी और इस कला का विकास लगभग तीन चार सौ वर्षों से हो रहा था । ठीक यही समय संस्कृत के महाकाव्यों की रचना का भी है । संगीत के पुनरुत्थान के साथ ही साथ गीति काव्यों की प्रधानता होने लगी । मध्यकालीन उत्तर भारत में लगभग पन्द्रहवीं और सौलहवीं शताब्दी में संगीत का पुनरुत्थान हुआ । जौनपुर के इब्राहीम शाह शर्की तथा उसके पौत्र हुसेन शाह शर्की के दरबार में भारतीय संगीत की विशेष उन्नति हुई थीं । इसी शर्की सल्तनत में कड़ा मानिकपूर के शासक मलिक सुलतान शाह के पुत्र मलिक बहादुर शाह ने एक वृहत् संगीत-सम्मेलन का आयोजन कर 'संगीत शिरोमणि' नामक ग्रंथ (रचना काल १४२८) प्रस्तुत कराया था । इसी समय मेवाड़ के स्वनाम धन्य राणा कुम्भा भी बड़ा संगीत प्रेमी, गायक और

वीणा-वादन में निपुण प्रसिद्ध हुआ है । उसने संगीत शास्त्र पर 'संगीत राज' नामक ग्रंथ की रचना की, साथ ही साथ संगीत-रचना भी 'संगीत रत्नाकर' तथा 'गीत गोविन्द की टीका' के रूप में उपस्थित की । लगभग उसी समय निधुबन के स्वामी हरिदास, जो प्रसिद्ध गायक तानसेन के संगीत गुरु प्रसिद्ध हैं, तथा बैजूबावरा भी संगीत की धारा वहा रहे थे ।"[1]

मीरा के जीवन में समसामयिक संगीत-तत्व

मीरां का युग गीतिकाव्य धारा से परिप्लावित था, जिसका विवेचन आगे किया जायगा । यहाँ केवल इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि मीरां के युग में रामानन्द जी के पद प्रचलित थे, अष्टछाप की वीणा के आठों तार झंकृत हो चुके थे, सन्तों और नाथ पंथियों में 'शब्द' और 'गीत' प्रचलित थे । निर्गुण भाव-धारा के ज्ञान मार्गी कबीर, रैदास आदि सन्तों की पदावली लोकाभिमुख हो गई थी । पंजाब में सिख सम्प्रदाय से लेकर दक्षिण के मराठी सन्तों तक तथा पूर्व में महाप्रभु चैतन्य के अनुयायियों से लेकर पश्चिम में गुजराती के नरसी मेहता आदि के पद, संगीत-समन्वित रूप में गाये जाते थे । लोकगीत और लोक संगीत की परम्परा भी विद्यमान थी, विशुद्ध शास्त्रीय स्तर पर भी संगीत का प्रचार हो रहा था और इन दोनों स्तरों के मध्य में भजन और गीतों के रूप में संतों के गायन, वादन, नृत्य और भाव-प्रदर्शन का समुच्चय साधु-संत-संगीत बड़े विशद पैमाने पर ज्ञान, भक्ति और प्रेम का प्रचार कर रहा था । मीरां की संगीतात्मकता भी इसी व्यापक संगीत धारा की स्वतंत्र लहरी थी ।

मीरा का संगीत-समुच्चय

मीरा-पदावली के अन्तराल में प्रवाहित संगीत-समुच्चय का स्वरूप भी गायन वादन, नृत्य और भाव-प्रदर्शन-समन्वित है । यथा—

गायन-माई म्हा गोविण्द गुण गाणा । डाकोर की प्रति, पद ६१

वादन और नृत्य-ताळ परवावेण मिरदंग बाजां, साधां आगे णाचा । डाकोर की प्रति, पद ४८ ।

नृत्य-पग बांध घुंघरयां णाच्यारी । डाकोर की प्रति, पद ४७

भाव प्रदर्शन-'भाव' शब्द अनेकार्थी है । उसके भी कुछ प्रमुख संकेत और रूप मीरां पदावली में पाये जाते हैं; जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है ।

(अ) **दाम्पत्य-भाव**—मीरां की भक्ति-भावना मधुररस से परिपूर्ण है, जिसका मूलोत्स दाम्पत्य-भाव है । मीरां ने कृष्ण का स्मरण दाम्पत्य भाव से ही किया है । यथा-भुवनपति थे घरि आज्यां जी । डाकोर की प्रति, पद २३ ।

---

१. मीराँबाई—डा० श्रीकृष्ण लाल, पृष्ठ १६.५.१६६ ।

(आ) प्रेम-भाव—मीरां की माधुरीभक्ति प्रेममूला थी; अतः उसमें प्रेम भाव-प्रधान है । प्रेम भाव के ही अन्तर्गत विरह और मिलन भाव को भी चित्रित किया है—"म्हांरां री गिरधर गोपाल दूसरा णा कूयां" जैसी उक्तिओं में मीरा के कृष्ण-प्रेम-भाव के प्रमाण पाये जाते हैं ।

(इ) विरह-भाव—मीरां का अधिकांश काव्य इसी भाव से अनुप्राणित है । देखिये-डाकोर की प्रति के पद क्रमांक ६, ११, १६, १७, १८, १६, २०, २१, २४, २६ आदि ।

(ई) मिलन-भाव—मीरां के काव्य में मिलन-भाव के क्षण बहुत कम हैं, और जो हैं वे अत्यन्त भाव विदग्ध मानस के चित्र हैं । देखिये—डाकोर की प्रति, पद क्रमांक ४४, ४५, ४६, ४७, ५७, ५६ आदि ।

(उ) मनोभाव—मीरां के काव्य में उनके मनोभाव बड़े मार्मिक ढंग से व्यक्त हुये हैं । यथा—चाळा मण वा जमणा का तीर । डाकोर की प्रति, पद ७, या आळी म्हाणें लागां वृन्दावण णीका, (वही, पद ८) ।

(ऊ) अनुभाव और संचारी भाव—रस-निरूपण करते समय इनका विशद विवेचन किया जायगा । शारीरिक चेष्टायें इनकी ही प्रतिक्रियायें हैं, अतः 'पंचरंग चोळा पहेर्‌यां सखि म्हा झरमट खेलण जाती (डाकोर की प्रति, पद १०), खाण पाण म्हारे णे.णा भावां नेणा खुलां कपाट (डाकोर की प्रति पद १६), थें बिछड्यां म्हां कळगां प्रभु जी, म्हारो गयो शब चेण (डाकोर की प्रति, पद २०), आदि मीरां के अनुभाव और संचारी भावों के प्रतीक हैं । इस तरह से गायन, वादन, नृत्य और भाव-प्रदर्शन से संयुक्त मीरां की पदावली गीतिकाव्य का शृंगार है । मीरां की वैयक्तिकता से वह संगीतात्मक रूप में मुखर हुई है और मीरां के काव्य का वह संगीत, भक्ति आन्दोलन के प्रचारक और समर्थक युग-व्यापी संगीत के अनुरूप है ।

मीरा-पदावली की राग रागिनियाँ

मीरां ने अपने मूल पदों को किन-किन रागों में गाया था, इसका उल्लेख डाकोर और काशी की प्रतियों में नहीं है । फिर भी मीरां के पद झिझोटी, छायानट, गूजरी, ललित, त्रिबेनी, धानी, सूहा, सारंग, दरबारी, सोरठ, हमीर, मांड़, तिलंग, कामोद, टोड़ी, बिलावल, पीलू, पहाड़ी, जोगिया, देस, विहाग, सोहनी, सिंध भैरवी, भैरवी, सावन, आनंद भैरों, सुख सोरठ, प्रभाती, कलिंगड़ा, देव गन्धार, पट मंजरी,

मलार, मारू, काफी, विहागरा, कजरी, कल्याण, धनाश्री, मालकोस, जौनपुरी, पीलू, रामकली, श्याम कल्याण, होल, शुद्ध सारंग, कान्हरा, अलैया, परज, लावनी, मोग, सोरठ तिताला, प्रभात, झिझोटी (एक ताला), निलांबरी, आसावरी, वागेश्वरी, भीम-पलासी, पूरिया कल्याण आदि राग रागनियों में गाये जाते रहे हैं, जिनके प्रमाण मीरां पदावली के प्रामाणीकरण के समय प्रस्तुत प्रबन्ध के द्वादश अध्याय में दिये गये हैं । इन सभी रागरागिनियों का उल्लेख तत्सम्बन्धी पदों के साथ किमा गया है ।

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि मीरां ने अपने पदों को पिंघल शास्त्र या काव्य-शास्त्र के अनुरूप भले ही न लिखा हो किन्तु संगीत-शास्त्र की दृष्टि से मीरां का प्रत्येक पद संगीत साधना के लिये वरदान है मजन और कीर्तन-परम्परा की अमूल्य निधि है ।

अलंकार

मीरां के अधिकांश पद उनके विमल हृदय के उच्छ्वास और करुण-क्रन्दन से सराबोर हैं । मनोवेगों की प्रचुरता और आत्मनिष्ठता के कारण वे सर्वथा आडम्बरहीन, नैसर्गिक शब्द-विन्यास और भाव-प्राचुर्य से इतने मरल और हृदयहारी बन गये हैं कि मीरां की समस्त पदावली अलंकृत काव्य के समस्त उपकरणों की पहुँच के बाहर हो गई है । उनमें ध्वनि, व्यंजना, रीति, वक्रोक्ति गुणा अलंकार आदि का अभाव पाया जाता है । इसके कारण हैं मीरां और उनके काव्य के वर्ण्य विषय । मीरां के काव्य में लौकिक नायक-नायिका का श्रृंगार-चित्रण या विरह-मिलन के वर्णन नहीं है, जिसे 'अन्य पुरुष' के लौकिक प्रेम-भाव के रूप में चित्रित करने के लिये कला की करामाती कूची से अलंकृत काव्य रूपों द्वारा 'मेकअप' किया जाता, चुन-चुनकर उपमा, उत्प्रेक्षा, वक्रोक्ति, अर्थान्तरन्यास, श्लेष आदि अलंकारों द्वारा दूर की कौड़ी लाई जाती और फिर उससे काव्य की रूप-सज्जा की जाती । मीरां का प्रेम, विरह, मिलन, सुख, दुख, हर्ष-शोक, अश्रु, क्रन्दन सभी अलौकिक हैं, आध्यात्मिक हैं, वनिता तुल्य आत्मा का अपने 'प्रियतम' के प्रति आन्तरिक लगाव का सहज अभिव्यंजन है, वेदना की उफनाती सरिता का प्रेम-महार्णव की ओर तीव्रगामी प्रवाह है । आध्यात्मिक अनुभूति का दिव्य उत्स है । सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की मूर्त उपलब्धि है, अन्तर का 'आन्तरिक' से अन्तर मिटाने का निरन्तर सहज प्रयास है । जो अपने आप में सुन्दर है, रूप, गुण, प्रेम का ज्वलन्त प्रतीक है, स्वयं प्रमाण है, स्वयं सिद्ध है । इसीलिये मीरां का भाव-भीना काव्य स्वयं सुन्दर है । जो असुन्दर हो, उसे सौन्दर्य प्रसाधनों की आवश्यकता है, किन्तु जो स्वयं सुन्दर हो उसे अलंकारों की आवश्यकता नहीं है । हृदय और हृदय के बीच जोअलंकार मिलन में बाधक हो, उस अलंकार का न होना ही श्रेयस्कर है ।

मीरां के काव्य में उनके और उनके 'प्रियतम' के बीच स्वभावोक्ति की सहजता के कारण भाषागत अलंकारों का अभाव पाया जाता है । उनके मूल पदों में बहुत ही कम किन्तु स्वाभाविक और भावपूर्ण अलंकार पाये जाते हैं, जिनका स्वरूप इस प्रकार है–

(क) उपमा[1]—"पाणा ज्यूं पीळी पड़ी री लोग कह्या पिंड बाय ।"

डाकोर की प्रति, पद १ ।

(ख) रूपक[2]—"असवां जळ सींच सींच प्रेम बेळ बूयां ।"

डाकोर की प्रति, पद १ ।

"भौ सागर मंझधारा बूड़्या, थारी सरण लह्यां ।"

डाकोर की प्रति, पद २२ ।

(ग) उत्प्रेक्षा[3]—"कुंडल झळका कपोल अलकां लहराई ।
मीणा तज सरवर ज्यों मकर मिलण धाई ।"

काशी की प्रति, पद, ८५ ।

(घ) अत्युक्ति[4]—भयी छमाशी रेण ।

डाकोर की प्रति, पद २० ।"

गणतां गणतां घिश गया रेखां आंगरिया री शारो-

काशी की प्रति, पद १०२ ।"

(ङ) अर्थान्तरन्यास[5]—हेरी म्हां तो दरद दिवाणी म्हारां दरद णा जाण्यां कोय । घायळ री गत घायळ जाण्यां हिवड़ो अगण संजोय ।
जोहर कीमत जौहरां जाण्यां, क्या जाण्या जिस खोय ।

डाकोर की प्रति, पद १६ ।"

(च) विभावना[6]—जळ विणा कंवळचंद विणा रजनी, थे विण जीवण जाय ।

काशी की प्रति, पद ६१ ।"

---

१. साधर्म्यमुपमा भेदे । काव्य प्रकाश-मम्मट ।
२. प्रस्तुतेऽप्रस्तुतारोपो रूपकं निरपह्नवे । उपमैव तिरोभूत भेदा रूपक मुच्यते ।
३. भवेत् सम्भावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना । साहित्य-दर्पण-कविराज विश्वनाथ ।
४. उपमेयं निगीर्य उपमानेन तस्य भेद कथनम् अतिशयोक्तिः ।
५. सामान्येन विशेषस्य विशेषेण सामान्यस्य वा यत् समर्थन तदर्थान्तरन्यासः । रस गंगाधर-पंडितराज जगन्नाथ ।
६. विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते । साहित्य दर्पण-कविराज विश्वनाथ ।

(छ) वीप्सा[1]—अंग खीण व्याकुळ भयां मुख पिव पिव वाणी हो ।
डाकोर की प्रति, पद ३६ ।

(ज) उदाहरण[2]—ज्यूं चातक घण कूंरटां मछरी ज्यूं पाणी हो ।
डाकोर की प्रति, पद ३६ ।

(झ) वृत्यनुप्रास[3]—चंचळ चित्त चलया णा चाला, बाँध्याप्रेम जंजीर ।
डाकोर की प्रति, पद ६ ।

(ञ) श्लेष्य[4]—पचरंग चोळा पहेरयां सखि म्हां झरमट खेलण जाती । वा
झरमटमां मिळया सांवरो देख्या तण मणराती ।
डाकोर की प्रति, पद १० ।

(ट) दृष्टान्त[5]—पिया थारे णाम लुभाणी जी ।
णाम लेता तिरता सुण्यां जग पाहण पाणी जी ।
गणिका कीर पढ़ावतां, बैकुण्ठ बसाणी जी ।
डाकोर की प्रति, पद २५ ।

---

१. भाव विशेष को अधिक प्रभावोत्पादक बनाने के लिये किसी शब्द को दुह-राना 'वीप्सा' है । रुय्यक और मंखुक के अलंकार सर्वस्व, केशव मिश्र के अलंकार शेखर, मम्मट के काव्य प्रकाश, दण्डी के काव्यादर्श, भामह के काव्यालंकार, वामन के काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, अप्पय दीक्षित के कुवलया-नंद, जयदेव के चंद्रालेक, आनन्द वर्धन के ध्वन्यालोक, भरतमुनि के नाट्य शास्त्र, पंडितराज जगन्नाथ के रस गंगाधर और विश्वनाथ कविराज के साहित्य दर्पण में वीप्सा अलंकार का उल्लेख नहीं है । डॉ० 'रसाल' के अलंकार पीयूष और लाला भगवानदीन की अलंकार मंजूषा में 'वीप्सा' का विवेचन है ।

२. पहले सामान्य बात कहकर विशेष रूप मैं उदाहरण देने में उदाहरण अलं-कार होता है । काव्य कल्पद्रुम-कन्हैयालाल पोद्दार ।

३. संख्या नियमे पूर्व छेकानुप्रासः । अन्यथा तु वृत्यनुप्रासः । अलंकार सर्वस्व-रुय्यक ।

४. श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते । साहित्य दर्पण-विश्वनाथ ।

५. दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम् । साहित्य दर्पण-विश्वनाथ ।

(ड) स्वभावोक्ति[1]--रोवतां रोवता डोळता, सब रैण बिहावां जी।
भूख गयां निंदरा गया, पापी जीव णाजावा जी।
डाकोर की प्रति-पद २३।

मीरां-पदावली में प्राप्त अलंकारों का शास्त्रीय वर्गीकरण

मीरां-पदावली में प्राप्त उक्त अलंकारों को शास्त्रीय दृष्टि से दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं।

शब्दालंकार--अनुप्रास, वीप्सा, श्लेष।

अर्थालंकार--उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, स्वभावोक्ति, विभावना, अर्थान्तरन्यास, उदाहरण, अत्युक्ति।

मुहावरे, कहावतें और लोकोक्तियाँ

मीरां-पदावली में मुहावरों, कहावतों और लोकोक्तियों के निम्नलिखित दृष्टान्त पाये जाते हैं :--

मुहावरे--नैणबिछयाशुं, नैण समाणी, हियड़े बसतां, णेणां, मुरझावां, दर दर डोळयां कंठसार्यां, बोल शुणांवा, फटांहियाँ, विणतां दीश्यो काण, फाट्यांरी म्हां कहावतें छाती, सीश चढ़ाय।

कहावतें--दध मथ घृत काढ़ लयां, डार दयां छूयां, काठ ज्यूं घुण खाय आदि।

लोकोक्ति--हिवड़ो अगण संजोय, जीवणा दिन च्यार, बिरछरां जो पात टूटयां लग्यां णां फिर डार, दाध्या (ऊपर) लूण ळगावां, आदि।

इस तरह से मीरां-पदावली के बाह्य कला-पक्ष का विवेचन समाप्त हो जाता है। अब मीरां-पदावली के उस आन्तरिक कला पक्ष का निरूपण कर लेना आवश्यक है, जो काव्यानुभूति और भावुकता के के कारण अत्यन्त सरस बन पड़ा है।

मीराँ पदावली का रस-तत्व और उसकी निष्पत्ति

मीरां का काव्य, प्रेम, सौन्दर्य, संयोग और वियोग की भावनाओं से आद्यन्त आप्लावित है। उसमें आराध्य का नख-शिख वर्णन और वर्णनात्मक बाह्य जगत का विवरण कम, और अनुभूति-चित्रण प्रधान रूप से पाया जाता है। कीर्तन प्रधान, राग-रागिनी-समृद्ध उनके पदों में 'नारीत्व' के अकृत्रिम विरह, मिलन और प्रेमोद्गारों की प्रचुरता पाई जाती है। उनमें बौद्धिक कलाबाजी और काल्पनिक उड़ान की छाया नहीं

---

१. सूक्ष्म वस्तु स्वभावस्य यथावद् वर्णनं स्वभावोक्ति। अलंकार सर्वस्व-रुय्यक।

मिलती, न आलंकारिकों की सी अलंकार प्रियता ही कहीं दिखाई देती है। उनके सभी पद स्वभावोक्ति की पराकाष्ठा को छूते से जान पड़ते हैं, अतः अलंकारप्रिय पंडितों की उक्ति, "कविः करोति काव्यानि, स्वादं जानन्ति पंडिताः।" मीरां के काव्य की कसौटी नहीं हो सकती। उसमें तो हृदय का हृदय से व्यापार प्रधान है। काव्यं ग्राह्यं अलंकारात्। सौन्दर्यमलंकारः।" काव्य के शारीरिक सौन्दर्य का समर्थक है और उससे वामन का प्रयोजन काव्य के मूर्त रूप शब्द-विन्यास से है, किन्तु इस बाह्य रूप के भीतर जो आन्तरिक प्राण प्रतिष्ठा का सौन्दर्य है, अभिव्यंजन शैली का जादू है, उसकी घोषणा कुन्तक ने 'वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्' के रूप में की थी। रसानुभूति के क्षेत्र में शाब्दिक व्यंजना से ध्वनि व्यंजना की ओर किया जाने वाला यह महत्वपूर्ण संकेत था, पहला मोड़ था। यहीं से काव्यानन्द विद्वद्वर पंडितों से सहृदनों की ओर मुड़ने लगा था, फलतः 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' कहकर साहित्यदर्पणकार कविराज विश्वनाथ ने रस को ही काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकारा था। यही 'रस' मीरां के काव्य में लबालब भरा है। मीरां के काव्य की कसौटी यही 'रस तत्व' है, उसका मूल उत्स, स्वरूप और प्रभाव दो दिशाओं में, दो रूपों में पाया जाता है।

मीरां-पदावली के रस-तत्व का विभाजन

मीरां-पदावली का रस तत्व दो खण्डों में विभक्त किया जा सकता है। एक रूप होते हुये भी रसास्वादन की दृष्टि से उसे "द्वैत" रूप देना समीक्षा के लिये आवश्यक हो गया है। इसका प्रमुख कारण यह है कि मीरां की पदावली, साहित्यिक कृति है और उसमें साहित्य की दृष्टि से शृंगार, करुण और शान्त रस विद्यमान हैं, फिर भक्ति की दृष्टि से यदि उसका विवेचन हो तो उसमें 'मधुर रस' का स्वरूप उपलब्ध होता है। मीरां-पदावली के रस-तत्व का यह विभाजन 'सहृदयों' और 'भक्तों' के अनुरूप किया गया है। इससे हमारा प्रयोजन 'रसिकों' के दृष्टिकोण से है, सर्जक की मनः स्थिति या सर्जना के ध्येय से कभी नहीं लिया जाना चाहिये।

शृंगार रसः—मीरां-पदावली में शृंगार रस, संयोग और विप्रलंभ दोनों ही रूपों में पाया जाता है। इसका स्थानी भाव रति है। यह रति लौकिक नायक-नायिका की रति नहीं, परम ब्रह्म कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति राधा के अवतार मीरां की भवद्विषयक आध्यात्म रति है। मीरां के प्रियतम रूप, लावण्य और माधुर्य-सम्पन्न, हास-विलास-परिपूर्ण, सार्वभौम प्रेमालम्बन श्रीकृष्ण हैं, जिनका मीरां से जन्म जन्मांतर का सम्बन्ध था। जिसे देखने से ऐसा मालूम पड़ता है कि मीरां की रसानुभूति में कृष्ण का ऐतिहासिक और पौराणिक अस्तित्व लुप्त प्राय हो गया है और वे प्रेम की परिपूर्णता तथा प्रेम मूलक भक्ति-रस की निष्ठा के प्रतीक बन गये हैं। वही कृष्ण मीरां

के अन्तरतम में प्रविष्ट हो अन्यतम बन गये हैं मीरां की प्रेम-साधना की यही दिव्य चैतन्य स्थिति है। फलस्वरूप मीरां की मूल पदावली में संयोग श्रृंगार और विप्रलंभ श्रृंगार रस के प्रबल स्रोत प्रवहमान हैं। रसानुभूति और साधारणीकरण की दशा से मीरां के प्रत्येक पद की यह विशेषता है, कि प्रत्येक पद में रस निष्पत्ति का क्रमिक विकास पाया जाता है।

संयोग श्रृंगार:—संयोग श्रृगार का स्थायी भाव 'रति' है। मीरां का कृष्ण विषयक दाम्पत्य सम्बन्ध भी इसी अलौकिक भगवद्-रति पर आधारित है इसके आलंबन हैं–भगवान कृष्ण। उनके सम्बन्ध में मीरां ने जिस संयोग श्रृंगार का वर्णन किया है, उसका एक दृष्टान्त लीजिये।

'म्हां मोहण रो रूप लुभाणी।
सुंदर बदण कमळ दळ लोचण, बाँका चितवण, नैण समाणी।
जमणा किणारे कान्हाँ धेणु चरावां, बंसीबजावाँ मीठ्ठा बाणी।
तण मण धण गिरधर वर वारां, चरण कंवळ मीरां बिलमाणी।[1]

उक्त पद में आलम्बन है 'मोहण' और उनका "रूप" जिससे मीरां के मन में कृष्ण विषयक रति का स्थायी भाव उद्दीप्त होता है। कृष्ण के 'सुन्दर बदण कमल-दल लोचण, बांका चितवण संयोग-श्रृंगार के उद्दीपक हैं। 'जमणा किणारे कान्हा धेणु चरावां, बंशी बजावां मीट्ठा वणी' में यमुनां तट का वंशीवादन भी उद्दीपन है। तण, मण, धण, गिरधर पर वारां, चरण कंबळ मीरां विलमाणी अनुभाव है और इस तरह से एक ही पद में आलम्बन से अनुभाव तक की अनेक रस दशायें मीरां के प्रत्येक पद में पाई जाती हैं।

संयोग श्रृंगार के लिये डाकोर की प्रति पद क्रमांक ४, ५, ६, १३, ३०, ३६, ४४, ४५, ४६, ४७, ५६, ६३, ६५, ६८ और काशी की प्रति के पद क्रमांक ७३, ७६ ८२, ८३, ८५, ८७, ६५ आदि देखे जा सकते हैं। डाकोर की प्रति के पद क्रमांक ५० और ५२ वर्षा, वर्णन के पद हैं, जो संयोग श्रृंगार के उद्दीपक के रूप में लिखे गये जान पड़ते हैं।

विप्रलम्भ श्रृंगार—मीरां-पदावली के अधिकांश पद विप्रलम्भ श्रृंगार के पद हैं, जिनमें मीरां के अलौकिक अतीन्द्रिय जगत की शाश्वत पीड़ा का पुंजीभूत विषाद मुखर है। इन पदों की पृष्ठभूमि में आत्मा के अतल अवसाद का ज्वार उद्वेलित

---

१. डाकोर की प्रति, पद ३।

हो रहा है, जिससे ऐसा पता चलता है कि मीरां की अपार्थिव वेदना, पार्थिव माध्यम से व्यक्त होने के लिये व्यग्र थी। इसका कारण यह है कि मीरां सगुणोपासिका थी। उनकी आध्यात्मिक वेदना तक न पहुँच सकने के कारण ही राणा विक्रमादित्य ने उन्हें 'मदण बावरी' समझने की भूल की थी, किन्तु वास्तव में मीरां के विप्रलंभ श्रृंगार में जीवनानुभूति और आत्म-परिष्कार का उदात्त रागात्मक संस्कार विद्यमान है। आध्यात्मिक भावभूमि पर प्रेम-विह्वलता, तन्मयता, प्रिय-चिन्तन, उत्कण्ठा, मर्मस्पर्शी विरह कातरता, उच्छ्वासों के कचोट और प्रिय-मिलन की आशा उनके विप्रलंभ श्रृंगार में सर्वत्र पाई जाती है।

विप्रलंभ श्रृंगार का एक पद

सांवरे मार्‌या तीर।
री म्हारा पार निकल गयां तीर सांवरे मार्‌यां तीर।
बिहार अनळ लागां उर अंतर, व्याकुळ म्हांरा सरीर।
चंचळ चित्त चलया णा चाळां, बांध्यां प्रेम जंजीर।
क्या जाणां म्हारो प्रीतम प्यारो, क्या जाणा म्हा पीर।
म्हारो कांई णां बस सजणी, नैण झर्‌यां दो नीर।
मीरां रे प्रभु थें बिछुड्यां विण, प्राण धरत णा धीर। [1]

उपरोक्त पद में स्थायी भाव रति है, और आलम्बन हैं—सांवरे। उनका 'तीर' मारना ही नायक की चेष्टा है, जिससे विप्रलम्भ-श्रृंगार रस का स्थायी भाव जागृत हुआ है।

'री म्हारा पार निकळ गया' से नायक की चेष्टा की स्वीकृति है। 'बिरहा अनळ लागां उर अंतर, व्याकुळ म्हारा सरीर।' 'से लेकर 'नैण झर्‌यां दो नीर' तक अनुभाव है जिसमें मीरां की लाचारी 'म्हारो कांई णा बस सजणी' संचारी भाव के रूप में विद्यमान है। और अन्ततः 'प्रभु थे बिछुड़यां बिण' प्राण धरत णा धीर।' तक मीरां की विप्रलंभ श्रृंगार की रस दशा अपनी पूर्णता को पा गई है।

डाकोर की प्रति के पद क्रमांक ११, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २१, २३, २४, २६, २७, २९, ३५, ३८, ३९, ४०, ५३, ५५, ५६, ५७, ६२, ६६ और काशी की प्रति पद क्रमांक ७२, ७४, ७५, ७६, ७७, ७८, ८०, ८१, ८६, ८८, ८९, ९०, ९१, ९२. ९३, ९४, ९६, ९७, ९८, १००, १०२ और १०३, में विप्रलंभ

१. डाकोर की प्रति, पद ६।

शृंगार रस प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। डाकोर की प्रति के पद क्रमांक ४६ में वर्षा-वर्णन, विप्रलंभ शृंगार का उद्दीपक है। इसी प्रकार काशी की प्रति के पद क्रमांक ७० और १०२ में प्राप्त होली-वर्णन भी विप्रलंभ शृंगार के उद्दीपक हैं।

मीरां की सम्पूर्ण पदावली में विप्रलंभ शृंगार की जो वेगवती अन्तः सलिला विद्यमान है उसकी पृष्ठभूमि में एक मात्र माधुर्य भाव है—एक चिरवियोगिनी आत्मा की परमात्म-प्रीति-प्रतीति-जन्य स्वर्गीय विरह-वेदना, संताप-सहन की अपूर्व क्षमता, स्वकीया की अपराजित दृढ़ता, नैतिक निष्ठा और सर्वस्व समर्पण की सुनिश्चित धारणा विद्यमान है।

करुण रस—करुण रस की उपादेयता को प्रायः सभी महाकवियों ने स्वीकारा है, और भवभूति ऐसे कवि तो करुण रस को ही एक मात्र रस मानते थे,[1] किन्तु मीरां की पदावली, मीरां के हृदय की समस्त वेदना को लेकर भी करुण रस से परिपूर्ण नहीं है। हमारे मत से उसमें विप्रलंभ शृंगार ही प्रधान है। इसके अधिक स्पष्टीकरण के लिये करुण रस और विप्रलंभ शृंगार का अन्तर जान लेना आवश्यक है।

करुण रस और विप्रलम्भ शृंगार का तात्विक भेद

करुण रस का स्थायी भाव शोक है, किन्तु विप्रलंभ शृंगार का स्थायी भाव है, रति। संयोग शृंगार में रति भाव स्पष्ट और प्रत्यक्ष दिखाई देता है, किन्तु विप्रलंभ शृंगार में वह विरह से आवेष्टित रूप में हमारे सामने आता है, फलतः उसमें क्रन्दन समा जाता है। करुण रस में प्रिय या प्रेयसी के मिलन की आशा-अभिलाषा समाप्त हो जाती है। मिलन की आशा के सर्वथा निष्प्राण हो जाने पर करुण रस का उद्रेक होता है किन्तु विप्रलंभ शृंगार में नायक अथवा नायिका रोते-कलपते रहने पर भी मिलन के लिये तड़पते हैं। विप्रलंभ शृंगार में विरह दशा में भी मिलन की आशा और कामना रहती है। फलतः करुण रस का रुदन, नैराश्य, आपत्ति और शोककारक होता है, और वियोग शृंगार या विप्रलंभ शृंगार का रुदन बेकली के

---

१. एको रसः करुण एव निमित्त भेदात्।
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्त्तबुदबुदतरंगमयान् विकारान्।
अम्भो यथा सलिल मेव हि तत्समस्तम्।
—उत्तर रामचरित; भवभूति, ३–४७।

साथ आशा, अभिलाषा और आनंद-प्रद होता है। विप्रलंभ शृंगार का अंत जब संयोग शृंगार में होता है तब संयोग शृंगार का मिलन-पक्ष और भी अधिक रस मय हो जाता है परंतु करुण रस में संयोग शृंगार की संभावना ही नहीं रहती। कृष्ण की ब्रजलीला के समय राधा का करुण क्रंदन विप्रलंभ शृंगार के अन्तर्गत माना जायगा, किन्तु कृष्ण के मथुरा और द्वारका जाने पर राधा का कृष्ण विरह करुण रस को जन्म देता है, और उसका अरण्यररोदन कृष्ण के पुर्नमिलन की आशा से शून्य होने पर फूटता है। राधा में प्रिय के पथ पर चलकर उसे पाने की खोज नहीं पाई जाती। राधा-भाव ब्रजभाव से सीमित है, इसीलिये राधा का व्यक्तित्व और राधा-भाव संकीर्ण है। मीरां और मीरां-भाव उनसे बहुत व्यापक है। मीरां-भाव में प्रिय मिलन की आशा और प्रिय की खोज के लिये मीरां की सक्रियता उसे राधा-भाव से भिन्न भाव-भूमि पर अधिष्ठित करती हैं। मीरां में भाव और कर्म का संतुलन है, राधा में भावना प्रधान है, इसीलिये हमने मीरां-भाव को गोपीभाव की चरम सिद्धि और राधा-भाव से श्रेष्ठतर अनुभूति माना है। रसानुभूति की दृष्टि से निर्गुण संप्रदाय के सन्तों व सूफियों के प्रेम-दर्शन से मीरां का प्रेम-दर्शन अधिक स्पष्ट, साधार और स्वाभाविक है, इसलिये भक्ति-काव्य में 'मीरां-भाव' जीवात्मा और परमात्मा का स्वाभाविक सहजात सम्बन्ध है, जो प्रत्यक्ष है, आरोपित नहीं। वह साम्प्रदायिकता से मुक्त आत्मा का उन्मुक्त स्वर्गीय प्रेम-भाव है, जिसमें वियोगिनी आत्मा संयोग के लिये पुकार और चेष्टा करती है।

मीरां के सभी पदों में स्वकीया का संयोग और विप्रलंभ शृंगार है। केवल एक ही पद ऐसा है, जिस पर कुछ-कुछ करुण रस की छाया दिखाई देती है।

> "देखां माई हरिमण काठ कियां।
> आवण कह गयां अजां णा आयां कर म्हाणे कोळ गयां।
> खाण-पाण सुध बुध सब बिसरयां, कांई म्हारो प्राण जियां।
> थारो कोळ विरुद जग थारो, थे काईं बिशर गयां।
> मीरां रे प्रभु गिरधर नागर, थे विण भटां हियां।"[1]

'हरि मण काठ कियां' आलम्बन है। 'आवण कह गयां, अजां णा आयां, कर म्हाणे कोळ गयां' उद्दीपक है। आने का आश्वासन देकर भी 'प्रिय' के न आने से यह करुण भाव उद्दीप्त हो गया, उनके न आने से उसमें तीव्रता आ गई है, अतः खाण-पाण सुध-बुध सब बिसर्यां' 'अनुभाव है।' 'थे काईं बिशर गयां ?' की संभावित आशंका

१. डाकोर की प्रति, पद ४१।

से उस करुण भाव का संचार हुआ, और 'थें बिण फटां हिया' की स्थिति तक पहुँचते पहुँचते रस परिपाक हो गया है, किन्तु यह रस क्षणिक अनुभूति है। प्रिय की खोज में निकलते ही मीरां का करुण रस, विप्रलंभ शृंगार में परिणत हो जाता है, और अन्ततः मधुर संयोग में ही उसकी परिणति हुई है।

शान्त रस—शान्त रस सन्तों के काव्य का अति व्यापक रस है। इसका स्थायी भाव 'निर्वेद' है। जड़ जगत की नश्वरता, लौकिक सम्बन्धों की असत्यता और पार्थिव देह की क्षण भंगुरता इस निर्वेद के कारण हैं। इनके ज्ञान से ही शान्त रस का भाव उद्दीप्त होता है और फिर सन्तों की आत्मा भक्ति-पथ पर चरण बढ़ाती है। इस तथ्य के स्पष्टीकरण के लिये यह भी कहा जा सकता है कि सांसारिक विरक्ति, ईश्वरीय अनुरक्ति का प्रथम सोपान है और इस दृष्टि से शान्त रस की अनुभूति भक्ति रस की प्राप्ति की दिशा में प्रारंभिक अभियान है।

मीरां के अनेक पदों में शान्त रस-निष्पत्ति हुई है, यथा—

"मज मण चरण कंवळ अबणासो।
जंताई दीसां धरण गगण मां तेताई उट्ठ जासा।
तीरथ बरतां ग्याण कथंता, कहा लयां करवत कासा।
यो देहा रो गरब णा करणा माटी मां मिळ जासा।
कहा भया था भगवा पहरयां धंर तज ळयां सण्यासा।
जोगी होया जुगत णा जाणा, उलट जणम रा फासा।
ळरज करा अबळा कर जाड़्या, स्याम (...) दासा।
मीरा रे प्रभु गिरधर नागर, काठ्या म्हांरो गांसो।"[१]

उक्त पद स्थायी भाव 'निर्वेद' की पीठिका पर अधिष्ठित है। इसमें दृश्य जगत की नश्वरता, तीर्थाटन, व्रत, ज्ञान-चर्चा और काशी में जाकर करवत लेने की निस्सारता आलम्बन के रूप में विद्यमान है। मिट्टी में मिल जाने वाले शरीर की नश्वरता का बोध अनुभाव है, जो दैन्य भाव से हाथ जोड़कर कृष्ण से 'अरज' करने में व्यक्त हुआ है। विरक्ति के बाद मुक्ति की युक्ति न जानने पर पुनः जन्म की फांसी के लगने के डर से निर्वेद भाव संचारित हुआ है और 'मीरां रे प्रभु गिरधर नागर काठ्यां म्हांरी गांसी' तक उसकी परणति हो गई है।

---

१. डाकोर की प्रति, पद २।

इसी प्रकार डाकोर की प्रति के पहले पद में भी 'गिरधर गोपाल' आलंबन है। 'दूसरां णां कोयां साधां सकळ लोक जूयां, उद्दीपन है।' 'भायां छाड्यां, बंधा छाडयां सगा सूयां....' 'भगत देख्यां राजी ह्ययां जगत देख्यां,' अनुभाव है, 'असवां जळ सींच-सींच प्रेम बेळ बूयां' भी अनुभाव है और 'राणां विषरो प्याळा भेज्यां, पीय मगण हूयां' में शान्त रस अपनी परिपक्व दशा में प्राप्त हो जाता है।

मीरां-पदावली के शान्त रस-सिक्त पदों में जो स्थायी भाव निर्वेद है, वह उनके जीवन व्यापी क्लेश से जागृत हुआ है। सांसारिक यातनाओं से उद्दीप्त हो वही निर्वेद मीरां की सांसारिक जीवन विषयक उदासीनता में अनुभाव बन गया है और उसमें मीरां से चिर संचित जन्म-जन्मान्तर के दाम्पत्य भाव ने संचारी का कार्य किया है, फलतः मीरां की पदावली में शान्त रस से लेकर संयोग और विप्रलंभ शृंगार की अन्ततः संयोग शृंगार रस में परिणत होने वाली मधुर रस की साधना विद्यमान है। मधुर रस की साधना भक्ति पक्ष के आध्यात्मिक स्तर का विषय है, अतः उसका मीरां की भक्ति के विवेचन के समय निरूपण किया जाना अधिक उपयुक्त होगा। इस अध्याय की सीमा साहित्यिक अध्ययन की परिधि से घिरी है, अतः यहाँ साहित्यिक दृष्टि से ही उपलब्ध रसों का विवेचन किया गया है।

मीरां की मूल पदावली में, डकोर की प्रति के पद क्रमांक ८,१२,१४,२२,२५, २८,३१,३४,४३,५८,६८,६७, (क + ख) और काशी की प्रति के पद क्रमांक ७१, ८४,६८ और १०१ में शान्त रस के प्रमाण पाये जाते हैं।

मधुर रसः—मधुर रस की अभिव्यंजना में ही मीरां-पदावली के प्राण हैं और वह मधुर रस, शृंगार रस से भाव, विभाव, अनुभावादि में समान होते हुये भी इन्द्रियातीत आध्यात्मिक अनुभूति है, जो पार्थिव जगत से परे अपार्थिव आध्यात्मिक लोक का प्रसाद है। उन्होंने लिखा है कि शृंगार रस का विषय सांसारिक होने से, जड़ मूर्ति-रूप है किन्तु मधुर रस का विषय अलौकिक एवं स्वयं भगवान स्वरूप है, अतएव शृंगार रस के स्थायी भाव रति का सम्बन्ध यदि स्थूल या लिंग शरीर से है, तो मधुर रस एक प्रकार से स्वयं आत्मा का ही धर्म है।[1] मीरां की सम्पूर्ण काव्य साधना में यही मधुर रस व्याप्त है।

मीरां की काव्य कला का स्वरूप

मीरां की काव्य-कला का स्वरूप निर्धारित करते समय हमें यह बात विशेष रूप से ध्यान में रखनी चाहिये कि कवि-कर्म की उपासना करना मीरां का ध्येय नहीं था

---

१. मधुर रस की साधना-डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, कल्याण, साधनांक, पृष्ठ १७५।

इसी लिये वे ध्वनि-सम्प्रदाय, रस-सम्प्रादय आदि काव्य-रूप या काव्यांग-समर्थक विविध सम्प्रदायों की परिधि से सर्वथा वाहर और स्वतन्त्र हैं। ऐसी स्थिति में उनकी काव्यकला का स्वरूप निरूपित करने के लिये हमें चार तथ्यों पर विचार करना होगा।

(१) मीराँ की काव्य-कला का आधार—मीरां की काव्य—कला मनुष्येतर वाह्य सृष्टि या सचराचर के स्वरूप, गुण-गायन पर आधारित नहीं है। वह मीरां की व्यक्ति निष्ठ आन्तरिक अनुभूतियों पर आधारित एवम् उनके योग की उच्चतम भावभूमि पर आधारित है। उनके काव्य की पृष्ठ-भूमि में नारी-भक्त-आत्मा की शुद्ध अनुभूतियों का संचार पाया जाता है, जिसके फलस्वरुप उनकी काव्यकला में जीवन और काव्य का विशुद्ध अनन्य रागात्मक सम्बन्ध पाया जाता है। वैष्णव भक्तों की भाँति आराध्य का रूप-गुण, विनय, लीला, भगवद्भक्तों की कथा, भक्तों का दैन्य आदि सभी वर्ण्य विषय मीरां की काव्यकला के आधार हैं, किन्तु उसमें सूरादि अन्य कृष्ण-भक्तों की तरह 'आरोपित' नारीत्व का 'काल्पनिक' आधार नहीं है, अपितु आत्मा के सनातन नारीत्व के स्वयंसिद्ध पातिव्रत्य धर्म-प्रेरित, सुकुमार हृदय की तीव्र अनुभूति, प्रवल संवेग, अनियंत्रित मनोवेग, सर्वोपरि प्रेम तथा अन्तर्मन्थननि: सृत विरह भाव विद्यमान है। इसी लिये वैयक्तिकता मीरां की काव्यकला का विशिष्ट गुण है, जो उन्हें राधा-भाव या गोपीभाव से कृष्णाराधना करने वाले अन्य कवियों से सर्वथा स्वतंत्र और सर्वोच्च सम्मान प्रदान करता है। मार्मिक अन्तवृत्ति पर आधारित होने से मीरां की काव्य-कला सौन्दर्य-सर्जना में अपूर्व है। सरस, पुष्ट, प्रामाणिक आध्यात्मिक पवित्र प्रेम-भाव, अलौकिक विरह और निष्कलंक भक्ति-भाव पर आधारित मीरां की ग्राहक कल्पना और उनके सहज, स्वसंवेद्य आत्मोद्गारों में व्यक्त विधायक कल्पना में कोई अन्तर नहीं है। मीरां के काव्य का आधार न रहस्यमय है, न चमत्कारपूर्ण। वह कृष्ण प्रेम है, मधुर भक्ति है, अनन्य शरणागति है, चिरन्तन प्रेम की लौकिक जीवन व्यापी विरह-दशा है, आध्यात्मिक प्रणय-पुकार है, मीरां का व्यक्तित्व है, मीरां-भाव है, जो मीरां की ही तरह मूर्त और स्पष्ट है।

(२) उपकरण—भाषा, छन्द और अलंकार काव्य के सामान्य उपकरण हैं। अन्तर्जगत को अमूर्त रुप देने के लिये काव्य कला चित्रकला की अनुगामिनी है फलत: शब्द-चित्रों के द्वारा काव्य में भाव-चित्रण किया जाता है और उसमें अनुभूति और कल्पना का रंग दिया जाता है। अनुभूति की अभिव्यंजना के लिये शब्द अनिवार्य उपकरण है। मीरां-पदावली का समस्त शब्द-विन्यास भावानुकूल है। आडम्बरहीन शब्द-योजना के कारण उसमें न तो वक्रोक्ति का चमत्कार है न अलंकृत छन्द विधान की रूप-सज्जा

ही । वहाँ केवल आडम्बरहीन शब्द योजना का भाव-भीना भाषा-लालित्य पाया जाता है, जो मीरां की काव्य कला का नैसर्गिक अयत्नसाधित उपकरण है ।

इस विषय में श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी का मत द्रष्टव्य है । मीरां के काव्य के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि–

"Her language is simple, and appealing. But passion grace, delicacy, melody—Miran has all these gifts. Her longing is exquisite, it seizes all hearts, penetrates all souls. Her poetic skill passesses the supreme art of being artless."[1]

शाब्दिक अलंकारों की दृष्टि से मीरां का काव्य अनलंकृत काव्य है, किन्तु भाव विदग्ध कोमलकान्त-पदावली के नाद-सौष्ठव से उसका संगीत हृदय के साथ-साथ आत्मा को भी छू जाता है । इस प्रकार सरल भाषा भावानुगमी शब्द-विधान और आत्मिक रसानुभूति पैदा कराने वाला मादक संगीत मीरां की काव्य-कला के प्रधान उपकरण हैं ।

(३) रूप–नारी सुलभ प्रगाढ़ अनुभूति की मार्मिक व्यंजना और आत्मा के वनिता तुल्य ललित कोमल रस से परिपूर्ण मीरां के संतुलित पद, भाव और भाषा दोनों रूपों में स्पष्ट, सरल, मधुर और हृदयहारी हैं । वे छन्दशास्त्र के रूप विधान से परे, गीति काव्य के कीर्तन प्रधान भजन रूप में पाये और गाये जाते हैं । उनमें नारीत्व की पावन मर्यादा के भीतर आध्यात्मलोक की प्रेम-परक तल्लीनता, विरह-जन्य कातरता और कृष्ण-मिलन की उत्कण्ठा मूर्त हो उठी है, जिसमें नवधा भक्ति के नाना रूपों को ग्रहण कर आत्मा निवेदन-पूर्ण प्रेमलक्षणा-भक्ति का मूल रूप विद्यमान है मीरां के सम्पूर्ण मूल काव्य में आत्मवृत्ति का (लौकिकता की गन्ध से सर्वथा अस्पृश्य) आन्तरिक प्रतीबिम्ब पाया जाता है । इसीलिये मीरां की काव्य-कला के पीछे एक मूर्तिमान व्यक्तित्व झांक रहा है, जिसमें गोपी-भाव की उच्चतर भाव भूमि, राधाभाव की उच्तर भाव-दशा मीरां भाव दीप्तिमान होकर चमक रहा है । साहित्य की दृष्टि से मीरां का काव्य भावपूर्ण, संगीत की दृष्टि से ललित और कला की दृष्टि से नैसर्गिक सौन्दर्य-सम्पन्न है । संगीत की दृष्टि से तो वह दिव्य तन्मयता का सर्जक है ।

(४) प्रभाव–मीरां का काव्य अर्थ प्रेषक ही नहीं बिम्ब विधायक भी है । उसमें सक्रिय सचेष्ट कलात्मक प्रेषणीयता की अपेक्षा स्वाभाविक प्रभावोत्पादकता पाई जाती है । मीरां का भाव-सौन्दर्य,भक्ति और संगीत पर छाया हुआ है,

---

1. Gujarat and its literature—K. M. Munshi, Page 188.

इसीलिये प्रत्येक पद पर मीरां के व्यक्तित्व की गहरी छाप पाई जाती है। मीरां की निजी अनुभूति सार्वभौम भक्ति-भाव की और अलौकिक प्रेमत्व की पावन धरोहर है, और उनका आत्मबोध जगत्प्रबोध का कारण है मीरां की काव्य-कला और उनकी प्रभावोत्पादकता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि मीरां का काव्य सौष्ठव, संगीत और भक्ति से तदाकार हो गया है । तद्युगीन सम्प्रदाय उन्हें न छू सके पर देशव्यापी विविध मत-मतान्तर और सम्प्रदायों पर मीरां की काव्य कला की गंभीर प्रतिक्रिया और व्यापक किन्तु गंभीर छाप पड़ी है। मीरां ने न तो कबीर की तरह निर्भीकता से हिन्दू मुसलमानों को खरीखौटी सुनाकर निर्गुण उपासना का ढिंढोरा पीटा है, न सूर की तरह कृष्ण के व्यक्तित्व की छाप को जन-मानस पर अंकित कर किसी साम्प्रदायिक मत के घेरे में अपने व्यक्तित्व को बाँधा है, न तुलसी की तरह काव्य-आचार्यत्व का सिक्का ही जमाया है, उन्होंने तो जन-समाज और अन्य सम्प्रदायों के अनुयायियों पर अपनी छाप डाली है । स्वयं स्याम-रंग में भींग उन्होंने अनेक सम्प्रदायों के अनुयायियों की भावनाओं को अपने पदों के अनुरूप रँगा है । अतः वे भक्ति काल की सर्वश्रेष्ठ व्यक्तिनिष्ठ प्रेम गीतों की गायिका है । कवि और काव्य की जैसी अनन्यता मीरां के पदों में पाई जाती है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है । आध्यात्मिक भावभूमि पर नारी प्रकृति का जो स्वच्छन्द, मर्यादापूर्ण, पवित्र वैयक्तिक प्रेम-भाव मीरां की काव्य-कला में पाया जाता है, वह उसका अपना मौलिक गुण है । यही मीरां की काव्य कला का रहस्य है, जिसके फलस्वरूप मीरां का काव्य 'रस काव्य' है और उसके श्रवण, पठन अथवा गायन से रस दशा का 'साधारणीकरण'[1] हो जाता हे । श्रोता, पाठक या गायक की अनुभूतियों का यह तादात्म्य ही मीरां की काव्यकला की चरम सिद्धि है ।

---

१. रस मीमांसा-रामचन्द्र शुक्ल, काव्य का लक्ष्य, पृष्ठ ८९ ।

अध्याय–७

गीति-काव्य परम्परा में मीरां का वैशिष्ट्य

काव्य का स्वरूप

साहित्य-शास्त्र में 'काव्य' शब्द बड़े व्यापक अर्थ में व्यवहृत होता है। तत्वतः उसमें गद्य और पद्य दोनों का अन्तर्भाव विद्यमान है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से 'काव्य शब्द का प्रयोग पद्यबद्ध कविता के अर्थ में रूढ़ हो गया है। कवि की मर्मस्पर्शिनी अनुभूतिय जबाँ छन्दों केमाध्यम से शब्द और अर्थ का गठ-बन्धन कर आत्मविभोर अनुभव के क्षणों में सहज मुखर होती हैं, तब गीति-काव्य का प्रणयन होता है और मानवीय प्रज्ञा के सचेतन बुद्धि और भाव-पक्ष अमूर्त्त अनुभूति की आत्मा को काव्य के शरीर में बाँध कर उसे नया जन्म देते हैं। ऐसे काव्य में बुद्धि-पक्ष की अपेक्षा हृदय-पक्ष का प्राधान्य होता है, अतएव काव्य, कवि के भाव-पक्ष की तादात्म्यकारिणी आत्मीयता, रागात्मक संवेदना, सहज कल्पना, और बिम्ब विधायिनी प्रतिभा का द्योतक माना जा सकता है। इसका सबसे महत्वपूर्ण कारण यह है कि काव्य-सर्जना के क्षणों में में कवि की वैयक्तिकता का तत्व सबसे अधिक प्रत्यक्ष होकर भावावेग और संगीत के साथ व्यक्तिनिष्ठ अनुभूतियों की व्यंजना करता है, जिसके फलस्वरूप काव्य, कवि की आत्मा का निरावृत, लयपूर्ण, कलात्मक प्रकाशन, बनकर हमारे सामने आता है। काव्यशास्त्रियों द्वारा रमणीय अर्थ और रसानुभूति के आधार पर काव्य की परिभाषायें की गई हैं। मम्मट के मत से 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' और साहित्य-दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ के मत से 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' काव्य की परिभाषायें हैं, अतः काव्य में शब्द, अर्थ और रस सभी महत्वपूर्ण हैं। काव्य में 'शब्द' उसके बाह्य सौंदर्य का दिग्दर्शन कराते हैं और 'रस' उसके आन्तरिक सौंदर्य-बोध का। इस तरह से काव्य में शब्द-विधान, छन्द-योजना, लय आदि का संयोजन उसके रूप-विधान के उपकरण माने जाते हैं। इस सम्बन्ध में एलिजाबेथ ड्रयू का मत है कि।

'Form is the outward symbol of the 'organisation', which we have already as the function of Poetry [1]

इन्साक्लोपीडिया ब्रिटानिका में भी बाह्याकार, दृश्य रूप और वस्तुमूसतिमकता को काव्य के वस्तु-तत्व के अन्तर्गत मान्यता दी गई है। [2]

---

1. Discovering Poetry—Elizabeth Drew, page 93.
2. Encyclopedia Britanica Vol. X. Page 667.

किंतु शब्द-सौंदर्य, छन्द-सौन्दर्य अथवा लयमाधुर्य को ही काव्य-सौंदर्य का सर्वस्व नहीं कहा जा सकता है। काव्य भाव-जगत की वस्तु है, अतः उसमें भाव सौन्दर्य का प्राधान्य अधिक अपेक्षित है।

भारतीय साहित्य में काव्य-चिन्तन

भारतीय साहित्य में 'काव्य शास्त्र' और 'अलंकार शास्त्र' के अन्तर्गत काव्य की उत्पत्ति, उसकी आत्मा, उसके विविध रूप, वर्गीकरण, कवि और काव्य के लक्षण, गुण-दोष, रस, अलंकार, उद्देश्य, काव्य-प्रणयन के सिद्धान्त आदि की विशद व्याख्या भरत के नाट्य शास्त्र, भामह के काब्यालंकार, दण्डी के काब्यालंकार, दण्डी के काव्यादर्श, उद्भट के अलंकार-सार-संग्रह, वामन के अलंकार-सूत्र, रुद्रट के काव्यालंकार, आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक, राजशेखर के काव्य-मीमांसा, कुंतक के वक्रोक्ति जीवितम्, धनञ्जय के दशरूपक, भोज के सरस्वती कण्ठभिरण, मम्मट के काव्यप्रकाश, रुय्यक के अलंकार-सर्वस्व जयदेव के चन्द्रालोक, भानुदत्त की रसमंजरी और रसतरंगिणी, विश्वनाथ के साहित्य-दर्पण, केशव मिश्र के अलंकारशेखर, पंडितराज जगन्नाथ के रसगंगाधर आदि ग्रंथों में मिलती है, जिनसे भारतीय मनीषियों की काव्य विषयक धारणाओं और मान्यताओं का पता चलता है।

काव्य-सम्प्रदाय

उक्त ग्रंथों के प्रणेता काव्य शास्त्री-विद्वानों ने काव्य के विविध अंग उपांगों को प्राधान्य देकर काव्य सम्बन्धी सम्प्रदायों को जन्म दिया है, जिनके फलस्वरूप काव्य-शास्त्र में रस-सम्प्रदाय, ध्वनि-सम्प्रदाय, वक्रोक्ति-सम्प्रदाय, रीति-सम्प्रदाय और अलंकार-सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ है। इन संप्रदायों के आचार्यों में से किसी ने काव्य में रस को प्रधान माना है तो किसी ने ध्वनि को, कोई वक्रोक्ति को काव्य का प्राण मानता है, तो कोई रीति और अलंकार को, किन्तु वास्तव में 'सम्प्रदाय' शब्द के अंतर्गत जो संकुचित मनोवृत्ति सामान्यतः पाई जाती है वही स्थिति इन काव्य-संप्रदायों की भी है। काव्य में रस, ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति और अलंकार ही नहीं स्वभावोक्ति, संगीत, स्वर, ताल, लय, भावुकता, तीव्रानुभूति, संवेग आदि अनेक इतर तत्व भी मिले रहते हैं और इन सभी के संतुलित, व्यवस्थित, प्रभावोत्पादक विधान से काव्य अपनी सम्पूर्ण नैसर्गिक सुन्दरता, और प्रभविष्णुता के साथ मुखर होता है।

काव्य के स्वरूप-भेद

काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में पौर्वात्य और पाश्चात्य विद्वानों में मतैक्य नहीं है। भारतीय काव्य-मीमांसकोने 'बंध' के अधार पर काव्य का विभाजन किया है

और पाश्चात्य विद्वानों ने अंतःप्रेरणा के आधार पर। इसके आगे अंतः प्रेरणा का भी वर्गीकरण स्वानुभूति निरूपक और बाह्यार्थ द्योतक रूपों में किया गया है, किन्तु अनुभूति के क्षेत्र में इस तरह की सीमारेखा खींचना समीचीन नहीं है। कवि के अनुभूति जगत में परानुभूति भी स्वानुभूति में तदाकार हो जाती है, और उस तादात्म्य के बाद रसानुभूति-जन्य भाव-संवेग के सहज प्रवाह से काव्य-सृष्टि होती है, इसलिये अंतः प्रेरणा के आधार पर काव्य के स्वरूप भेदों का विवेचन अपवादात्मक होता है।

भारतीय काव्य-शास्त्रियों की विवेचना के सार-रूप में हम 'बन्ध' की दृष्टि से काव्य के स्वरूप-भेदों पर विचार करना अधिक युक्ति-युक्त समझते हैं। बन्ध की दृष्टि से काव्य तीन खण्डों में बाँटा जा सकता है :-(१) प्रबंध (२) अबन्ध (३) बन्धाबंध।

(१) **प्रबन्ध**—प्रबन्ध का अर्थ है, बन्ध सहित, जिसमें शृंखलाबद्ध रूप में किसी भी सत्यासत्य, ऐतिहासिक अथवा काल्पनिक कथा का आद्यन्त सुव्यवस्थित वर्णन हो और पात्र, घटना और परिस्थितियाँ पूर्वापर सम्बन्ध-निर्वाह करते हुये किसी निश्चित गंतव्य तक श्रोता या पाठक को पहुँचा सकें। विषय तत्व की प्रधानता के कारण प्रबन्ध काव्य में वर्णनात्मकता अधिक पाई जाती है, और वह बाह्यार्थ निरूपक अधिक होता है। फलतः उसमें कवि की आन्तरिक वैयक्तिक अनुभूतियों की अपेक्षा बाह्य सृष्टि के उपकरण, काव्य के पात्र, घटना-चक्र, परिस्थिति आदि के वर्णन अधिक व्यापकता से पाये जाते हैं, और कवि की प्रतिभा का अनुभूति परक बाह्य-सौन्दर्य-निरूपण अधिक होता है फिर प्रबन्ध का सम्पूर्ण विधान कवि की स्वाभाविक मनोदशाओं के अतिरिक्त शास्त्रीय नियमों से भी बँधा रहता है।[1]

प्रबन्ध काव्य के भेद

सामान्य रूप में प्रबन्ध काव्य दो खण्डों में विभक्त किया गया है (१) महाकाव्य (२) खण्डकाव्य।

महाकाव्य—महाकाव्य का कवि एक व्यापक कथानक के माध्यम से युग, और परिस्थितियों का सांगोपांग सर्गबद्ध, विविध छन्द, रस, अलंकार-संयुक्त, विस्तीर्ण वर्णन कर जीवन के सम्पूर्ण अंगों को काव्य के माध्यम से व्यक्त करता है। युग की विचार-सरणि को जीवन के किसी विशिष्ट सत्य-सन्देश से सचेत करने के लिये वह ऐतिहासिक, अर्द्ध-ऐतिहासिक, पौराणिक अथवा काल्पनिक गाथा को भी अपने प्रबंध का आधार बना कर महाकाव्य लिख सकता है। ऐसे काव्य में उसका कार्य-क्षेत्र खूब व्यापक होता है और वह विस्तार के साथ अपनी प्रतिभा को प्रकट कर सकता है।

खण्डकाव्य—खण्डकाव्य में महाकाव्य की सी विशालता नहीं होती। खण्ड

काव्य का सर्जक, जीवन के किसी खण्ड अथवा आंशिक कथानक के आधार पर उसका संक्षिप्त किन्तु सुगठित क्रमबद्ध वर्णन करता है। अस्तु, महाकाव्य यदि विशाल उपवन है, तो खण्ड-काव्य एक क्यारी। स्वरूपात्मक दृष्टि से महाकाव्य की तुलना में खण्डकाव्य का दायरा काफी सीमित होता है।

अबन्ध काव्य—अबन्ध काव्य पद्यान्तर निरपेक्ष, कथा-बन्धन-मुक्त, भावात्मक आत्माभिव्यंजन-द्योतक काव्य-रूप होता है। उनमें इतिवृत्त की अपेक्षाकृत कवि की अनुभूति बलवती होती है। विशाल दृश्य-विधान और विस्तारपूर्ण भाव-व्यंजन की अपेक्षा अबन्ध काव्य में संक्षिप्त, गूढ़, सरस, भावाभिव्यक्ति अधिक महत्व रखती है। प्रभावोत्पादकता और रस-निष्पत्ति उसके सबसे अधिक वांछनीय गुण हैं। इसमें प्रबन्ध काव्य की ही भाँति कवि का रचना कौशल अपेक्षित है। अबंध काव्य के सर्जक को महाकाव्य के रससिंधु की सी महाकाय व्यापकता, अबंध के समान छोटी सी बिन्दु सृष्टि में भरना पड़ती है, जिससे उनमें नैसर्गिक प्रतिभा, काव्य-चातुर्य और अनुभूति-संवेगों का प्रभाव अनिवार्य हो जाता है।

अबन्ध काव्य दो खण्डों में वर्गीकृत किया गया है। यथा (१) गीतिकाव्य (२) मुक्तक काव्य।

गीतिकाव्य—अबन्ध काव्य का वह स्वरूप, जिसमें कवि अत्यधिक भावात्मक, आत्माभिव्यंजन प्रधान स्वानुभूति को गेय पद रूप में निरूपिय करता है—गीतिकाव्य कहलाता है।

मुक्तक काव्य—जब कवि किसी भाव या वस्तु-सौन्दर्य की अनुभूति को शास्त्रानुमोदित, कलात्मक एवं चमत्कारिक ढंग से प्रकट करता है, तब मुक्तक काव्य का प्रणयन होता है। ऐसे अबन्ध, काव्य-मुक्तक या पाठ्य मुक्तक भी कहे जाते हैं।

बन्धाबन्ध काव्य—बन्धाबन्ध काव्य में बन्ध और अबन्ध दोनों काव्य-रूपों का सामंजस्य होता है, इसलिये ऐसे काव्य को मिश्रकाव्य या चम्पू को की संज्ञा दी जाती है। इनमें कथोपकथन, स्वगत कथन, आदि नाटकीय तत्वों की भी व्यंजना हो सकती है, अतः ऐसे काव्य में भावात्मकता और आत्माभिव्यंजन का संयोजन हो जाता है। बन्धाबन्ध काव्य सामान्यतः परानुभूति द्योतन का अच्छा साधन है।

गीतिकाव्य—काव्य-भेदों के उपरोक्त अति संक्षिप्त विवेचन के उपरान्त अब गीतिकाव्य पर विचार किया जाता है। गीतिकाव्य मानवीय अनुभूतियों का चिर संचित कोष है और उसकी परम्परा विश्व व्यापी है। आदिम युग से लेकर आज तक मनुष्य की ज्ञानात्मक और भावात्मक उपलब्धियाँ स्वर संगीत समन्वित गेय पदों के रूप में

समस्त सभ्य और असभ्य जातियों में व्यक्त होती रही हैं । सभ्यता, संस्कृति, प्रतिभा और रुचि के फलस्वरूप गीति-काव्य, लोक-गीत और कला-गीतों के रूपों में संसार की सभी प्रगतिशील अथवा पिछड़ी हुई जातियों में पाये जाते हैं । लोक गीत, कला अथवा शास्त्रीय नियम बन्धनों से सर्वथा उन्मुक्त और स्वच्छन्द भावभूमि पर प्रवाहित होते हैं, जबकि कला-गीतों में भावात्मक और कलात्मक सौन्दर्य का समरस सामन्जस्य पाया जाता है । गीतिकाव्य प्रधानतः आत्म तत्व-युक्त संगीतात्मक भावप्रधान मुक्तक है, जिसमें कवि के मनोवेगों का सहज अभिव्यंजन होता है, इसीलिये गीतिकाव्य स्वानुभूति निरूपक गीतात्मक काव्य है उसमें व्यक्तित्व प्रधान शैली में कवि का आत्म-प्रकाशन पाया जाता है ।

गीतिकाव्य का स्वरूप

गीतिकाव्य के अन्तर्गत आने वाली प्रत्येक रचना संक्षिप्त, किन्तु सरस और मर्मस्पर्शी होती है । बाह्याभिव्यंजन गौण और कवि की अन्तर्मुखी प्रवृति के प्रकाशन के कारण उसका प्रभाव अन्य काव्य-रूपों से जल्दी और अधिक होता है । दूसरे शब्दों में मनोवेगों के आप्लावन और स्वानुभूति के प्रकाशन के कारण गीतिकाव्य में साधारणीकरण शीघ्रता से होता है, इसीलिये काव्य के इतर स्वरूपों की अपेक्षा गीतिकाव्य की व्यापकता सर्वोपरि है ।

पश्चिमी विद्वानों की दृष्टि में गीति-काव्य

पश्चिमी विद्वानों की दृष्टि से अंग्रेजी का 'लिरिक' शब्द हिन्दी के 'गीति काव्य' शब्द का पर्यायवाची है ।[१] 'लिरिक' कदाचित उस संक्षिप्त गेय काव्य को कहा जाता था, जो 'लायर (Lyre) नामक वाद्य-यंत्र के साथ गाया जाता था । 'लायर' ग्रीक भाषा में लूरा (Lura) कहलाता था ।[२] ग्रीक 'लूरा' पर गाये जाने वाले गीतों को' लुरिकोस (Lurikos) कहते थे । इस प्रकार से ग्रीक के लुरिकोस, अंग्रेजी के लिरिक (Lyric) और हिन्दी के गीति सामान्यतः समानार्थो शब्द हैं ।

गीतिकाव्य-सम्बन्धी पाश्चात्य अभिमत

इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका के अध्ययन से पता चलता है हि जॉफ्राय (Jouffroy) ही वह सर्वप्रथम सौन्दर्य तत्वज्ञ था, जिसने सबसे पहले 'गीतिकाव्य' और 'काव्य' शब्द की एकरुपता का दर्शन कर दोनों शब्दों को एक ही काव्य-रूप के

---

१. An introduction to the study of Literature--W.H. Hudson, p. 126.

२. Encyclopedia Brittanica, Vol. XVII. p 177.

दो नाम बतलाये थे । उसके मत से काव्य अथवा गीतिकाव्य में उन सम्पूर्ण तत्वों का सामंजस्य पाया जाता है, जो वैयक्तिक और आह्लादकारी हैं, तथा जिनमें कविता के प्राणों का स्पन्दन विद्यमान है, अतः बाह्य आकार के कठोर नियमों के आधार पर उनकी समीक्षा करना व्यर्थ है ।[१]

हेगल के मत से काव्य का एक मात्र कार्य शुद्ध कलात्मक ढंग से आन्तरिक जीवन के रहस्यों, उसकी आशाओं, उसके उद्वेलित आह्लाद, उसकी वेदना एवं उसके विषादपूर्ण क्रन्दन अथवा उन्माद को व्यक्त करना है ।[२]

अर्नेस्ट रिस के विचारानुसार गीतिकाव्य प्रभावोत्पादक भावों से अनुशासित शक्तिशाली लय से परिपूर्ण सर्वथा स्वतंत्र शब्दों में संगीतात्मक अभिव्यक्ति है ।[३]

जॉन ड्रिंक वाटर ने भी गीतिकाव्य और काव्य को पर्यायवाची शब्द मानते हुए लिखा है कि गीति काव्य शुद्ध काव्य शक्ति से उद्भूत एक ऐसी अभिव्यंजना है, जिसमें इतर कोई भी शक्ति सहयोगी नहीं है ।[४]

---

१. Jouffroy was perhaps the first aesthetician to see quite clearly that lyrical poetry is nothing more than another name of poetry itself; that it includes all personal and enthusiastic part of what lives and breathes in the verse so that the divisions pedantic criticism are of no real avail to us in its consideraticn'--Encyclopedia Brittanica, Vol. XVII. p. 181.

२. The lyric has the function of revealing, in terms of pure art the secret of inner life, ite hopes, its fantastic joys, its sorrows its delirium'--Hegal-Encyclopedia Brittanica, Vol. XVII. p. 181. 2.

३. Lyric, it may be said, implies a form of musical utterence in words governed by overmastering emoticn and set free by a powerfully concordant rhythm. Lyric poetry-Ernest Rhys, Foreword, p. 6.

४. The characteristic of Iyric is that it is the product of pure poetic energy unassociated with other energies, and that lyric and poetry are synonymous terms,
--The Lyric--John Drinkwater, p, 64,

एस० टी० कॉलेरिज ने काव्य को श्रेष्ठतम शब्दों का श्रेष्तम क्रम कहा है[1]।

प्रोफेसर गमर ने गीतिकाव्य को वैयक्तिक अनुभूति-प्रसूत अन्तर्वृत्ति-निरूपिणी कविता माना है, जो घटनाओं से असम्बद्ध और भावनाओं से सम्बन्धित रहती है। वह मनुष्य की इच्छा, आकांक्षा मय; आदि मनोभावों का प्रकाशन करती है।[2]

डबल्यू० एच० हडसन ने गीतिकाव्य को वैयक्तिकता प्रधान मानते हुये भी उसे व्यक्ति वैचित्र्य की अपेक्षा व्यापक मानव भावनाओं एवं अनुभूतियों का ऐसा अभिव्यंजन माना है, जिसमें प्रत्येक पाठक रसानुभूति पा सकता है।[3] अतः रस-सिद्धान्त का साधारणीकरण उसका सामान्य गुण है।

'गोल्डन ट्रेजरी' के संकलन कर्ता श्री एफ० टी० पाल्ग्रेव ने गीतिकाव्य में किसी एक ही विचार, भाव या स्थिति के प्रकाशन पर जोर दिया है।[4] उनके मत से गीतिकाव्य में एक ही भाव, विचार अथवा अवस्था की मनोवेगपूर्ण अखंड संक्षिप्त अभिव्यक्ति होनी चाहिये।

पाश्चात्य विद्वानों के सभी मतों के सार रूप में यह कहा जा सकता है कि गीतिकाव्य कवि के तीव्रतम मनोवेगों और वैयक्तिक अनुभूतियों का उदात्त, संक्षिप्त, प्रभावोत्पादक, संगीतात्मक अभिव्यंजन है। वह इतर काव्य-रूपों से सर्वथा भिन्न है, किन्तु काव्य-सृष्टि के जितने भी उपादान, स्वरूप-सौन्दर्य तथा प्रभावोत्पादक लक्षण हो सकते हैं, वे सबके सब गीतिकाव्य में, बिन्दु में सिन्धु से समा जाते हैं, अतः हमें गीतिकाव्य के संक्षिप्त स्वरूप में भाव, भाषा, अनुभूति, रस, संगीत आदि सबका पुंजीभूत आनंद मिलता है

गीतिकाव्य के तत्व

गीतिकाव्य के स्वरूप पर विचार करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि गीतिकाव्य में सामान्यतः छः महत्वपूर्ण तथ्य पाये जाते हैं-१-वैयक्तिकता २-कल्पनाशीलता ३-मार्मिकता ४-भावात्मकता ५-संक्षिप्तता ६-संगीतात्मकता।

---

१. 'Poetry--the best words in the best order'--Table Talk July, 12, 1927.

२. Hand Book of Poetics—F. B. Gummere, Chapter II, p. 40.

३. An Introdution to the study of Literature--W. H. Hudson, p. 127.

४. 'Lyrical has been here held essentially to imply that each poems shall turn to some single thought, feeling of situation'. Golden Treasury--F. T. Palgrave, p. 9.

(१) वैयक्तिकता:–गीतिकाव्य कवि की अन्तर्वृति निरूपिणी रचना है, अतः उसमें कवि के व्यक्तित्व की छाप पाई जाती है । कवि का संवेदनशील हृदय जब अपने उद्वेलित मनोवेगों, और तीव्रतम अनुभूतियों को प्रकट करता है, तब गीतिकाव्य का सृजन होता है । अस्तु, गीतिकाव्य कवि की अन्तरतम भावना और भावपूर्ण आत्मानुभूति की सर्वव्यापकता के कारण सार्वजनीन अनुभूति का आधार होता है । इसीलिये गीतिकाव्य की पृष्ठभूमि में विद्यमान कवि की वैयक्तिकता मुखर क्षणों में श्रोताओं की भी स्वानुभूति बन जाती है । गीतिकाव्य के रस का यह साधारणीकरण गीतिकार की वैयक्तिकता को सार्वजनीन व्यक्तित्व का प्रतीक बना देता है, फलतः गीतिकाव्य में व्यक्त कवि की अनुभूति सबकी अनुभूति हो जाती है ।

(२) कल्पनाशीलता:—कल्पनाशीलता गीतिकाव्य का दूसरा गुण है । इसका अर्थ यह नहीं है कि गीतिकाव्य का प्रणेता शेखचिल्ली की तरह जमीन-आसमान के कुलावे एक किया करता है, अथवा वह कल्पना-लोक में विचरण करते हुये जीवन और जगत के सत्य से एकदम ऊपर उठ जाता है बल्कि गीतिकाव्य में कल्पनाशीलता का प्रयोजन यह है कि गीतिकार केवल मात्र वैयक्तिक अनुभूतियों, संवेदनों और भावों को ही अभिव्यंजित नहीं करता, किन्तु अपनी कल्पनाशीलता के कारण समष्टिगत संवेदन शीलता को भी वैयक्तिक स्वसंवेद्य अनुभूति के रूप में ग्रहण कर लेता है । कालिदास के मेघदूत में यक्ष के प्रणय-निवेदन का जो संदेश है, वह वस्तुतः कालिदास की नहीं यक्ष की अनुभूति है, किन्तु अपनी विशद और मार्मिक कल्पनाशीलता के कारण कालिदास ने उसे अपनी वैयक्तिक स्वसंवेद्य अनुभूति के रूप में ग्रहण कर काव्य के माध्यम से वाणी दी है । इसीलिये उसमें यक्ष की अनुभूति की सचाई है और उसी के साथ-साथ कालिदास की कल्पनाशीलता का निखार है, एक रससिद्ध कवि की कल्पना की चरम सिद्धि है ।

(३) मार्मिकता:–गीतिकाव्य घनीभूत अनुभूतियों का प्रकाशन है । वह कवि के भावोद्वेग-समन्वित अनुभूति-सम्पृक्त वैयक्तिक मनोवेगों का संक्षिप्त, सरस, संगीतात्मक, सहज प्रभावोत्पादक अभिव्यंजन है । आत्मा की समस्त करुणा, हृदय का सारा उल्लास, जीवन की सम्पूर्ण निराशा, भविष्य के सम्पूर्ण स्वप्न, जीवनव्यापी अवसाद की घनीभूत अमावस्या या किसी आल्हादपूर्ण क्षण के अनन्त उल्लास की फेनोज्ज्वल चन्द्रिका का सौन्दर्य जब कभी किसी एक गीत में मुखर हो जाता है तब उसकी मार्मिकता आश्चर्य का विषय बन जाती है । गीतिकाव्य में जीवन का विशालतम हर्ष एक मुस्कान में और अनन्त अन्तर्पीड़ा की कसक एक आँसू के रूप में व्यक्त होती है, इसीलिये गीतिकाव्य की मार्मिकता अविवादास्पद है । गीतिकाव्य की यही मार्मिकता उसकी प्रभावोत्पादकता का आधार है ।

(४) भावात्मकता—गीतिकाव्य भाव-प्रवण हृदय की उपज है, अतः उसमें तर्क बुद्धि और इतिवृतात्मक गाथाओं को नहीं गाया जा सकता । बुद्धिपक्ष की अपेक्षा उसमें भाव-पक्ष का प्राधान्य होता है, क्योंकि प्रत्येक गीत का स्फुरण कवि के हृदय से होता है । हृदय संवेदनशील है । संवेदना भावना की उपलब्धि है । भावना कवि के मनोविकारों, अनुभूतियों और कल्पना से प्रबल होती है । संसार में सामान्य व्यक्ति और कवि की भावनाओं में अन्तर होता है । सामान्य व्यक्ति बहुत सी बातों को देख-कर भी नहीं देखता, अनगिनती स्वरों को सुनकर भी नहीं सुनता, प्रत्यक्ष पदार्थों को देखकर भी अनदेखी करता है, किन्तु कवि सामान्य से विशिष्ट व्यक्ति होता है । उसकी संवेदना-शक्ति, उसकी अनुभूति का क्षेत्र, उसकी कल्पना की सचेतनता, उसकी भावुक प्रवृत्ति से अधिक व्यापक होते हैं । वह तारों से बातें करता है, पत्थर का क्रन्दन सुनता है । उसकी भावात्मकता सामान्य व्यक्तियों से अधिक कोमल होती है । काव्य-सर्जना के क्षणों में कवि की यही भावात्मकता उसके व्यक्तित्व का तिरोभाव कर देती है, कवि का व्यक्तित्व उसके काव्य में विलीन हो जाता है । काव्य-प्रसूति की यह दशा केवल अनुभव का विषय है, अतः यह सर्वथा अवर्णनीय है । इस विषय में अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि कवि पर जब कभी भी उसकी भावुकता हावी हो जाती है, तभी वह काव्य सृष्टि के लिये विवश हो जाता है । सच्चा कवि छाती पीट पीटकर दिल में दर्द पैदा नहीं करता, दिल में दर्द होने पर छाती पीटता है । इसीलिए भाव, भावुकता और भावात्मकता की दृष्टि से तुकबन्दी और कविता में अन्तर पाया जाता है । सच्ची भाव-प्रवण कविता लिखी नहीं जाती, लिखा जाती है ।

(५) संक्षिप्तता—स्वरूप और आकार की दृष्टि से गीतिकाव्य संक्षिप्त होता है । प्रत्येक गीत अपने आप में कवि के एक विशिष्ट भाव, कल्पना, मनोवेग, अनुभूति अथवा हर्ष-विषाद के विशिष्ट क्षण का ज्ञापन करता है । अतः गीतिकाव्य की प्रेरणा का आधार सीमित और संक्षिप्त, किन्तु प्रबल और प्रभावोत्पादक होता है । गीतिकाव्य में एक अनुभूति, एक भाव, एक गीत और एक प्रभाव अन्योन्याश्रित हैं, अतः सार्थक भावपूर्ण शब्दों में छन्दबद्ध संगीतात्मक संक्षिप्त स्वरूप के कारण गीतिकाव्य में गायन की सुविधा के साथ-साथ रस परिपाक बड़े सुन्दर ढंग से होता है । इसलिये भावना-प्रधान मर्मस्पर्शी शब्द विधान और छन्द आयोजन की दृष्टि से एक गीत आद्यंत एक विशेष रसनिष्पत्ति का कारण होता है । आचार्य श्री नन्ददुलारे वाजपेयी जी का मत है कि, "प्रबन्ध काव्य कविता का आवृत और आच्छादित रूप है, गीतिकाव्य उसका निर्व्याज निखरा हुआ स्वरूप है । प्रबंध काव्य यदि कोई रसीला फल है, जिसका आस्वादन छिलके, रेशे और बिए आदि निकालने पर ही किया जा सकता है, तो प्रगीति

(गीति) रचना उसी फल का द्रव रस है, जिसे हम तत्काल घूंट घूंट पी सकते हैं",[१] अतः गीतिकाव्य कवि की हृद्गत अनुभूतियों का निचोड़ है, जो संक्षिप्त होते हुये भी आद्यंत सरस और सुन्दर होता है ।

(६) संगीतात्मकता:—संगीतात्मकता गीतिकाव्य का अनिवार्य अंग है, क्योंकि उसका प्रादुर्भाव कवि-हृदय की रागात्मिका वृत्ति से होता है । रागात्मिकावृत्ति मानवीय भावनाओं से सम्बद्ध है । यही भावनायें संगीत से सम्बन्धित हैं । विश्व-साहित्य के मूल में मानवीय भावना के प्रकाशन के जो आदिम रूप उपलब्ध हुये हैं, उनमें भी गीति और संगीत की प्राचीनता काल की दृष्टि से गद्य-साहित्य से अधिक पुरानी प्रतीत और प्रमाणित होती है । गद्य-साहित्य बुद्धि का ज्ञापन है और गीति भावनाओं का । जिस प्रकार शिशु में बुद्धि का विकार, संवेगों और भावनाओं की अनुभूति के बाद होता है, उसी प्रकार मानवता का शैशव (आदिम युग) बुद्धि-पक्ष की अपेक्षा संवेगों और भावनाओं से अधिक सबल था, इसीलिये विश्वसाहित्य में संवेग और भावना से निःसृत गीतिकाव्य, गद्य काव्य से अधिक पुराना है ।

गीतिकाव्य, गायन, वादन और नृत्य से भी सम्बद्ध है । वैयक्तिक अथवा सामूहिक रूप से गाये जाने पर भी गीति काव्य का माधुर्य संगीत के बिना नहीं निखरता, इसीलिये संगीतात्मकता गीतिकाव्य का अपरिहार्य तत्व है । दि न्यू डिक्शनरी आफ थॉट्स में टी० एडवर्ड्स ने लिखा है कि 'कविता' शब्दमय संगीत है, और संगीत ध्वनिमय कविता ।'[२]

कविता को शब्दमय संगीत कहने का कारण यह है कि गीतिकाव्य में शब्दों का आयोजन लयपूर्ण होता है । लय, गीतिकाव्य और संगीत का सामान्य और उभयनिष्ठगुण है, अतः गीतिकाव्य में शब्दों का छन्द-विधान भावना और मनोवेगों की लहरों के अनुरूप होता है, और संगीत भी भावना और मनोवेगों के अनुकूल स्वर, ताल, लय और गीति का संधान करता है, इसीलिये 'गीत' और 'संगीत' सहगामी और सहधर्मी हैं ।

---

१. आधुनिक साहित्य-आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, भूमिका पृष्ठ,—४२

२. Poetry is music in words and music is poetry in sound, The New dictionary of thoughts-compiled by T. Edwards, and enlarged and revised by C. N. Catrevas & J. Edwards, p. 470.

गीतिकाव्य का वर्गीकरण

गीतिकाव्य का वर्गीकरण तीन आधारों पर हो सकता है—१—आकारगत २—भावगत ३—लिखित या अलिखित गीत ।

(१) आकारगत वर्गीकरण—गीतिकाव्य का आकारगत वर्गीकरण करते समय शोकगीति (Elegy); चतुर्दशपदी (Sonnet); संबोधगीति (Odes); पत्र-गीति (Epistle); ईडिल (Idyll); गीति (Song); लिरिकल बैलेड (Lyrical Ballad); एपीग्राम (Epigram) आदि आकार की दृष्टि से एक ही समूह की रचनायें मानी जा सकती हैं ।

(२) भावगत वर्गीकरण—यदि गीतिकाव्य का भावगत वर्गीकरण किया जाय, तो हम उसे प्रेमप्रधान (व्यक्ति-प्रेम, 'देश-प्रेम, राष्ट्र-प्रेम), विचारात्मक (उपदेशात्मक Didactic), भक्ति प्रधान (Hymns) बौद्धिक (व्यंग्य गीति) (Satirical Lyric) प्रकृति-प्रेम-द्योतक, और सामाजिक गीतों में विभक्त कर सकते हैं ।

(३) लिखित और अलिखित गीतिकाव्य—इस दृष्टि से भी यदि गीतों का विभाजन किया जाय तो हम लिखित गीतों में साहित्यिक और संगीतात्मक गीतों को रख सकते हैं, और लोकाभिमुख, मौखिक गेय परम्परा में प्रचलित लोक गीतों को अलिखित गीतों की श्रेणी में स्थान दे सकते हैं, किन्तु आजकल लोकगीतों के संकलन, सम्पादन और प्रकाशन की भी परम्परा चल पड़ी है, अतएव अब कुछेक लोकगीत भी लिखित रूपों में हमें उपलब्ध हो रहे हैं ।

गीतिकाव्य का उद्भव और विकास

भारतवर्ष की काव्य-साधना के इतिहास में गीति काव्य का मूल स्रोत वेदों में पाया जाता है । प्रकृति के शांत, सौम्य, स्निग्ध वातावरण में जीव-जगत और ब्रह्म-चिन्तन में तल्लीन आत्मचेता ऋषियों और महर्षियों ने अपने आन्तरिक उल्लास, हर्ष, विषाद और चिन्तन को जो वाणी दी है, उसमें भाव, मनोवेग, विचार और कल्पना संगीतात्मकता के साथ-साथ, बड़े सजीव और मर्मस्पर्शी सरस काव्यात्मक तत्व मूर्तिमान हो उठे हैं । फलतः वैदिक सूत्रों में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों का समुचित प्रयोग पाया जाता है । सर्वमान्य है कि वेदों के प्रत्येक सूक्त का सस्वर पठन-पाठन होता था, फिर मौखिक गेय परम्परा में वेदों के सुदीर्घ काल तक विद्यमान रहने का कारण उनका संगीत-तत्व ही है । प्राचीन साहित्य में काव्य और संगीत का जितना संतुलित सामंजस्य वैदिक सूक्तों में है, वैसा अन्यत्र नहीं ।

वेदों का गीति-तत्व

वेदों में गीति-तत्व का प्राचुर्य है, क्योंकि वेदों में प्रधानतः ऋषियों के आत्म-दर्शन की देववाणी में अभिव्यंजना हुई है। उनमें ऋषियों द्वारा अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि की आध्यात्म परक स्तुतियाँ और उषा, सन्ध्या, ऋतु, वन पर्वत आदि की भव्यता, दिव्यता और विशालता से प्रेरित मनोभावों और अनुभूतियों का प्रकाशन पाया जाता है। वैदिक सूक्तों में वैयक्तिकता और आत्माभिव्यंजन के प्रबल स्वर विद्यमान हैं, अतः ऋषियों के आत्मनिरूपण और बाह्य जगत-चिंतन की तद्रूपता के कारण इन सूक्तों में संगीत-तत्व सुनियोजित रूप में विद्यमान है। वेदों का गायत्री छन्द, गेय छन्द है, ऐसे छंदों में काव्य और संगीत के सम्बन्ध-सूत्र स्पष्टतः परिलक्षित होते हैं।

ऋग्वेद की गीतात्मक ऋचायें

ऋग्वेद में अनेक ऋचायें विविध देवताओं के सम्बन्ध में लिखी गई हैं। किन्तु अनुभूति, कल्पना, काव्य और संगीत का जो उदात्त समन्वय उषा विषयक ऋचाओं में मिलता है उससे उसमें भावों की मौलिकता, कल्पना का सौन्दर्य, प्रकृति का मूर्त विधान और बिम्ब विधायिनी प्रज्ञा का कौशल मुखर हो गया है। कदाचित् दिनकर की प्रणयिनी और निशा की भागिनी उषा के सद्यः स्नात सौन्दर्य को अन्तर्चक्षुओं से देख वैदिक ऋषि आत्म विभोर होकर गा उठा था—

> एषा शुभ्रान तन्वो विदानोर्ध्वेव स्नाती दृशये नो अस्थात्।
> अय द्वेषो बाधमाना तमो स्युषा दिवो दुहिता ज्योतिषागात्॥
> एषा प्रतीची दुहिता दिवोन्हन् योषेवभ्रदा निरिणते अप्सः।
> ब्यूर्ण्वती दाशुषे वार्याणि पुनर्ज्योतिर्युवतिः पूर्व याकः॥[1]

अर्थात् प्राची में आकर यह उषा इस प्रकार खड़ी हो गई है, जैसे वह सद्यः स्नाता है। वह अपने अंगों के सौन्दर्य से अभिज्ञ है और वह अपने को स्वयं हमें दिखाना चाहती है। यह स्वर्ग की पुत्री उषा प्रकाश के साथ संसार के द्वेष और अंधकार को दूर करती हुई आई है। स्वर्ग की यह पुत्री कल्याणी रमणी की भाँति नतमस्तक हो मनुष्यों के समक्ष खड़ी है। वह धर्मशीलों को ऐश्वर्य दान करती है। संसार भर में इसने पुनः दिन का प्रकाश फैला दिया है।

इसी प्रकार से ऋग्वेद के रात्रि-वर्णन, यम-यमी अथवा पुरुरवा और उर्वशी प्रसंग में सौन्दर्यानुभूति, उत्कृष्ट कल्पना और मानवीय अन्तर्जगत् की उथल-पुथल,

---

१. ऋग्वेद, ५। ८०। ५–६

बहुत भावपूर्ण गीतों के रूप में व्यक्त हुई है । इसी के साथ-साथ ऋग्वेद के संहिता-पाठ और पद-पाठ दोनों ही में गीति-तत्व विद्यमान है ।

सामवेद में गीति तत्व

सामवेद के दो भाग हैं–१ पूर्वार्चिक और २-उत्तरार्चिक । 'आर्चिक' शब्द 'गेय मंत्रों के संग्रह' का पर्यायवाची है । ऋग्वेद के सभी मंत्र जो सामनमंत्र कहलाते थे, विशिष्ट संगीतात्मक ढंग से सामवेद में संकलित हैं, अत: सामवेद के मंत्रों में काव्य का सौन्दर्य और संगीत का माधुर्य तदाकार हो गये हैं । सामवेद का गीतितत्व इतना सबल और प्रभावशाली था कि उसे 'गान वेद' भी कहा जाता है और उसके माहात्म्य को स्वयं भगवान कृष्ण ने 'वेदानां सामवेदो अस्मि' कहकर स्वीकारा है ।

सामवेद की ऋचाओं में भावों की तन्मयता, अनुभूति की कोमलता और काव्य का सरस माधुर्य समाविष्ठ है । आत्माभिव्यंजन उनका प्रमुख गुण है और उनमें ऋग्वेद के ऋषियों के निम्न उद्गारों का सर्वत्र समर्थन पाया जाता है—

विमृलीकाय ते मनो रथी रश्वं न सन्दितम् ।
मीभिर्वरूण समिहि ॥
पराहिमेविमन्यत: वस्य इष्टये ।
क्या न वसति रूप ।[1]

अर्थात् जिस प्रकार सारथी बँधे हुये अश्व खोलता है उसी प्रकार हम तुम्हारे मन को अपने गीतों द्वारा (तुम्हारी विशिष्ट दशा और करुणा के लिये) उन्मुक्त कर दें । हमारी भावनायें (तुम्हारे सान्निध्य में) सत्य और कल्याण की प्राप्ति के लिये उसी प्रकार उड़े, जैसे पक्षी अपने घोंसले की ओर ।

वेदों की ऐसी ऋचाओं में वैयक्तिकता, भावुकता, कल्पना, अनुभूति, और काव्यात्मक सौन्दर्य, संगीत समन्वित रुप में प्रकट हुआ है, अत: वेदों का गीति-तत्व बहुत सरस और हृदयहारी है ।

रामायण और महाभारत:–रामायण के प्रणेता महर्षि बाल्मीकि, आदि कवि कहे गये हैं वे नूतन छंद के प्रथम आविष्कारक भी माने जाते हैं ।

महाभारत के रचयिता महात्मा व्यास ने भी छंदों में महाभारत की रचना की है । रामायण और महाभारत दोनों ही महाकाव्य है, अत: उनमें गीतिकाव्य की अपेक्षा प्रवन्ध काव्य के गुण ही प्रधान हैं, फिर भी ऐसा कहा जाता है कि लव कुश ने राम

---

१. ऋग्वेद, १।२५।३-४

को रामायण गाकर ही सुनाई थी, अतः प्रबन्ध काव्य होते हुये भी रामायण में गीति-तत्व पाया जाता है।

भरत के नाट्य शास्त्र में गीतों का ध्येय परिवर्तन

भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' के सृष्टि तक आते-आते संगीत में सप्त सुरों का वर्गीकरण हो चुका था और राग-रागिनियाँ भी विकसित हो गई थी। वैदिक गीतों का ध्येय आत्म-ज्ञापन एवम् भक्ति-भाव था, जिसके माध्यम से ऋषि गण ईश-गुण-गान के साथ-साथ मोक्ष-प्राप्ति की कामना भी करते थे। अस्तु, वैदिक काल में गीतों का ध्येय आध्यात्मिक था, किन्तु 'नाट्य शास्त्र' तक आते आते गीतों के सृजन का ध्येय सौन्दर्य बोध मनोरंजन भी हो गया। नाटकों में प्रयुक्त गीतों में भावावेश तथा हृदयोद्गार के अतिरिक्त संगीत पर अधिक बल दिया गया। 'नाट्य शास्त्र' नामक पंचम वेद की रचना करते समय भरत मुनि ने संगीत का तत्व सामवेद से लिया था, अतः नाट्यशास्त्र का संगीततत्व वेदों का प्रदेय है।

बौद्ध और जैन कालीन काव्य

बौद्ध और जैन कालीन काव्यों में नैराश्य प्रधान, विरक्ति मूलक जीवन-दर्शन के फलस्वरूप गीतिकाव्य की सृष्टि कम हुई, अतएव यत्र-तत्र धार्मिक प्रवृत्ति के उपदेशात्मक मुक्तकों की ही रचनायें इस युग में पाई जाती हैं, जो शुद्ध गीतिकाव्य की श्रेणी में नहीं रखीं जा सकती। थेर गाथा और 'थेरी गाथा' में अवश्य ही कुछ मुक्तक गीतात्मक हैं, किन्तु फिर भी बौद्ध और जैन काव्य में गीतिकाव्य का अभाव सा है।

पाली, अर्धमागधी और प्राकृत में गीतिकाव्यः–

यद्यपि पाली, अर्धमागधी और प्राकृत भाषाओं में लिखित काव्यगीतियों का अभाव है, फिर भी इनमें लोकगीतों की परम्परा अविच्छिन्न रूप में सदैव विद्यमान रही है और धीरे-धीरे साहित्यिक क्षेत्र में गीतिकाव्य का स्थान मुक्तक लेते रहे हैं। इस काल में रचे गये मृच्छकटिक, रत्नावली, अभिज्ञान शाकुन्तलम् विक्रमोर्वशीय आदि नाटकों के गीतों में गीतिकाव्य के रूप विद्यमान हैं।

मेघदूत का गीति वैभव

महाकवि कालिदास के मेघदूत में कल्पना का चरमोत्कर्ष, विरह-विदग्ध मानस की व्याकुलता, शब्दों का नाद-सौन्दर्य, संगीत की मधुरिमा और सरसता के प्रमाण पग-पग पर पाये जाते है। यथा–

संक्षिप्येत क्षण इव कथं दीर्घयामा त्रियामा।
सर्वावस्थास्वहरपि कथं मंदमंदा तपं स्यात्॥

इत्थं चेतश्चटुलनयने दुर्लभ प्रार्थनं में ।
गाढोष्माभिः कृतमशरणं त्वाद्वियोगव्यथाभिः ॥[1]

विरही यक्ष कहता है कि ये सुदीर्घ रातें पल के समान क्यों नहीं कट जाती और दिवस की ताप-तपन शीघ्र ही क्यों नहीं छुट जाती। हे मृगनयनी ! ऐसी अनहोनी के कारण मेरा शरीर जल रहा है। इस पर तेरी विरह-वेदना ने मेरे मन को और भी अधीर कर दिया है।

मेघदूत के श्लोकों में ऐसी अनुभूतियों का अभिव्यंजन गीतिकाव्य का शृंगार है।

अपभ्रंशकालीन सिद्धों के चर्यापद

संस्कृत और प्राकृत के साहित्यिक भाषा-पद से च्युत हो जाने पर अपभ्रंश साहित्य-सिंहासन पर आरूढ़ हुई। इस समय तक बौद्ध धर्म का ह्रास हो चुका था और उसका पर्यवसान हीनयान, महायान और सहजयान में हो गया था। इसी युग में चौरासी सिद्धों ने राग ताल समन्वित अनेक पदों की रचना की। आगे चलकर नाथ सम्प्रदाय और निर्गुण तथा सगुणोपासक भक्ति सम्प्रदायों में इसी गीति परम्परा का चरम उत्कर्ष हुआ है। चौरासी सिद्धों ने जिन पदों की रचना की वे 'चर्यापद' कहलाते हैं। महापंडित राहुल सांकृत्यायन के 'हिन्दी-काव्य-धारा' ग्रंथ में दिये गये सिद्ध डोम्बिया के चर्या पद का एक दृष्टान्त लीजिये—

राग धनसी
गंगा-जऊँना-माँझे बहइ नाई।
तँह बुडिली मातंगी पोइया, लीलँ पर करेई ॥
बाहतु डोम्बी, बाहलो डोम्बी, वाटभहल उछारा।
सदगुरु-पअ-प (सा) ए जाहव पुनुजिनडरा ॥
पाँच केडुआल पडन्ते माँगे पीठत कान्छी बाँधी
गअण दुखोलें सिंचहू पाणी न पहसइ साँधी ॥
चंद सूज्ज दुइ चक्का सिठि संहार पुलिन्दा।
वाम दहिन दुइ भाग न चेवइ, वाहतु छन्दा ॥
कवड़ी न लेह बौड़ी न लेइ, सुच्छड़े पार करई।
जो एथे चड़िया बाहब न जा (न) इ कूलें कूलें बड़ाई ॥[1]

कालान्तर में सहजयानी सम्प्रदाय में धीरे-धीरे अश्लील और वीभत्स कर्मो की योजना से उनके गीतों में भी वही अश्लीलता और बीभत्सता आ गई और उनके 'चर्या-पद' शलीनता के दायरे से दूर जा पड़े।

---

१. कालिदास ग्रंथावली-अ० भा० वि० परिषद्, काशी, मेघदूत, कालिदास उत्तरमेघ, पृ० ३०६।

जयदेव का गीत गोविन्द

संस्कृत साहित्य के सर्वोत्कृष्ट गीतिकाव्य का प्रमाण जयदेव का 'गीत गोविंद' है। डॉ० शकुन्तला दूबे ने जयदेव पर 'दशावतारचरिता' के प्रणेता क्षेमेन्द्र का प्रभाव माना है। उन्होंने लिखा है कि 'श्रीकृष्ण और राधा की लीला के वर्णन में गीत गोविन्द के कतिपय पद अपने में कुछ वर्णनात्मकता को अवश्य लिये हुये हैं परन्तु सम्पूर्ण काव्य में जो रस का स्रोत प्रवाहित हुआ है, वह कवि की गीतात्मक प्रतिभा का परिचायक है और साथ ही भावों की अपूर्व मधुरिमा जिस संगीतमय रूप में अभिव्यंजित हुई है, वह जयदेव की अपनी निजी मौलिकता को लिये हुये है। इस भावाभिव्यंजना शैली में क्षेमेन्द्र से कवि की प्रेरणा अवश्य मिली है किन्तु भावों को राग रागिनियों के आधार पर 'अष्टपदी' के रूप में बाह्य अभिव्यंजना का स्वरूप सर्वप्रथम जयदेव ने ही दिया।[२]

जो हो, गीत गोविन्द की कोमल कान्त पदावली बड़ी सरस और मार्मिक है। उसका प्रभाव परवर्ती काल के कवियों पर भी पड़ा है। गीत गोविन्द की पदावली का सूरसागर के एक पद से भाव साम्य देखिये :–

मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमाल द्रुमै।
नक्तं भीरूत्वमेव त्वमेव तदिमं राधे गृहं प्रापय॥
इत्थं नन्दनिदेश तश्चलितयोः प्रत्यध्व कुंज द्रुमं।
राधा-माधवयोर्जयन्ति यमुना कूले रहः केलयः॥[३]

सूरसागर के दशमस्कंध में उक्त पंक्तियों का पद्यानुवाद सा इस प्रकार मिलता है–

गगन घहराइ जुरी घटा कारी।
पौन झकझोर चपला चमकि चहुँ ओर, सुवन तन चिते नन्द डरत भारी।
रह्यौ वृषभानु की कुँवरि सौ बौलिकै, रधिका कान्ह घर लिये जारी।
दोऊ घर जाहु संग, गगन भयो श्याम, रँग कुँवर कर गह्यौ वृषभानुवारी।
गये बन घन और, नवल नन्द किसोर, नवल राधा, नये कुंज भारी।
अंग पुलकित भये, मदन तिन तन जए सूर प्रभु स्याम श्यामा बिहारी॥[४]

---

१. हिन्दी-काव्य-धारा-राहुल सांकृत्यायन, पृ० १४०, चर्यापद १४।

२. काव्य-रूपों के मूल स्रोत और उनका विकास-डॉ० शकुन्तला दूबे, पृ० १६३।

३. गीत गोविन्द-जयदेव, सर्ग १-१।

४. सूर सागर-दशम स्कंध पृ० ६८४, पद १३०२।

भावातिरेक से भाव पुनरुक्ति भी यत्र-तत्र गीत गोविन्द में मिलती है, किन्तु मार्मिक अभिव्यक्ति के नाते उसमें नित्य नूतनता और सरसता बनी रहती है।

हिन्दी की वीरगाथाकालीन गीति-परम्परा

हिन्दी का वीरगाथाकाल युद्ध और प्रेम की भावनाओं का युग था, अतः चारण काव्य में सामान्यतः वीर और श्रृंगार रस परक रचनाओं की प्राचुर्य है। इस युग में अपने आश्रदाताओं की स्तुति और युद्ध-क्षेत्र में वीरों को प्रोत्साहित करने के लिये चारण और भाट कवियों ने राजा महाराजाओं की काव्य प्रशस्तियाँ लिखी हैं, जिनमें भावुकता पूर्ण अतिरंजनाओं की कमी नहीं है। चरित्र प्रधान काव्य रचना के अनुरूप वातावरण रहने के कारण इन वीर गाथा कालीन कवियों ने प्रबन्ध काव्य और वीर भावात्मक खण्डकाव्य (Ballad) की रचना अधिक की है। पृथ्वी-राजरासो, खुमानरासो, आदि प्रबन्ध तथा बीसलदेव रासो और आल्हखण्ड में ये ही परम्परायें विद्यमान हैं। बीसलदेव रासो और आल्हखंड में विशेषकर गीतितत्व पाये जाते हैं, क्यों इनका स्वरूप वीर गीतात्मक है।

अमीर खुसरो का गीति काव्य

चौदहवीं शताब्दी में खड़ी बोली के प्राचीनतम कवि और पहेलियाँ, मुकरियाँ और 'दो सुखने' के प्रणेता मीर खुसरो ने अरबी-फारसी-मिश्रित पदों की रचना की और उनमें संयोग, वियोग के भावों से श्रृंगार और शांत रसों की पुष्टि की। उनकी भाषा लोकानुरूप है और कहीं-कही उनके पद लोकगीतों से मिलते जुलते हैं। यथा–

जो पिया न आवन कह गये,
अजहूँ न आये स्वामी हो।
(ए) जो पिया आवन कह गये
आवन आवन कह गये, आये न बारह मास,
(ए हो), जो पिया आवन क गये।[1]

टेक की पुनरक्ति से खुसरों के पदों में लोक गीतों सी आत्मीयता एवं सरसता पैदा हो गई है।

विद्यापति और उनकी पदावली

विद्यापति सौन्दर्योपासककवि थे। वे सौन्दर्य को कल्पना में नहीं, साक्षात् स्थूल रूप में देखने के अभिलाषी थे। उनके पदों में भक्ति, संयोग-वियोग श्रृंगार और

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग २, संवत् १९७८, पृ० ३२४।

राजा शिवसिंह की प्रशंसा भी मिलती है। उनकी शृंगारिकता की अतिरंजना की चर्चा करते हुये डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने विद्यापति की पदावली और व्यक्तित्व के के सम्बन्ध में लिखा है कि 'यह (काम कला की शिक्षा) उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध की निर्बलता जरूर है कि वे उस विकासशील संक्रमण काल में अपने को उस क्षयिष्णु प्रभाव से अलग न कर सके। वे कबीर नहीं हो सके तो कोई बात नहीं, किन्तु वे मीरा हो सकते थे।[1]

डॉ० शिवप्रसादसिंह की यह संभावना कि विद्यापति मीरा हो सकते थे, संभावना ही है, किन्तु इसमें तथ्य नहीं है। जैसे शृंगारपरक पद लिखने पर कोई भी व्यक्ति का विद्यापति बनाना दुर्लभ है, उसी तरह कृष्ण-प्रेम या राधा-कृष्ण के प्रेम-गीत गाने पर विद्यापति का 'मीरा' बनना असंभव है। विद्यापति और मीरां दोनो दो विविध युगों के गीतात्मक व्यक्तित्वों की स्वतंत्र इकाइयाँ हैं, जिनके जीवन, वातावरण और अनुभूति के क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं। फिर विद्यापति जैसे दरबारी कवि के व्यक्तित्व को राजवंशों का ठुकरानेवाली मीरां के व्यक्तित्व से मिलाना एक तरह से बौद्धिक खींचातानी है। विद्यापति के काव्य और गेय पदों में लौकिकता की गन्ध है और मीरां का काव्य आध्यात्मिक भावों से परिपूर्ण है। विद्यापति के स्वभाव, परिस्थिति और अनु-भूति-क्षेत्र से मीरां का साम्य नहीं हो सकता, केवल गीति काव्य परम्परा में एक दूसरे से वे अवश्य सम्बन्धित है और उनका ऐतिहासिक पूर्वापर सम्बन्ध है।

विद्यापति के भक्तिपरक पदों में उनका आत्माभिव्यंजन प्रत्यक्ष है लेकिन राधा-कृष्ण के संयोग-वियोग-वर्णन में उनकी अनुभूतियाँ परोक्ष माध्यम से मुखर हुई हैं। फिर भी भावात्मक तल्लीनता और आत्माभिव्यंजन की हार्दिकता विद्यापति के भक्ति परक गीतों की अपेक्षा शृंगार परक गीतों में अधिक मिलती है, अतः उनकी व्यापक ख्याति का कारण उनके भक्तिपरक गीत नहीं, अपितु शृंगार परक गीत ही हैं। उदा-हरण के लिये बारह मासे की पद्धति पर विद्यापति की नायिका के बरसाती विरह का एक सरस स्वरूप देखिये। आषाढ़ के नवीन मेघों को घुमड़ते देख नायिका अपनी सखी से कहती है

"मोर पिया सखि गेल दुर देस
जोवन दए गेल साल सनेस
मास असाढ़ उनत नव मेघ
पिया विसलेस रह्यों निरथेघ

---

१. विद्यापति—डाँ० शिवप्रसाद सिंह: व्यक्तित्व विश्लेषण, पृ० ३१।

कौन पुरुष सखि कौन सो देस
करब माय तहाँ जोगिनी वैस"[1]

मीरां भी अपने परदेसी प्रियतम की खोज करतीं हैं । वे कहती हैं—

सांवळिया म्हारो छाय रह्या परदेस ।
म्हारा बिछड्या फेर न मिळया भेज्यांणा एक शन्नेस ।
रतण आभरण भूखण छाड्यां खोर कियां शर केस ।
भगवां भेख धरयां थें कारण, ढूंढ्या चार्यां देस ।
मीरां ने प्रभु स्याम मिळण बिणा, जीवण जणम अणेस ।"[2]

प्रवासी प्रियतम की खोज में विद्यापति की अनुभूतियाँ नायिका की अनुभूतियाँ हैं । वे विद्यापति की वैयक्तिक नहीं परानुभूत परोक्ष अनुभूतियों की स्वानुभूत काल्पनिक अभिव्यंजना हैं, किन्तु मीरां की पदावली में आत्मानुभूति का जो नैसर्गिक सौन्दर्य है, उसका जादू निराला है । मीरां के संयोग-वियोग-वर्णन आत्मबीती हैं, विद्यापति के पदों में दूसरों की कहानी कवि की जबानी गाई गई है, अतः ऐसी स्थिति में विद्यापति कभी भी मीरां नहीं हो सकते ।

कबीरदास के पद

कबीर संत थे, आध्यात्मिक जगत के पहुँचे हुये सिद्ध थे । उनकी अनुभूति का क्षेत्र खूब व्यापक था । उन्हें जीव, जगत तथा ब्रह्म की अच्छी परख थी । वे साफ-साफ देखते थे, साफ-साफ कहते थे, इसीलिये उनकी वाणी में आध्यात्मिक सत्य का अयत्न साधित खुल्लमखुल्ला प्रकाशन है । उन्होंने उपदेशात्मक, नीतिपरक, वैराग्य-पोषक, सिद्धान्त निरूपक और विरह-मिलन के पद लिखे हैं । उनके उपदेशात्मक नीति परक, वैराग्य-पोषक तथा सिद्धान्त-निरूपक पद बौद्धिकता से बोझिल हैं, कई एक उलटवासियाँ तो आध्यात्मिक रूपक होने पर भी अति बौद्धिक पहेली सी बन गई हैं, फिर भी कबीर के पदों में अनुभूति की प्रधानता इतनी अधिक है कि उनका प्रत्येक पद गीतात्मक है, सरस है, संगीत के प्रभावशाली आत्मस्पर्शी तत्व से परिपूर्ण है । कहीं-कहीं तो कबीरदास बड़ी सीधी भाषा में बड़े पते की बात कह गये हैं । यथा—

"रहना नहीं देस बिराना है ।
यह संसार कागद की पुड़िया, बूँद पड़े खुल जाना है ।
यह संसार कांटे की बाड़ी, उलझ पुलझ मरि जाना है ।

---

१. विद्यापति पदावली संपादक-रामवृक्ष बेनीपुरी, द्वितीय संस्करण, पृ० २७१ ।
२. मीरा पदावली-काशी की प्रति, पद ७४ ।

यह संसार झाड़ और झांखर, आग लगे बरि जाना है।
कहत कबीर सुनो भइ साधो, सतगुरु नाम ठिकाना है ॥[1]

कबीर ने संसार को काँटे की बाड़ी और सतगुरु के नाम को मोक्ष का साधन बतलाया है। मीरां भी संसार को 'बीड़ रो कांटो' कह गिरधर के गुणगान को आत्मोद्धार का साधन मानती हैं। यथा– "माई म्हा गोविन्द गुन गाश्यां।

× × ×

श्याम नाम रा झाझ चळाश्यां भोसागर तर जाश्यां।
यो संसार बीड़ रो कांटो, गेळ प्रीत अटकाश्यां।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर गुन गावां शुख पाश्यां।[2]

अस्तु, कबीर के पदों में वैयक्तिक अनुभूतियों की प्रधान व्यंजना है। उनके विरह-परक पदों में से विशेषकर आत्मनिवेदन और मिलन द्योतक पदों में उनकी हार्दिक उत्फुल्लता पाई जाती है।

कबीर के अधिकांश पदों में प्रेम और दार्शनिकता की एकरूपता है, अतः ऐसे पदों में विचार, अनुभूति और भावनायें समरस हो गई हैं, जिसके परिणामस्वरूप कबीर के अनेक पदों में भावुकता, आवेश, उत्सुकता, प्रेरणा और भावना आदि सभी तत्व उच्च कोटि के हैं। इतना होने पर भी कबीर की वैयक्तिकता का तत्व जितना भक्ति-साधना में स्वतंत्र रहा है, उतना ही पद-रचना में भी स्वतंत्र और मौलिक है। उनका मनमौजीपन, उनके व्यक्तित्व का विशेष गुण था, जो उनकी साधना-पद्धति और काव्य में भी सर्वत्र पाया जाता है।

निर्गुणियाँ सन्तों के पद

कबीर के समकालीन और परवर्ती अनेक निर्गुणियाँ सन्तों ने सैकड़ों पदों की रचना की है किन्तु उनके पदों पर कबीर का व्यक्तित्व इस तरह से हावी हो गया है, कि उनकी मौलिक उद्भावनायें बहुत कम अंशों में मुखर हुई हैं। वहीं संसार की नश्वरता गुरू की महिमा, नाम-स्मरण, आध्यात्मिक प्रेम, विरह और मिलन तथा उपदेशात्मक पद-विविध रूपों में बार-बार गाये गये हैं, अतः दादूदयाल और सुन्दरदास को छोड़कर प्रायः सभी सन्तों के पद कबीर की पुनरुक्ति अथवा उनकी

१, कबीर बचनावली–सम्पादक पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', पृ० १८२, पद २१०।

२. मीरा पदावली–काशी की प्रति, पद १०१।

भावनाओं के समर्थक से लगते हैं । इतना सब कुछ होते हुये भी गीतिकाव्य के विकास में निर्गुणियाँ सन्तों के पदों का महत्व है, क्योंकि उनके पदों में आत्मानुभूति परक सत्यबोध के अतिरिक्त सामाजिक चेतना में प्राण भरने के स्वर हैं, अशिव के प्रति विद्रोह, आडम्बर के प्रति आक्रोश और आत्मोद्धार के लिये प्रेरणा के संदेश हैं ।

अष्टछाप. के कवि

आचार्य श्री वल्लभ ने पूर्ववर्ती आचार्यों के प्रस्थान त्रयी की अपेक्षा उपनिषद, ब्रह्मसूत्र और गीता के साथ-साथ श्रीमद्भागवत को भी समन्वित कर प्रस्थान चतुष्टयी की प्रस्थापना की और अपना पुष्टिमार्ग चलाया, जिसमें अष्टछाप के भक्त कवि सूरदास, नन्ददास, कुम्भनदास, परमानंददास, कृष्णदास, गोविन्ददास, छीतस्वामी और चतुर्भुजदास नित्य नैमित्तिक साम्प्रदायिक आचारों के अनुरूप भगवान कृष्ण के जागरण, कलेऊ, दधिमाखन, गो-दोहन, गोचारण, यमुना-तटक्रीड़ा, सन्ध्या समय भगवान कृष्ण के गृह-आगमन और शयन की अष्टयाम सेवा करते थे और मंगला, शृंगार, ग्वाल, राजभोग, उत्थापन, भोग, सन्ध्या और शयन के नियमित रूप से पद गाते थे । पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों के अनुसार अष्टछाप के कवि निरन्तर गुणमाहात्म्या-सक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणाशक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति और परम विरहासक्ति की भावनाओं को अपने सरस मधुर पदों में व्यक्त करते थे । उनके पद राग-रागिनियों में विभक्त थे । अपनी सुदीर्घ साधना के फलस्वरूप गायन-वादन-कीर्तन समीचीन नित्य नूतन पदों की रचना कर अष्टछाप के कवियों ने आत्म जागृत भक्त, कुशल गायक और निपुण कवियों के रूप में गीतिकाव्य के वैभव को चरम सिद्धि प्रदान की, अतः वात्सल्य और शृंगार रस का जैसा परिपाक अष्टछाप के कवियों के पदों में हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है ।

सूर का गीति-काव्य

भक्ति, काव्य और संगीत की त्रिवेणी को प्रवाहित करने वाले अष्टछाप के कवियों में सूर सिरमौर थे । उनका स्थान सर्वोपरि था । तात्विक दृष्टि से सूरदास की भक्ति-भावना का मूल स्रोत श्रीमद्भागवत का दशम स्कन्ध था, अतः सूरदास ने भगवान कृष्ण के रूप और लीला-वर्णन के लिये जिन पदों की सृष्टि की उनमें माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण प्रधानतः पाये जाते हैं । भगवत्-कीर्तन के लिये रचे गये सूर के पदों में राग, ताल, लय, नाद-सौन्दर्य के साथ-साथ भाव-सौन्दर्य का भी निखार देखते ही बनता है । सूरदास के विनय के पदों में आत्म-दैन्य और पाप-बोध की स्वीकृति की भावनायें विद्यमान हैं, जो उनकी अन्तर्वृत्ति का परिचय देती हैं । सूर का आत्म-

प्रकाशन और उनकी हार्दिकता इन विनय के पदों में फूट पड़ी है । वैयक्तिक भावनाओं की अभिव्यंजना के कारण इन पदों में गीति तत्व प्रचुर मात्रा में मूर्त हो गया है ।

सूर के लीला विषयक पद कथात्मकता का आग्रह लिये हैं, अतः उनमें वर्णनात्मकता अधिक हैं । लेकिन इन पदों में लोक गीति और साहित्यिक शैलियों का समन्वय संगीत के साथ रहा है, अतः उनकी गीतात्मकता में कोई व्यवधान नहीं आ पाया । सूर के लीलाविषयक पद उनके आत्मविभोर क्षणों की कृतियाँ हैं, अतः उनमें भावों की धारावाहिकता के साथ-साथ भाषा की मधुरता बड़ी मार्मिक है । सूर के अनेक पदों में शब्द-विन्यास में अलंकारों की झड़ी लग जाती है, और एक ही बात बार-बार कही जाने पर भी वर्णनात्मक मौलिकता के कारण पुनरुक्ति की थकान दिमाग में नहीं आने देती ।

सूर के विरह के पदों में एक विशेष बात यह है कि उन्होंने गोपियों, कृष्ण और यशोदा के विरहोद्गारों को अप्रत्यक्ष अनुभूति के रूप में ग्रहण कर उन्हें वाणी दी है, किन्तु रससिद्ध कवि के नाते सूर की यह परानुभूति, स्वानुभूति में परिणत हो गई है । प्रेमिका के हृदय की जितनी परख, मातृहृदय की जितनी पहचान और भक्तों के जीवन की जितनी अनुभूति सूरदास को थी, उतनी कदाचित ही किसी अष्टछाप के कवि को रही होगी । सूर के काव्य में उनकी अन्तर्दृष्टि का चमत्कार, उनकी संवेदन-शीलता और भक्ति-भावना, भाषा पर कुछ इस तरह से हावी हो गई थी कि अकेला सूरसागर ही ब्रजभाषा के सम्पूर्ण गीति-काव्य-वैभव का प्रतिनिधि ग्रंथ कहा जा सकता है ।

मीरा का काव्य

गीतिकाव्य की पूर्ववर्ती परम्परा में मीरां का काव्य एक सच्ची भक्त आत्मा की वेदना, व्याकुलता, तल्लीनता, मिलन के उल्लास और विरह के उन्माद को पूर्णतः संयतावस्था में ज्ञापित करता है । उनके विरह-प्रधान पदों में उनकी अन्तर्वेदना फूट पड़ी है और वियोग की विकासोन्मुख दशा में इस अन्तर्वेदना का सौन्दर्य मीरां के काव्य का प्राण बनकर ढल गया है । उसमें बाह्य तापों की तालाबेली कम और अन्तर की कचोट प्रधान है ! साथ ही भावानुरूप स्वरों के उतार-चढ़ाव से उसमें संगीत-तत्व का सहज समन्वय पाया जाता है । पूर्णतः वैयक्तिक अनुभूतियों के प्रकाशन, मनोवेगों के स्वाभाविक ज्ञापन और आत्मा की निगूढ़ अनुभूतियों के यथातथ्य अभिव्यंजन से मीरां का काव्य गीति-काव्य परम्परा में सर्वथा स्वतंत्र और उच्च स्थान पाने का अधिकारी है ।

मीरां के काव्य का भाव-पक्ष

मीरां के काव्य में भाव-पक्ष प्रधान है, अतः उसमें पांडित्य का अभाव पाया जाता है । मीरां का समस्त काव्य हार्दिक भावों का सहज प्रकाशन है । उनके प्रत्येक पद में काव्य सृष्टि की तीन भावदशायें पाई जाती हैं । सुप्रसिद्ध आंग्ल विद्वान नार्मन हेपिल[1] ने गीतिकाव्य के तीन भागों का विवेचन इस प्रकार किया था—

(१) काव्य-सृजन की प्रक्रिया में सबसे पहले कवि काव्य प्रेरणा के मूल और तज्जन्य मनोवेगों का ज्ञापन करता है, जिससे यह पता चलता है कि काव्य-सृजन के लिये कवि के अन्तर्मन में मूल भाव की उत्पत्ति कैसे हुई, अर्थात् किसी भी कवि के मन में भावों का प्रवर्तन कैसे हुआ ? यह प्रवर्तन (मोटिव) गीतिकाव्य का प्रारंभिक अंश है ।

(२) दूसरी अवस्था में प्रवर्तित भाव, मनोवेग के सहयोग से उच्च मानसिक पीठिका पर अधिष्ठित होता है, फलतः गीतिकाव्य में भाव-पक्ष और बुद्धिपक्ष संतुलित हो जाते हैं । यही मनोभावों की तीव्रतम अनुभूतियुक्त चरमावस्था है । इस द्वितीयांश में भावों की चरमावस्था के साथ-साथ उनके ह्रास के भी चिह्न दिखाई देते हैं ।

(३) इसके बाद कवि की अन्तिम मनः स्थिति में भावों की अभिव्यंजना होती है, और भाव-विचारों के संतुलन से गीत की सृष्टि होती है ।

इस तरह से भावों की उत्पत्ति, उनकी चरमावस्था और भाव-संतुलन की प्रक्रिया से गीतिकाव्य का सृजन होता है ।

मीरां के काव्य में गीति-सृष्टि की प्रक्रिया का स्वरूप और तत्सम्बन्धी तथ्य

मीरां के गीतिकाव्य के स्वरूप और उसमें व्याप्त भावनाओं के क्रमिक नियोजन के सूक्ष्म अध्ययन से मीरां की गीति-सृष्टि में एक विशेष प्रकार की मानसिक प्रक्रिया परिलक्षित होती है, जो हेपिल की काव्य-सृष्टि सम्बन्धी मान्यताओं से भी अधिक सूक्ष्म, तर्क सम्मत और शास्त्रीय हैं । मीरां की गीति-सृष्टि में इन प्रक्रियाओं का स्वरूप इस प्रकार है—१–आत्मानुभूति २–भावजागृति ३–मनोवेगों का उद्वेलन ४–भाव-दशा की चरम परिणति ५–भाव-योग का शब्दयोग से समन्वय ६–भावानुरूप शब्दों की व्यंजना ७–भावदशा का उतार-चढ़ाव ८–अनुभूति की संतुलित पूर्णाभिव्यक्ति पर गीत का अंत ।

(१) आत्मानुभूति—कवि के जीवन में किसी विशिष्ट क्षण में, किसी विशिष्ट वातावरण और परिस्थिति से उसकी अनुभूति की चेतना जाग्रत होती है । यह अनुभूति

1. Lyrical forms in English---Norman Hepple, page 11-13.

कवि के सहज संवेदनशील हृदय का विशिष्ट गुण है। आत्मानुभूति के उस क्षण, उस परिस्थिति से, शांत जल में फेंके हुये पत्थर से उत्पन्न होने वाली लहरों की तरह कवि-मानस की भावनाएँ तरंगित होती हैं। यह आत्मानुभूति ही काव्य का सूक्ष्म प्राण है, जो कवि की वैयक्तिकता को आत्मसात् किये रहती है। यही अनुभूति कालांतर में भाव-जागृति का मूल कारण बनती है।

(२) **भावजागृति**—आत्मानुभूति से कवि के प्राणों में जो स्पन्दन होता है, उससे भावोर्मियाँ तरंगित हो सचेतन बन उद्वेलित हो उठती हैं। इससे कवि की भावुकता को बल मिलता है। अनुभूति की तीव्रता से कवि भाव-लोक में विचरण करने लगता है। कल्पनाशक्ति उस भावुकता को और भी बल देती है और मनोद्वेगों से वह संचालित होने लगता है।

(३) **मनोवेगों का उद्वेलन**—भाव-जागृति के साथ ही कवि के मन में संवेगों का ज्वार उठता है। मनोवेगों का यह ज्वार कवि की अनुभूति को तीव्रता और भावों को शक्ति प्रदान करता है, फलतः कवि अनुभूति से भाव-दशा में पहुँच जाता है। उसकी अन्तर्वृत्तियाँ भावनिष्ठ होकर मूल भावानुभूति पर केन्द्रित हो जाती हैं, और कवि उस केन्द्रित भावानुभूति के रस में निमग्न हो जाता है। धीरे-धीरे कवि अपने मनोद्वेगों को व्यक्त करने के लिये विकल होने लगता है।

(४) **भावदशा की चरम परिणति**—मनोवेगों के उद्वेलन से जागृत भाव कवि की आत्मानुभूति को तीव्रतम रूप से उसे भाव दशा में रसलीन कर देते हैं, और कवि भावविभोर हो आत्मलीन हो जाता है।

(५) **भावयोग का शब्द योग से समन्वय**—आत्मलीन कवि के उद्वेलित मनोवेग उसके हृदय की हलचल का प्रकाशन करते हैं, किन्तु हृदय मूक है। अतः भावदशा की चरमावस्था में प्रायः अति संवेदनशील प्राण मूक हो जाते हैं। वाणी का वहाँ प्रवेश नहीं होता, अतः भाव-योग, अनुभूति की मौन साधना है, किन्तु कवि मौन नहीं रह सकता। उसका भावयोग शब्द-योग की भी साधना करता है। यह 'शब्द-योग' विशेष महत्वपूर्ण है। वस्तु स्थिति इस प्रकार होती है कि कवि की घनीभूत अनुभूति, उद्वेलित मनोवेग और तीव्रतम भाव संवेदन का क्षण कवि को आत्मलीन कर देता है, और वह उस दशा को अपने सम्पूर्ण काव्यगत उपादानों के साथ व्यक्त करने के लिये विकल और विवश हो जाता है। तब भाव शब्दों की खोज करते हैं, भाव-पक्ष बुद्धि-पक्ष से समरसता स्थापित करने की चेष्टा करता है, और भाव-दशा का क्रमिक रूप, क्रमिक शब्द-विन्यास द्वारा भावों से निबद्धित होने लगता है। यही काव्य-सृष्टि की मानसिक प्रक्रिया है।

कवि के सहज संवेदनशील हृदय का विशिष्ट गुण है। आत्मानुभूति के उस क्षण, उस परिस्थिति से, शांत जल में फेंके हुये पत्थर से उत्पन्न होने वाली लहरों की तरह कवि-मानस की भावनाएँ तरंगित होती हैं। यह आत्मानुभूति ही काव्य का सूक्ष्म प्राण है, जो कवि की वैयक्तिकता को आत्मसात् किये रहती है। यही अनुभूति कालांतर में भाव-जागृति का मूल कारण बनती है।

(२) **भावजागृति**—आत्मानुभूति से कवि के प्राणों में जो स्पन्दन होता है, उससे भावोर्मियाँ तरंगित हो सचेतन बन उद्वेलित हो उठती हैं। इससे कवि की भावुकता को बल मिलता है। अनुभूति की तीव्रता से कवि भाव-लोक में विचरण करने लगता है। कल्पनाशक्ति उस भावुकता को और भी बल देती है और मनोद्वेगों से वह संचालित होने लगता है।

(३) **मनोवेगों का उद्वेलन**—भाव-जागृति के साथ ही कवि के मन में संवेगों का ज्वार उठता है। मनोवेगों का यह ज्वार कवि की अनुभूति को तीव्रता और भावों को शक्ति प्रदान करता है, फलतः कवि अनुभूति से भाव-दशा में पहुँच जाता है। उसकी अन्तर्वृत्तियाँ भावनिष्ठ होकर मूल भावानुभूति पर केन्द्रित हो जाती हैं, और कवि उस केन्द्रित भावानुभूति के रस में निमग्न हो जाता है। धीरे-धीरे कवि अपने मनोद्वेगों को व्यक्त करने के लिये विकल होने लगता है।

(४) **भावदशा की चरम परिणति**—मनोवेगों के उद्वेलन से जागृत भाव कवि की आत्मानुभूति को तीव्रतम रूप से उसे भाव दशा में रसलीन कर देते हैं, और कवि भावविभोर हो आत्मलीन हो जाता है।

(५) **भावयोग का शब्द योग से समन्वय**—आत्मलीन कवि के उद्वेलित मनोवेग उसके हृदय की हलचल का प्रकाशन करते हैं, किन्तु हृदय मूक है। अतः भावदशा की चरमावस्था में प्रायः अति संवेदनशील प्राण मूक हो जाते हैं। वाणी का वहाँ प्रवेश नहीं होता, अतः भाव-योग, अनुभूति की मौन साधना है, किन्तु कवि मौन नहीं रह सकता। उसका भावयोग शब्द-योग की भी साधना करता है। यह 'शब्द-योग' विशेष महत्वपूर्ण है। वस्तु स्थिति इस प्रकार होती है कि कवि की घनीभूत अनुभूति, उद्वेलित मनोवेग और तीव्रतम भाव संवेदन का क्षण कवि को आत्मलीन कर देता है, और वह उस दशा को अपने सम्पूर्ण काव्यगत उपादानों के साथ व्यक्त करने के लिये विकल और विवश हो जाता है। तब भाव शब्दों की खोज करते हैं, भाव-पक्ष बुद्धि-पक्ष से समरसता स्थापित करने की चेष्टा करता है, और भाव-दशा का क्रमिक रूप, क्रमिक शब्द-विन्यास द्वारा भावों से निबद्धित होने लगता है। यही काव्य-सृष्टि की मानसिक प्रक्रिया है।

(६) भावानुरूप शब्दों की योजना—भाव-जगत की पूर्ववर्ती प्रक्रियायें सूक्ष्म अन्तर्मन के विभिन्न स्तरों और क्रियाकलापों का प्रकाशन करती हैं, किन्तु भाव-योग से शब्द योग का समन्वय होते ही काव्य की अमूर्त भावना, शब्दों के मूर्त रूपों में आबद्ध होकर अप्रत्यक्ष से प्रत्यक्ष और सूक्ष्म से स्थूल रूप में व्यक्त होने लगती हैं। काव्य का स्वयं प्रसूत लेखन और गायन यहीं से प्रारंभ होता है। इस दशा में शब्द भावों का अनुसरण करते हैं और गीत मनःस्थिति और भावोद्वेगों को शब्दों में बाँध यथाविधि मुखर करते हैं तथा गीति काव्य में संगीतात्मक स्वर, ताल, लय आदि गुण अपने आप आ जाते है। संक्षेप में हम इस प्रक्रिया के बारे में यह कह सकते हैं कि कवि की अनुभूति, भावना और कल्पना मनोवेगों के साहचर्य से कवि के जीवन में जिस भाव-जगत की सृष्टि करती है, वही भावों का उद्वेलन अपने स्वरूपों के अनुसार शब्दों का चयन कर गीति विधान का कारण बन जाता है और अनुभूति, भाव एवं मनोवेग अपने द्योतक सार्थक शब्दों में व्यक्त होते हैं।

(७) भाव-दशा का उतार-चढ़ाव—काव्य में भाव-प्रवाह सदैव समतल नहीं होता। वह एक सूक्ष्म केन्द्र से उठकर कवि की सम्पूर्ण चेतना पर छा जाता है। निस्तब्ध जल में पत्थर गिरने से उठने वाली लहरों की तरह-मानस की भावोर्मियाँ मनोवेगों को उठाती, चढ़ाती और आगे बढ़ाती है। काव्य की प्रथम पंक्ति प्रायः मूल अनुभूति की प्रथम ऊर्मि होती है, किन्तु कवि भाव, अनुभूति, कल्पना और उनके सहगामी मनोवेगों के साथ-साथ नूतन चरणों की सृष्टि करता जाता है और कवि का भाव-प्रवाह भाव-दशा के उतार-चढ़ाव के समानान्तर तद्रूपता लिये हुये काव्य-धारा प्रवाहित करता है। अतः काव्य में व्यक्त भावदशा का उतार-चढ़ाव, कवि की आन्तरिक भावदशा का मूर्त प्रतीक माना जायगा।

(८) अनुभूति की संतुलित पूर्णाभिव्यक्ति पर गीत का अंत—अनुभूति की भाव-दशा में परिणति शब्दयोग द्वारा काव्य-सृष्टि करती है। कवि भावदशा में जब तक रहता हैं, तभी तक वह भावों के उतार चढ़ाव को शब्दों की कड़ियों और छन्दों की लड़ियों में बाँधता है, गीत गाता या लिखता जाता है। भाव जब शब्द, अर्थ छन्द, स्वर, ताल, लय, गति और रसानुभूति को पूर्णतः क्रम से अभिव्यक्त कर देते हैं, तब गीत का अंत हो जाता है। अतः गीति सृष्टि की प्रक्रिया में भावोद्रेक के बाद भावों का निरंतर ह्रास नहीं, क्रमिक उतार-चढ़ाव चलता है और अनुभूति तथा अभिव्यक्ति का आद्यन्त संतुलन होने के क्षण तक भावदशा निरंतर विकसित होती रहती है। भावदशा की पूर्णाभिव्यक्ति पर गीतात्मक पूर्णाभिव्यक्ति हो जाती है।

कवि के सहज संवेदनशील हृदय का विशिष्ट गुण है । आत्मानुभूति के उस क्षण, उस परिस्थिति से, शांत जल में फेंके हुये पत्थर से उत्पन्न होने वाली लहरों की तरह कवि-मानस की भावनाएँ तरंगित होती हैं । यह आत्मानुभूति ही काव्य का सूक्ष्म प्राण है, जो कवि की वैयक्तिकता को आत्मसात् किये रहती है । यही अनुभूति कालांतर में भाव-जागृति का मूल कारण बनती है ।

(२) **भावजागृति**—आत्मानुभूति से कवि के प्राणों में जो स्पन्दन होता है, उससे भावोर्मियाँ तरंगित हो सचेतन बन उद्वेलित हो उठती हैं । इससे कवि की भावुकता को बल मिलता है । अनुभूति की तीव्रता से कवि भाव-लोक में विचरण करने लगता है । कल्पनाशक्ति उस भावुकता को और भी बल देती है और मनोद्वेगों से वह संचालित होने लगता है ।

(३) **मनोवेगों का उद्वेलन**—भाव-जागृति के साथ ही कवि के मन में संवेगों का ज्वार उठता है । मनोवेगों का यह ज्वार कवि की अनुभूति को तीव्रता और भावों को शक्ति प्रदान करता है, फलतः कवि अनुभूति से भाव-दशा में पहुँच जाता है । उसकी अन्तर्वृत्तियाँ भावनिष्ठ होकर मूल भावानुभूति पर केन्द्रित हो जाती हैं, और कवि उस केन्द्रित भावानुभूति के रस में निमग्न हो जाता है । धीरे-धीरे कवि अपने मनोद्वेगों को व्यक्त करने के लिये विकल होने लगता है ।

(४) **भावदशा की चरम परिणति**—मनोवेगों के उद्वेलन से जागृत भाव कवि की आत्मानुभूति को तीव्रतम रूप से उसे भाव दशा में रसलीन कर देते हैं, और कवि भावविभोर हो आत्मलीन हो जाता है ।

(५) **भावयोग का शब्द योग से समन्वय**—आत्मलीन कवि के उद्वेलित मनोवेग उसके हृदय की हलचल का प्रकाशन करते हैं, किन्तु हृदय मूक है । अतः भावदशा की चरमावस्था में प्रायः अति संवेदनशील प्राण मूक हो जाते हैं । वाणी का वहाँ प्रवेश नहीं होता, अतः भाव-योग, अनुभूति की मौन साधना है, किन्तु कवि मौन नहीं रह सकता । उसका भावयोग शब्द-योग की भी साधना करता है । यह 'शब्द-योग' विशेष महत्वपूर्ण है । वस्तु स्थिति इस प्रकार होती है कि कवि की घनीभूत अनुभूति, उद्वेलित मनोवेग और तीव्रतम भाव संवेदन का क्षण कवि को आत्मलीन कर देता है, और वह उस दशा को अपने सम्पूर्ण काव्यगत उपादानों के साथ व्यक्त करने के लिये विकल और विवश हो जाता है । तब भाव शब्दों की खोज करते हैं, भाव-पक्ष बुद्धि-पक्ष से समरसता स्थापित करने की चेष्टा करता है, और भाव-दशा का क्रमिक रूप, क्रमिक शब्द-विन्यास द्वारा भावों से निबद्धित होने लगता है । यही काव्य-सृष्टि की मानसिक प्रक्रिया है ।

(६) भावानुरूप शब्दों की योजना—भाव-जगत की पूर्ववर्ती प्रक्रियायें सूक्ष्म अन्तर्मन के विभिन्न स्तरों और क्रियाकलापों का प्रकाशन करती हैं, किन्तु भाव-योग से शब्द योग का समन्वय होते ही काव्य की अमूर्त भावना, शब्दों के मूर्त रूपों में आबद्ध होकर अप्रत्यक्ष से प्रत्यक्ष और सूक्ष्म से स्थूल रूप में व्यक्त होने लगती हैं। काव्य का स्वयं प्रसूत लेखन और गायन यहीं से प्रारंभ होता है। इस दशा में शब्द भावों का अनुसरण करते हैं और गीत मनःस्थिति और भावोद्वेगों को शब्दों में बाँध यथाविधि मुखर करते हैं तथा गीति काव्य में संगीतात्मक स्वर, ताल, लय आदि गुण अपने आप आ जाते है। संक्षेप में हम इस प्रक्रिया के बारे में यह कह सकते हैं कि कवि की अनुभूति, भावना और कल्पना मनोवेगों के साहचर्य से कवि के जीवन में जिस भाव-जगत की सृष्टि करती है, वही भावों का उद्वेलन अपने स्वरूपों के अनुसार शब्दों का चयन कर गीति विधान का कारण बन जाता है और अनुभूति, भाव एवं मनोवेग अपने द्योतक सार्थक शब्दों में व्यक्त होते हैं।

(७) भाव-दशा का उतार-चढ़ाव—काव्य में भाव-प्रवाह सदैव समतल नहीं होता। वह एक सूक्ष्म केन्द्र से उठकर कवि की सम्पूर्ण चेतना पर छा जाता है। निस्तब्ध जल में पत्थर गिरने से उठने वाली लहरों की तरह-मानस की भावोर्मियाँ मनोवेगों को उठाती, चढ़ाती और आगे बढ़ाती है। काव्य की प्रथम पंक्ति प्रायः मूल अनुभूति की प्रथम ऊर्मि होती है, किन्तु कवि भाव, अनुभूति, कल्पना और उनके सह-गामी मनोवेगों के साथ-साथ नूतन चरणों की सृष्टि करता जाता है और कवि का भाव-प्रवाह भाव-दशा के उतार-चढ़ाव के समानान्तर तद्रूपता लिये हुये काव्य-धारा प्रवाहित करता है। अतः काव्य में व्यक्त भावदशा का उतार-चढ़ाव, कवि की आन्त-रिक भावदशा का मूर्त प्रतीक माना जायगा।

(८) अनुभूति की संतुलित पूर्णाभिव्यक्ति पर गीत का अंत—अनुभूति की भाव-दशा में परिणति शब्दयोग द्वारा काव्य-सृष्टि करती है। कवि भावदशा में जब तक रहता हैं, तभी तक वह भावों के उतार चढ़ाव को शब्दों की कड़ियों और छन्दों की लड़ियों में बाँधता है, गीत गाता या लिखता जाता है। भाव जब शब्द, अर्थ छन्द, स्वर, ताल, लय, गति और रसानुभूति को पूर्णतः क्रम से अभिव्यक्त कर देते हैं, तब गीत का अंत हो जाता है। अतः गीति सृष्टि की प्रक्रिया में भावोद्रेक के बाद भावों का निरंतर ह्रास नहीं, क्रमिक उतार-चढ़ाव चलता है और अनुभूति तथा अभिव्यक्ति का आद्यन्त संतुलन होने के क्षण तक भावदशा निरंतर विकसित होती रहती है। भावदशा की पूर्णाभिव्यक्ति पर गीतात्मक पूर्णाभिव्यक्ति हो जाती है।

मीरां के प्रत्येक पद में गीति-सृष्टि की ये आठों प्रक्रियायें सर्वत्र पाई जाती हैं। अतः मीरां का कोई सा भी पद इन कसोटियों पर कसा जा सकता है।

मीरां के काव्य का मूलभूत भाव-तत्व और उसका विश्लेषण

मीरां के अद्यावधि उपलब्ध मूलपदों में जो वस्तुगत अंतरंग तत्व है, उसका प्रामाणिक संकेत केवल मूल स्रोत की तरह मीरां की काव्य धारा में विद्यमान है। मीरां की एकमात्र मान्यता है कि–

"प्रेम भगति रो पैंडा म्हारो, और ण जाणां रीत।"[1]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि मीरां प्रेमाभक्ति की उपासिका थीं। उनके जीवन और काव्य में प्रेम और भक्ति के तत्व सर्वोपरि थे, अतः मीरां के काव्य को मूलभूत भाव तत्व की दृष्टि से दो रूपों में विभक्त किया जा सकता है। यथा–(१) प्रेम-प्रधान गीतिकाव्य (२) भक्ति-परक गीति काव्य।

मीरां का प्रेम-प्रधान गीति काव्य

गीति काव्य में प्रेम प्रधान गीति काव्य सुन्दर काव्य सृष्टि के प्रमाण माने जाते हैं, क्योंकि प्रेम-तत्व जीवन की सबसे प्रबल, मादक, सुन्दर और सरस उपलब्धि है। संसार के सम्पूर्ण गीतिकाव्य में तुलना और अनुपात की दृष्टि से प्रेम-प्रधान गीति-काव्य सबसे अधिक व्यापक और विस्तीर्ण पैमाने पर पाया जाता है और विश्व की किसी भी भाषा का कोई सा भी इतर काव्य रूप उसी भाषा के प्रेम-काव्य से आगे नहीं बढ़ पाता, क्योंकि प्रेम का दायरा भी वैयक्तिकता से लेकर, जाति प्रेम, देशप्रेम, मानव प्रेम और ईश्वर प्रेम तक क्रमशः ससीम से असीम तक फैला है, अतः प्रेम तत्व की व्यापकता ने प्रेम-प्रधान काव्य को लौकिक प्रेम से अलौकिक प्रेम के सोपानों पर चढ़ाते हुये कवि की अनुभूतियों को ऊर्ध्वगामी गति दी है। मीरां के प्रेम प्रधान गीति काव्य में मीरां का वैयक्तिक प्रेम लौकिकता से ऊपर उठ अलौकिक कृष्ण प्रेम तक व्याप्त है।

मीरां के प्रेम-काव्य में संयोग और वियोग-पक्ष

प्रेम-भाव के दो पक्ष हैं, एक शुक्लपक्ष सा संयोग पक्ष और दूसरा कृष्णपक्ष सा वियोग पक्ष। इसी प्रेमप्रधान गीतिकाव्य में संयोग के सुखद, उज्ज्वल आल्हाद-कारी, आनंदमय अलौकिक प्रेमालोक की शान्त, स्निग्ध फेनोज्ज्वल किरणें पाई जाती हैं, तो वियोग की अमावस्या में प्रेमी की व्याकुलता, प्रिय की निष्ठुरता, प्रेमी की

---

१. डाकोर की प्रति, पद ६।

अपेक्षा, प्रिय की उपेक्षा, विरह-वेदना की तीव्रता और निराशा आदि का बड़ा सजीव चित्रण पाया जाता है ।

मीरां के काव्य में प्रेम-तत्व के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का अभिव्यंजन पाया जाता है और उसमें भी मीरां का विरह-पक्ष अधिक प्रबल हैं । अस्तु, मीरां के सम्पूर्ण पदों में प्रेम और संयोग-वियोग की दशाओं के वर्णन पाये जाते हैं ।

मीरां का भक्ति परक गीतिकाव्य

यह पहले ही कहा गया है कि मीरां के काव्य में प्रेम और भक्ति का तादात्म्य पाया जाता है । सामान्यतः भक्ति ईश्वरीय प्रेम के रागात्मक सम्बन्ध और आध्यात्मिक अनुभूतियों के आवेग से परिपूर्ण होती है । ईश्वरीय सत्ता की सर्वशक्तिमत्ता, और भक्त द्वारा उसी स्वीकृति तथा उसका गुण-गान भक्ति-साहित्य में स्तुति परक गीतों के जन्म के कारण हैं । मीरां के पदों में भी 'गिरधरनागर' की स्तुति और अपने उद्धार के लिये प्रार्थनायें पाई जाती हैं । यथा–

भज मण चरण कंवळ अबणासी ।
अरज करां अबळा कर जोड़्या स्याम (....) दासी ।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, काठ्यां म्हारी गांसी ।"[1]

भक्त आत्मा का यह आत्मनिवेदन स्वतः प्रेरित-प्रकाशन है, जो कवि की पवित्र भावनाओं को वाणी देता है और उसकी आत्मा के उद्धार के लिये ईश्वरीय करुणा और कृपा का आह्वान करता है । भक्त का दैन्य, प्रभु-शरणागति और उद्धार के लिये प्रार्थनायें इन्हीं भक्तिपरक गीतों में पाई जाती हैं । भक्त जब कभी अपने और भगवान के सम्बन्ध और स्वरूपों का अभिव्यंजन करता है, तब उसके द्वारा उसके धर्म-दर्शन और भक्ति-साधना-पद्धति का ज्ञापन होता है ।

मीरां के पद उन्हें सगुणोपासिका कृष्ण-भक्तिन सिद्ध करते हैं, जो कृष्ण के प्रति माधुर्य भाव से प्रेरित होकर नवधा रूपों में अपनी भक्ति भावना को आचार शास्त्र में परिणत कर चुकीं थीं । मीरां का व्यक्तित्व और उनकी भक्ति सम्बन्धी प्रवृत्तियों[2] में इसका विशद विवेचन किया जा चुका है ।

मीरां के काव्यगत गुण

मीरा के काव्य में नौ प्रधान गुण हैं :— १–वैयक्तिकता, २–कल्पनाशीलता,

---

१. डाकोर की प्रति, पद–२ ।

२. देखिये-प्रस्तुत प्रबन्ध का अध्याय ३ ।

मीरां के प्रत्येक पद में गीति-सृष्टि की ये आठों प्रक्रियायें सर्वत्र पाई जाती हैं। अतः मीरां का कोई सा भी पद इन कसोटियों पर कसा जा सकता है।

मीरां के काव्य का मूलभूत भाव-तत्व और उसका विश्लेषण

मीरां के अद्यावधि उपलब्ध मूलपदों में जो वस्तुगत अंतरंग तत्व है, उसका प्रामाणिक संकेत केवल मूल स्रोत की तरह मीरां की काव्य धारा में विद्यमान है। मीरां की एकमात्र मान्यता है कि–

"प्रेम भगति रो पैंडा म्हारो, और ण जाणां रीत।"[1]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि मीरां प्रेमाभक्ति की उपासिका थीं। उनके जीवन और काव्य में प्रेम और भक्ति के तत्व सर्वोपरि थे, अतः मीरां के काव्य को मूलभूत भाव तत्व की दृष्टि से दो रूपों में विभक्त किया जा सकता है। यथा– (१) प्रेम-प्रधान गीतिकाव्य (२) भक्ति-परक गीति काव्य।

मीरां का प्रेम-प्रधान गीति काव्य

गीति काव्य में प्रेम प्रधान गीति काव्य सुन्दर काव्य सृष्टि के प्रमाण माने जाते हैं, क्योंकि प्रेम-तत्व जीवन की सबसे प्रबल, मादक, सुन्दर और सरस उपलब्धि है। संसार के सम्पूर्ण गीतिकाव्य में तुलना और अनुपात की दृष्टि से प्रेम-प्रधान गीति-काव्य सबसे अधिक व्यापक और विस्तीर्ण पैमाने पर पाया जाता है और विश्व की किसी भी भाषा का कोई सा भी इतर काव्य रूप उसी भाषा के प्रेम-काव्य से आगे नहीं बढ़ पाता, क्योंकि प्रेम का दायरा भी वैयक्तिकता से लेकर, जाति प्रेम, देशप्रेम, मानव प्रेम और ईश्वर प्रेम तक क्रमशः ससीम से असीम तक फैला है, अतः प्रेम तत्व की व्यापकता ने प्रेम-प्रधान काव्य को लौकिक प्रेम से अलौकिक प्रेम के सोपानों पर चढ़ाते हुये कवि की अनुभूतियों को ऊर्ध्वगामी गति दी है। मीरां के प्रेम प्रधान गीति काव्य में मीरां का वैयक्तिक प्रेम लौकिकता से ऊपर उठ अलौकिक कृष्ण प्रेम तक व्याप्त है।

मीरां के प्रेम-काव्य में संयोग और वियोग-पक्ष

प्रेम-भाव के दो पक्ष हैं, एक शुक्लपक्ष सा संयोग पक्ष और दूसरा कृष्णपक्ष सा वियोग पक्ष। इसी प्रेमप्रधान गीतिकाव्य में संयोग के सुखद, उज्ज्वल आल्हाद-कारी, आनंदमय अलौकिक प्रेमालोक की शान्त, स्निग्ध फेनोज्ज्वल किरणें पाई जाती हैं, तो वियोग की अमावस्या में प्रेमी की व्याकुलता, प्रिय की निष्ठुरता, प्रेमी की

---

१. डाकोर की प्रति, पद ६।

अपेक्षा, प्रिय की उपेक्षा, विरह-वेदना की तीव्रता और निराशा आदि का बड़ा सजीव चित्रण पाया जाता है ।

मीरां के काव्य में प्रेम-तत्व के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का अभिव्यंजन पाया जाता है और उसमें भी मीरां का विरह-पक्ष अधिक प्रबल हैं । अस्तु, मीरां के सम्पूर्ण पदों में प्रेम और संयोग-वियोग की दशाओं के वर्णन पाये जाते हैं ।

मीरां का भक्ति परक गीतिकाव्य

यह पहले ही कहा गया है कि मीरां के काव्य में प्रेम और भक्ति का तादात्म्य पाया जाता है । सामान्यतः भक्ति ईश्वरीय प्रेम के रागात्मक सम्बन्ध और आध्यात्मिक अनुभूतियों के आवेग से परिपूर्ण होती है । ईश्वरीय सत्ता की सर्वशक्तिमत्ता, और भक्त द्वारा उसी स्वीकृति तथा उसका गुण-गान भक्ति-साहित्य में स्तुति परक गीतों के जन्म के कारण हैं । मीरां के पदों में भी 'गिरधरनागर' की स्तुति और अपने उद्धार के लिये प्रार्थनायें पाई जाती हैं । यथा–

भज मण चरण कंवळ अबणासी ।
अरज करां अबळा कर जोड्या स्याम (....) दासी ।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, काठ्यां म्हारी गांसी ।''[१]

भक्त आत्मा का यह आत्मनिवेदन स्वतः प्रेरित-प्रकाशन है, जो कवि की पवित्र भावनाओं को वाणी देता है और उसकी आत्मा के उद्धार के लिये ईश्वरीय करुणा और कृपा का आह्वान करता है । भक्त का दैन्य, प्रभु-शरणागति और उद्धार के लिये प्रार्थनायें इन्हीं भक्तिपरक गीतों में पाई जाती हैं । भक्त जब कभी अपने और भगवान के सम्बन्ध और स्वरूपों का अभिव्ययंजन करता है, तब उसके द्वारा उसके धर्म-दर्शन और भक्ति-साधना-पद्धति का ज्ञापन होता है ।

मीरां के पद उन्हें सगुणोपासिका कृष्ण-भक्तिन सिद्ध करते हैं, जो कृष्ण के प्रति माधुर्य भाव से प्रेरित होकर नवधा रूपों में अपनी भक्ति भावना को आचार शास्त्र में परिणत कर चुकीं थीं । मीरां का व्यक्तित्व और उनकी भक्ति सम्बन्धी प्रवृत्तियों[२] में इसका विशद विवेचन किया जा चुका है ।

मीरां के काव्यगत गुण

मीरा के काव्य में नौ प्रधान गुण हैं :— १–वैयक्तिकता, २–कल्पनाशीलता,

---

१. डाकोर की प्रति, पद–२ ।
२. देखिये-प्रस्तुत प्रबन्ध का अध्याय ३ ।

३–मार्मिकता, ४–भावात्मकता, ५–संक्षिप्तता, ६–संगीतात्मकता, ७–सरसता, ८–प्रभावोत्पादकता और ९–व्यापकता ।

(१) वैयक्तिकता—मीरां का सम्पूर्ण काव्य उनकी वैयक्तिक अनुभूतियों का प्रकाशन हैं, जिसमें मीरां की आध्यात्मिक प्रेमाभक्ति के संयोग-वियोग और प्रेम-पक्षों का स्वानुभूति सत्य निरूपित किया गया है, अतः मीरां का प्रत्येक पद मीरां का आत्म-प्रकाशन है। मीरां ने जयदेव, विद्यापति, अथवा सूरादि अष्टछाप के कवियों की तरह राधा-कृष्ण के प्रेम-गीत नहीं गाये और न नायक नायिका के प्रेमपरक क्रियाकलापों का ही चित्रण किया। उनके पदों में उनकी अपनी आत्मा का कृष्ण-प्रेम प्रत्यक्ष रूप में नारी की सम्पूर्ण प्रेमानुभूति की शालीनता के साथ प्रकट हुआ है। अतएव अनुभूति की इसी वैयक्तिकता के कारण मीरां के काव्य में भावनाओं की निजी विशिष्टता, मनोवेगों की तीव्रता, संवेदना की हार्दिकता पूर्ण स्वीकृति, भावों का ऐक्य और अनुभूति एवं अभिव्यक्ति की एकरूपता पाई जाती है।

(२) कल्पनाशीलता—मीरां के काव्य में कल्पनाशीलता का दूरारूढ़ क्लिष्ट रूप नहीं पाया जाता। वे सगुणोपासिका थीं। उनके आराध्य कृष्ण सगुण और साकार थे, अतः इन्होंने उनके रूप, शृंगार, गुणादि का यथातथ्य वर्णन किया है, किन्तु जब कभी भी उन्हें कृष्ण के हृदयस्थ ब्रह्मरूप का आभास मिला है,[1] और वे अगम देश में प्रविष्ट मुक्तात्मा हंसों की भाँति प्रेम-सरोवर में केलि करना चाहती हैं,[2] तब उनकी जीव, ब्रह्म और मोक्ष विषयक कल्पनायें स्पष्ट दिखाई देती हैं, और उनकी कल्पनाश्रित रहस्यमयी भावना खुल, खिल जाती हैं।

(३) मार्मिकता—मीरां के काव्य में भाव पक्ष प्रबल है, क्योंकि उसमें अनुभूतियों की सत्यता, मनोवेगों का ज्वार और भावों की तल्लीनता शब्द-शब्द से टपकती है। मीरां का हृदय सदैव अपनी भावुकता, वेदना और कल्पना को अयत्नसाधित काव्य में प्रकट करता रहा है इसीलिये उसमें प्राणों की अनुभूति का मर्मस्पर्शी प्रभाव पाया जाता है। मीरां के काव्य की यह मार्मिकता ही उसकी लोकप्रियता और 'व्यापकता का आधार है।

(४) भावात्मकता—मीरां का काव्य कबीर जैसे निर्गुणियों की बौद्धिकता या उपदेश-वृत्ति से मुक्त है। उनके काव्य में समाज को चेतावनी देने की अपेक्षा आत्म प्रबोधन अधिक है। मीरां सदैव अपने पदों में अपनी बात कहती हैं, अपने प्रेम, विरह,

---

१. डाकोर की प्रति, पद-१०
२. काशी की प्रति, पद-७१

और भक्ति-भाव को प्रकट करती हैं । 'गिरधर नागर' के समक्ष अपना हृदय खोलकर रखती हैं, अपना दुखड़ा रोती हैं, अपनी प्रार्थसा सुनाती है, अतः उनका सम्पूर्ण काव्य भावात्मक काव्य है, भावुकता के कारण बड़ा प्रभावशाली बन गया है ।

(५) **संक्षिप्तता**--गीतिकाव्य का प्रत्येक पद संक्षिप्त होता है । स्फुट भावाभिव्यंजन के कारण प्रत्येक पद छोटा, किन्तु सरस, संगीतात्मक और भावपूर्ण होता है । मीरां के भी सभी पद गेय पद हैं, और संगीत-तत्व-संयोजन के साथ-साथ संक्षिप्त हैं, किंतु मीरां के प्रत्येक पद की संक्षिप्तता में उनके विशाल भक्त हृदय की गंभीर भावुकता कूट-कूट कर भरी है ।

(६) **संगीतात्मकता**-मीरां के पद 'भजन' कहे गये हैं । वे गेय और कीर्तन प्रधान हैं, अतः उनमें स्वर, ताल, लय गति, राग-रागिनी आदि संगीतात्मक उपादानों की सिद्धि पाई जाती है । साथ ही उनमें छंद-विधान की अपेक्षा राग-विधान मुख्य रूप में पाया जाता है । इसके परिणाम स्वरूप मीरां के पद भक्तों के कण्ठहार तो हैं ही, किन्तु वे संगीतज्ञों के लिये विविध रागों की पावन धरोहर के रूप में सर्वमान्य और स्वीकृत भी हैं ।

(७) **सरसता**-मीरां के प्रत्येक पद में एक-एक अनुभूति और एक-एक भाव अपने सम्पूर्ण स्वरूपात्मक सौष्ठव और प्रभावोत्पादकताको लेकर व्यक्त हुये हैं । मर्मस्पर्शी भाव, सरल भाषा, मधुर संगीत, और हृदयहारी भक्ति-भावना तथा प्रेम के संयोग-वियोग पक्षों के प्रामाणिक ज्ञापन से मीरां के पदों की सरसता अद्वितीय बन गई है । अस्तु, मीरां के पदों की सरसता की पृष्ठभूमि में मीरां का भाव-योग प्रधान है, तथा रस-निष्पत्ति के सम्पूर्ण उपादान उसे और भी सरस बनाये हुए हैं ।

(८) **प्रभावोत्पादकता**-भक्त, कवि, गायक, विरक्त और गृहस्थ सभी मीरां के पदों की प्रभविष्णुता को अस्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि मीरां का काव्य, हृदय-व्यापार होने के कारण अधिक प्रभावशाली है और इसीलिये अनेक सम्प्रदायों के अनुयायियों ने उनके पदों को स्वीकार कर उसमें अपनी शब्दावली जोड़ दी है । साम्प्रदायिकता से परे रहकर मीरां ने आत्मनिष्ठ, मधुर, कोमल, सरस अनुभूतियों को मुखर कर अपने प्रेम-भक्ति-प्रेरित पदों से सम्पूर्ण भारतीय समाज और विविध सम्प्रदायों को प्रभावित किया है ।

(९) **व्यापकता**-मीरां का काव्य किसी सम्प्रदाय का प्रचारक नहीं है, अतः वह किसी भी सम्प्रदाय की-बपौती या दल विशेष की सम्पत्ति नहीं माना जा सकता । मीरा का काव्य मानवीय आत्मा की सृष्टि है, अतः वह प्रत्येक व्यक्ति की, प्रत्येक सम्प्रदाय की विश्व-व्यापी मानवीय सम्पदा है । भक्त उसे दुहराते हैं, संगीतज्ञ उसे गाते

है, जन जीवन उसमें आकंठ निमग्न हो स्वर्गीय प्रेम, और संयोग-वियोग का रसास्वादन करता है। सबकी आत्मा मीरां की आत्मा में अपने प्राण खोजती हैं, अपनी वेदना पाती है और अपनी पुकार सुनती है। इसीलिये मीरां का काव्य देशव्यापी है।

उपरोक्त सभी गुणों के कारण मीराँ का काव्य वैष्णव भक्तों का प्रिय काव्य कृष्णोपासकों की पुनीत सम्पत्ति, संगीतज्ञों की वाणी का शृंगार और जन-जन का प्रिय-काव्य है। वह देश, काल और वातावरण से परे चिरन्तन, शाश्वत, साहित्य का का अंग है। उसकी यह अमरता उसका विशिष्ट गुण भी है और चरम उपलब्धि भी।

मीरां के गीतिकाव्य का वैशिष्टय

मीरा के गीतिकाव्य के उपरोक्त गुण सामान्यतः सर्वमान्य हैं, और ये गुण मीरां के समकालीन प्रायः सभी लब्ध प्रतिष्ठित भक्त या संत कवियों के पदों पर आंशिक किंवा व्यापक रूप से लागू भी हो सकते हैं, किन्तु मीरां के काव्य की व्यापकता और प्रभावोत्पादकता के कुछ और भी विशिष्ट कारण हैं, जिनका रहस्य उनके पदों के वैशिष्टय में समाहित है। मीरां के पदों का वह वैशिष्टय अधोलिखिति तथ्यों के आधार पर स्पष्टतः अनुमाना जा सकता है।

१. अकाटय सत्योद्गारों की अटूट शृंखला

मीरां ने पति के रूप में जिस 'गिरधर नागर' का वरण किया था, उसके प्रति नारी होने के कारण उन्होंने अपने स्वानुभूत अकाट्य सत्योद्गारों की अटूट-शृंखला अपने गीतों में व्यक्त की है। मीरां की अनुभूतियों में प्रेम-तत्व की जो प्रामाणिकता है, वह केवल उनकी अपनी है। माधुर्य भाव के इतर साधक अथवा राधा और कृष्ण की लीला तथा क्रीड़ाओं के गायकों में मीरां का सा नारीत्व सर्वथा अनुपलब्ध है। आरोपित नारीत्व और मूलभूत नारीत्व में जो अंतर है, वही अन्य प्रेमी कवियों और मीरां के काव्य में पाया जाता है। मीरां के काव्य का एक-एक शब्द उनके उद्गारों की सत्यता का प्रमाण देता है जो उनकी मौलिकता है। इसमें सन्देह नहीं है।

२. जीवन-सत्य और काव्य-साधना का अभेदत्व

मीरां के पूर्ववर्ती और समकालीन सभी कवियों का गीतिकाव्य उनके भावों का प्रकाशक है, किन्तु मीरां का काव्य उनके भावों का प्रकाशक ही नहीं किन्तु उनके जीवन का भी प्रकाशन है। मीरां के काव्य में मीरां के जीवन और काव्य की तद्रूपता स्थापित हो गई है। मीरां का सम्पूर्ण व्यक्तित्व काव्यमय बन गया है और उनके सम्पूर्ण काव्य में उनका समस्त व्यक्तित्व घुलमिलकर एकाकार हो गया है। दूसरो शब्दों में मीरां का जीवन ही मीरां का काव्य बनकर मूर्त्त हो गया है। कवि और काव्य का

ऐसा एकीकरण अन्यत्र दुर्लभ है। कबीर के आध्यात्मिक दाम्पत्य सम्बन्ध द्योतक पद या सूरादि के राधाकृष्ण सम्बन्धी प्रेमपरक काव्य में मीरां का सा प्रामाणिक अभिव्यंजन और जीवन तथा काव्य का अभेदत्व ढूँढने पर भी नहीं मिलता। अस्तु, मीरां के काव्य से 'मीरां के जीवन का अभेदत्व कुछ इस प्रकार का है कि उनके काव्य को देखने के बाद उनके जीवन में प्रच्छन्न कुछ नहीं रहता। मीरां के पदों से उनका जीवन झाँकता है। यह मीरां के काव्य की दूसरी विशेषता है।'

३. बौद्धिकता का परिहार

कबीर के अधिकांश पद उपदेशात्मक गीति काव्य के अंतर्गत रखे जा सकते हैं और उनकी उलटवासियों में अति बौद्धिक क्लिष्टता का चमत्कार दिखाई देता है। सूर के पदों में लीला गायक की इतिवृतात्मकता मिलती है। तुलसी के पदों में राम के निर्गुण-सगुण रूप का विवेचन और दार्शनिक चिंतन का गांभीर्य दिखता है। साम्प्रदायिकता और दार्शनिकता की खरोंच इन सभी कवियों के काव्य-दर्पण में यत्र-तत्र-सर्वत्र खोजी जा सकती है, किन्तु मीरां के पदों में बौद्धिकता का परिहार हो गया है। उनके सभी पद वैचारिक गीति की अपेक्षा भाव प्रवण आत्मिक गीति परम्परा के पोषक हैं, अतः उनमें काव्य कला का सचेष्ट प्रयास नहीं मिलता। तत्वतः दार्शनिकता का बोझ मीरां की साँसों पर नहीं था अतएव उनका सम्पूर्ण काव्य प्रेमपरक है और उसमें मीरां की प्रेम भावनायें सहज रूप में ओत-प्रोत हैं।

४. सरल, सुलभ गेयता

मीरां के पद आकार में छोटे, भाव से परिपूर्ण और संगीतात्मक राग रागनियों में गेय हैं, इसीलिये वे स्त्री और पुरुषों, बच्चों और बूढ़ों, गायकों और संगीतज्ञों से लेकर शिक्षित-अशिक्षित सभी वर्गों में गाये-सुने जाते हैं। उनमें भक्तों के लिये 'भक्तिपूर्ण भजन' बनने की क्षमता है, तो सरस गायक और श्रोता के लिये संगीत की राग-रागिनियों का रस-स्रोत प्रवाहित करने का अपूर्व सामर्थ्य भी है।

५ संगीत-तत्व.

मीरां के काव्य का संगीत हृदय से प्रवाहित हुआ है, अतः उनका संगीत आत्मध्वनि का द्योतक है। कबीर की तरह उनके पदों का संगीत-तत्व प्रचारक और उपदेशक की वाणी का सहचर नहीं है, न सूरादि अष्टछाप के कवियों की तरह उनका संगीत सम्प्रदाय विशेष की साधना पद्धति का अनिवार्य अंग बनकर रह गया है और न तुलसी की तरह मीरां का संगीत तत्व शास्त्रीय एवं दार्शनिक मतों का वाहक है। मीरां के काव्य का संगीत तत्व जितना शास्त्रीय है, उतना ही सुगम भी। वस्तुतः उसमें मीरां की आत्मा की ध्वनि भी संगीतमय बनकर रह गई है।
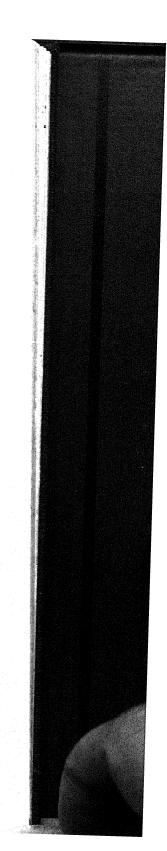
६. प्रेम-साधना के भाव-स्तरों का प्रामाणिक अभिव्यंजना

मीरां की भक्ति-भावना प्रेममूला थी, अतः उनका प्रेम एक नारी हृदय का शालीनतापूर्ण प्रेम है। इसीलिये मीरां के गीतों में उनकी शाश्वत प्रेम-साधना के भाव-स्तरों का प्रामाणिक अनुभूतिगम्य अभिव्यंजन हुआ है, अतएव मीरा का काव्य प्रामाणिक भाव-भूमि पर प्रेम-साधना के सोपानों और भाव-स्तरों का ज्ञापन करता है। यह मीरां के काव्य का एक विशिष्ट गुण है, जो अन्य प्रेमी कवियों को सहज उपलब्ध नहीं है।

७ मन:स्थिति की एकनिष्ठता

मीरां के प्रत्येक गीत में एक विशेष प्रकार की मनः स्थिति (मूड) की परि-समाप्ति पाई जाती है, किसी भी पद में दो मनोदशाओं का संघर्षण अथवा दो या अधिक मनः स्थितियों का प्रकाशन नहीं मिलता। यही कारण है कि मीरां के पदों का गायक, गीत को गाते या सुनते समय एक विशेष मनोदशा में रहता है। भाव-जगत की यह तल्लीनता और रस के साधारणीकरण की यह उपलब्धि मीरां के आत्मीयतापूर्ण पदों में विशेष रूप से पाई जाती है।

८. लोकानुरूप काव्य

वस्तुतः मीरां का सम्पूर्ण काव्य व्यक्तिनिष्ठ है, किन्तु उस काव्य के प्राण में जो प्रेम तत्व है, वह जन-जीवन की सर्वसाधारण सम्पत्ति है। इसीलिये मीरां का काव्य लोकगीत और जन-जीवन के बिल्कुल निकट ही नहीं, उनमें समा जाने की क्षमता रखता है। मीरां की अनुभूतियाँ मानवीय अनुभूतियाँ है। देश, काल और भाषा के घेरे उन्हें नहीं बाँध सकते। यही कारण है कि मीरां का काव्य विविध रूपों में, विविध सम्प्रदायों में, विविध प्रदेशों की बिविध भाषाओं में निरन्तर गाया जाता रहा है, जिसके परिणाम स्वरूप मीरां के काव्य में भाव, भाषा और साम्प्रदायिकता के अनेक प्रक्षेप आ घुसे हैं। लोकानुरूप काव्य की विकसनशीलता का जितना व्यापक प्रभाव मीरां के काव्य पर पड़ा है, उतना अन्य किसी भी भक्त कवि के काव्य पर नहीं पड़ा।

९. संक्रामकता

मीरां का काव्य अत्यधिक संक्रामक काव्य है। राजस्थान, ब्रज और गुजरात में ही नहीं, सारे भारतवर्ष में मीरां के पद गाये जाते हैं। जो भी व्यक्ति मीरां के पद सुनता है, वह उनकी सरसता, मधुरता, अनुभूति की सत्यता और प्रभावोत्पादकता से बच नहीं सकता इसीलिये मीरां की आत्मा से निःसृत प्रत्येक पद संक्रामक काव्य

है। उसमें प्रांतीयता का पुट और क्षेपकों की क्षमता के बावजूद भी अपने प्रचार, प्रसार की ऐसी क्षमता है कि वह अन्तर्देशीय और सर्वप्रिय काव्य बन गया है। मीरां के पदों की सी संक्रामक शक्ति अन्य किसी भी कवि के काव्य में कम ही पाई जाती है।

१०. समर्पित काव्य

मीरां का सम्पूर्ण काव्य अन्य कवियों की तरह प्रचारक अथवा साम्प्रदायिक काव्य नहीं है, अपितु वह समर्पित काव्य (Dedicated poetry) है, जो अन्य किसी भी कवि के काव्य के लिए कहना मुश्किल है। समर्पित काव्य के ही नाते से मीरां का काव्य भक्ति और काव्य के सर्वोच्च शिखर पर अधिष्ठित है और उसकी दिव्य भव्य प्रतिष्ठा में कभी आँच नहीं आयेगी।

अध्याय ८

मधुरा-भक्ति और हिन्दी-पद-साहित्य में मीरा का प्रदेय

मीरां का जीवन और व्यक्तित्व

मीरां का जन्म राजस्थान के लब्ध-प्रतिष्ठित राजवंश में हुआ था। वे राजस्थान के रणबाँकुरे और वीरों में अग्रगण्य मेड़तिया कुल में उत्पन्न हुई थीं। उनके पिता का नाम राव रत्नसिंह, चचेरे भाई का नाम जयमल और पितृव्य का नाम राव दूदा जी था। उनका जन्म मेड़ता राज्यान्तर्गत 'कुड़की' ग्राम में हुआ था और उनका जन्म–संवत् लगभग १५६० था।

शैशव में ही मातृ-विहीन होने के कारण उनका पालन-पोषण राव दूदा जी के संरक्षण में हुआ तथा उन्होंने अपने जीवन के प्रारंभिक वर्षों में साहित्य, संगीत, नृत्य और धर्म-ग्रंथों की शिक्षा पाई। जन्म-जन्मान्तर के पुनीत संस्कारों के फलस्वरूप उनके हृदय में बचपन से ही भगवान कृष्ण के प्रति दाम्पत्य सम्बन्ध-भाव अंकुरित हुआ। पति के रूप में निरंतर कृष्ण-चिंतन और उनके प्रति अटूट अनुरक्ति के कारण आध्यात्मिक अनुभूति के पावन-क्षणों में एक दिन स्वप्न में दीनानाथ से उनका परिणय हो गया, जिसमें छप्पन करोड़ बरातियों के समक्ष गिरिधर नागर ने मीरां का हाथ पकड़ा और उन्हें अपनी 'चिरपरिणीता' बना ली। यह 'हथलेवा' मीरां का लौकिक परिणय नहीं, 'आध्यात्मिक विवाह' था।

राजपूत ललनाओं की पतिनिष्ठा विश्व-विख्यात है। पति के लिए प्राणोत्सर्ग करने वाली तथा अपने सतीत्व-रक्षा के लिये जौहर करने वाली वीरांगनाओं का राजस्थान के इतिहास में अभाव नहीं है। राजस्थानी इतिहास के पन्ने उनके त्याग और आत्मोसर्ग की कथायें अपने हृदय पर अंकित किये बैठे हैं। मीरां उन्हीं राजपूत रमणियों की सिरमौर थीं। सिद्धान्ततः मीरां ने भगवान कृष्ण को अपना पति स्वीकार किया था, अतएव एक वृत-संकल्प निष्ठावन्त साध्वी की तरह उन्होंने केवल कृष्ण को ही अपना पति माना और उसी 'जन्म-जन्मांतर के साथी' की यावज्जीवन खोज की, इसीलिए उनके जीवनसंघर्ष में एक आदर्श राजपूत रमणी का साहस और अपने 'साध्य' की प्राप्ति के लिये मर मिटने की अमिट साध पाई जाती है।

मीरां राणा कुंभा की पत्नी नहीं थीं। उनका विवाह मेवाड़ के राणा सांगा के ज्येष्ठ पुत्र (युवराज) भोजराज के साथ संवत् १५७३ में हुआ था। किन्तु भक्ति-भाव-संकुल मीरां ने अपने लौकिक पति को 'पति' ही नहीं माना। मेवाड़ में भी वे अनवरत अपने 'अमर पति' कृष्ण का चिन्तन करती रहीं। साधु-संतों से उनका सत्संग विधिवत् बना रहा। विवाहोपरान्त अल्पकाल में ही कुँवर भोजराज की मृत्यु होने के बाद भले-बुरे साधुओं का सत्संग करने वाली मीरा को सास ने 'कुलनाशी' कहा और लोकनिन्दा की शिकार बन वे 'बिगड़ी' कहीं गईं। सांसारिक स्तुति और निंदा से ऊपर उठी हुई मीरां ने इन बातों की कोई परवाह नहीं की। राणा विक्रमाजीत ने मीरां के लिए 'विष का प्याला' और 'साँप-पिटारा' भेजा, किन्तु मीरां इनसे भी बच गई। श्वसुर कुल की प्रताड़ना, भर्त्सना तथा क्लेशों से ऊब मीरां संवत् १५६० के लगभग अपने चाचा राव वीरमदेव के पास मेड़ता गई और वहाँ से संवत् १५६५ के लगभग वृन्दावन आईं। भगवान कृष्ण की लीला-भूमि में उन्होंने अनेक मंदिरों में भजन-कीर्तन किया और जीवगोस्वामी से भेंट की। संवत् १६०० के लगभग वे द्वारका पहुँची और वहीं संवत् १६०३ में उनका देहान्त हुआ। भक्तों की दृष्टि से वे कृष्ण की मूर्ति में समा गईं।

बाद में भक्तों ने उनकी जीवनी के बारे में अनेक अतिरंजित घटनायें और अनैतिहासिक बातें जोड़ दीं फलतः लोकजीवन में उनके सम्बन्ध में अनेक किम्बदन्तियाँ प्रचलित हुईं, किन्तु श्रद्धातिरेक के कारण उनमें ऐतिहासिक सत्य का प्रायः अभाव है।

मीरां के जीवन में हमें एक निष्कलंक पवित्र आत्मा की मोक्ष-प्राप्ति के लिए अनवरत भक्ति-साधना परिलक्षित होती है। उनके काव्य में लौकिक संघर्ष के स्वरों पर आध्यात्मिक संघर्षों का स्वर प्रबल है, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि एकान्तिक, निष्ठा और भक्ति, विश्वास और समर्पण, बहुमुखी संघर्ष और भक्ति मार्ग पर अडिग रहकर प्रत्येक संघर्ष पर विजय पाने की कामना मीरां के व्यक्तित्व की विशेषतायें हैं। उनके काव्य में एक सरल हृदया नारी की मधुर-भक्ति अपने समस्त वैभव को लेकर मूर्तिमान हो गई है।

मीरां का भक्ति-भाव

मीरां का भक्ति-भाव, भक्ति-साधना के सर्वोच्च शिखर की उच्चतम भाव भूमि से प्रारम्भ होता है, जिसमें आत्मा और परमात्मा के बीच मधुराति-मधुर कान्ता-सक्ति-प्रसूत प्रेमा-भक्ति का सरस, सरल और सहजात सम्बन्ध दिखाई पड़ता है। मीरां की माधुरी-भक्ति में नवधा भक्ति के नौ सोपान और प्रेम-स्वरूपा भक्ति की दस आसक्तियाँ पाई जाती हैं। अपने आराध्य कृष्ण के प्रति एकनिष्ठता, अनन्य शरणा-

गति, लौकिक जीवन और सांसारिक सम्बन्धों के प्रति उदासीनता, संत-सत्संग, सदाचारयुक्त पुनीत जीवनी, सुख-दुखों के प्रति समदृष्टि, आत्म-समर्पण और विरह-साधना युक्त प्रेम-भाव, मीरा के भक्ति-भाव के मूलभूत तत्व हैं । भगवान कृष्ण के प्रति अपनी नैतिकतापूर्ण आस्था के कारण ही वे 'हलाहल' पीकर 'मृत्युंजय' बनीं । संक्षेप में, उनके भक्ति-भाव को कृष्ण विषयक कान्ता सक्ति का श्रेष्ठतम रूप कहा जा सकता है । मधुरोपासना विश्व की एक विशिष्टभाव-साधना है, उसके परिप्रेक्ष्य में मीरां की मधुरोपासना का मूल्य और महत्व आंका जा सकता है ।

भक्ति-साहित्य में मधुरोपासना

भक्ति-साहित्य में मधुरोपासना ईश्वर के प्रति माधुर्य-भाव से प्रेरित होकर की जाने वाली भक्ति-साधना है । लौकिक दाम्पत्य भाव का यह अलौकिक उदात्तीकरण है । लौकिक जीवन में सांसारिक जीव इन्द्रियों को वश में न रखने के कारण विषय-चिन्तन करता है । विषय-चिन्तन से विषयों के प्रति आसक्ति होती है, आसक्ति से विषयों की कामना होती है । कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है । क्रोध से अविवेक अर्थात् मूढ़ भाव उत्पन्न होता है, अविवेक से स्मृति भ्रम होता है, स्मृति-भ्रम से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से व्यक्ति श्रेय-साधन से च्युत हो जाता है ।[1]

अतः जो व्यक्ति 'श्रेय-साधन' की सिद्धि चाहते हैं, वे लौकिक भावनाओं को ईश्वरोन्मुख कर भक्ति-पथ का अनुसरण करते हैं । बृहदारण्यक उपनिषद में कहा गया है कि—

'तद् यथाप्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो वाह्यं किंचनवेदनान्तर मेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न वाह्यं किंचनवेदनान्तरं तद्वा अस्यैतदाप्तकाममाप्तकामम् कामरूपं शोकान्तरम ।[2]

अर्थात् जिस प्रकार अपनी प्रिया भार्या द्वारा आलिंगित पुरुष को न कुछ बाहर का ज्ञान रहता है और न भीतर का, उसी प्रकार यह पुरुष भी प्रज्ञात्मा द्वारा आलिंगित हो जाने पर न कुछ भीतर का विषय जानता है और न बाहर का ही ।

इससे पता चलता है कि भक्ति के क्षेत्र में, आध्यात्मिक धरातल पर ईश्वर के प्रति प्रेषित दाम्पत्य-भाव-मूलक प्रेम-भावों में काम-वासना का कोई महत्व नहीं होता, बल्कि इसके विपरीत भक्त और भगवान का, या दूसरे शब्दों में जीव और ब्रह्म का आध्यात्मिक मधुर सम्बन्ध दाम्पत्य-रति-भाव के रूप में स्थापित होता है ।

---

१. श्री मद्भगवद्गीता, अध्याय २, श्लोक ६२-६३ ।
२. बृहद् आरण्यक उपनिषद, ४।३।२१ ।

मिश्र की लिंगोपासना, ईसाइयों का आध्यात्मिक विवाह और सूफी-साधकों का दाम्पत्य-भाव इसी मधुरोपासना से अनुप्राणित हैं, इसी तरह भारत के लिंगोपासक शैव, माधुर्य-भाव के भक्त कृष्णोपासक तथा रामोपासक सखी-सम्प्रदाय मधुरा भक्ति के साधकों के अन्तर्गत आते हैं, किन्तु साध्य का स्वरूप और साधकों की भावना में माधुर्य-भाव की व्याप्ति के अतिरिक्त भी इन विविध मधुरोपासक भक्तों और सन्तों में व्यापक मतभेद पाये जाते हैं। मधुरोपासकों की विश्व-व्यापी मधुराभक्ति का विवेचन अपने आप में एक स्वतंत्र विषय है। उसका अध्ययन और अनुशीलन बहुत रोचक है, किन्तु प्रस्तुत प्रबन्ध की सीमा से बहुत दूर तक भटक जाने के भय से अत्यन्त संक्षेप में मधुरोपासना का ऐतिहासिक परिचय दे देना आवश्यक प्रतीत होता है, ताकि उसकी पृष्ठ-भूमि पर मीरां की माधुरी भक्ति का मूल्यांकन किया जा सके।

मिस्त्र की लिंगोपासना

मिस्त्र में एक देवता था। उसका नाम ओसिरिस था। वह अपने राज्य की भूमि उर्वर बनाने के लिए पर्यटन और प्रचार द्वारा जनता को प्रोत्साहित करता था। एक बार वह अपने इसी कार्य के लिए बाहर गया और जब लौटकर आया तो उसे पता चला कि उस समय तक उसके भाई 'टायफोन' ने राजद्रोह फैला दिया है। उसी टायफोन ने चालाकी से एक घनमांड में ओसिरिस को बंद करा दिया और उस पर पिघला हुआ शीशा उड़ेलकर नील नदी में बहा दिया। ओसिरिस की पत्नी आइसिस ने उस धन भांड को फिनीशिया देश में पाया, और उसे छुपाकर अपने पुत्र होरस से मिलने चली गई। टायफोन ने ओसिरिस का शव खोज निकाला और उसके २६ टुकड़े कर इधर-उधर फेंक दिये। आइसिस ने बड़े यत्न से ओसिरिस के शरीर से २५ टुकड़े खोजे और उनके स्मारक बनवाये। केवल ओसिरिस के शिश्नवाला अंश नहीं मिला, इसलिये उसने अंजीर के काष्ठ का एक लिंग (Phallus) बनवाया और उसकी पूजा के लिये विशिष्ट आदेश प्रसारित किया। इस तरह मिस्त्र में लिंगोपासना शुरू हुई और लगभग ईसा की चौथी शताब्दी तक यह लिंगोपासना कामुक वृत्ति और और अपवित्र विचारों से रहित दशा में विद्यमान रही।[1]

हमारी दृष्टि से मिस्त्र की यह लिंगोपासना देवता के स्थूल शरीरावयव के प्रति श्रद्धा-भक्ति का परिचय देती है। इसमें आध्यात्मिकता जैसी कोई विशेषता नजर नहीं आती। फिर भी इस लिंगोपासना को ओसिरिस (पति) के प्रति आइसीस (पत्नी) के प्रेम का द्योतक मानकर मधुरोपासना के अन्तर्गत लिया तो जा सकता है, किन्तु

1. A short History of Sex Worship : Hc. Cutner; Page 7-8

लिंगोपासकों की दृष्टि में लिंग के प्रति मधुर सम्बन्ध की कल्पना इसमें नहीं प्रतीत होती । संभवतः वहाँ पूज्य बुद्धि ही कार्य करती है ।

ईसाइयों का आध्यात्मिक विवाह

ईसाइयों के धर्म-ग्रन्थ बाइबिल (ओल्ड टेस्टामेण्ट) में सालोमन के गीतों में ईश्वर के प्रति जीवात्मा का विशुद्ध प्रेम मूलक भक्ति-भाव बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त हुआ है। संत सालोमन कहते हैं– "उसे स्वयं, अपने मुख से, मुझे चूम लेने दो,"[१] "मेरे प्रियतम ने मुझसे कहा—मेरी प्रेम-पात्री, मेरी सुन्दरी, उठो और चली आओ,"[२] "मैं अपने प्रियतम की हूँ और उसकी इच्छा मेरे प्रीति है, अर्थात् वह मेरी ओर चाह भरी दृष्टि से उन्मुख है ।"[३]

इन भावों में निस्संदेह दाम्पत्य-भाव झलकता है, किन्तु इसमें लौकिकता का अंश नहीं है । संत बर्नार्ड (सन् १०९० से ११५३ ई०) ने उक्त अंशों में से प्रथम उक्ति के आधार पर जीवात्मा को 'पत्नी' और ईश्वर को 'पति' माना है ।[४] इस तरह से सालोमन का प्रणय-निवेदन एक आध्यात्मिक रूपक है, जो रहस्यवादी भी बन गया है ।

परवर्ती काल के ईसाई सन्तों की कृतियों में ईश्वर के साथ आध्यात्मिक विवाह की भी चर्चा की गई है, जिसमें मँगनी (Betrothal) विवाह (Marriage), ग्रंथिबन्धन (Wedlock) एवं संयोग (Copulation) द्वारा जीवात्मा और परमात्मा का प्रेम और विवाह वर्णित है । सेंट जान आफ रूइस ब्रोक (सन् १२९३-१३८१) ने दुलहा परमात्मा और दुलहिन जीवात्मा के बीच विरहावस्था की दशा को 'अंधेरी रात' (Dark night) कहा है । सेंट टेरेसा (सन् १५१५-१५८२) ने अपने आपको परमात्मा की दुलहिन माना है । एक नारी होने के कारण उसकी अनुभूतियों में माधुर्य भाव का अच्छा निखार पाया जाता है । उसका कहना है कि जिस समय परमात्मा जीवात्मा का आलिंगन कर लेता है, इसकी सारी सुध-बुध खो जाती है और यह सच-

---

१. The Books of the old testament : The Songs of Solomon Chapter 1 : 2.

२. Ibid. Chapter 2-10

३. Ibid. Chapter 7-10

४. Mysticism. Evelyn Underhill. Page 137-138.

मुच उसमें मिल जाता है[1]।' सेंट टेरेसा के अनुयायी सेंट जान आफ दि क्रास (सन् १५४२-९१) ने भी इसी भक्ति-साधना का विवेचन किया है।

ईसाइयों के आध्यात्मिक विवाह में माधुर्य-भाव जीवात्मा और परमात्मा के दाम्पत्य भाव को लेकर चला है। उसमें भी विरह-मिलन के बड़े सजीव चित्र पाये जाते हैं। ईश्वरीय प्रेम-पंथ और उनकी कठिनाइयाँ भी ईसाई सन्तों ने आध्यात्मिक धरातल पर निरूपित की हैं, जिनसे उनकी मधुरोपासना में बड़ी स्वाभाविकता और सरसता पाई जाती है।

सूफी-साधकों का दाम्पत्य-भाव

सूफी-साधकों की दृष्टि में जीवात्मा (प्रेमी) और परमात्मा (प्रेयसि) है। उनकी यह धारणा ईसाई-सन्तों और भारतीय मधुरोपासक भक्तों के बिल्कुल प्रतिकूल है, फिर भी पति-पत्नी का प्रेम-भाव उनकी साधना में यत्र-तत्र व्यक्तिगत रूपों में भी पाया जाता है। बसरा की राबिया और भारत के मूसाशाही सुहाग और पीर बुल्लेशाह ऐसे ही सूफी थे।

सूफी साधकों में दाम्पत्य-भाव का सर्वश्रेष्ठ रूप बसरा की सुप्रसिद्ध साधिका राबिया के जीवन में पाया जाता है। वह 'खुदा' के प्रति पूर्णतः पति-भाव से आसक्त थी। उसमें परमेश्वर के प्रति आत्मसमर्पण का भाव था और वह उसकी मधुर सुधि में भी सदा लीन रहती थी। एक बार सूफी सन्त हसन बसरी ने उससे पूछा कि वह अपना विवाह क्यों नहीं कर लेती ?

राबिया ने उत्तर दिया—"विवाह तो शरीर का हुआ करता है, जो मेरा है ही नहीं। वह मेरे मन के साथ-साथ अपने प्रभु के चरणों में अर्पित हो चुका है। अब यह सर्वथा उसी के आधीन है और उसी के उपयोग का भी है। उसी के साथ मेरा विवाह भी हो गया है।[2]"

राबिया का यह आत्म-समर्पण, परमेश्वर से प्रेम, विवाह और उसी की सुधि में लीन रहने का भाव बहुत कुछ मीरां के जीवन और भक्ति-भाव से साम्य रखता है।

प्रसिद्ध सूफी संत जलालुद्दीन के शिष्य मूसाशाही सुहाग, 'मूसा सुहागिया' उपसम्प्रदाय के प्रणेता थे। वे बड़े उच्चकोटि के साधक थे और अपनी साधना के लिये वेशभूषा बदलकर हिजड़ों के बीच में अपना जीवन बिताते थे।

---
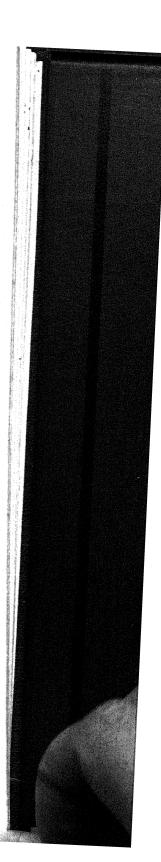
१. भक्ति-साहित्य में मधुरोपासना—श्री परशुराम चतुर्वेदी, पृष्ठ २१

२. Rabia, the Mystic—Margaret Smith, page 30:

पीर शाह इनायत के शिष्य बुल्लेशाह भी स्त्रियों की वेषभूषा में 'प्रियतम' परमात्मा व पीर के प्रति विरह-भाव से परिपूर्ण 'काफी' के पद सुनाते फिरते थे। ये सूफी साधक, भाव-जगत में अवश्य माधुर्य-भाव से प्रेरित थे, किन्तु उनके आचार-शास्त्र और अभिव्यंजन में वह स्वाभाविकता नहीं दिखती जो राबिया की विशेषता थी।

भारतीय शैवों की लिंगोपासना

भारतवर्ष में 'लिंगायत सम्प्रदाय' के अनुयायी शिव-लिंगों के उपासक हैं और छोटे-छोटे शिव-लिंगों को शरीर पर भी धारण करते हैं। यों ऋग्वेद (७:२१:५) में शिश्न देवा: शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसके आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वैदिक काल में भी लिंगोपासकों का कोई वर्ग या सम्प्रदाय रहा होगा जिसके उपासक निम्न श्रेणी के व्यक्ति रहे होंगे। श्री केदारनाथ शास्त्री का अनुमान है कि सिन्धु-सभ्यता वाले प्राचीन भारतीयों को लिंग-पूजने का ज्ञान अवश्य था, क्योंकि पत्थर के बड़े अण्डाकार लिंग, जो वहाँ मिले हैं, वे निस्सन्देह ऐसी पूजा में व्यवहृत होते रहे होंगे।[१] शिव लिंग की पूजा अभी भी भारत के विभिन्न स्थानों पर विधिवत् होती है, किन्तु लिंगोपासकों में अपनी वैयक्तिक मधुर-भाव-पूर्ण कान्तासक्ति नहीं होती। भारतीय शिवलिंग, शिव के रूप में ही पूजित हैं।

भारतीय मधुरोपासक धर्म साधनायें

भारतीय मधुरोपासकों में सामान्यत: जीवात्मा को नारी और परमात्मा को पुरुष मानकर उनमें दाम्पत्य-भाव से प्रणय-संबंध का ज्ञापन किया जाता है, किन्तु दक्षिण भारत में मदुरा के निकट 'तिरुवादउर' के निवासी शैव मतानुयायी सन्त माणिक्क वाचकर् ने 'तिरुक्कोवै' नामक ग्रंथ में नायक और नायिका की प्रेम कहानी के रूप में अपनी प्रेमाभक्ति और प्रेम साधना अपने आराध्य के प्रति व्यक्त की है, किन्तु उन्होंने जीवात्मा को प्रेमी और परमात्मा को प्रेमिका के रूप में चित्रित किया है, जिससे उनकी साधना-सूफियों की प्रेम-साधना से मिलती-जुलती है। "प्राचीन तमिल काव्य में सूफी मत की यह छाया आश्चर्यजनक है।[२]

माणिक्क वाचकर् की ही भाँति मराठी के सुप्रसिद्ध भक्त कवि देवनाथ (सन् १७५४-१८२१ ई०) ने भी सूफी पद्धति के अनुसार श्रीकृष्ण का रूप वर्णन प्रेयसी सा किया है। उनके विरह-प्रदर्शन और उपालम्भों में भी ऐसा लगता है जैसे वे पुरुष हैं और उनके आराध्य कृष्ण नारी या प्रेयसी।[३]

---

१. हड़प्पा: केदारनाथ शास्त्री, पृष्ठ ६४

२. तमिल और उसका साहित्य—श्रीपूर्ण सोमसुन्दरम्, पृष्ठ ५०—५२

३. मराठी साहित्यांतील मधुरा भक्ति-डॉ० प्रह्लाद नरहरि जोशी, पृष्ठ ६४-६५

भारतीय मधुरसाधना की दृष्टि से माणिक्क वाचकर और देवनाथ की भक्ति-साधना मेल नहीं खाती । उनकी साधना-पद्धति का स्वरूप इस्लाम की मधुरोपासना से अधिक मिलता-जुलता है ।

बौद्धों की धर्म-साधना में भी पुरुष की ओर से स्त्री की ओर मिलन-भाव से अग्रसर होने वाली साधनायें विद्यमान थीं । सिद्धों की योगिनी साधना, युद्ध-नद्ध की उपासना या महामुद्रा साधना भी दाम्पत्य सम्बन्धों की ही द्योतक हैं, उनमें भी 'नारीत्व' और 'पुरुषत्व' के मिलन का दिग्दर्शन साधनात्मक प्रणालियों द्वारा निरूपित किया गया है । इसी प्रकार से वामाचार प्रधान तंत्र साधनायें भी काम तत्व पर अवलम्बित हैं, किन्तु साधकों की काम वासना से इन साधनाओं का क्रियात्मक रूप कालान्तर में अपनी उच्च भाव-भूमि से गिरकर लौकिक भोगानंद में परिणत हो गया, अतः ये साधनायें फलवती नहीं हुई । साधकों के नैतिक पक्ष की कमजोरी और आचरण की हीनता इन साधनाओं को ले डूबीं ।

दक्षिण भारत के मधुरोपासक भक्त

दक्षिण भारत के मधुरोपासक भक्तों का स्मरण करते ही सबसे पहले हमारा ध्यान आळवार भक्तों की ओर जाता है और उन में भी आण्डाल का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है । वह पेरिय या विष्णुचित आंळवार की पोषिता पुत्री थी, जो एक दिन उन्हें वटपत्रशायी भगवान की पूजा के लिये पुष्प-चयन करते समय तुलसी-के 'बिरवा' के निकट मिली थी । पेरिय आळवार ने उस सुन्दर बालिका का नाम 'कोदई' अर्थात् 'पुष्पमाला सी कमनीय' रखा । बड़ी होने पर कोदह, गौदा, आण्डाल कोदे या चूड़िकुडत्थनाचियार नामों से पुकारी गई । गोदा का अर्थ है 'भगवान को अपनी वाणी अर्पित करने वाली, और आण्डाल का अर्थ है 'शासन करने वाली' । आण्डाल ने आजीवन अपनी वाणी भगवान को अर्पित की और वह आज भी दक्षिण के जन-मानस पर भक्तात्मा की भाँति शासन करती है । लोग उसकी पूजा भी करते हैं ।

कहा जाता है कि आण्डाल भगवान रंगनाथ के लिये पुष्पमालायें बनाने से बाद स्वयं उन्हें पहन लेती थी और बाद में वे मालायें श्री रंगनाथ जी को अर्पित की जाती थीं । पेरिय आळवार ने इस व्यवहार पर आण्डाल को डाँटा और निकट भविष्य में मालायें स्वयं न पहनने का आदेश दिया । भगवान से स्वप्न में आदेश पाकर पेरिय आळवार ने आण्डाल को पुनः अपनी उतरी हुई मालायें श्री रंगनाथ को पहनाने की अनुमति दे दी । इस घटना से आण्डाल के मन में श्री रंगनाथ जी के प्रति दाम्पत्य भाव पैदा हुआ और उसने विवाह की चर्चा चलने पर पेरिय आळवार से कहा कि भगवान रंगनाथ के अदिरिक्त वह किसी का भी वरण नहीं करेगी । पेरिय आळवार ने
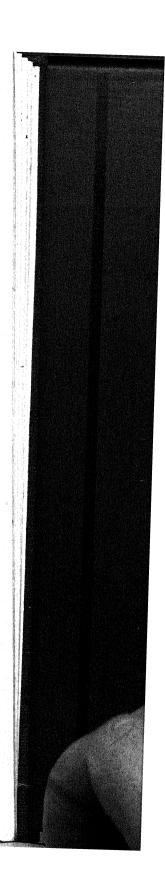
अन्ततः एक दिन आंडाल का विवाह विधिवत् श्री रंगनाथ जी से कर दिया और आण्डाल मंदिर में भगवान की मूर्ति से मिलते ही अन्तर्ध्यान हो गई। लोग कहते हैं कि वह रंगनाथ जी की मूर्ति में समा गई। इस दृष्टि से आण्डाल और मीरां के जीवन और भक्ति-भाव में अभूतपूर्व साम्य है।

आण्डाल और मीराँ का तुलनात्मक अध्ययन

आण्डाल और मीरां दोनों ही अपने इष्टदेव के प्रति कान्तासक्ति से प्रेम करती थी। दोनों ने श्रीकृष्ण को पति-रूप में स्वीकार किया था। आण्डाल अपने आपको 'गोपी' का अवतार मानती थी, और 'मीरां' ने अपने आपको 'राधा' का अवतार कहा है। दोनों का परिणय स्वप्न में हुआ था। स्वप्न में भी आण्डाल का विवाह वैदिक पद्धति से हुआ था। उसने पण्डितों द्वारा वैदिक मन्त्रों के उच्चारण तथा पवित्र नदियों के जल आदि की भी चर्चा की है। उसके आराध्य इन्द्रादि देवताओं के साथ हजारों हाथियों पर बारात लेकर आये थे,[1] जबकि मीरां के विवाह में भगवान ने स्वप्न में ही 'तोरण मारा' था और स्वप्न में ही मीरां का हाथ पकड़ा था। मीरां के विवाहोत्सव में छप्पन करोड़ बराती आये थे, किन्तु आण्डाल सशरीर विधिवत् श्री रंगनाथ जी से विवाहित थी, जबकि मीरां का किसी मूर्ति से लौकिक पद्धति के अनुसार विवाह नहीं हुआ था।

आण्डाल और मीरां, दोनों ने अपने आध्यात्मिक पति का परिचय नन्द-यशोदा द्वारा पोषित कृष्ण के ही रूप में नहीं दिया है, अपितु उन्होंने नन्द-यशोदा-पुत्र मानते हुये श्रीकृष्ण को भगवान विष्णु का अवतार माना है। आण्डाल ने कमल नयन, चन्द्र-मुख और सूर्य से दीप्तिमान् कृष्ण को नन्द-यशोदा का पुत्र तो कहा है,[2] किन्तु साथ ही साथ उन्हें शेष नाग की शैय्या पर सोने वाला नारायण [3] वासुदेव-पुत्र[4] आदि रूपों में भी स्मरण किया है उसने कृष्ण को देवाधिदेव,[5] और तीन पगों में संसार को नापने वाला, लंकेश संहारक,[6] आदि कहकर विष्णु और राम के रूप में भी उन्हें स्मरण

---

१. नित्यानुसंधानम्-सम्पादक कृष्णामाचार्यस्वामिगल-''नाचियारतिरुमोळी के छटवें अध्याय 'वारणम आयिरम्' से पृष्ठ ३६-३७
२. तिरुप्पावइ : प्रकाशक पी० एल० अरुणाचल मुदालियर, पृष्ठ २६, पद १
३. वही ,, ३०, पद २
४. वही ,, ३२, पद ५
५. वही ,, ४२, पद २०
६. वही ,, ४४-४५ पद २४

किया है। मीरां ने भी अपने आराध्य को विष्णु और राम के रूपों में स्वीकारा है। इस तरह से आण्डाल और मीरां के आराध्य तत्वतः परमब्रह्म भगवान विष्णु हैं, अतः वे दोनों वैष्णवी मानी जा सकती हैं। दोनों ने बहुलांश में विष्णु के कृष्ण रूप के गुण, अवतार और शक्ति की गाथायें गाई हैं।

आण्डाल गोपी-भाव से भगवान कृष्ण का सान्निध्य और उनके साथ क्रीड़ायें करने की लालसा करती है। वह अनेक (दस) सखियों को जगाकर प्रातः काल भगवान कृष्ण को जगाने जाती है।[1] नन्द, यशोदा और बलदेव को जगाती है।[2] आण्डाल ने नन्दकुमार कृष्ण की एक परम रूपवती, चन्द्रवदना, मधुर, अधर, अतिकोमल उरोज और क्षीण कटिवाली पत्नी 'नप्पिनइ' की भी चर्चा की है। आण्डाल लिखती है कि वह नप्पिनइ दीप से आलोकित प्रकोष्ठ में कोमल सेज पर आँखों में काजल और वेणी में फूल लगाकर कृष्ण के साथ सोई है और कृष्ण उसके उरोजों को हाथों से.... आदि आदि। ऐसी शृंगारिक घटना और दृश्य विधानों का भी आण्डाल निस्संकोच वर्णन करती है,[3] किन्तु मीरां की शालीनतापूर्ण काव्य-धारा में एक भी ऐसा प्रसंग ढूंढना दुष्कर है जिसमें काम-कला का संकेत या प्रणय-कीड़ाओं की शारीरिक चेष्टाओं का भाव हो। मीरा का पत्नि-भाव कुलीन जीवन-संगिनी का परिचायक है, पर आण्डाल में ऐसी बात नहीं है। आण्डाल के कुछेक पद अति शृंगारिक हैं।

कृष्णोपासक तथा अन्य भक्तों की माधुरी भक्ति और मीरां की मधुरा भक्ति

चण्डीदास, विद्यापति, चैतन्य आदि ने भी राधा-माधव के प्रेम-परक पदों में दोनों के प्रणय सम्बन्धों की गाथा गाई है। अष्टछाप के कवियों ने भी अष्टसखीन के रूप में कृष्ण के प्रति अपना प्रेम-निवेदन प्रेषित किया है, किन्तु इन कवियों की प्रेम-भावना परोक्षानुभूति का प्रकाशन मात्र है। वे गोपी-भाव या राधा-भाव के उपासक हैं, अतः उन्होंने अपने आपको कृष्ण की पत्नी नहीं माना है। यों उनके पदों में प्रेमतत्व के संयोग और वियोग का बड़ा मार्मिक विवेचन है, किन्तु इसमें भी उनकी आत्मा की बेकली राधा और गोपियों द्वारा व्यक्त हुई है, अतः उनकी

१. तिरुप्पावइ, प्रकाशक पी० एल० अरुणाचल मुदालियर, पृष्ठ ३८-३९, पद ६ से १५

२. वही, पृष्ठ ४०, पद १७

३. वही, पृष्ठ ४०-४१ पद १८-१९

भक्ति प्रेमा-भक्ति भले ही कही जाय, किन्तु उसकी तुलना मीरां की माधुरी-भक्ति से नहीं की जा सकती ।

यही स्थिति कबीर और जायसी की है । कबीर के अनेक पदों और दोहों में जीव-ब्रह्म सम्बन्ध पत्नी-पति के रूपकों में मुखर हुआ है, किन्तु 'राम मोर पिउ, मैं राम की बहुरिया' कहने पर भी "निर्गुन सरगुन से परे' राम के प्रति कबीर का प्रणय-निवेदन आध्यात्मिक रूपक बनकर रह गया है। भला निर्गुण, निराकार, मन, वाणी और बुद्धि से परे अनिर्वचनीय 'ब्रह्म' के प्रति दाम्पत्य भाव में 'सत्य', 'सशक्त' और 'कल्पना' अशक्त कैसे हो सकती है ? इसीलिए कबीर का प्रणय-निवेदन 'माधुरी-भक्ति' न होकर 'आध्यात्मिक रूपक' ही उचित प्रतीत होता है । सूफियों के प्रेम और विरह-वर्णन में भी प्रेम कथाओं द्वारा सूफी-दर्शन के सिद्धांतों का प्रचार किया गया है । उनमें सूफी-साहित्य के प्रणेताओं की आत्मपुकार उस रूप में नहीं पाई जाती, जैसी मीरां के काव्य में नैसर्गिक रूप में विद्यमान है । अतः निर्गुणिया सन्तों और सूफी-साहित्य के प्रणेताओं से भक्ति-साधना के आधार पर मीरां की तुलना करना उचित प्रतीत नहीं होता ।

माधुरी भक्ति में मीरां का प्रदेय

मीरां ने अपने आराध्य, इष्टदेव कृष्ण को अपना पति माना था और वे कान्ता भाव से उनकी ही प्राप्ति के लिए आजीवन साधना करती रहीं । उनके इस मधुर सम्बन्ध में कोई माध्यम न था । उनका और कृष्ण का बिल्कुल प्रत्यक्ष सम्बन्ध था । ईसाई संत टेरेसा, और सूफी संत राबिया, तथा भारत की आण्डाल में भी जीवात्मा और परमात्मा का सम्बन्ध पत्नि-पति भाव का है और वह उनके काव्य में बहुत सरस और स्वाभाविक रूपों में निरूपित भी हुआ है, किन्तु टेरेसा, राबिया और आण्डाल पारिवारिक प्रताड़नाओं और लौकिक क्लेशो की शिकार उतनी नही हुई जितनी कि मीरां । मीरां की माधुरी भक्ति संघर्षों की ज्वाला में तिल-तिल जलकर निखरी है । अपनी जीवात्मा के परमात्मा के प्रति मधुर सम्बन्ध की मान्यता के लिये मीरां ने जो प्राणान्तक यातनायें सही हैं, वैसी विश्व के किसी भी मधुरोपासक सन्त अथवा भक्त ने नहीं सही । जीव-ब्रह्म सम्बन्ध की आध्यात्मिक स्वीकृति के लिये प्राणों का भी मोह न करने वालों में मीरां का स्थान मंसूर के समकक्ष है । मंसूर की फांसी और मीरां का विष पान एक ही श्रेणी की परीक्षायें हैं । उधर मंसूर प्राण देकर भी अपने सिद्धान्त से से नहीं हटा और इधर विष मीरां को उसकी साधना से विचलित नहीं कर सका ।

मीरां के पद

मीरां के अधिकांश पद माधुर्य-भक्ति-भाव से सराबोर हैं । वे आत्मा की स्वा-

नुभूति-परक अभिव्यक्ति हैं । उनमें प्रेम-विरह और आत्मनिवेदन स्वाभाविक और सहज रूप में विद्यमान है । इसीलिए उनका प्रभाव बहुत गहरा पड़ता है । वे मानवीय संवेदना और अनुभूति की पावन धरोहर हैं और भक्ति-तत्व के संयोजन से उनका मूल्य और भी बढ़ गया है । मीरां के जीवन काल में ही उनके पदों की ख्याति हो गई थी । तथा वल्लभ सम्प्रदाय द्वारा मीरां को पुष्टि मार्ग पर लाने के लिये भी प्रयत्न किये गये थे, किन्तु मीरां साम्प्रदायिक बन्धनों में नहीं जकड़ी जा सकी । उन्होंने किसी भी सम्प्रदाय या गुरु विशेष से कोई सम्बन्ध नहीं रखा, और न अपना सम्प्रदाय ही चलाया । वे 'कृष्ण' की थीं, कृष्ण 'उनके' थे । इतना ही एकमात्र सत्य था, अतः मीरां के पद किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बद्ध नहीं थे । और इसीलिए किसी सम्प्रदाय ने उनके मूल पद लिखकर सुरक्षित नहीं रखे ।

जो किसी का नहीं होता, उसपर सबका अधिकार होता है । यही स्थिति मीरां के पदों की हुई । निर्गुण, सगुण, सूफी, नाथ, वल्लभ, रैदासी, चैतन्य, रामानंदी आदि अनेक सम्प्रदायों के अनुयायी भक्तों और सन्तों ने मीरां के पदों को बार-बार देश-काल वातावरण सापेक्ष रूपों में ढाला । अनेक गायकों और भक्तों ने मीरां के नाम पर पंजाबी बिहारी भोजपुरी, राजस्थानी, हिन्दी, गुजराती, ब्रज, भाषाओं व खड़ी बोली में पद रचे और 'मीरां' की छाप लगाकर उन्हें मीरां के ही नाम से चला दिया । गेय परम्परा में लिखित प्रमाण का अभाव इन्हीं पदों को प्रमाणिक सिद्ध करता रहा और कालान्तर में इन्हीं पदों पर मीरां के जीवन, भक्ति-भाव आदि की चर्चायें हुई, तर्क-वितर्क छिड़े, पद-संग्रह छपे और आलोचनात्मक निबन्ध-प्रबन्ध लिखे गये । जिनमें परस्पर विरोधी मान्यतायें और धारणायें भी समाविष्ट हुई ।

हस्तलिखित गुटकों में भी प्रान्तीय भाषाओं से प्रभावित और गुटका लेखकों की स्मृति से लिखित पद पाये गये जिनमें भाव और भाषा की भारी अशुद्धियाँ हैं । अद्यावधि मीरां के १०३ पद ही प्रामाणिक हैं, जो सबसे पहले श्री ललिताप्रसाद जी शुकुल द्वारा मीरा-स्मृति ग्रंथ में प्रकाशित कराये गये थे । इन पदों की प्रामाणिकता पर आज तक कोई भी विरोधात्मक मत नहीं मिला है । मीरां के ये मूल पद वास्तव में मीरां के जीवन, भक्ति-भाव और काव्य-साधना के द्योतक हैं ।

पद-साहित्य में मीरां का प्रदेय

दाम्पत्य-भाव की आध्यात्मिक साधना में मीरां-पद-साहित्य की सबसे बड़ी देन यह है कि इन पदों ने शंकराचार्य की दिग्विजय की तरह मीरां-भाव की भारत विजय निश्चित सी कर दी है । सारे भारतवर्ष में मीरां के पद घर-घर में, संगीत-समाज और मंदिरों में भजन, कीर्तन, पूजा में गाये जाते हैं । उन्होंने सभी सम्प्रदायों और

विविध भाषा-भाषी जनों को 'मीरां-भाव' से रंगा है, जिसके फलस्वरूप अनेक सम्प्रदायों में मीरां के नाम पर पदों की सृष्टि हुई, जो 'मीरां-सुधा-सिंधु' में भी पूर्णतः नहीं समा पाई है। गेय परम्परा में 'मीरां-भाव' के अनेक पद रचे गये हैं और रचे जा रहे हैं। इन्दिरा द्वारा रचे गये सैकड़ों पद 'मीरां' के काव्यात्मक और भक्त्यात्मक प्रभावशाली व्यक्तित्व के द्योतक हैं, जिनसे पता चलता है कि मीरां के नाम पर अन्य प्रक्षिप्त पदों की रचना विगत वर्षों में किस प्रकार हुई है ?

अन्ततः मीरां के काव्य के संबंध में आज से दो हजार वर्ष पूर्व की ग्रीक कवयित्री सेफो के निमित्त कहे गये शब्द अक्षरशः सत्य प्रतीत होते हैं। सेफो की ही तरह हम मीरां के विषय में भी कह सकते हैं कि मीरां—

"गीति-वेदना-सौख्य-मग्न, थी प्रेम-पुजारिन ।
प्रेम सौख्य-वेदना विकल, थी गीत पुजारिन ।।"[1]

---

१. मीरांबाई की पदावली-श्री परशुराम जी चतुर्वेदी, पृष्ठ ८४. पर उद्धृत.

परिशिष्ट

सन्दर्भ-साहित्य-सूची

परिशिष्ट (क)

संस्कृत के ग्रंथ

१-वेद : ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, यजुर्वेद

२-पुराण : श्रीमद्भागवत पुराण, संस्कृत भविष्य महापुराण

३-उपनिषद् : छान्दोग्य उपनिषद्, तैत्तिरीय उपनिषद्, मुण्डकोपनिषद् वृहदारण्यक उपनिषद

४-संहिता : तैत्तिरीय संहिता, अहिर्बुध्न्य संहिता

५-आरण्यक : तैत्तिरीय आरण्यक
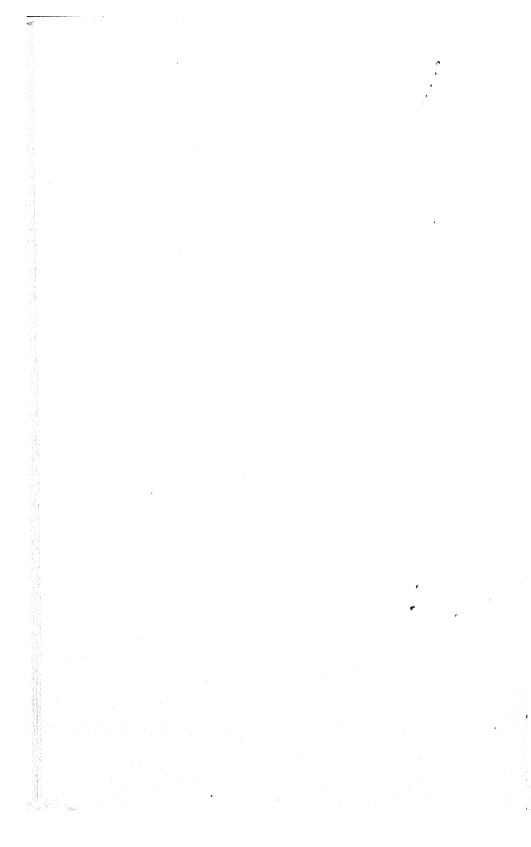
६-ब्राह्मण : शतपथ ब्राह्मण, एतरेय ब्राह्मण, कौशीतकी ब्राह्मण

७-महाभारत

८-श्रीमद्भगवद्गीता

९-भरत मुनि : नाट्य शास्त्र

१०-नारद : नारद-भक्ति-सूत्र

११-शांडिल्य : शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र

१२-भवभूति : उत्तर रामचरित

१३-मम्मट : काव्य-प्रकाश

१४-विश्वनाथ कविराज : साहित्य-दर्पण

१५-पं० राज जगन्नाथ : रस गंगाधर

१६-रुय्यक और मंखुक : अलंकार-सर्वस्व

१७-केशव मिश्र : अलंकार-शेखर

१८-दण्डी : काव्यादर्श

१९-भामह : काव्यालंकार

२०-वामन : काव्यालंकार-सूत्र-वृत्ति

२१-अप्पय दीक्षित : कुवलयानन्द

२२-जयदेव : चन्द्रालोक

२३-आनंदवर्धन : ध्वन्यालोक

२४-उद्भट : अलंकार-सार-संग्रह

२५-रुद्रट : काव्यालंकार

२६-राजशेखर : काव्य-मीमांसा
२७-कुतंक : वक्रोक्ति जीवितम्
२८-धनञ्जय : दश रूपक
२६-भोज : सरस्वती-कण्ठाभरण
३०-भानुदत्त : रसमंजरी
३१-कालिदास : रघुवंश
३२-जयदेव : गीत गोविन्द
३३-निम्बार्काचार्य : दशश्लोकी
३४-मैथिल द्विज : भक्ति-माहात्म्य-चरित्रम्

परिशिष्ट (ख)

हिन्दी के ग्रंथ

१-अमृतसर से प्रकाशित : भजन मीराबाई
२-अयोध्यासिंह उपाध्याय : कबीर-वचनावली
३-(स्वामी) आनंदस्वरूप : मीराँ-सुधा-लहरी
४- ,, : मीराँ-सुधा-सिन्धु
५-उदयसिंह भटनागर : राजस्थानी में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज (तृतीय भाग)
६-'कण्टक जी' (रामलोचनशर्मा) : मीरां की प्रेमवाणी
७-कार्तिकप्रसाद खत्री : मीराँबाई का जीवन-चरित्र
८-कृष्णानन्द व्यास 'रागसागर' : राग कल्पद्रुम, भाग १-२
६-कृष्णप्रसाद भट्ट : मीरांबाई
१०-काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित : तुलसी-ग्रन्थावली
११-कन्हैयालाल पौद्दार : काव्य-कल्पद्रुम
१२-केदारनाथ शास्त्री : हड़प्पा
१३-गोसाईं गोकुलनाथ द्वारा रचित : चौरासी वैष्णवन की वार्ता (डाकोर संस्करण)
१४- ,, : दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता (डाकोर संस्करण)

१५-गौरीशंकर हीराचन्द ओझा : राजपूताने का इतिहास

१६- ,, : जोधपुर राज्य का इतिहास

१७- ,, : मेवाड़ का इतिहास

१८- ,, : उदयपुर राज्य का इतिहास

१९-गोकुलचन्द शास्त्री 'शास्त्री' : मीरा मौलिक नाटक

२०-चरणदास : शबद

२१-डॉ० छोटेलाल 'प्रभात' : मीरांबाई

२२-ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' : स्त्री कवि-कौमुदी

२३-जगदीशसिंह गहलौत : मारवाड़ राज्य का इतिहास

२४-डाबर डॉ० एस० के बर्मन द्वारा प्रकाशित : डाबर गीतावली

२५-देवीप्रसाद मुंसिफ : मीरांबाई का जीवन चरित्र (सम्पादक-आचार्य ललिता प्रसाद शुक्ल)

२६- ,, : महिला मृदुवाणी

२७-दयाशंकर दुबे : भक्त मीराबाई

२८-डॉ० दीनदयाल गुप्त : अष्टछाप और बल्लभ-सम्प्रदाय

२९-दयादास : विनयमालिका

३०-ध्रुवदास : भक्त नामावली

३१-नरोत्तमदास स्वामी : मीरा-मन्दाकिनी

३२-नागरीदास : पद-प्रसंग-माला

३३-नाभादास : भक्तमाल (टीकाकार-प्रियादास)

३४-नन्दराम : बारहमासा

३५-आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य

३६- ,, : सूरसागर

३७- ,, : महाकवि सूरदास

३८-परशुराम चतुर्वेदी : मीराँबाई की पदावली

३९- ,, : वैष्णव-धर्म

४०- ,, : भक्ति साहित्य में मधुरोपासना

४१-परमेश्वर द्विरेफ : मीरां (महाकाव्य)

४२-पद्मावती 'शबनम' : मीरा-वृहत-पद-संग्रह

४३- ,, : मीरां : एक अध्ययन

४४-पीताम्बरदत्त बड्थ्वाल : योग-प्रवाह
४५-पूर्णसोम सुन्दरम : तमिल और उसका साहित्य
४६-फर्रुखाबाद से प्रकाशित : भजन मीरांबाई
४७-बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित : मीराबाई की शब्दावली
४८-ब्रजरत्नदास : मीराँ-माधुरी
४९-बंगीय हिन्दी परिषद, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित : मीरा स्मृति-ग्रन्थ
५०-बुलाखीराम रणछोड़ पण्डया : डाकोर-माहात्म्य
५१-भक्तराम : राग रत्नाकर तथा भक्त चिंतामणि
५२-भुवनेश्वर मिश्र 'माधव' : मीरा की प्रेम साधना
५३-भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : भक्तमाल उत्तरार्द्ध
५४-भगवानदास तिवारी : श्री समर्थरामदास : जीवनी और तत्वज्ञान
५५-लाला भगवानदीन : अलंकार-मंजूषा
५६-मुरलीधर श्रीवास्तव : मीरांबाई का काव्य
५७- ,, : मीरां-दर्शन
५८- महावीर सिंह गहलौत : मीराँ-जीवनी और काव्य
५९-मिश्र बन्धु : मिश्र-बन्धु विनोद
६०-महाराजा प्रतापसिंह : ब्रजनिधि-ग्रन्थावली
६१-मनोहर लाल मिश्र : मीराबाई के भजन
६२-डॉ० मुंशीराम शर्मा : भक्ति का विकास
६३-महाराज रघुराजसिंह : राम रसिकावली
६४-मूता नेणसी की ख्यात
६५-मुहणोत नेणसी की ख्यात
६६-रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास
६७- ,, : रस-मीमांसा
६८-रघुनाथप्रसाद सिंहानिया : मारवाड़ी भजन सागर
६९-रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' : मीरा-माधुरी
७०- ,, : अलंकार पीयूष
७१-रामकुमार वर्मा : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास

७२-रामलाल : भारत के सन्त-महात्मा

७३-राघव दास : भक्तमाल (टीका चतुरदास कृत)

७४-राहुल सांकृत्यायन : हिन्दी-काव्य-धारा

७५-रामवृक्ष बेनीपुरी : विद्यापति-पदावली

७६-लीथो छापा : भजन-संग्रह

७७-वेणी माधवदास : मूलगोसाईं चरित

७८-डॉ० विमला गौड़ : मीरां के काव्य के मूल स्रोतों का अध्ययन

७९-वियोगी हरि : मीरां-सहजो-दया-पद-संग्रह

८०- ,, : भजन-संग्रह, भाग ३

८१-(श्रीमती) विष्णुकुमारी 'मंजु' श्रीवास्तव : मीरा की पदावली

८२-विश्वेश्वरनाथ रेऊ : भारत के प्राचीन राजवंश

८३-सदानन्द भारती : मीरा की पदावली

८४-सावित्री सिन्हा : मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ

८५-सिद्धेश्वर प्रेस काशी से प्रकाशित : मीराबाई के भजन

८६-सीताराम शरण भगवान प्रसाद रूपकला : भक्त माल सटीक

८७-शिवसिंह सेंगर : शिवसिंह सरोज

८८-शिवनन्दन सहाय : श्री गोस्वामी तुलसीदास

८९-श्यामापति पाण्डेय : मीरा

९०-महामहोपाध्याय कविराजा श्यामलदान जी : वीर-विनोद

९१-श्यामसुन्दरदास : कबीर-ग्रन्थावली

९२-शशिभूषण दास गुप्ता : राधा का क्रम-विकास

९३-श्याम काशी-प्रेस, मथुरा से प्रकाशित : भजन मीराबाई

९४-(श्रीमती) शकुन्तला दुबे : काव्य-रूपों के मूल स्रोत और उनका विकास

९५-डॉ० शिव प्रसाद सिंह : विद्यापति

९६-हरिनारायण पुरोहित : मीरां बृहत्पदावली, (प्रथम भाग)

९७-हरिप्रसाद भागीरथी : बृहद् भजन रत्नमाला या भजनावली

९८-हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य की भूमिका

९९- ,, : मध्यकालीन धर्म-साधना

१००-हिन्दी पुस्तकालय मथुरा से प्रकाशित : भजन मीरांबाई

१०१-हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, कलकत्ता से प्रकाशित : मीरांबाई के भजन

१०२-ज्ञानचंद जैन : मीराँ और उनकी प्रेमवाणी

१०३-श्रीकृष्ण लाल : मीराँबाई-जीवन चरित और आलोचना

पत्र-पत्रिकाएँ : कल्याण, हिन्दुस्थानी, सुधा, सरस्वती, वीणा, राजस्थान, नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, संत वाणी आदि ।

परिशिष्ट (ग)

गुजराती के ग्रंथ

१-इच्छाराम सूर्यकान्त देसाई : बृहद काव्य-दोहन

२-केशवराम काशीराम शास्त्री : कवि चरित्र, भाग १-२

३-कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी : नरसैया भक्त हरि नो

४-छगनलाल विद्याराम रावल : प्राचीन काव्य सुधा

५-तनसुखराम मनसुखराम त्रिपाठी : बृहद काव्य दोहन (भाग-७)

६-दुर्गाशंकर शास्त्री : वैष्णव धर्म नो संक्षिप्त इतिहास

७-दाजीराव माधवराव खेरे : मीरांबाना भजन

८-निर्मला लालबाई झावेरी : मीरां-जीवन अने कवन (अप्रकाशित)

९-गोकुलभाई पटेल : स्वर भार अने व्यापार

१०-हरसिद्ध भाई दिवेटिया : मीरांबाई नां भजनों

११-श्री मधुर : मीरां नी प्रेमवाणी

१२-शांतिलाल ठाकर : भक्त मीरा

१३-हरिहर पुस्तकालय, सूरत से प्रकाशित : संत समाज भजनावली

पत्र-पत्रिकाएँ : शारदा, सती-मण्डल

परिशिष्ट (घ)

मराठी के ग्रंथ

१-डा० प्रा० न० जोशी : मराठी-साहित्यांतील मधुराभक्ति

२-बम्बई सरकार द्वारा प्रकाशित : श्री तुकाराम बावाच्या अभंगाची गाथा

परिशिष्ट (ङ)
बंगला के ग्रंथ

१-वामदेवानन्द : मीरांबाई
२-भूमानन्द : बंग श्री मीरांबाई
३-भवानन्द स्वामी : मीरा
४-चैतन्य चरितामृत

परिशिष्ट (च)
तमिल के ग्रंथ

१-कृष्णामाचार्य स्वामिंगल द्वारा संपादित : नित्यानुसंथानम्
२-पी० एल० अरुणाचल मुदालियर द्वारा प्रकाशित : तिरुप्पावई-आण्डाल

परिशिष्ट (छ) हस्तलिखित प्रतियाँ

डाकोर और काशी की हस्तलिखित प्रतियाँ, रामद्वारा धौली बावड़ी, उदयपुर, राजकीय पुस्तकालय, जोधपुर, फॉबर्स गुजरात सभा, बम्बई तथा गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी, अहमदाबाद आदि।

टिप्पणी—हस्तलिखित प्रतियों का उल्लेख प्रबन्ध में यथास्थान कर दिया गया है।

परिशिष्ट (ज)
अंग्रेजी के ग्रंथ

1. Aurbindo Ghosh : Essays on Gita
2. Banke Bihari : The Story of Meerabai
2. The Bible : The Book of Old Testamant
4. Chintamani Vinayak Vaidya : Epic India
5. Diwanchand (Lala) : The Arya Samaj
6. Encyclopedia Britanica
7. Encyclopedia of Islam
8. Elizabeth Drew : Discovering Poetry
9. Ernest Rhys : Lyric Poetry
10. Evelyn Underhill : Mysticism

ərquehər : An outline of the Religious Literature of India

Gummer : Hand Book of Poetics

Palgrave : Golden Treasury

Tripathi : Classical Poets of Gujarat

ieorge Griyerson : The Modern Vernacular Literature of Hindusthan.

as Sarda : Ajmer

„ Maharana Sanga

əross : The Mystic teachings of the Hari Dasa's of Karnatak

tner : A short History of Sex Worship

orabji orewalla : Selections from Classical Gujarati Literature

uction to the Mystical Doctrine of St- John of the Cross.

Todd : Annels and Antiquities of Rajasthan

rinkwater : The Lyric

ies Jeans : Physics & Philosophy

Zaveri : Milestones in Gujarati Literature

Munshi : Gujarat and its Literature

urthor Macauliff : The Sikh Religion

et Smith : Rabia The Mystic

n Hepple : Lyrical forms in English

andra Tandon : Songs of Mirabai

Kumar Ghosh : Lord Gaurang or Salvation for all

Kumar De : History of Sanskrit Poetics

ards : The New Dictionary of Thoughts

Iudson : An introduction to the Study of Literature

पुराणों का वृहद् प्रकाशन

सरल हिन्दी अनुवाद सहित

क्रम	पुराण	खण्ड		मूल्य
१—	शिव पुराण	२ खण्ड	...	२१)
२—	विष्णु पुराण	२ खण्ड	...	२०)
३—	मार्कण्डेय पुराण	२ खण्ड	...	२०)
४—	अग्नि पुराण	२ खण्ड	...	२०)
५—	गरुड़ पुराण	२ खण्ड	...	२०)
६—	हरिवंश पुराण	२ खण्ड	—	२१)
७—	देवी भागवत पुराण	२ खण्ड	...	२१)
८—	भविष्य पुराण	२ खण्ड	...	२०)
९—	लिंग पुराण	२ खण्ड	...	२०)
१०—	पद्म पुराण	२ खण्ड	...	२१)
११—	वामन पुराण	२ खण्ड	...	२०)
१२—	कूर्म पुराण	२ खण्ड	...	२०)
१३—	ब्रह्मवैवर्त पुराण	२ खण्ड		२०)
१४—	मत्स्य पुराण	२ खण्ड	...	२०)
१५—	स्कन्द पुराण	२ खण्ड	...	२०)
१६—	ब्रह्म पुराण	२ खण्ड	...	२०)
१७—	नारद पुराण	२ खण्ड	...	२०)
१८—	कालिका पुराण	२ खण्ड	...	२०)
१९—	वाराह पुराण	२ खण्ड	...	२०)
२०—	कल्कि पुराण		...	५)७५
२१—	सूर्य पुराण		...	१०)
२२—	महाभारत (भाषा)		...	८)
२३—	श्रीमद्भागवत सप्ताह कथा		...	१४)

प्रकाशक : संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, वेदनगर
बरेली-२४३००१ (उ० प्र०)